स्वराज्य दर्शन

[राजनीति]

मृत्युकी पूर्व संध्या २९-१-१९४८को प्रार्थनासभामें जाते हुए बापू

ज्ञान-गंगोत्री ग्रंथश्रेणी : मानविकी विद्याशाखा

स्वराज्य दर्शन

[राजनीति]

⊙

प्रो० नगीनदास संघवी
प्रो० कीर्तिदेव देसाई
श्री भोगीलाल गांधी

⊙

अनुवादक : डॉ० श्रीराम केशवराम नागर

•

सरदार पटेल युनिवर्सिटी - वल्लभविद्यानगर

लेखन :

⊙ प्रो० नगीनदास संघवी [मीठीबाई आर्ट्स एण्ड साइंस कालेज, विले पार्ला; अध्यक्ष : राजनीति विभाग]
⊙ प्रो० कीर्तिदेव देसाई [प्राध्यापक, राजनीति विभाग, गुजरात युनिवर्सिटी]
⊙ श्री भोगीलाल गांधी [संयोजक : 'विश्वमानव' ट्रस्ट; मुख्य सम्पा० : ज्ञान-गंगोत्री ग्रंथश्रेणी]

चित्र :

⊙ कवर : श्री चन्द्र त्रिवेदी
⊙ अस्तर : श्री नगेश पिंगले
⊙ आकृतियाँ : श्री सी० एन० नासिककर

⊙

योजना-दान : हरिः ॐ आश्रम, नडियाद
श्री मनोरभाई बाबरभाई पटेल, गोंदिया (महाराष्ट्र)
अनुदान : शिक्षा मंत्रालय, दिल्ली : गुजरात सरकार, अहमदाबाद

⊙

प्रकाशन-तिथि
प्रथम आवृत्ति ३००० प्रतियाँ : अक्तूबर १९७५

मूल्य
रु० ४०.०० : Rs. 40.00

प्रकाशक : कांतिलाल अंबालाल अमीन, रजिस्ट्रार : सरदार पटेल युनिवर्सिटी
वल्लभविद्यानगर-गुजरात [भारत]

मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय : १३ सम्मेलन मार्ग, प्रयाग, उत्तर प्रदेश [भारत]

निवेदन

⊙⊙

स्वतंत्रता-प्राप्तिके पश्चात् हमारे देशमें शिक्षाका विस्तार हुआ है। साथ ही उच्च शिक्षा-प्रणालीके कारण ज्ञान-विस्तारके नये अवसर सुलभ हुए हैं। तकनीकी क्षेत्रमें भी हम बड़े कदम भर रहे हैं। इतना होते हुए भी, कई कारणोंसे, उच्च शिक्षा-प्राप्तिके लिए साधारण छात्रके ज्ञान-संस्कारका संबल पर्याप्त नहीं है; अतः विश्वविद्यालयीय छात्रका ज्ञान-व्याप भी बहुत कम प्रतीत होता है।

यह भी स्वाभाविक है कि स्वाधीन लोकतांत्रिक समाजके सर्वाङ्गीण विकास-कालमें सर्व-साधारण शिक्षित जनताको चुनौतियाँ देने वाली असंख्य जटिल समस्याएँ भी उपस्थित होती रहें। ऐसी परिस्थितिमें, बौद्धिक शिक्षाका ज्ञानसंचय अपर्याप्त रह जाने पर एक सुसभ्य नागरिकके रूपमें उसके व्यक्तित्वकी क्षति वैयक्तिक व राष्ट्रीय—दोनों दृष्टियोंसे प्रभावशाली पूर्तिकी अपेक्षा करती है।

इस क्षति-पूर्तिके उद्देश्यसे सरदार पटेल युनिवर्सिटीने अपनी सीमाओंमें रहकर यथासंभव एक अल्प, किन्तु संनिष्ठ प्रयास किया है और इसे 'ज्ञान-गंगोत्री'के माध्यमसे मानव विद्याशाखाके बीस और विज्ञान विद्याशाखा के दस—इस तरह कुल तीस ग्रंथोंकी मालाकी योजनासे आरंभ किया है।

महाविद्यालय-स्तरके छात्रों व शिक्षित नागरिकोंको ध्यानमें रखकर यह ग्रंथमाला तैयार करनेका निश्चय किया गया है। इस ग्रन्थ मालाके उद्देश्य हैं :

(१) अध्ययनकी इच्छावाले पाठक इन ग्रंथोंको थोड़े परिश्रमसे, किंतु रसपूर्वक पढ़ें; उनकी ज्ञान-पिपासा अधिक बढ़े; (२) अध्ययनके उपरांत अध्येताके हृदय-पटल पर सर्वाङ्गीण विकासके मुख्य सोपान उभर आवें; (३) जानकारी व तथ्योंकी अनेक-विधता द्वारा ज्ञान-प्राप्तिका 'गुर' पाठक हस्तगत करें और (४) अध्येताओंके हृदयमें मूलभूत सत्य एवं मूल्योंके प्रति श्रद्धाका बीजारोपण हो।

इस दृष्टिसे इतिहास, चिंतन-साहित्य, ललितकला और विज्ञान जैसे विविध क्षेत्रोंके विभिन्न प्रकारके आलेखनोंके लिए कुछ आधारभूत बातें स्वीकार करके ही हम अग्रसर हुए हैं। यथा :

(१) मानव-विकासमें अनेक प्रेरक-शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं; परंतु अंततोगत्वा परिस्थितियोंके परिवर्तनमें मानवीय चेतना भी प्रमुख भूमिका अदा करती है; और हरेक मानवके व्यक्तित्वके यथासंभव पूर्ण विकासकी नींव पर ही सामाजिक व सामुदायिक विकासका भवन रचा जाना चाहिए।

(२) विज्ञानका रहस्य परिवर्तनशीलतामें निहित है और अखंड शोध-वृत्ति ही उसकी कुंजी है। विज्ञानकी विलक्षणता तथ्योंके भंडारका संचय करनेमें नहीं है। किंतु बाह्य विश्रृंखलताओंकी अंतर्निहित संवादिता खोज लेनेमें है।

(३) अन्वेषणकी इस प्रक्रियामें मानव-चेतना और कल्पना-शक्तिका योगदान असाधारण है; और यह वैज्ञानिक सत्य मुक्त मानवके निर्णयका ही फल है।

(४) आखिर तो विज्ञान भी अन्य मानवीय क्षेत्रोंकी भांति मूल्योंके निर्णयके बिना मात्र यांत्रिक प्रवृत्तिके रूपमें टिकेगा नहीं। इस संदर्भमें विज्ञान और मानव-विद्याओंके बीचकी ज्ञान-सीमाएँ अभिन्न प्रतीत होती हैं।

(५) जीवनकी समग्रताके साथ आदिकालके तदात्मभूत बनी सृजन-प्रवृत्तियोंके प्रति विशेष अभिमुख होना व आत्मीयता जगाना उचित है। हमारा विद्यार्थी और नागरिक सौंदर्य निरखनेवाला बने, सौंदर्य पहचाननेवाला बने और उसका आस्वादन करनेवाला अर्थात् परमानंदी घूंट पीनेवाला बने; ऐसी चैतसिक सृजन-शक्तिका रहस्योद्घाटन करना चाहिए।

(६) इस ग्रंथमालाका लक्ष्य उस रहस्यको अवगत कराना है कि ज्ञान केवल जानकारी नहीं है, विज्ञान भौतिक या प्राकृतिक शक्तियोंका केवल संकलन या पृथक्करण नहीं है; अनुभूति केवल घटनाओंका बाह्य स्पर्श नहीं है; ज्ञानानुभूति इससे भी कुछ विशिष्ट है।

हमने सदैव इस समानताका अनुभव किया है कि उपर्युक्त बातें सिद्ध करनेका कार्य अति दुष्कर है। एक ओर युवकों व नागरिकोंका स्तर, उनकी अभिरुचि, अध्ययन क्षमता और बोध-क्षमता की सीमाएं हैं; तो दूसरी ओर इतिहास-विकासकी झाँकी करानेका कार्य कठिन है। गंभीर व कठिन समझे जानेवाले विषयोंको गम्भीरतासे, किंतु आस्वाद्य बनाकर प्रस्तुत करनेका कार्य लेखकों-के लिए कसौटी-रूप है। सम्पादकोंकी भी मर्यादाएं होती हैं। इस प्रकार यह प्रयास महत्त्वाकांक्षी व दुस्साध्य लगते हुए भी अति महत्वाकांक्षी किंवा असाध्य नहीं है। इस यात्राका आरंभ हमने इस विश्वाससे किया है कि गंगावतरण करानेका तो नहीं, गंगोत्रीमें आचमन करानेका यश तो हमें मिलेगा। विदेशी ग्रंथोंके अनुवाद या रूपान्तरोंको प्रस्तुत करनेके बजाय यथासंभव मौलिक अध्ययन व चिंतन प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य है।

अपने इस प्रयासमें हरिः ॐ आश्रम, नडियादवाले पूज्य श्री मोटासे, भारत सरकारके शिक्षा मंत्रालय और राज्य सरकारके शिक्षा विभागसे तथा अन्य सज्जनों और संस्थाओंकी ओरसे जो आर्थिक सहायता हमें प्राप्त हुयी है, उसके लिए हम इन सभीके बहुत ही कृतज्ञ हैं। नडियाद और रांदेरके अपने भक्तों और प्रशंसकों द्वारा ज्ञान गंगोत्री श्रेणीके ग्रंथोंके प्रकाशनार्थ दो लाख रुपयों-का दान सरदार पटेल युनिवर्सिटीको दिलवाकर पूज्य श्री मोटाने ज्ञान-गंगोत्रीके इस कार्यका मंगलारम्भ किया है।

मगर यह हुई गुजराती ग्रंथ-श्रेणीकी बात। इस श्रेणीके प्रथम दो ग्रंथोंके प्रकाशित होनेके बाद पूज्य श्री मोटाने सोचा कि यह ग्रंथ-श्रेणी हिंदी-भाषियोंके लिए भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी गुजराती-भाषियोंके लिए और उन्होंने ज्ञान-गंगोत्रीकी हिन्दी-आवृत्तिके लिए पैंतीस हजार रुपयेका दान सरदार पटेल युनिवर्सिटीको देनेका विचार प्रकट किया। पूज्य श्री मोटाकी यह शुभ भावना

फलवती साबित हुयी। हिन्दी-आवृत्तिके लिए अन्य व्यक्तियोंसे हमें दान मिलने लगा और इस प्रकार इस श्रेणीके प्रथम ग्रंथ 'ब्रह्मांड-दर्शन'के हिन्दी-संस्करणका प्रकाशन शक्य बना। हम पूज्य श्री मोटाके और अन्य सभी सज्जनोंके बहुत कृतज्ञ हैं। हम आशा करते हैं कि हिंदी संस्करणके इस कार्यमें भारत सरकारके शिक्षा मंत्रालयसे भी हमें सहायता प्राप्त होगी।

इस ग्रंथ श्रेणीमें हिन्दीमें अब तक चार ग्रंथ—ब्रह्मांड-दर्शन, पृथ्वी-दर्शन, स्वास्थ्य-दर्शन और रसायन-दर्शन प्रकाशित हो चुके हैं। यह पांचवां ग्रंथ 'स्वराज्य-दर्शन' आपके हाथोंमें है।

गुजरातके अनेक श्रेष्ठ चिंतकों व लेखकोंने इस योजनाके सम्पादक-मण्डलके सदस्यों और परामर्श-दाताओंके रूपमें अपनी सेवाएँ अर्पित कर तथा अनेक प्राध्यापकों, अध्येताओं और विद्वानोंने लेखनका दायित्व स्वीकार कर हमारी योजनाओंको मूर्तरूप दिया है, तदर्थ हम उनके ऋणी हैं।

हमारी युनिवर्सिटीके सिण्डिकेटके सदस्यों, अन्य अध्यापकों और प्रशासकीय कर्मचारियोंने 'ज्ञान-गंगोत्री'के इस कार्यमें उत्साहपूर्वक सहयोग प्रदान किया है। उस बातका तथा इस योजना-के सम्पादक श्री भोगीलाल गांधी और सेवानिवृत्त सह-सम्पादक श्री बंसीधर गांधीकी नैष्ठिक यत्न-शीलताका यहां उल्लेख करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है।

भारत सरकारके शिक्षा मंत्रालय द्वारा निर्धारित पारिभाषिक पदावली का प्रयोग इस ग्रन्थ-श्रेणीमें किया गया है।

—**डॉ० आर० डी० पटेल**

वल्लभविद्यानगर

उपकुलपति

सरदार पटेल युनिवर्सिटी

आमुख | उ० न० ढेबर

'स्वराज्य-दर्शन'का आमुख लिखनेकी जिम्मेदारी लेते समय मैं संकोचका अनुभव करता था। आमुख लिखना मुझे इसलिए पसंद है कि पुस्तक ऊपर-ऊपरसे पढ़ लेनेके स्थान पर उसके हृदयमें प्रवेश करनेका अवसर मिलता है और साहित्यको पचाना भी हो जाता है। 'आमुख' लिख देनेका साहस कुछ अवकाशकी अपेक्षा भी रखता है, कुछ भाषा पर अधिकारकी माँग करता है और कुछ विचारोंकी स्पष्टता चाहता है। परन्तु १०-१२ दिनोंकी समय-सीमाके इन दिनोंमें अत्यन्त व्यस्त रहनेके कारण अवधिके भीतर इसे लिख डालनेका काम लगभग अशक्य था। इस पर भी संयोजकों और लेखकोंको निराश न करनेकी दृष्टिसे मैंने आमुख लिखनेका निमंत्रण स्वीकार किया।

'ज्ञान-गंगोत्री ग्रंथमाला'का पाँचवाँ ग्रंथ 'स्वराज्य-दर्शन' मननशील लेखनीसे लिखा गया है। इसमें स्वराज्यशास्त्रके सभी पहलुओंको लेकर उनके साथ न्याय करनेकी पूरी सावधानी वरती गई है और पाठकोंको यह पता लगे विना नहीं रहेगा कि इन सबमें गहरा अध्ययन निहित है। स्वराज्य-दर्शन कठिन विषय है। इसके विषयमें जो विचारा गया है और जो लिखा गया है, वह एक गागरमें सागरके समान है। इसे लेकर मेरे मनमें कोई शंका नहीं है कि जिसने इस विषयमें थोड़ी-वहुत एकाग्रता धारण की होगी और जिसके पास इससे सम्वद्ध थोड़ी-सी भी प्राथमिक भूमिका होगी, उन सवके लिए यह ग्रंथ अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा।

जीवन-विकासकी दो अनिवार्य शर्तें हैं : चित्तको पहचाननेका पुरुषार्थ करना और निसर्ग-की क्रिया-प्रक्रियाको समझनेका प्रयत्न करना। जिस प्रकार अन्दरका जगत् अपने नियमोंके आधार पर चलता है, उसी प्रकार वाहरका जगत् भी अपने नियमोंके आधार पर चलता है। जिन्हें इन दोनों प्रक्रियाओंको गहराईसे देखनेका अभ्यास है, वे समझ जायँगे कि जो कल तक सरल लगता था; वह आज कठिन लग रहा है तथा समय वीतते एक नये और उन्नत स्तर पर पहुँचने पर वह पुनः सरल वन जाता है। राजनीति भी एक स्तर पर सरल, सीधी-सादी लगती है, परन्तु विकासके पथ पर वढ़ती हुई राजनीति सीधी-सादी व सरल नहीं रह सकती। उन्नत दशामें वह अनेक स्तरोंमें विभा-जित हो जाती है। किन्तु जव उन स्तरोंका अध्ययन किया जाता है, तव उसके सीधे-सादे व सरल होनेकी प्रतीति होती है।

अगर भारतीय जीवनके विकास और अवनतिके इतिहासका इस दृष्टिसे परीक्षण करेंगे तो यह ज्ञात होगा कि कौन-सी वस्तु उसे अल्प विस्तार की दिशासे अतिविस्तारकी दिशामें ले गई, उनमेंसे कौन-सी वस्तुएँ उन्नतिकी पोषक हुईं और कौन-सी अवनतिकी पोषक वनीं। यह माननेके स्थान पर कि अल्पविस्तृत राजनीति ही श्रेय है, यह माननेके स्थान पर कि दूसरे छोर पर वह मात्र पिछड़ेपनकी

निशानी है, निसर्गके विकासक्रमको समझनेसे सच्ची प्रक्रियाका दर्शन होता है, गहराईसे विचार करने-का अवसर मिलता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि भारतको अवनतिके रास्ते पर ले जानेमें राजनीतिका हिस्सा है। पर यह तथ्यसे दूर है कि पूरे दोषकी जिम्मेदारी इसीकी है। शास्त्रीय दृष्टिसे तो अघटित होगा ही। भारत जब विकास-मार्ग पर पुनः आगे आ रहा है तो इस समय प्रजा-विकासमें राजनीतिका भी हिस्सा है—इस बातको शास्त्रीय दृष्टिसे समझनेकी इच्छा रखने वाले व्यक्तियोंको यह पुस्तक उप-योगी सिद्ध होगी। अतः सम्बद्ध पुस्तक देखने पर मैं इस विषय पर बिना लिखे नहीं रह सका।

ग्रंथके मूलभूत भाग पर आनेके पूर्व अगर मैं इस शास्त्रीय दृष्टिसे निष्पन्न आशावादकी ओर ध्यान आकृष्ट करूँ तो यह मात्र उचित ही नहीं अपितु आवश्यक भी जाना जायगा। राजनीतिकी बात शुरु होते ही जहाँ निराशाका स्वर निकलने लगता है, वहाँ इस ग्रंथकी आशावादी भूमिका मुझे अत्यन्त स्वस्थ प्रतीत होती है, जिसकी घोषणा ग्रंथके आरम्भमें की गई है।

आशावादकी भूमिका पर की गई विवेचनाका महत्व उसकी रचनात्मकतामें है। किसी भी वस्तुके सृजनमें रचनात्मक भावना अनिवार्यतः होनी ही चाहिए। यह सर्जन रचनात्मक दृष्टिसे हुआ है। इसका उद्देश्य शास्त्रीय दृष्टिसे व तटस्थ भावसे समालोचना करना है।

राजनीतिकी प्रक्रियाको निसर्गकी प्रक्रियाके भाग-स्वरूप देखनेमें अभ्यस्त व्यक्तियों और राजनीतिको अपनी महत्त्वाकांक्षाको ही संतुष्ट करनेके साधन-स्वरूप उपयोगमें लेने वाले व्यक्तियोंके बीच यही बड़ा अन्तर है। उदीयमान प्रजाको, जिसे भविष्यमें राजनीतिके साथ सम्बन्ध स्थापित करना है, यह अन्तर समझे बिना काम नहीं चल सकता। आज जो राजनीतिमें घृणाकी दृष्टि जन्म ग्रहण कर रही है, वह शास्त्रीय दृष्टि नहीं है। अपनी हीन महत्त्वाकांक्षाओंको तृप्त करनेके लिए राजनीतिका उपयोग करनेवाले 'आया राम गया राम' दलबदलुओंके कारण राजनीतिके प्रति घृणा दिखाना विकासशील प्रजाके लिए लेशमात्र भी लाभदायी नहीं।

यह पुस्तक इस बातको समझानेमें सहायक सिद्ध होगी कि राजनीति किस प्रकारके विकास-का शास्त्र है और प्रजाके पालन-पोषण और रक्षणका अमोघ साधन है।

भारतीय राजनीतिके मूलभूत प्रश्नोंका विवेचन रसप्रद है। भारतका भू-भाग, भारतकी प्रकृति-प्रदत्त सम्पत्ति, भारतकी सीमा और संरक्षणके प्रश्न, भारतके पड़ोसी प्रदेश और प्रजा पर उनका प्रभाव—ये पाँचों वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय जन-जीवन और भारतीय जनताकी विशिष्टताओंके निर्माणमें इन पाँचों वस्तुओंका योग निर्विवाद है। परन्तु राजनीतिका एक महान् सत्य, जो भारतकी राजनीतिके लिए ही नहीं, अपितु किसी भी राष्ट्रकी राजनीतिके लिए विचारा जाना अनिवार्य है, प्रजा-की विशिष्टता [जीनियस] है। जब कोई प्रजा सुख और शान्तिकी शोधमें जाग्रत होती है और उसकी कल्पना-सृष्टि उसे शक्ति और वेग प्रदान करती है, तब वह सोलह कलाओंसे खिल उठती है। प्रजाकी यह आकांक्षा जब पूरी नहीं होती, तब वह निराशाके महासागरमें डूबकर कृत्रिम विरक्त भावना धारण करनेका प्रयत्न करती है या फिर असफलताको चुनौती रूप स्वीकार कर 'करेंगे या मरेंगे'का संकल्प लेकर या 'होम'के पंथ पर या तो सफल होती है अथवा समाप्त हो जाती है। राजनीतिकी नींवमें मानव-खमीरकी भूमि पर निर्मित ऐसी ही विशिष्टताएँ निहित हैं। उसे भी आगे रख कर इन पाँचों वस्तुओंके साथ अपेक्षित महत्त्व देना आवश्यक है।

भारतने इन्द्रिय और मनकी शक्तिकी अपेक्षित कीमत नहीं आँकी है। मन चंचल है और इन्द्रिय तथा मनके संयोगसे निष्पन्न सुख भी नश्वर है—यह कह कर उसने चिरकालके सुखकी कल्पनाके आसपास सम्पूर्ण जन-जीवनको व्यवस्थित करनेका प्रयत्न किया है। यह मानता हूँ कि इस प्रयोगने कहाँ तक सफलता पाई है और कहाँ तक जन-जीवनकी रीढ़की हड्डीको इसने कमज़ोर किया है, इसका विवेचन स्वराज्य-दर्शनके विषयमें होना अनिवार्य है। इन्द्रिय, मन; बुद्धि आदिका निसर्गकी रचनामें शक्तिदाताके रूपमें स्थान है; और सानुपातिक मानव-विकासके लिए इसकी भी आवश्यकता है। भारतने इन सबको नकार कर विरक्त दशाका पोषण किया है। परिणामतः आज दूसरे छोर पर जानेका भय उत्पन्न हो गया है। इसके विवेचनके अभावमें स्वराज्य-दर्शन अधूरा माना जायगा।

अपनी प्रजाको अगर गतिशीलता बनाए रखनी है तो सैकड़ों वर्षोंकी त्रुटिका प्रभाव और उसके उपायों पर भी विचार किए बिना काम नहीं चल सकता। इस दृष्टिसे राजनीतिकी मूलभूत वस्तुओंमें राष्ट्रीय शिक्षाका स्थान एक महत्त्वकी वस्तु है। उसका उद्देश्य सुधारके लिए अवसर प्रदान करना है। १५ अगस्त १९४७को राष्ट्रने जिस प्रकार विदेशी ध्वजको तिलांजलि दी, उसी समय भारतवर्षको पराधीनतापोषक मूल्यों पर रचित शिक्षा-पद्धतिको भी तिलांजलि दे देनी चाहिए थी। पराधीनता-पोषक मूल्योंके आधार पर रचित शिक्षाने राष्ट्रीय राजनीतिके मूलमें पिछले बीस वर्षोंमें जितना कुठाराघात किया है, उसको छात्रोंमें व्याप्त अराजकताके आधार पर नहीं आँका जा सकता। उस पीढ़ीको तो हमने समाप्त कर दिया; परन्तु राजनीतिक क्षेत्रमें अपरिपक्वता, सामाजिक क्षेत्रमें संकरता और आर्थिक क्षेत्रमें आज जो स्वार्थवृत्ति दिखाई देती है; वे भी इस भयंकर वृत्तिके ही परिणाम हैं।

राजसत्तामें भाग लेनेकी वृत्तिके साथ-साथ निसर्गके विकासक्रममें समझदारीसे आगे आकर भाग लेनेकी वृत्तिके विषयमें विचारणा आवश्यक है। एकाधिकारी सत्ता केवल राजतंत्रकी ही इजारेदारी थी—यह मान कर चलना यथार्थ नहीं होगा। मनुष्यके स्वभावकी मर्यादाएँ रही हैं। 'अधिकाधिक प्राप्त करना', 'कमसे कम मेहनत करके प्राप्त करना', 'प्राप्त हुएको नहीं छोड़ना', 'किसी भी कीमत पर किसी भी प्रकार उसे पकड़े रखना'—इस प्रकारकी स्वभाव-सीमाके कारण सामन्तशाहीका जन्म हुआ और आज प्रजातंत्रकी आड़में टोलाशाहीका खतरा बना हुआ है। स्वराज्यके सानुपातिक दर्शनके लिए यह आवश्यक है कि इन विकृतियोंको समाप्त करनेका पुरुषार्थ हमें करना चाहिए। गणतंत्रकी व्यवस्था-का मूल है : 'सत्ताको बाँट कर भोगो।'

जिस प्रकार एकांगी राजनीतिका प्रश्न विचारकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार एकांगी लोक-नीतिका प्रश्न भी विचारणा चाहता है। राजनीतिका निर्माण करनेमें लोकनीति विषयक जितनी स्पष्टता सर्वोदयके द्वारा हो रही है, उतनी ही समझदारी व स्पष्टता लोकनीति बनानेमें राजनीति-योग-को लेकर स्वीकृत होनी आवश्यक है।

जनजाति प्रदेश अत्यन्त नाजुक प्रश्न उत्पन्न करेगा। मैं मानता हूँ कि उसमेंसे भी, जैसा कि लेखकने स्वीकार किया है, हम लोग सकुशल बाहर निकल आयेंगे। परन्तु उसका कुछ विशेष अध्ययन, मनन व चिन्तन आवश्यक है। उस प्रदेशको राष्ट्रविरोधी लोगोंने अणुबमकी भांति प्रशिक्षित किया है। जहाँ राष्ट्रविरोधी तत्त्व नहीं पहुँचे हैं, वहाँ भी राष्ट्रका उनके प्रति दृष्टिकोण पूज्य गाँधीजीके शब्दोंमें कहें तो 'प्रायश्चित्त'की अपेक्षा रखता है।

'राजनीतिमें भाग लेनेकी प्रक्रियासे आकार ग्रहण करता जातियोंका असाम्प्रदायीकरण प्रजा-तंत्रात्मक राजनीतिके लिए आश्वासन और उसकी संभावना बन जाता है।'
—यह कथन प्रगतिशील राजनीति और समाज-जीवन की गहरी समझका द्योतक है।

कांग्रेस मध्यमार्गी दल है। वह न तो रूढ़िवादी बन सकता है और न उद्दाम क्रान्तिकारी ही बन सकता है। इन दोनों शक्तियोंका उपयोग करनेके लिए दोनोंको ही उसने अपने मंच पर स्थान दिया है। श्री सदोबा पाटिल और श्री मेनन इस दृष्टिसे एक ही मंच पर बैठते थे। मंत्रिमंडलमें उनका स्थान कभी भी उतना अनिवार्य नहीं माना गया, जितना अनिवार्य मध्यममार्गी लोगोंका स्थान माना गया है। व्यवस्थापक वर्ग सामान्यतः मध्यममार्गी स्तरसे आये हैं। यहाँ हम एक ऐसे कथन पर आ जाते हैं जो सर्वथा प्रश्नार्थ ही रहेगा।

'यों भारतीय राजनीतिको बनाने वाली विचारधारामें गाँधीवादका समावेश नहीं होता, फिर भी उसका भारतीय राजनीति पर प्रगाढ़ प्रभाव है। गाँधीवाद एक विचार-धाराकी अपेक्षा समग्र जीवन-दर्शन है। उसका असर इतना व्यापक और सर्वस्वीकृत है कि कोई भी राजनीतिक दल उससे मुक्त या अस्पृष्ट नहीं है।'

जगत्-चिन्तकोंके ग्रंथोंको पढ़नेसे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि १९४६-४७के किसी दिन कांग्रेसने गाँधीनिष्ठ राजनीतिक सिद्धान्तोंको छोड़नेका साहस किया था, ठीक इसी प्रकार चार-छः वर्षोंके बाद योजना-आयोगने उसके आर्थिक सिद्धान्तको एक ओर रख कर त्वरासे उद्योगीकरणका मार्ग ग्रहण करनेका साहस किया था। गाँधी जीवन-दर्शनका प्रभाव यों तो भारतके मानसपट पर गहरा बना रहेगा पर क्रियाशील राजनीति और अर्थनीतिका विशाल प्रचार उसे असामयिक मान कर ही चलेगा। 'भारतकी राजनीतिक संस्कृतिका इतिहास रहस्यमय है'—ग्रंथमें बताई गई यह बात सच है कि उसे न्याय दे सकनेवाला अध्ययन—तलस्पर्शी अध्ययन—अभी तक नहीं हुआ है। कमसे कम विभिन्न विचार-धाराओंका अध्ययन और उनका मूल्यांकन अभी तक नहीं किया गया है। इस संदर्भमें लोकप्रवाहके थोड़े बहुत स्पष्ट होते हुए राजनीतिक प्रवाहोंका ऊपरसे जो विवेचन हुआ है, वह मननीय है।

१८२ वर्षके लम्बे समयके बाद भारतमें जिस रूपमें परिवर्तन हुआ है, उसकी अनेक बातें इस ग्रंथमें दिखाई देती है। सत्ता-परिवर्तनका साक्षी होनेके नाते कह सकता हूँ कि शायद ही कोई उपयोगी बात रह गई हो। यह गंभीर अध्ययनका एक नमूना है। गुजरातके शिक्षार्थी गुजरात विषयक कुछ विशेष जानकारीके अधिकारी हैं, क्योंकि ५६२ देशी राज्योंमेंसे लगभग ३००से अधिक देशी राज्य गुजरातके ही भाग थे। वे सभी राज्य आदर्श या कुशल न थे, पर सभी पामर भी न थे। गुजरातके देशी राज्योंमेंसे लगभग १२ राज्य ऐसे गिनाए जा सकते हैं, जो व्यवहारमें विकासकी दृष्टिसे—प्रजा-सेवाकी दृष्टिसे—अच्छी तरह आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने अपनी दृष्टिसे अपने प्रदेशोंका विकास करनेकी कोशिश भी की थी। जब राष्ट्रके नवनिर्माणका समय आया, तब गुजरातके राजाओंमेंसे प्रमुख व्यक्तियोंने उसे संगठित बनानेमें जो योग दिया है; वह स्वराज्य-दर्शनमें थोड़ेसे उल्लेखका आकांक्षी है।

सरदार साहबकी इस महान् सिद्धिकी कितनी ही सर्वस्वीकृत सिद्धियोंके साथ तुलना की जा सकती है। देशी राजाओंको जिस ढंगसे उन्होंने जीता, वह उनकी सक्षम कार्यकुशलताका प्रमाण है; इतना ही नहीं, अपितु उनके औदार्यका प्रमाण भी है। सरदार साहब कठोर भी थे और मृदु भी।

इन दोनोंके सम्मिश्रणका दर्शन भारतीय समाजके समक्ष अपनी परिपूर्णतामें नहीं आया, गुजरातके समक्ष भी नहीं आया, जो खेदजनक है।

संघीय-तंत्र पर लिखा गया प्रकरण भी गंभीर अध्ययनके बाद लिखा गया है। मेरा राजनीतिके साथ सम्पर्क मात्र आन्दोलनात्मक नहीं रहा है, उसके भिन्न-भिन्न पहलुओंके अध्ययन करनेका पूरा-पूरा अवसर भी मिला है। मुझे कहना चाहिए कि मुझे भी कई चीज़ें इस पुस्तकसे जानने व समझनेको मिली हैं। भारतीय संघीय-तंत्रके मूलमें जो भेद है, वह भी यहाँ प्रस्तुत किया गया है। भारतके ब्रिटिश कालके अलग-अलग प्रान्त स्वायत्त सत्ताका उपभोग करने वाले राज्य न थे, यह तथ्य ध्यानाकृष्ट करता है। पश्चिम बंगालकी संयुक्त मोर्चेकी सरकार तथा केरल सरकारको यह भेद बताना आवश्यक है।

पाँचवें प्रकरणमें रह गई तथ्य-क्षतिकी ओर ध्यान आकृष्ट करना अनिवार्य समझता हूँ। वास्तवमें १५ अगस्त १९४७में प्रकट जूनागढ़-पाकिस्तान अधिमिलनसे लेकर सितम्बरके अन्त तक और बीचमें रचित अस्थायी सरकारका सम्पूर्ण इतिहास काठियावाड़ राजनीतिक परिषद्के नेतृत्वका इतिहास है। पू० सरदार साहब उस समय जिस स्थान पर आसीन थे और उन्हें जो जिम्मेदारियाँ पूरी करनी थीं और साथ-साथ पूज्य गाँधीजीके गजसे मापी जाने वाली सरकार पर अप्रत्यक्ष रूपसे भी आक्षेप न आए, इस उद्देश्यसे काठियावाड़ राजकीय परिषद्के क्रियाकलापोंसे गांधीजीको परिचित किया जाता था। उन पर निर्णयकी जिम्मेदारी नहीं रखी जाती थी। काठियावाड़ राजकीय परिषद्के इस कदमको उन्होंने जूनागढ़ व काठियावाड़की प्रजाके हृदयकी माँग मान कर नकारा नहीं और कुशलतापूर्वक अपनी राष्ट्रीय नीतिको दोष न पहुँचे, इस तरह उसे सरकारकी नीतिके साथ बुन दिया।

इसी प्रकारकी भ्रांति उत्पन्न करनेवाला दूसरा कथन है : 'कश्मीरका प्रश्न हमेशा ज्वलंत ही रहा है'; 'भारतमें उसका विलीनीकरण नहीं हुआ'—इस प्रकारके कथनकी शायद ही आवश्यकता है। इसी तरह पृष्ठ १०० पर एक पैराग्राफ ऐसा भ्रम पैदा करता है कि सरदारने निष्ठुरता विग्रह और कूटनीतिका आश्रय लेकर देशी राज्योंके पूरे प्रकरणको पूरा किया। मुझे लगता है कि विलीनीकरण-की प्रक्रियासे जिन्हें अधिक हानि सहनी पड़ी है, उन राजाओंको भी इस प्रकारका भ्रम नहीं है। आज भी, ठीक समय पर सावधान कर उन्हें और राष्ट्रको बचा लेनेके लिए वे हृदयसे सरदारजीके प्रति अपने पूजनीय बड़ोंके समान आदर और प्रेम प्रदर्शित करते हैं। किसी एक गैरजिम्मेदार राजाको सम्बोधित कर कहे गये वचन या किसी एक राजाके कारण उत्पन्न विग्रहका प्रभाव सामान्यतः पूज्य सरदार साहबकी नीति नहीं मानी जा सकती है। राजा प्रवीणचन्द्र भंजदेवका प्रसंग भी एक अपवाद ही माना जाना चाहिए। सामान्यतः हमें संतोषका अनुभव करना चाहिए कि राजाओंने अपनी-अपनी जिम्मेदारियोंका बड़ी शालीनतासे निर्वाह किया है।

प्रजातंत्रात्मक राज-नीतिमें राज-कुटुम्बोंकी संततिका प्रवेश भी अन्य प्रश्नोंकी भाँति चर्चा-का विषय बना होता तो प्रजाको स्पष्ट मार्गदर्शन मिला होता। राजपरिवार विषयक जो अहोभाव प्रजाके मनमें थोड़े समय तक रहा, वह भी राजप्रथाके शांतिमय विलीनीकरणका एक सीधा परिणाम था, जीवन प्रणालीसे उत्पन्न स्वाभाविक विशेषताका यह एक प्रतीक था। उन्हें अलग रखनेकी प्रक्रिया तो मात्र भूतकालमें उनके साथ हुए संघर्षकी स्मृतिसे उत्पन्न घृणाका परिणाम ही मानी जायगी।

राजाओंका राजनीतिमें प्रवेश उनके स्वभाव और संस्कारसे उत्पन्न वस्तु थी। उद्दाम शक्तियोंके साथ उनका जुड़ना लगभग असंभव-सा था। जिस लोकसे वे निकले थे, जिसने उनका मनोविकास हुआ था और उनके आसपास जो वर्तुल था; वे सब उनको स्वतंत्रपार्टीका स्वाभाविक प्रत्याशी बना सकते हैं, समाजवाद या उद्दामवाद तक शायद ही ले जा सकें।

राजाओंके वार्षिक जेब-खर्चको लेकर कहीं-कहीं कठोर शब्दोंमें अलोचना की गयी है। इस विषयके अनुबन्ध न तो अबाधित हैं न अन्तिम ही। उन्हें एक राजनीतिक व्यवस्था ही माना जा सकता है। यह राजनीतिक राष्ट्रीय नीतिका ही परिणाम है। राष्ट्रनीति परिस्थितिके अनुसार बदली भी जा सकती है। इस दृष्टिसे यह राजकीय व्यवस्था सरकार और राजागण समझदारीसे बदल भी सकते हैं। इस तथ्यको स्वीकार करनेके बाद समझदारी इसीमें है कि पूज्य सरदार साहबका अनुकरण कर और राजाओंको विश्वासमें ले उचित ढंगसे इस प्रकरणका अन्त किया जाय।

इसी प्रकार भाषावार प्रान्त-रचनाका सवाल भी थोड़ा-सा दूसरे पहलू पर विचार चाहता है। आज भी विश्वमें अमेरिका और स्विट्जरलैंडको अगर अपवाद रूप मान लें तो विशेषतः सभी स्थानों पर भाषावार राज्य-रचना देखनेको मिलती है। रूसको छोड़कर शेष यूरोप जैसे भारतवर्षमें एक भाषा संभव नहीं है। प्रजाको स्वराज्यका अनुभव कराना हो तो यह अनिवार्य था कि उसका सभी कामकाज उसकी भाषामें ही होना चाहिए। प्रश्न केवल इतना है कि इस प्राकृतिक माँगको किस रूपमें पूरा किया जाय कि जिससे एकताको आँच न आए। यह भी अनुभव नहीं हो रहा है कि प्रजामें एकताकी भूख कम है। इस कमीका अनुभव न तो चीनके १९६२के आक्रमणके समय हुआ और न पाकिस्तानके १९६५के आक्रमणके समय हुआ। परन्तु कहीं शृंखलाकी कड़ियोंमें कमी अवश्य रह गई है। बात इतनी है कि उसे कैसे पूरा किया जाय, जिससे लोगोंको स्वराज्यका अनुभव भी हो और साथ-साथ लोगोंके हृदयमें पड़ी हुई एकताका अनुभव और लाभ राष्ट्रको भी मिलता रहे।

राष्ट्रकी एकताको दृढ बनानेके लिए मात्र प्रजाकी एकता पर आधार रखना चाहिए। प्रजाकी उचित आशा-आकांक्षाकी उपेक्षा करनेसे या उसे हेय मान लेनेसे प्रजाको संतोष मिलनेवाला नहीं है। प्रजाकी आशा-आकांक्षाका औचित्य भी प्रजाको ही तय करना है। उसमें अकारण अश्रद्धा रखनेसे भी उसे न्याय नहीं मिलेगा। विषमता और अन्यायकी उपेक्षा करनेसे संतोष मिलने वाला नहीं है। अब यह बिना माने काम नहीं चलेगा कि पुनर्रचना का प्रयोग पूरा करनेमें दीर्घदृष्टि, कुशलता, उदारता आदिकी कमी रही है। परन्तु जितने समयमें यह सब कुछ हो सका है और जितनी मात्रामें यह सफल हुआ है, उसकी ओरसे भी आँखें बन्द नहीं की जा सकतीं।

राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल आदिके महत्वपूर्ण पदोंकी जिम्मेदारियों और उनके कर्तव्यों पर विस्तारसे चर्चा की गई है तथा सूचनाओंकी दृष्टिसे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रधानमंत्री, मंत्रिमण्डल और संसदका प्रशासनिक चित्र भी बहुत अच्छे ढंगसे प्रस्तुत किया गया है।

मुझे लगता है कि राष्ट्रपति-विषयक विचार जिस ढंगसे किया गया है, उस तरहसे प्रधानमंत्रीके चुनावके विषयमें नहीं किया गया। अगर उसमें अलग-अलग प्रवाहोंका विचार दिया गया होता तो यह अधिक उपयोगी होता। वास्तवमें इतने महत्वपूर्ण पदको लेकर विचार करते समय सभी शतप्रतिशत व्यक्ति व्यक्तिगत रागद्वेषसे प्रेरित होकर प्रधानमंत्री पदके लिए दलके नेताको पसंद नहीं करते। भारतमें जो भी प्रधानमंत्री होगा, उसे कितने ही तत्त्वोंको लेकर चलना होगा। यह तय करनेका

काम सर्वप्रथम प्रत्याशीके ऊपर आता है। उसे विचार कर लेना है कि वह स्वयं उसे कितना न्याय दे सकता है। साथ ही साथ हिन्दुस्तानकी साम्प्रतिक हालतमें उस पक्षके नेताओंको भी विचार करना पड़ेगा। विश्वकी जनसंख्याके छठे भागकी जनताको शान्तिमय मार्ग पर आगे ले जानेकी प्रक्रियाके सभी पहलुओं पर विचार करना होता है।

यह प्रवाह निरन्तर बदलता रहता है। पण्डित जवाहरलाल नेहरूके बाद १९६५में जो प्रवाह वह रहे थे, उसमें सर्वसम्मतिसे उनका उतराधिकारी चुना जाय; यह केवल कांग्रेसका ही प्रश्न नहीं था। बाहरी जगत्‌में राष्ट्र स्थिरतासे अपना हित पसंद कर सकता है - यह सिद्ध करनेका प्रश्न प्रतिष्ठा-का प्रश्न था। कांग्रेसके तत्कालीन अध्यक्ष होनेके नाते यह जिम्मेदारी श्री कामराजके ऊपर आई।

श्री लालबहादुर शास्त्रीके अवसानके बाद वैसा ही प्रश्न पुनः उठ खड़ा हुआ था। परन्तु वह बहुत महत्त्वपूर्ण न था। उस समय बहुधा दलके हितकी दृष्टिसे सर्वसम्मतिका निर्णय हितप्रद लगता था। उस समय एक-दो प्रवाह राष्ट्रका ध्यान आकृष्ट कर रहे थे। एक तो दक्षिण भारतमें हिन्दी-अंग्रेजीकी लड़ाई——जो अधिकांशतः श्री कामराज और तमिलनाडुमें कांग्रेसकी हारका कारण थी। इस सम्बन्धमें हिन्दी या अंग्रेजीको लेकर जिनमें प्रबल आग्रह था, उनके लिए जिम्मेदारी उठाना कितना अनुकूल था; यह निश्चित करना था।

१९६७के चुनाव आए। कांग्रेसके सामान्य छोटेसे बहुमतको विभाजित न करना ही चिन्ताका विषय था। परिणामतः प्रधानमंत्री और उपप्रधानमंत्रीका फार्म्युला प्रस्तुत किया गया।

राजनीति व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओंका मंच है। किन्तु साथ ही साथ तात्कालिक व भविष्य-की जिम्मेदारियाँ किसी नज़रसे ओझल नहीं होतीं——महत्त्वाकांक्षाओं और जिम्मेदारियोंकी कड़ी समझ-दारीमें निहित है। राजनीतिक नेतृत्वके सामने 'आज क्या शक्य है?' तथा 'क्या परामर्शपूर्ण है?' आदि प्रश्न हमेशा उपस्थित रहते हैं।

इस ग्रंथमें चुनाव विषयक विवेचन भी अच्छा हुआ है। दल तथा प्रत्याशीकी बखिया उधेड़ डालने वाले प्रहारोंके बीच प्रत्याशीका व्यक्तित्व विलोड़ित होता है। उसकी शक्ति और उसकी कमजोरी दोनों प्रकट होती हैं। चुनाव जिस प्रकार जनता, दल व प्रत्याशीको सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रमें आत्म-निरीक्षणका अवसर प्रदान करते हैं; उसी प्रकार अपने विचारोंकी परीक्षा करनेका भी अवसर प्रदान करते हैं। परिणामस्वरूप, जो समाधान होता है, उससे इस बातका माप निकल आता है कि प्रत्याशी प्रजाको अपने साथ कहाँ तक ले जा सका है।

चुनाव भारतीय जीवनका एक अनिवार्य भाग है। अगर यह मान लें तो एक ओर उसमें निहित अनिष्टोंका ज्ञान और दूसरी ओर प्रत्याशी तथा दलोंके विचारोंके मूल्यांकनका ज्ञान लोगों को दिया जा सकता है। स्थिर प्रजातंत्रके विकासकी दृष्टिसे यह एक अनिवार्य शर्त है। राजनीतिक दलीय-पद्धति भी हमारे यहाँ शोधकी अपेक्षा रखती है। जबकि एकदलीय प्रभावकी स्थितिका अन्त आया, तब तो इसकी अत्यन्त जरूरत है, एतत्सम्बन्धी पर्याप्त विवेचन इस ग्रंथमें दिखाई देता है।

कांग्रेस संस्थाके विषयमें मेरे मनमें यह भाव रहा है कि जबसे उसकी अच्छे-से-अच्छी वृद्धि और मानवताकी शक्ति शासन चलानेके काममें रुकने लगी, तबसे उसका एक किनारेसे अपरदन होना शुरू हो गया; परन्तु अभी तक उसे बचा सकनेकी संभावना थी। श्री संजीव रेड्डीने जो दस वर्षका नियम सुझाया, वह भी ऐसी ही समझ और अनुभवका परिणाम था। परन्तु वह नहीं हो सका और

नेतृत्वकी रचनात्मक कार्योंके प्रति बेफिक्रीके कारण जब प्रजाके साथके तंतु कमजोर होने लगे, तब दूसरे किनारेसे अपरदन शुरू हो गया; जिससे कांग्रेसको बचाना मुश्किल हो गया है। १९५५-५६में इस दिशामें कुछ प्रयास हुआ। शासनमें कांग्रेसकी सबलतम शक्तिकी निर्विवाद आवश्यकता है—ऐसा कांग्रेस नेतृत्वको अनिवार्य लगने पर धीरे-धीरे सामान्य कार्यकर्ताको क्षेत्रीय रचनात्मक कामोंमें प्रवृत्त करनेका काम बन्द हुआ। रचनात्मक कामोंके प्रति उपेक्षावृत्ति सीमा तोड़ गई। इस स्थितिमें इस अपरदनको रोक पाना किसीके लिए संभव न रहा। फलतः कांग्रेसका जन-जीवनके साथ सम्बन्ध क्षीण होता गया।

कांग्रेसके लिए जो न्याय लागू किया जा सकता है, वही न्याय सभी राजनीतिक दलोंके लिए लागू हो सकता है।

जनसंघके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघको छोड़ दें तथा साम्यवादियोंकी नुकसान पहुँचानेवाली षड्यंत्रकारी सेनाको अलग कर दें तो प्रजातंत्रको पुष्ट करने वाले जन-सम्पर्ककी आवश्यकता शायद ही किसी दलने स्वीकार की है।

विचारधारा भी अन्ततः पुस्तकोंके वाचनसे प्राप्त नहीं होती। वह तो केवल लोक-जीवनके ज्वलन्त प्रश्नोंका निरन्तर उत्तर ढूंढ़ने वाली तीव्र बुद्धिसे उत्पन्न होती है। आखिरकार तो उसके मन्द और तीव्र वेगोंकी गतिके मूलमें इन ज्वलन्त प्रश्नोंसे सम्बद्ध संवेदन पड़ा हुआ है।

जिस प्रकार राजनीतिक नेतृत्वकी अपरिपक्वता दलको लोक-सम्पर्कसे दूर रखती है, उसी प्रकार अपरिपक्वता गुटबन्दी पैदा करती है। परिपक्व राजनीतिक पुरुष अपने जीवन-उद्देश्यके लिए अपनेको गुटबन्दीमें बँधने नहीं देगा। उसके पक्षमें रहने पर भी उसकी नजर प्रवहमान समाजगंगा और उसकी आवश्यकता पर रहेगी। उसकी नजर अन्ततः इसी बात पर टिकी रहेगी कि प्रवहमान समाज-गंगाका प्रवाह ठीक दिशामें और पूरे वेगसे बहता है या नहीं। राजनीतिक व्यक्ति स्वयं अपने लिए कुछ नहीं चाहता। उसके लिए मूल वस्तु है : प्रवहमान समाजगंगा और उसका उचित दिशामें प्रवाहित प्रवाह। अगर प्रवाह अपेक्षासे अधिक वेगवान होगा तो अच्छी और सबल वस्तु भी बह जायगी, जिसकी उसे चिन्ता है। अगर वह प्रवाह अपेक्षाकृत कम है तो उसे कीचड़, गंदगी जमा हो जानेकी चिन्ता है।

—गुटबन्दी उस समय प्रविष्ट होती है, जब प्रवाहके सामने नजर नहीं रहती और अपने स्थानसे सम्बद्ध विशेष सावधानी रहती है।

भारतवर्षको यह क्षति अपने संक्रान्तिकालमें बर्दाश्त करनी होगी। 'स्वराज्य-दर्शन' जैसे ग्रंथ हमें यह खोज निकालना सिखा सकेंगे कि हमारे लिए क्या इष्ट है।

आबादी और योजना पर हुआ विवेचन तथा असाम्प्रदायिकता पर हुआ विवेचन भी मननीय है। पुस्तकमें प्रस्तुत होनेवाला परिशिष्ट साहित्य मेरे सम्मुख नहीं है, जिसे मैं एक इष्ट वस्तु मानता हूँ। आमुख को लम्बा बनानेके लालचसे भी मैं बच जाता हूँ और लम्बे-चौड़े आमुख पढ़नेके कष्टसे पाठक भी निस्संदेह बच जायेंगे।

गंभीर चिन्तनके आधार पर अपनी भाषामें लिखे हुए इस प्रकारके ग्रंथ प्रजातंत्रके लिए अनिवार्य हैं। इतना कष्ट उठाकर ऐसी पुस्तक तैयार करनेके लिए लेखक तथा संयोजक मित्रोंको मेरा हार्दिक अभिनन्दन !

दो शब्द | प्रा० नगीनदास संघवी

जाग्रत समाजमें, विशेषतः जाग्रत प्रजातांत्रिक समाजमें राजनीति केवल राजपुरुषों अथवा प्रशासनिकोंका क्षेत्र नहीं है; वरन् समस्त जनताका रसक्षेत्र होता है और होना चाहिए। मात्र संविधान बना देनेसे, प्रसंगानुकूल चुनाव आयोजित कर देनेसे, योग्य दल या नेताको चुन देनेसे जनताका शासन स्थापित नहीं हो जाता और न वह टिक ही पाता है। राजनीतिक प्रवाहों और प्रसंगोंको समझने, समाज तथा राष्ट्रके सामने उपस्थित प्रश्नोंसे सम्बद्ध सतत चर्चा करने, अपने नेताओं तथा प्रशासनिक अधिकारियों पर सतत निगाह रखनेका धर्म प्रजातांत्रिक समाजका है। कारण कि स्वतंत्रताकी रक्षा करनेके लिए निरंतर रखवाली करने का मूल्य चुकाना पड़ता है। हमारे देशमें इस प्रकारकी समझदारी और रखवाली विशेषरूपसे आवश्यक हो गई है; क्योंकि प्रजातंत्रकी परम्परासे विहीन समाजमें और प्रजातंत्रके लिए घातक माने जा सकने वाले सामाजिक और आर्थिक ढांचेमें प्रजातंत्रकी स्थापनाका अभूतपूर्व और भगीरथ प्रयोग हमारे देशमें किया जा रहा है। यह महान् प्रयोग जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही रसप्रद है और उसमेंसे मिलने वाली सफलता-असफलताकी मीमांसा केवल भारतीय नागरिकोंके लिए ही नहीं; अपितु प्रजातंत्रमें विश्वास रखने वाले सभी जिज्ञासुओंके लिए उत्कट रसका विषय बन गयी है। अपने आसपास चल रही इस प्रक्रियामें गुजरातके ही नहीं, बल्कि देशके सर्वसाधारण शिक्षित नागरिकोंमें रुचि जाग्रत करनेके लिए आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करना इस ग्रंथका मुख्य उद्देश्य है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवनकी धारा इतनी सूक्ष्मतासे और इतनी तेज़ गतिसे बहती रहती है कि सामाजिक जीवनके चित्रको प्रस्तुत करनेवाला ग्रंथ लिखा जाय, इसके पूर्व ही वह बासी हो जाता है।

इस ग्रंथको वर्तमानके यथासंभव नज़दीक लानेका प्रयास किया गया है, फिर भी काम सर्वथा पूरा नहीं हो पाया और न पूरा हो ही सकता है; क्योंकि इस ग्रंथमें प्रसंगोंका निरूपण न किया जाकर उनका विवेचन करनेका प्रयास किया गया है। इस पर भी राजनीति या राजनीतिके अध्ययनमें तटस्थता बनाए रखनेका अशक्य काम करनेका प्रयास मैंने नहीं किया है। अपने पूर्वाग्रहोंको ढँकनेकी कोई मेहनत नहीं की है। विरोधपक्षके पक्षमें जितनी भी बातें हो सकती हैं, उनका उल्लेख कर मैंने अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है। महत्त्वपूर्ण किसी भी बातकी उपेक्षा या विकृति न हो, इस बातका पूरा ध्यान रखा है, फिर भी विद्वान् पाठकोंको इस प्रकारके उदाहरण अगर मिल जाएँ, तो इसे पूर्वाग्रह न मानकर मेरे अज्ञानका परिणाम ही माननेकी कृपा करें।

इस पुस्तकमें मेरा कुछ भी मौलिक होनेका दावा नहीं है। इस सम्पूर्ण ग्रंथमें शायद ही कुछ ऐसा हो, जो मेरी अपेक्षा अधिक समर्थ विद्वानोंके द्वारा अधिक अच्छे ढंगसे अन्यत्र प्रस्तुत न किया गया

हो। उनका मुझ पर वहुत वड़ा ऋण है और इसे मैंने कुछ अंशोंमें ग्रंथमें दी गई संदर्भ-सूची द्वारा स्वीकार भी कर लिया है।

इस पुस्तकके लेखन-कार्यमें मुझे अनेक महानुभावों और मित्रोंका सहयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने समस्त प्रकरणोंकी पांडुलिपिको देखकर और उनमें रह गई कमियोंकी ओर संकेत कर, उनमें वांछित सुधार आदि सूचित किए तथा उनकी भाषाको सुधार कर उन्हें अच्छी व्यवस्था प्रदान की है। बिल्कुल अपरिचित लेखकके रूपमें जब मैं माननीय ढेवरभाईके पास पहुँचा तो उन्होंने इसे देख जाना स्वीकार किया और अपनी ऋजु-कठोर परीक्षण-प्रक्रियामें उसे पूर्णतः पाया। अपनी व्यस्ततामें भी उसके तथ्यों, शैली, वाक्य-रचना और शब्दोंको तोला-मापा। इस ग्रंथमें जो कुछ भी संतुलित और प्रौढ़ दृष्टि दिखाई देती है, उसका श्रेय अधिकांशतः उन्हें जाता है। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि अगर मैं माननीय श्री ढेवर भाई तथा अन्य मित्रोंके द्वारा सुझाई गई बातोंको पूरी तरहसे स्वीकार सका होता तो यह ग्रंथ और अधिक अच्छा हुआ होता।

ग्रंथ-मालाके सम्पादक श्री भोगीभाईने इस ग्रंथके आरम्भसे लेकर अन्तिम स्वरूप ग्रहण करने तक प्रत्येक सोपान पर इतनी रुचि ली है कि वे इस ग्रंथके मात्र सम्पादक ही नहीं, वरन् सहलेखक भी बन गए हैं। तथ्य, प्रस्तुतीकरण तथा भाषा-शैलीके अनेक दोषोंको उन्होंने धो डाला है। उन्होंने समय-समय पर मुझे पत्र तथा मौखिक चर्चाओं द्वारा प्रोत्साहन दिया है और लगाम भी खींची है। मतभेदोंकी शुद्ध चर्चा करनेके बाद उन्होंने उदार भावसे मुझे अपने रास्ते पर स्वतंत्रतापूर्वक चलने दिया है। इन सब आदरणीय महानुभावोंका मैं आभारी हूँ। फिर भी इसमें जो कुछ है और जो नहीं है—उस सबका पूरा दायित्व तो मुझे ही स्वीकारना है।

'उदय'
कमला नेहरु क्रास रोड,
कांदीवली, बम्बई-६७

⊙

अधिकांश भागको देख सुझाव देनेवाले विद्वान् :

श्री उछ्रंगराय नवलराय ढेवर
डॉ॰ आलुबहन दस्तूर
प्रो॰ देवव्रत पाठक
श्री उत्सवभाई परीख
श्री नीरूभाई देसाई
प्रा॰ कीर्तिदेव देसाई
श्री यशवंत दोशी
श्री चन्द्रकान्त शाह

सम्पादकीय

⊙⊙

गुजरातीमें इस ग्रंथ-श्रेणीके ३० ग्रंथोंके प्रकाशनका आयोजन किया गया है। अब तक हिन्दीमें इस ग्रंथमालाके चार ग्रंथ अनूदित हो चुके हैं, यह पाँचवाँ ग्रंथ पाठकोंके हाथमें है।

मानविकीका आरम्भ 'स्वराज्य-दर्शन'से होता है और उसमें भी राजनीतिके ग्रंथसे, यह घटना ही क्या साहसिक नहीं है?

विज्ञान विषयसे सम्बद्ध ग्रंथोंके प्रणयनमें एक बातकी विशेष सुविधा थी : विषय चाहे कितना ही जटिल क्यों न हो, परन्तु एक बार विद्वानोंके हाथों मथे जानेके बाद और एक बार रूप ग्रहण कर लेनेके बाद अन्य चिंताएँ फिर कम ही रहती हैं। मानविकीके मामलेमें उल्टा अनुभव भी हो सकता है। मॉडल तय होनेके बाद तद्विदोंकी हथौड़ियोंसे उसका रूप बनना शुरू होनेके बाद ही वस्तुतः कसौटीका आरम्भ होता है। विज्ञान विषयमें, उसके प्रस्तुतीकरण पर चाहे कितनी ही विभिन्नता हो, पर मूलभूत बातोंमें अधिकतर मतैक्य ही रहता है और उसमें मतभेदोंके लिए कम अवकाश रहता है। मानविकीसे सम्बद्ध विषयोंमें प्रस्तुतीकरणको लेकर चाहे कितनी ही एकता प्रवर्तित हो, पर मूलभूत बातोंमें उग्र मतभेद बना रहना अधिक संभव है। दूसरे, विज्ञानके क्षेत्रमें अगर कभी कुछ मतभेद भी हो जाय तो उसे निभा लेनेकी उदार प्रणाली पर्याप्त रूपमें आजकल विकसित हो गई है और अधिकांशतः वह स्वाभाविक बन गई है; परन्तु मानविकीके क्षेत्रमें इस प्रणालीके बहुत कम विकसित होनेके कारण विषयकी चर्चा बहुत अधिक ऊहापोह जगाती हुई दिखाई देती है।

'स्वराज्य-दर्शन' [राजनीति]के विषयमें यह कहा जा सकता है कि इसमें दिए गए प्रत्येक विषय पर वाद-विवाद खड़ा हो सकता है और उसमें केवल विद्वान् ही नहीं; अपितु रेलों-बसोंके यात्री, नगरोंमें गली-कूचोंमें रहने वाले परिवार तथा चौपालों पर बैठने वाले गाँव वाले बड़ी संजीदगीसे बहसें करते मिल सकते हैं। अनेक बार तो ऐसा आभास भी होता है कि हमारा देश जगत्के किसी भी देशकी तुलनामें अधिक राजनीतिक जागृति रखने वाला है।

स्वराज्य मिलने पर देशकी प्रजाके मनमें अनेक अपेक्षाएँ जागी हैं, इसकी तुलनामें प्राप्त उपलब्धियोंसे वह चिढ़ गई है। एक या दूसरे प्रकारसे अपना मन्तव्य प्रकट करती है और उसमें भी अगर कुछ आश्वासन न मिले तो न करने योग्य कार्य करने पर उतर आती है। इसका अर्थ यह है कि वे नेतागण, जिनके सिर पर प्रजाको सच्चे राजनीतिके सिद्धान्तोंके प्रकाशमें सभी घटनाओंके मूल्यांकन करनेका प्रशिक्षण देनेका दायित्व था, अपने कर्तव्यसे च्युत हुए हैं।

सभी प्रजातांत्रिक देशोंमें प्रजाका स्वस्थ बौद्धिक निर्माण करनेका काम हमेशा एक चुनौती-के समान होता है। बाहरी घटनाएँ जितनी सरल दिखाई देती हैं, उतनी सरल नहीं होतीं। तद्विप-

यक उचित निर्णय पर पहुँचनेके पूर्व आवश्यक जानकारी और बौद्धिक दृष्टिकोणके साथ, स्वस्थ-समन्वयी दृष्टिकोण आवश्यक है। राजनीतिक दल नींवके इस कामको बहुत स्थूल दृष्टिसे व सीमित रूपमें करते हैं। ऐसी दशामें नींवका यह पुख्ता काम पूरा करना विश्वविद्यालयों और बुद्धजीवियोंके सिर पर है।

आजके युगमें, जब सभी कुछ 'राजनीति' बनता जा रहा है, और वह भी प्रवहमान राजनीतिके रूपमें, उस समय उसके स्थायी तत्त्वोंका दर्शन परिवर्तनमान घटनाओंके संदर्भमें करना आवश्यक है। यह दूसरी बात है कि इस प्रकारका मूल्यांकन हमें ऊहापोहमें डाले बिना नहीं रहेगा। हमारे इस ग्रंथके आमुखमें श्री ढेबरभाईने इसका शुभारम्भ कर दिया है और हमें आशा है कि विद्वानों और जागरूक सम्भ्रान्त नागरिकों द्वारा इस विचार-मंथनकी प्रक्रियाको वेग प्राप्त होगा। हमारे लिए तो ग्रंथकी यही सार्थकता है।

यह काम अत्यन्त भगीरथ है। एक लेखक, एक ग्रंथ या एक संस्थाकी शक्तिके बाहर है यह काम करना। फिर भी प्रजातंत्रकी इसीमें शान है, इसीमें प्रजातंत्रका उज्ज्वल भविष्य है कि जिसे इस मूलभूत बातकी प्रतीति हुई है; वह या ऐसे सब, इस दिशामें अपना सन्निष्ठ पुरुषार्थ करे या करें।

इस दृष्टिसे यह ग्रंथ सच्ची दिशामें किया गया साधारण-सा प्रयास है। इस ग्रंथके मुख्य लेखक प्रा० नगीनदास संघवीने ग्रंथमालाकी योजनाके लक्ष्यको ध्यानमें रख कर बहुत कष्ट उठाया है। उनकी मूल हस्त-प्रतिको पढ़ जाने वाले विद्वानों तथा सम्पादकों द्वारा दिए गए सुझावोंमेंसे यथासंभव अधिकांशको स्वीकार कर इन्होंने मनकी उदारता और वैचारिक परिपक्वताकी प्रतीति कराई है—जो सम्पादकोंके लिए भविष्यके प्रयोगोंकी दिशामें उत्साहप्रद और आशाप्रद बन जायगी।

इस ग्रंथको समृद्ध बनानेके प्रयासमें प्रा० कीर्तिदेव देसाईने आरम्भके दो महत्त्वपूर्ण प्रकरण लिख कर तथा सम्पादनके काममें आद्यन्त अत्यन्त सावधानीपूर्वक सहयोग व सहायता देकर हमारे कठिन पंथको सरल बनाया है, तदर्थ हम उनके आभारी हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे अनेक विद्वानोंने (नामावली अन्यत्र दी गई है) प्रो० संघवी तथा सम्पादकोंकी इच्छाको सम्मान देकर इस ग्रंथके अधिकांश भागको अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक तथा बारीकीसे देखकर बहुतसे ठोस व बहुमूल्य सुझाव दिए हैं, अतः हम उन सब मित्रोंके ऋणी हैं।

विशेषतः इस ग्रंथका आमुख लिखनेके लिए लेखक-सम्पादकोंकी विनतीको स्वीकार कर आदरणीय श्री ढेबरभाईने बहुत थोड़ेमे समयमें जो विस्तृत आमुख लिख दिया है, तदर्थ उनके प्रति हम अपनी आभार-भावना प्रकट करते हैं।

इस ग्रंथके लिए सूचनाएँ तथा फोटो उपलब्ध कराने वाले सभी मित्रोंके प्रति आभार।

हमारी यह विशेष अपेक्षा है कि प्रस्तुत ग्रंथका विषय और उसका विस्तृत विश्लेषण अध्ययनशील वर्तुलोंमें ऊहापोह जगाए।

इस ग्रंथके प्रकाशनमें असाधारण विलम्बके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

—सम्पादकगण

अनुक्रमणिका

⊙ ⊙

चित्र : नक्शे : रेखांकन

●

⊙ संविधानकी मूल प्रति पर हस्ताक्षर करते हुए पं० नेहरू

The woods are lovely, dark and
deep,
But I have promises to keep,
And miles to go before I sleep
And miles to go before I sleep.

Robert Frost

⊙

पं० नेहरूकी मेज पर रखी डायरीमें उनकी हस्तलिपिमें
लिखित कवि रॉबर्ट फ्रोस्टकी प्रेरक पंक्तियाँ

सरदार पटेल : पण्डित नेहरू

⊙

१ : भारतीय राजनीति - प्रथा और प्रक्रिया

राजनीति समाजके सत्तातंत्रके आसपास आकार लेनेवाली प्रक्रिया है। व्यवस्था और अनुशासनकी अमुक मात्रा समाजके संरक्षण और संवर्द्धनके लिए एक अनिवार्य पूर्व शर्त है। व्यवस्था और अनुशासनकी यह मात्रा यदि सहज और ऐच्छिक रूपमें प्रकट होती है तो बल और बाध्यता पर आधारित सत्तातंत्रकी जरूरत नहीं रहेगी। परन्तु मानव-स्वभावकी अपूर्णताके कारण ऐसे राज्य-विहीन समाजका बनना संभव नहीं हुआ है, इसलिए प्रत्येक मानव-समाजमें कम या ज्यादा अंशोंमें बल पर आधारित सत्तातंत्र अनिवार्यतः अपना अस्तित्व रखता है।

ऐसे सत्तातंत्र या राज्यके तीन मुख्य काम होते हैं : १. कानून और व्यवस्थाका सर्जन करना; २. ऐसे महत्वपूर्ण जीवन-मूल्यों पर, जिन्हें अनिवार्य रूपसे अमल करानेकी ज़रूरत पड़ने पर भी समाज इष्ट रूपमें ही देखे, लाज़िमी तौर पर अमल कराना। दूसरी तरहसे कहना चाहें तो समाजके मूल्य-ढांचे (Value Structure) का संरक्षण करना; ३. अनेक प्रकारके प्रति-स्पर्धी हितों और दावों का न्यायकर उनके बीच प्राधिकारिक चुनाव करना। समाजके परस्पर विरोधी और वैकल्पिक हितोंके बीच राज्यके उचित हितको अपनी सम्मति और अपने बलके द्वारा समर्थन देना। राज्यशास्त्रमें इसे मूल्योंका प्राधिकारिक विनिधान (Authoritative allocation of Values) कहा जाता है। इस प्रकार राज्य समाजमें व्यवस्था, मूल्य-संरक्षण और स्पर्धा-निराकरणके लिए सत्ताकेन्द्र बना रहता है।

इन कार्योंको पूरा करनेके लिए राज्यको सर्वदेशीय और अनिवार्य अधिकार-क्षेत्र (Universal & Compulsory Jurisdiction) दिया गया है। ज़रूरत पड़ने पर बल-प्रयोगकी सत्ता राज्यको दी गई है। इतना ही नहीं पर दूसरी तरफ समाजकी दूसरी किसी भी संस्था द्वारा बल-प्रयोग कानूनी तौरपर निषिद्ध घोषित किया गया है। इस प्रकार राज्यके पास ही "बलके कानूनी प्रयोगका एकाधिकार" (Monopoly of legal use of force) है। किसी भी व्यक्तिके लिए राज्यका सदस्य होना ज़रूरी है और उसका राज्यके कार्य-प्रभावोंसे मुक्त होना संभव नहीं।

इस स्थितिमें व्यक्तिके सामने एकमात्र विकल्प राज्यकी निर्णय-प्रक्रिया पर अपने हितोंके पक्षमें प्रभाव डालना रह जाता है। समाजके विविध वर्ग इस बातके लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि राज्यके निर्णय उनके मूल्यों या हितोंके पक्षमें आयें। राज्य-सत्ता अथवा राजनीतिक प्रभाव (Political Influence) डालनेकी यह स्पर्धा राजनीतिका मर्म है। इसीलिए हेरोल्ड लासवेल राजनीतिको "सत्ताके सर्जन और सहभागिताका अध्ययन" कहता है; इसके अतिरिक्त उसने अपनी एक पुस्तकका

नाम भी खूब सूचक दिया है—"राजनीति : किसे क्या, कैसे और कब मिलता है ?" (Politics : Who Gets, What, How and when) ?

राजकीय प्रभावके लिए स्पर्धाके रूपमें यदि राजनीतिको देखें तो राजनीतिमें दो तत्त्व मुख्य भाग अदा करते हैं : (१) समाजमें विविध वर्गोंके न्यूनाधिक सामाजिक आर्थिक और राजकीय सामर्थ्यके कारण रचा हुआ समाजका अतिस्तरित (Highly Structured) सत्ता-ढाँचा; (२) इस सत्ता-ढाँचेके अलग-अलग स्तरों पर काम करने वाले विविध वर्गोंके बीच आपसी सम्बन्ध। इस प्रकार समाजका सत्ता-ढाँचा और उसमें आकार लेनेवाले आपसी संबंध राजनीतिके दो पहलू हैं। प्रथमका स्वरूप यदि तांत्रिक है तो दूसरेका प्रक्रियात्मक (Processual)। किसी भी समाजमें रचे जाने वाले इस प्रकारके सत्ता-ढाँचे तथा आपसी संबंधोंके मूलभूत और स्थायी तौर-तरीकों (Patterns)को राजकीय प्रथा (Political System) कहा गया है।

किसी भी राजकीय प्रथाकी अलग ऐसी सृष्टि होती है और उसकी अलगता इतनी व्यापक हो गई है, उसके अपने अलग-अलग सत्ता-ढाँचे, कार्य-रीतियाँ और शैलियाँ होती हैं कि राजनीतिके सार्थक अध्ययनके लिए राजकीय प्रथाका ज्ञान पिछले ढाई दशकोंमें अनिवार्य बन गया है।

प्रणालीगत राजनीति-शास्त्रके अपेक्षाकृत अधिक औपचारिक, उपदेशात्मक और संस्थाकीय अभिगमके विरोधमें सन् १९०८में क्रमशः ग्रेहाम वोलास और आॅर्थर बेण्टलीने मानव-व्यवहार और सामाजिक संदर्भके अनौपचारिक पहलुओंको अधिक महत्व देना शुरू कर दिया था। उसके बाद सन् १९२५में प्रकाशित चार्ल्स मेरियमके अध्ययनने इस नए अभिगमको स्पष्ट रूप दिया। इस तरह इस सदीके प्रथम भागमें प्रथागत अथवा व्यवहार-प्रधान राजनीति (Systematic or behavioural Politics)का जन्म हुआ। परन्तु व्यवहारप्रधान राजनीतिकी परम्पराका प्रभावशाली विकास तो दूसरे विश्वयुद्धके बाद ढाई दशकोंमें हुआ। राजनीति-शास्त्रके इस नए अभिगमकी परम्परामें राजकीय प्रथाका भाव केन्द्रवर्ती है। किसी भी राजनीतिके सत्ता-ढाँचे और सत्ता-संबंधोंके सर्वांगीण और सम्पूर्ण चित्रको राजकीय प्रथा कहा गया है। राजकीय प्रथा राजकीय वास्तविकता समझनेका भावात्मक नक्शा या नमूना ही है; परन्तु वह वास्तविकता नहीं है। राजकीय प्रथाका यह आत्म-निष्ठ व ख्यालात्मक स्वरूप भुलाया नहीं जाना चाहिए। इस प्रकार राजकीय प्रथा संकुल वास्त-विकताको समझनेके लिए अमूर्त्त और विश्लेषणनिष्ठ अवधारणात्मक ढाँचे (Conceptual frame-work)से अधिक कुछ नहीं है।

किसी भी राजकीय प्रथाके चार अंग हैं : (१) संरचना (Structure), (२) कार्य (Functions), (३) व्यक्ति अथवा वर्ग द्वारा राजनीतिमें निभाई जानेवाली भूमिका (Roles), (४) राजनीति और सत्ताके प्रति समाजके मूल्य, दृष्टिकोण, कार्य-पद्धतियों और शैलियोंमेंसे उभरती हुई राजकीय संस्कृति (Political Culture)। ये चारों अंग किसी भी राजकीय प्रथामें मौजूद होते हैं, यद्यपि उनकी लाक्षणिकताएँ और उनके स्वरूप अलग-अलग होते हैं। उदाहरण देना हो तो इन चार अंगोंको मानव-शरीरके उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। शरीरको ढाँचा प्रदान करनेवाला अस्थिपंजर और अलग-अलग अवयवोंके निश्चित क्रममें व्यवस्थापनको ढाँचा कहा जा सकता है; जबकि रक्त-प्रसार, श्वासोच्छ्वास, दर्शन, श्रवण, पाचन आदि शरीरकी प्रक्रियाओंको कार्य (functions) कहा जायगा। व्यक्तिगत अवयवों द्वारा समग्र शरीरमें अदा किए जाने वाले

रोलको व्यक्तिगत रोल या भूमिका कहा जायगा और प्रत्येक मानव-शरीरकी व्यक्तिगत लाक्षणिकताओं अर्थात् प्रक्रियाओं और प्रत्याघातोंमें मौजूद विशिष्टताओंको संस्कृति अथवा कार्य-शैली कहा जा सकता है।

इस तरह ये चार अंग राजकीय प्रथाके प्रमुख घटक या इकाई हैं। किसी भी राजकीय प्रथामें संरचना तथा कार्य होने ही चाहिएँ। जिस तरह हाड़पंजरके विना मानव-शरीरका होना संभव नहीं है, उसी प्रकार संरचनाके विना राजकीय प्रथा संभव नहीं। इसी प्रकार किसी भी राजकीय प्रथाको अमुक काम तो करने ही पड़ते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राजकीय प्रथामें राजनीतिके मुख्य काम तो समान भावसे ही वर्तमान होते हैं।

राजकीय प्रथाके ऐसे सर्वसामान्य कामोंकी सर्वांगीण व सर्वसम्मत सूची देना तो कठिन है, किन्तु कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं:

(१) कानूनका सर्जन, (२) कानूनका निष्पादन, (३) कानूनका अर्थघटन, (४) राजकीय समाजीकरण (Socialisation) : राजनीति और सत्ता-संबंधी समाजके मूल्य, दृष्टिकोणों, कार्यपद्धतियों और शैलियोंको नई पीढ़ी या नवागन्तुकोंमें संक्रान्त करनेका कार्य, (५) राजनीतिकरण (Politicisation) : समाजके अराजकीय वर्गों व समूहोंको सक्रिय राजनीतिमें रस और भाग लेनेमें प्रवृत्त करनेकी प्रक्रिया, (६) सक्रिय भाग और भरती (participation & recruitment) : राजनीतिके विविध क्षेत्रों और भूमिकाओंमें काम करने वाले व्यक्तियोंकी सक्रिय भागीदारी और भरतीको पोषित करनेवाली प्रक्रिया, (७) हित-संज्ञानता (Interest Articulation) : विविध वर्गों और समूहोंको अपने हितोंके संबंधमें सजग, सचेतन और आग्रही बनानेका काम, (८) हित समूहन (Interest Aggregation) : राजकीय प्रभाव पानेके लिए बड़े पैमाने पर काम करना संभव हो, इसलिए विविध वर्गोंको बड़े-बड़े मोर्चोंमें संगठित करनेका काम। विविध वर्गोंके समूहन और समन्वयमेंसे आकार ग्रहण करनेवाले राजनीतिक दलोंका सर्जन हित समूहनकी प्रक्रियाका उत्तम उदाहरण है, (९) राजकीय संचार-व्यवस्था (Political Communication) : राजकीय प्रथामें भाग लेनेवाले विविध कक्षा और विस्तारोंके वर्गोंके बीच विचारों व विवादोंका संचरण-कार्य। उदाहरणार्थ, समाचारपत्र, रेडियो, सभा आदि। (१०) अन्यसंक्रामण (alienation) : राजनीतिमें प्राप्त असफलता व हतोत्साहके कारण राजनीतिसे अन्यत्र संक्रामणकी प्रक्रिया।

संरचना और कार्योंकी सार्वभौमिकता (universality) ही विविध देशों व विविध समयोंकी राजनीतिको समानता प्रदान करती है। इस पर भी संरचना और कार्यके स्वरूप तथा लाक्षणिकताओंसे सम्बद्ध विविध राजकीय प्रथाओंके बीच विभिन्नता बनी रहती है, यह भूलना नहीं चाहिए।

इस ढंगसे राजकीय प्रथाका अवधारणात्मक ढाँचा राजनीतिके सार्थक अध्ययनके लिए आवश्यक परिप्रेक्ष्य (perspective) प्रदान करता है। राजनीतिके विविध अंगों और कार्योंकी संरचनात्मक व्यवस्था और कार्य-पद्धतिकी समग्र व सर्वांगीण अवधारणाके संदर्भमें ही राजनीतिका उचित अध्ययन हो सकता है। राजकीय प्रथाके अध्ययनके लिए दो प्रकारके ध्यान-केन्द्र विकसित हुए हैं: (१) प्रथाके स्तर, (२) प्रथाका परिपालन और परिवर्तन।

राजकीय प्रथाके तीन स्तर कल्पित किए गए हैं : प्रथम, राजनीतिको उसकी समग्रतामें और विशाल फलक पर देखनेका वृहद् स्तर। इस प्रकार राजकीय प्रथाके समग्र विस्तारको आवृत कर लेने वाले विहंगावलोकन जैसी अध्ययन प्रथाको वृहद्-राजनीति (macro-politics) कहा गया है। दूसरा, राजनीतिमें भाग लेनेवाली छोटीसे छोटी इकाई—व्यक्तिको महत्व देकर वैयक्तिक अथवा वर्गीय राजनीतिक व्यवहार पर बल देने वाला सूक्ष्म स्तर, जो अध्ययन-प्रथासे निस्सृत सूक्ष्म-राजनीति (micro-politics) है। तीसरा, व्यक्ति और समग्र राजकीय प्रथाको संकलित करने वाले समाचारपत्रों, दलों, दाववर्गों जैसी समस्याओं पर भार देने वाला शृंखला-स्तर है और उसमेंसे शृंखला राजनीति (link-politics) आकार लेती है। इस प्रकार राजकीय प्रथाके विविध स्तरों पर भार देनेवाले विविध अध्ययन-अभिगम प्रकट हुए हैं।

राजकीय प्रथाके अध्ययनका दूसरा केन्द्रबिन्दु प्रथाके परिचालन और परिवर्तनके आसपास विकसित हुआ है। प्रथा-परिचालन (System-operation)में प्रथाके प्रतिदिनकी कार्य-पद्धति और प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया जाता है, जबकि दूसरी ओर प्रथा-परिवर्तन (System-change)में परिवर्तनके परिबलों व प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया जाता है।

इस प्रकार प्रथा-परिचालन और प्रथा-परिवर्तन राजकीय जीवन और राजकीय विकासके दो अविभाज्य पहलू हैं। परिचालन और परिवर्तनके बीचका विभाजन विश्लेषणात्मक अवधारणा मात्र है। वास्तवमें परिचालन और परिवर्तनकी प्रक्रियाएँ एक दूसरेसे इतनी गुँथी हुई हैं कि उन्हें अलग करना मुश्किल है। किसी भी राजकीय प्रथाके परिचालन और परिवर्तनकी पद्धतियोंमेंसे ही जीवन्त राजनीति उत्पन्न होती है।

विविध देशोंकी राजकीय प्रथाओंमें संरचनात्मक अनिवार्यता और मूलभूत प्रक्रियाएँ सर्व-सामान्य रूपसे रहती हैं। किसी भी राजनीतिमें सत्तातंत्र और राजकीय समाजीकरण, भरती, हितसंज्ञानता, हितसमूहन, राजकीय संचार जैसे राजकीय कार्य एक-से होते हैं। यों विश्वके विविध देशों व समयोंकी राजनीतिको देखें तो उनमें ऐसे ही लघुतम सामान्य अवयव मिलते हैं। सर्वव्यापी समानताके ऐसे तत्त्व राजनीतिको सार्वदेशिक आयाम (universal dimensions) प्रदान करते हैं।

राजकीय संरचना और प्रक्रियाओंके ऐसे सर्वव्यापी स्वरूपके संदर्भमें भी विविध प्रकारकी भिन्नताके लिए अवकाश रहता है। राजकीय संरचना प्राथमिक या विकसित? सादी या संकुल? राजकीय संरचनामें विभिन्नीकरण (Differentiation) और विशिष्टीकरण (Specialisation) की मात्रा कितनी है? संरचनाके विविध अंग समाज-व्यवस्थामें कितनी स्वायत्तता अनुभव करते हैं? संरचनाके कौनसे अंग किस प्रकार राजकीय कार्य करते हैं?—ऐसे अनेक प्रश्नोंके उत्तर किसी भी राजकीय प्रथाकी संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक विशिष्टताएँ बाहर लाते हैं। यों संरचना और प्रक्रियाओंकी मूलभूत समानता होने पर भी उनके स्वरूप और लाक्षणिकताओंकी विभिन्नताओंमेंसे प्रत्येक राजकीय प्रथाका अलगाव या व्यक्तित्व उभरता है।

विविध राजकीय प्रथाओंकी संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक लाक्षणिकताओंकी तुलना और वर्गीकरण पर भार देने वाले अभिगमने तुलनात्मक राजनीति (Comparative politics) के नए उप-शास्त्रको जन्म दिया है। प्रथा-परिचालन और प्रथा-परिवर्तनके परिबलों और प्रवाहोंके अनुरूप विश्वकी विविध राजकीय प्रथाओंका अर्थपूर्ण वर्गीकरण करनेका प्रयत्न एरिस्टोटलके ज़मानेसे होता आया है।

दूसरे विश्वयुद्धके बाद विकसित हुई व्यवहार प्रधान राजनीतिने प्रथा-तुलनाके शास्त्रमें एन परिणाम जोड़े हैं। मुख्यत: पश्चिमी विश्वकी राजनीतिके अनुभव पर रचित राज्यशास्त्रके सिर पर सन् १९४५के बाद जन्मे अनेक एशियन और अफ्रीकन राज्योंको समझाने व उनका आदर करनेकी जिम्मेदारी आ पड़ी है। इस नई चुनौतीने एक तरफ तो तत्कालीन राज्यशास्त्रकी अवधारणाओं और पद्धतियोंकी अपूर्णता दिखा दी है तो दूसरी ओर पश्चिमी और अ-पश्चिमी विश्वकी राजनीतिक वास्तविकताओंके बीचके अकल्प्य अन्तर पर प्रकाश डाला है। पश्चिमी राज्यशास्त्रको अधिक विश्व-व्यापी (universal) बनाने तथा अ-पश्चिमी राजनीतिको समझनेके लिए नई धारणा और नए परिप्रेक्ष्य विकसित करनेके महाश्रमसे पश्चिमी और अ-पश्चिमी राजनीतियोंके बीच प्रकार-भेद (अथवा वर्गीकरण) विकसित हुआ है।

अर्वाचीन प्रथा-तुलनामें पश्चिमी और अ-पश्चिमी राज्योंके बीचकी यह नयी प्रकार-व्यवस्था (typology) खूब अर्थपूर्ण और असरकारक बन गई है। इस प्रकार-व्यवस्थासे सम्बद्ध साहित्यको विकसित करनेमें गेब्रियल आलमण्ड, ल्यूसियन पाई, डेविड एप्टर जैसे राजनीतिशास्त्रियोंने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अभी तक इस प्रकार-व्यवस्थाकी परिभाषाके सम्बन्धमें मतैक्य नहीं हो सका है। यूरोप-अमेरिकाके राष्ट्रों और एशिया-अफ्रीकाके राष्ट्रोंके बीचकी इस प्रकार-व्यवस्थाका वर्णन करनेके लिए अनेक शब्दयुग्मोंका उपयोग हुआ है—पश्चिमी और अ-पश्चिमी राष्ट्र, विकसित और विकसनशील राष्ट्र, उद्योगप्रधान और कृषिप्रधान राष्ट्र, परिपक्व और नवोदित राष्ट्र आदि।

पश्चिमी औद्योगिक तथा विकसित राष्ट्रों और अ-पश्चिमी खेतीप्रधान तथा अर्द्धविकसित या विकसनशील राष्ट्रोंकी विभिन्नताएँ नवोदित राष्ट्रोंकी राजनीतिको समझनेके लिए अमूल्य संदर्भ उपस्थित करती हैं। इस कारण ही भारतीय राजनीतिकी विशिष्टताओंके अध्ययनकी पृष्ठभूमिके रूपमें पश्चिमी और अ-पश्चिमी राजनीतियोंके तुलनात्मक अंशोंको नोट करना अपेक्षित है।

दूसरे विश्वयुद्धके बाद अफ्रीका और एशियामें अस्तित्व प्राप्त राष्ट्र पश्चिमी राष्ट्रोंसे राज-नीतिक विकासकी मात्रा और प्रश्नोंकी अग्रतामें इतने अधिक अलग हो जाते हैं कि यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि उनकी 'सृष्टि' ही अलग है। जितने अंशोंमें पश्चिमी राष्ट्रोंसे अ-पश्चिमी राष्ट्र अलग हैं, उतने ही अंशोंमें विविध अ-पश्चिमी राष्ट्रोंके बीच समानता भी है। राजकीय जीवन-समक्षकी चुनौतियों और राजनीतिकी मूलभूत पद्धतियोंसे सम्बद्ध विविध नवोदित राष्ट्र अच्छी खासी समानता रखते हैं।

नवोदित राष्ट्रोंके सामने चार मुख्य प्रश्न हैं : (१) स्वतंत्रताका संरक्षण, (२) राष्ट्रीय एकीकरण, (३) औद्योगिक विकास और (४) आधुनीकरण। लम्बे समयके बाद और अनेक संघर्षोंके पश्चात् स्वातंत्र्य प्राप्त करनेके कारण अ-पश्चिमी राष्ट्र स्वातंत्र्यके मामलेमें जरूरतसे ज्यादा संवेदनशील हैं, सजग हैं। नए राष्ट्रोंकी निर्बलता और अविकसितताके कारण उनके स्वातंत्र्यको अनेक दिशाओंसे भय रहता है। इस परिस्थितिमें राष्ट्रीय स्वातंत्र्यका संरक्षण अधिकांश नवोदित राष्ट्रोंके लिए सर्वाधिक महत्वका प्रश्न है। दूसरा महत्त्वका प्रश्न सभी अ-पश्चिमी राष्ट्रोंके लिए है राष्ट्रीय एकीकरणका। यूरोपीय उपनिवेशवादके नीचे विविध और विभिन्न प्रदेश-समूहों और सांस्कृतिक वर्गोंको एक तंत्रके अन्तर्गत लाया गया था। राजकीय इकाईकी सांस्कृतिक संश्लिष्टता (Cultural Cohesion)को अधिकांशतः साम्राज्यवादी नीतियोंमें प्रधानता नहीं दी जाती

थी। परिणामतः विभिन्न वर्गों पर ऊपरसे लादे गए उथले एकीकरणसे बननेवाली कृत्रिम एकता-की नींव पर रचित नए राष्ट्रोंका राष्ट्रवाद निर्बल रहा है। इसके अलावा उपनिवेशवादियोंकी भेद उत्पन्न कर राज करनेकी नीतिके कारण इस कमज़ोर राष्ट्रवादमें विभाजनकी शक्तियोंको बल मिला है। इस प्रकार एक ओर तो विभिन्न वर्गोंके बीच बनावटी और उथली एकता बनाए रखनेकी नीति, तो दूसरी तरफ उपनिवेशवादी भेद-नीतिके कारण नवोदित राष्ट्रोंके सामने राष्ट्रीय एकीकरणकी महान चुनौती खड़ी है; विभिन्न समूहोंको नई राजकीय इकाईमें आत्मसात् और एकीकृत करना रह गया है। नाइज़ीरियाका आन्तरिक विग्रह, कांगोमें कटांगाका विद्रोह, पाकिस्तानके सामने पठानोंका आन्दोलन, भारतमें नाग और मीज़ों जातियोंका प्रश्न, बर्मामें कारेन विद्रोही—ये सब और इन जैसे अनेक प्रश्न अपूर्ण एकीकरणमेंसे उद्भूत प्रश्न हैं। तीसरा, ये सब राष्ट्र आर्थिक दृष्टिसे खूब पिछड़े हुए हैं। तेज़ीसे बढ़नेवाली आबादी, कम उत्पादन और लगभग नहींवत् बचतकी दर—ये इन राष्ट्रोंके समान प्रश्न हैं। इस परिस्थितिमें शीघ्र उद्योगीकरण और आर्थिक विकास—ये इन राष्ट्रोंके प्राणप्रश्न हैं। इस कारण सभी अ-पश्चिमी राष्ट्र उद्योगीकरणके लिए उत्कट प्रयत्न कर रहे हैं। चौथा, नवोदित राष्ट्रोंका समाज-जीवन परम्परागत और रूढ़िवादी है। रूढ़ि, रिवाज़ों व शंकाओंका जनसामान्य पर खूब प्रभाव है। नवोदित राष्ट्रोंके समक्ष मुख्य प्रश्न है रूढ़िगत समाजोंमेंसे तार्किक और आधुनिक समाजोंका सर्जन करना। इन समाजोंमें विशिष्ट वर्ग (elite) आधुनिक तथा पश्चिमी शिक्षा प्राप्त है; जबकि सामान्य जनसमूह अभी तक रूढ़ि, परम्परा और अज्ञानमें लिप्त है। नवोदित राष्ट्रोंमें आधुनिक विशिष्ट वर्ग समाजको आधुनीकरणकी ओर ले जानेकी कोशिश कर रहा है। परिणामस्वरूप, आधुनिक विशिष्ट वर्ग और प्रणालीगत जनसमूहके बीच तनाव और संघर्ष जन्म ले लेता है। सदियों पुराने प्रणालीगत समाजोंका आधुनीकरण एक अत्यधिक संकुल और नाज़ुक प्रक्रिया है। अफ्रीका और एशियाके नवोदित राष्ट्रोंके सामने ये चार महाप्रश्न उनके राजकीय जीवन पर छाए हुए हैं। ये एक-सी चुनौतियाँ अ-पश्चिमी राष्ट्रोंकी राजनीतिको समानता देती हैं।

चुनौतियों, परिस्थिति और विकासकी मात्रात्मक समानताके कारण अ-पश्चिमी राष्ट्रोंके समाज-जीवन और राजनीतिकी रीतमें खूब समान लाक्षणिकताएँ देखनेको मिलती हैं।

पहले तो नवोदित राष्ट्र कृषिप्रधान हैं और टेक्नोलोजीके विकासमें पिछड़े हुए हैं। अधिकांश प्रजा गाँवोंमें रहती है और शहरीकरणकी प्रक्रिया धीमी है। खेतीप्रधान समाजमें कुटुम्ब और जाति जैसी प्राथमिक संस्थाओं (Primary Institutions)का प्राबल्य अधिक होता है, जबकि औद्योगिक समाजमें दलों, मजदूर संगठनों, वर्गगत हित-समूहों, स्वैच्छिक मण्डलों जैसी गौण संस्थाओं (Secondary Institutions)का अस्तित्व और प्रभाव अधिक होता है। इसके अतिरिक्त खेतीप्रधान समाजमें लोगोंका व्यवहार अधिकतर सामाजिक स्तर और रिवाज़ों (Status & Customs) पर आधारित होता है, जबकि औद्योगिक समाजमें मानव-सम्बन्ध अपनी-अपनी पसंद और कानून (Contract and Law) पर निर्भर करते हैं। सामाजिक व्यवहार, धंधेका चुनाव आदि विविध प्रश्नोंके प्रति अभिगमों और दृष्टिकोणोंमें व्यक्ति-केन्द्रित मुक्त पसंदके बदले समाज-केन्द्रित रूढ़िगत स्तरोंका प्राबल्य खेतीप्रधान समाजोंमें रहता है। इस प्रकार अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें खेतीप्रधान समाजके कारण प्राथमिक संस्थाओंका प्रभाव और व्यक्तिगत मुक्त पसंदके बदले स्थानगत रूढ़ि-स्तरोंका वर्चस्व रहता है।

दूसरे, अ-पश्चिमी राजनीतिका संरचनात्मक ढाँचा अल्पविकसित और प्राथमिक होता है। संरचनात्मक विभिन्नीकरण (Structural differentiation)की मात्रा कम होनेके कारण अ-पश्चिमी राष्ट्रोंके संरचनात्मक ढाँचेमें विशिष्टीकरण (Specialisation) या स्वयत्तता विकसित नहीं होती। इसके विरोधमें पश्चिमी राजनीतिका संरचनात्मक ढाँचा संकुल, विकसित और विशिष्टीकृत होता है। उसके ढाँचेमें प्रत्येक अंग अपना निश्चित विशिष्ट काम ही करता है। उदाहरणार्थ, अमीबासे प्राथमिक प्राणीमें अलग-अलग कामोंके लिए विविध अंगोंका विभिन्नीकरण या विशिष्टीकरण नहीं हुआ होता। लगभग सभी काम एक ही जीवकोशके थोड़ेसे अंग करते हैं, जबकि दूसरी तरफ मानवके समान विकसित प्राणीमें अलग-अलग कामोंके लिए अनेक कोशयुक्त अलग-अलग अंग विकसित हुए हैं अथवा यों भी कहा जा सकता है कि जहाँ दो-तीन व्यक्तियोंका छोटासा कार्यालय होता है, वहाँ सभी काम एक या दो आदमी करते रहते हैं; परन्तु सैकड़ों व्यक्तियोंसे भरपूर तंत्रमें अलग-अलग कामोंके लिए विशिष्ट व्यक्ति निश्चित होते हैं। इस तरह, संरचनात्मक विभिन्नीकरणकी दृष्टिसे पश्चिमी और अ-पश्चिमी राजनीतिमें मौलिक अंतर रहता है।

तीसरे, अ-पश्चिमी राजनीतिका भूमिका-ढाँचा (role-structure) अस्थायी होता है। भूमिका राजनीतिक व्यवहारकी लघुतम इकाई है। अनेक भूमिकाओंकी सौपानिक व्यवस्थाकी स्थायी पद्धति ही संरचनात्मक ढाँचा है। पश्चिमी राजनीतिमें ऐसी भूमिकाएँ स्थायी और विशेषीकृत होती है। विकसित विशिष्टीकरणके कारण एक अंग दूसरे अंगकी भूमिका अदा नहीं कर सकता। परन्तु अ-पश्चिमी राजनीतिमें भूमिकाएँ अस्थायी और अविशिष्टीकृत होनेकी वजहसे विविध संरचनात्मक अंग एकसे अधिक भूमिका अदा कर पाते हैं अथवा आपसी भूमिकाओंकी अदल-बदल कर सकते हैं। अल्पविकसित राष्ट्रोंमें सेना संरक्षणके अलावा राजनीतिक पक्षोंका भी काम कर सकती है अथवा धार्मिक संस्था आरामसे राजनीति दल अथवा समाचारपत्रका स्थान ले सकती है। कई बार सिविल सेवा हित-समूहोंका भी काम कर लेती है। इस तरह राजनीतिकी भूमिकाओंकी अदल-बदलके कारण अ-पश्चिमी राजनीतिमें भूमिका-ढाँचा सतत बहते रहनेकी स्थितिमें रहता है। यों भूमिकाकी अ-विशिष्टता और भूमिका-संक्रमणकी (role-substitutability)-की सुगमता नवोदित राष्ट्रोंकी राजनीतिकी लाक्षणिकता है।

चौथे, पश्चिमी और अ-पश्चिमी राजनीतियाँ राजनीतिक संस्कृति (Political Culture)के संबंधमें अलग-अलग होती हैं। राजनीति-संबंधी समाजके मूल्य, दृष्टिकोण, दर्शन (perceptions) प्रतिमाओं (images) और कार्यशैलियोंमेंसे किसी भी राष्ट्रकी राजनीतिक संस्कृति निर्मित होती है। पश्चिमी राष्ट्रोंकी राजनीतिक संस्कृति तर्कसंगत और समरस (rational and homogenous) है। राजनीतिके मूल्य और दृष्टिकोणको लेकर प्रजाके बड़े भागमें सर्वसम्मति वर्तमान है। राजनीतिक संस्कृतिकी इस समरसता और संश्लिष्टताके कारण पश्चिमी राष्ट्रोंमें अन्तर सीमावर्ती और गौण होता है। इससे राजनीतिक जीवनमें उदारता, सहिष्णुता और खिलाड़ीपन सहज रूप ग्रहण करते हैं। जबकि दूसरी ओर अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें राजनीतिक संस्कृति मिश्र और अतिविभाजित होती है। प्रजाके अलग-अलग वर्गोंमें राजनीतिक मूल्य और दृष्टिकोण विषयक मौलिक मतभेद होते हैं। एक तरफ विविध प्रणालीगत प्रजा-समूहोंके बीच अन्तर और मतभेद होते हैं, तो दूसरी तरफ आधुनिक और रूढ़िगत वर्गोंके बीचका अंतर भी विशाल होता है। विविध

समूहोंके सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के बीच के ऐसे अन्तर राष्ट्र-जीवनको अनेक छोटे-छोटे प्रजा-समूहोंमें बाँट डालते हैं। ये असंख्य समूह राजनीतिक मूल्य, दृष्टिकोण और शैलीविषयक विभिन्न लाक्षणिकताएँ रखते हैं। यों अनेक अतिविभाजित और मिश्र (fragmented and mixed) राजनीतिक संस्कृतियोंमेंसे एकरूप और संश्लिष्ट राजनीतिक संस्कृतिका सर्जन किस प्रकार किया जाय, यह अ-पश्चिमी राष्ट्रोंके समक्ष मुख्य चुनौती है। इससे अधिक कहें तो राष्ट्रकी विविध राजनीतिक संस्कृतियोंके बीच संघर्षोंके कारण राजनीतिमें खेलके वातावरण और खिलाड़ीपनके बदले धर्मयुद्धका जुनून प्रवर्तित है। विशेष रूपसे आधुनिक विशिष्ट वर्ग और रूढ़िगत आमवर्गकी 'राजकीय सृष्टियोंके' बीचका संघर्ष अ-पश्चिमी राजनीतिमें नए परिणाम उपस्थित करता है।

पाँचवाँ, अ-पश्चिमी राजनीतिमें राजकीय संस्थाएँ और ढाँचे औपचारिक और आधुनिक होते हैं। उनकी नींवमें काम करनेवाली निम्न-संरचनाएँ (infra-structures), यथा—जातियाँ, धार्मिक कौमें, भाषासमूह आदि प्रणालीगत और अनौपचारिक होती हैं। अधिकतः ऐसे समाजकी प्रजाके राजनीतिक दृष्टिकोण और संस्कृतियाँ भी रूढ़िगत होती हैं। रूढ़िगत सामाजिक निम्न संरचना और रूढ़िगत राजनीतिक संस्कृतियोंके संदर्भमें आधुनिक राजनीतिक संस्थाओंको काम करना पड़ता है। रूढ़िगत जातिवाद अथवा जातिवाद और आधुनिक पक्ष या हितसमूह एक-दूसरे पर असर डालते रहते हैं। इसमें अनेक बार राजनीतिका स्वरूप (form) आधुनिक होता है, परन्तु उसका हार्द (Substance) रूढ़िगत होता है।

छठा, पश्चिमी राष्ट्रोंमें पक्ष और उसके प्रति वफादारी अथवा समर्थनका आधार तार्किक मूल्यांकन और विविध समूहोंके हितोंको संरक्षण देनेकी पक्ष या नेताकी सफलता पर रहता है। राजनीतिक लाभालाभकी व्यावहारिक गणना पर राजनीतिक वफादारी रची जाती है और निर्मित होती है। राजनीतिक वफादारीकी ऐसी बुद्धिगम्य, व्यावहारिक और हितसम्बन्धित (rational, pragmatic & interest-based) शैलीको 'साधनपरक' (instrumental) दृष्टिकोण कहा गया है। इसके खिलाफ अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें राजनीतिक वफादारीका आधार उर्मिल आवेगों पर रहता है। अ-पश्चिमी राजनीतिमें बुद्धिगम्य मूल्यांकन और हित-संरक्षणकी सफलता वफादारीके निर्णयमें बहुत कम भाग अदा करती है। कार्य-सफलता और हित-संरक्षणकी व्यावहारिक और बुद्धिगम्य नींवके बदले, व्यक्तिगत और अव्यावहारिक उर्मिल वफादारीकी नींव पर अ-पश्चिमी राजनीति आकार लेती है। ऐसी अतार्किक और उर्मिल शैलीको 'स्नेहपरक' (affective) दृष्टिकोण कहा गया है।

सातवाँ, राजकीय वफादारीके बुद्धिगम्य और 'साधनपरक' स्वरूपके कारण पश्चिमी राष्ट्रोंकी पक्षप्रथा व्यावहारिक और सिद्धान्तविहीन बनी रहती है। विविध समूहोंका हितपरक समर्थन पानेकी कोशिशमें आदर्श और सिद्धान्तोंकी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं, विविध समूहोंके हितसंरक्षणके लिए किए जानेवाले प्रयासोंमें व्यावहारिक और गणनापूर्ण खेलका तत्त्व अधिक होता है। जबकि दूसरी तरफ, अ-पश्चिमी राजनीतिमें दलगत राजनीतिके स्वरूप और उसके समर्थकोंके हित-संरक्षणकी व्यावहारिक गणनाके बीच अनेक बार विसंवाद देखनेको मिलता है—बल्कि ऐसी गणनासे यह बहुधा अलिप्त रहता है। इससे अ-पश्चिमी दलप्रथामें सिद्धान्तों, आदर्शों और विश्वव्यापी दर्शनों (universal perceptions) के नारे खूब होते हैं। ऐसी राजनीतिमें समूहगत हितों और पक्षीय वफा-

दारीके बीच बुद्धिगत संबंध बहुत कम होते हैं। अधिक कहें तो ऐसी राजनीतिमें सिद्धान्तोंके नारे होते हैं, परन्तु वफादारीकी नींव व्यक्तिगत होती है। इस प्रकार सिद्धान्तोंके प्रति शब्दासक्ति और व्यक्तिवादी समूह-राजनीति—ये दो आपसमें विरोधी वातें अ-पश्चिमी पक्षप्रथामें दिखाई देती हैं।

आठवाँ, व्यवस्थित सुसंस्थीकृत (highly institutionalised) और स्वायत्त (autonomous) हित-समूहोंके जाल पश्चिमी राजनीतिके महत्वपूर्ण अंग हैं। परन्तु अ-पश्चिमी राजनीतिमें हित-समूह खूब कम, कमज़ोर और प्राथमिक दशामें होते हैं। अ-पश्चिमी राजनीतिमें एक तरफ हित-समूहोंके विशिष्टीकरण और संस्थानीकरणकी मात्रा बहुत कम होती है, तो दूसरी ओर हित-समूह राजनीतिक पक्षोंके हित-साधन बन जाते हैं और स्वायत्त अस्तित्व नहीं रख पाते। ऐसी परिस्थितिके कारण हित-समूह राजनीतिमें स्वतंत्र व प्रभावशाली भाग अदा नहीं कर पाते। लोगोंके हितों और माँगोंको स्पष्ट आकार और अभिव्यक्ति देनेवाले संस्थारूप हित-समूहोंके अभाव और कमज़ोरी के कारण अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें टोलाशाही अथवा गलियोंमें होनेवाले तूफान लोगोंकी माँगोंको अभिव्यक्ति देनेके मुख्य साधन बन जाते हैं। अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें फैली हुई टोला-राजनीति (mob-politics)का मुख्य कारण सबल और स्वायत्त हित-समूहोंका अभाव है।

नौवाँ, अ-पश्चिमी राज्योंमें राजनीतिक संवहन (political-communication) भी अल्पविकसित दशामें होता है। निरक्षरताके कारण पुस्तकों, समाचारपत्रों जैसे संवहनके औपचारिक साधनोंकी अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पर्क और ज़बानी बातचीतकी प्रभावशालिता अधिक रहती है। इसकी वजहसे अ-पश्चिमी राजनीतिमें संवहन या संचारके औपचारिक माध्यमोंका प्रभाव गौण और सीमावर्ती होता है। अधिकमें कहें तो ऐसे समाजमें एकीकृत और सर्वसाधारण (unified and common) संवहन या संचार-प्रथाका अभाव होता है। प्रजाके विविध वर्गोंकी राजनीतिकी मूल्य और दृष्टिकोण विषयक विभिन्नताओंके कारण समाजमें अनेक राजनीतिक संस्कृतियोंका सर्जन हो जाता है। एक तरफ आधुनिक वर्गों और प्रणालीगत वर्गों, तो दूसरी तरफ रूढ़िगत विभिन्न सांस्कृतिक समूहोंके कारण समाज राजनीतिक संस्कृतिकी दृष्टिसे अतिविभाजित हो जाता है। इन सब विभिन्न राजनीतिक संस्कृतियोंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेके लिए अलग-अलग परिभाषाएँ, प्रभाव अथवा प्रतिमाएँ और परम्परागत रूपक उपयोगमें लाने पड़ते हैं। जो परिभाषा, प्रभाव अथवा रूपक किसी एक संस्कृतिके लिए असरकारक सिद्ध होते हों, वही दूसरी राजनीतिक संस्कृतिमें असफल सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, गांधीजीका रामराज्य शब्द-प्रयोग। आधुनिक समूहको स्पर्श करनेके लिए जो परिभाषा और अवधारणा कामयाब सिद्ध होती है, वही रूढ़िगत समूहोंमें असफल हो जाती है। उसी प्रकार रामराज्य या हरिश्चन्द्रकी जो बातें प्रणालीगत हिन्दू-समूह में हृदयस्पर्शी बनती हैं, वे बातें मुस्लिम-समूह पर असर नहीं करतीं। पश्चिमी राष्ट्रोंमें एक प्रकारकी परिभाषा, संकेत, प्रभाव अथवा परम्परागत रूपक प्रजाके सभी वर्गोंको बड़ी मात्रामें समान रूपसे स्पर्श करता है, जबकि अनेक विभिन्न राजनीतिक संस्कृतियोंके कारण अ-पश्चिमी राज्योंमें विभिन्न प्रजा-समूहोंके लिए अलग-अलग परिभाषाओंकी योजना करनी पड़ती है। ऐसी परिस्थितिको मॉरिस जॉन्स 'राजनीतिके विभिन्न मुहावरे' (diverse idioms of politics) बताता है।

दसवाँ, अ-पश्चिमी राजनीतिकी केन्द्रवर्ती लाक्षणिकता अपूर्व गतिसे होनेवाली राजनीतीकरण और भरती (politicisation and recruitment)की प्रक्रिया है। किसी भी राजनीतिमें जनसमूहको तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है : (१) सक्रिय राजनीतिज्ञ (political activists), (२) राजनीतिमें रुचिशील वर्ग (political strata), (३) राजनीतिसे उदासीन वर्ग (non-political strate)। किसी भी समाजमें इन तीन वर्गोंमें ही व्यक्तियों अथवा समूहोंका आना-जाना बना रहता है। उदासीन वर्ग जब राजनीतिसे आकर्षित होकर राजनीतिमें रस लेने लगता है, तब उसे राजनीतीकरण (politicisation)की प्रक्रिया कहते हैं; और जब राजनीतिमें रस लेने वाले व्यक्ति अथवा समूह सक्रिय राजनीतिज्ञ बनते हैं, तब भरती (recruitment) कहलाती है। पश्चिमी राजनीतिमें प्रजाका बड़ा भाग राजनीतिमें निमग्न रहता है; अतः राजनीतीकरण और भरतीकी प्रक्रिया गौण तथा सीमापर होनेका महत्व रखती है। इसके विपरीत अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें प्रजाका बड़ा भाग राजनीतिसे अलिप्त रहता है और स्वतंत्रता-प्राप्तिके बाद वह अपूर्व गतिसे राजनीतिकी ओर खिंचने लगा है। राजनीतीकरणकी यह तेज़ प्रक्रिया एक स्वागत-योग्य प्रवाह है; प्रजाका बड़ा भाग राजनीतिमें रस लेना आरम्भ कर दे और उसमें ग्रथित होने लगे तो यह प्रजातंत्रके लिए तथा राजनीतिक प्रथाकी लोक-स्वीकृति (legitimacy)के लिए आवश्यक है। परन्तु राजनीतीकरणका अपूर्व वेग राजनीतिक स्पर्धाके लिए मैदानमें इतने अधिक सत्तावाहकोंको ले आता है कि कई बार तो सत्ता-भागीदारीका गंभीर संकट (participation crises) अ-पश्चिमी राजनीतिमें उत्पन्न हो जाता है।

ग्यारहवाँ, अ-पश्चिमी राजनीतिमें नेतृत्वकी विशिष्ट शैली विकसित होती है। विभिन्न राजनीतिक संस्कृतियोंके कारण समग्र समाजको एक परिभाषामें अपील करना संभव नहीं होता। फलतः नेताओंको विविध प्रजासमूहोंको ध्यानमें रखकर अलग-अलग भाषामें बोलना पड़ता है, अन्यथा सभी प्रजा-समूहोंको अपील कर सकनेवाला राष्ट्रीय नेता बनना मुश्किल हो जाता है। इस तरह नेताओंको अलग-अलग प्रसंगों पर अलग-अलग आपसी विरोधी अथवा अस्पष्ट बातें करती पड़ती हैं अन्यथा राष्ट्रीय नेताओंके स्थान पर प्रादेशिक अथवा समूहवादी नेताओंकी प्रबलता बढ़ जाती है। इस तरह एक तरफ संदिग्ध राष्ट्रीय नेतृत्व तो दूसरी तरफ विविध प्रजासमूहोंकी अलगतावादी और संकुचित विचारधाराकी नींव पर विकसित होता हुआ प्रादेशिक नेतृत्व अनेक अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें देखनेको मिलता है। इस ढंगसे ऐसे समाजमें आधुनिक और प्रणालीगत नेतृत्वोंके बीच संघर्ष अथवा सहयोगकी रीति परिस्थितिके संदर्भानुकूल विकसित होती है। अधिकमें कहें तो विभिन्न प्रजा-समूहोंको एक साथ अपील करनेमें मुश्किलका अनुभव करनेके कारण नेता राजनीतिके स्पष्ट और निश्चित तथ्योंकी बड़ी मात्रामें अवगणना करते हैं और सिद्धांत या आदर्शोंके नाम पर धुंधुवाई या अनिश्चित बातें करते हैं। राजनीतिके निश्चित मुद्दोंकी व्यावहारिक चर्चाके बदले उर्मिल और राष्ट्रवादी अतिशयोक्तियोंको प्राधान्य मिलता है। ऐसे ही कारणोंसे नेता आन्तरिक प्रश्नोंकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर अधिक सरलतासे स्पष्ट दृष्टिकोण उपस्थित कर सकते हैं।

अ-पश्चिमी राष्ट्रोंके नेतृत्वके प्रश्नको समझनेके लिए मेक्स वेबरकी प्रकार व्यवस्था (typology)का उपयोग हुआ है। प्रणालीगत समाज टूटे और नया समाज विकसित हो, इसकी

मध्यावधिमें मेक्स वेबर संक्रांति-सोपान कल्पित करता है। इस सोपान पर सामाजिक स्तर, व्यक्तिगत वफादारी और रूढ़ि पर आधारित प्रणालीगत नेतृत्व (traditional leadership)का युग अस्त हो रहा है; जबकि दूसरी तरफ समूह-हितकी तार्किक गणना और हित-संरक्षणकी सफलताके आधार पर रचा जानेवाला आधुनिक नेतृत्व (modern leadership) भविष्यके गर्भमें होता है। जीवन-व्यवहारकी युगों पुरानी प्रणालियोंके टूट पड़ने पर प्रजा अरक्षा और व्यग्रताकी तीव्र भावनाका अनुभव करती है। दिशाशून्यता और त्रिशंकु-मनोदशाकी भावनाके परिणामस्वरूप प्रजा किसी भी प्रकारके आधारके लिए टक्करें खाती रहती है, जिससे टोलाशाहीका सहज ही जन्म हो जाता है। ऐसे संक्रांतिकालमें ऐसी सम्मोहक या करिश्मेवाली नेतागीरी सफल होती है, जो प्रजाको मोहिनी लगा सकती हो या पिता-प्रतिमा (father-image) उपस्थित कर सकती हो। यों बड़ी मात्रामें अ-पश्चिमी राज्योंमें सम्मोहक या करिश्मेवाले (charismatic) नेतृत्वका प्रावल्य जीवन व्यवहारकी प्रणालीगत और आधुनिक शैलियोंके बीचके संक्रांतिकालके माथे थोपा जा सकता है।

अ-पश्चिमी राष्ट्रोंकी राजनीतिकी लाक्षणिकता विषयक चर्चा यहाँ पूरी नहीं हो जाती; इस विषयके साहित्यमें इसके अतिरिक्त भी अनेक मुद्दे विकसित किए गए हैं। परन्तु प्रस्तुत चर्चाका मुख्य आशय यह दिखाना है कि अ-पश्चिमी राष्ट्रोंकी 'राजनीतिक सृष्टि' पश्चिमी राजनीतिसे कितनी मात्रामें और किस ढंगसे अलग है। इस तरहकी अवधारणात्मक पृष्ठभूमिके संदर्भमें ही भारतीय राजनीतिकी लाक्षणिकताओंकी चर्चा अर्थपूर्ण बन सकती है।

दूसरे विश्वयुद्धके बाद विकसित हुई अ-पश्चिमी या नवोदित राष्ट्रोंकी ऐसी अलग 'राजनीतिक सृष्टि' के एक भागके रूपमें भारतीय राजनीतिको देखना बाकी है। कई बातोंमें भारतीय राजनीति अ-पश्चिमी राजनीतिकी लाक्षणिकताएँ धारण किए हुए है, और कितनी ही बातोंमें वह अलग भी है। एक तरफ नवोदित राष्ट्रके एक भागके रूपमें अ-पश्चिमी प्रकार-व्यवस्थाकी सामान्य लाक्षणिकताओंको भारतीय राजनीति प्रतिबिंबित करती है तो दूसरी तरफ इस भारतीय राजनीतिने राष्ट्रीय व्यक्तित्व, ऐतिहासिक संदर्भ और सामाजिक ढाँचोंकी विभिन्नताके कारण अपने विशिष्ट लक्षण विकसित किए हैं। इस प्रकारकी सामान्य और विशिष्ट लाक्षणिकताओंके समन्वयसे भारतीय राजनीतिका सही चित्र खड़ा होता है।

भारतीय राजनीतिकी लाक्षणिकताओंका अध्ययन करते समय इस प्रश्नके दो परिणाम ध्यानमें रखने होंगे : (१) सांदर्भिक परिस्थिति या प्रणालीगत व्यवस्था, (२) इस परिस्थिति या व्यवस्थामें तेज़ीसे आ रहा परिवर्तन। भारतीय समाजकी युगों पुरानी परम्पराएँ, लाक्षणिकताएँ तथा मानसिक दृष्टिकोण भारतीय राजनीतिको प्रणालीगत संदर्भ (traditional context) अथवा आरम्भबिन्दु (starting point) प्रदान करते हैं; तो इस संदर्भमें तेज़ीसे आ रहे परिवर्तन भारतीय राजनीतिकी गतिशीलता दिखाते हैं। भारतीय राजनीतिकी प्रणालीगत लाक्षणिकताएँ नोट करनेके साथ-साथ उसमें १९वीं सदीसे होते आ रहे परिवर्तनको भी नोट करना चाहिए। सांदर्भिक परिस्थिति और परिवर्तनके प्रवाहोंके अन्तर्सम्बन्धोंसे राजनीति आकार लेती है। भारतीय राजनीतिको उसकी प्रणालीगत व्यवस्था (traditional order) की दृष्टिसे यदि देखें तो उसकी कितनी ही लाक्षणिकताएँ स्पष्टतः उभर आती हैं।

प्रथम, भारतीय जीवनमें समाज-जीवन और राजनीतिके बीच बड़ा अन्तर रहा है। समाज-जीवन राजनीतिसे अलग स्वायत्त और उदासीन रहा है। समाज और राजनीतिके बीचके सम्बन्ध हल्के-फुल्के और अपरोक्ष रहे हैं। राजनीति और समाज-जीवनके बीचका सतत और जीवन्त अन्तर्सम्बन्ध भारतकी प्रणालीगत व्यवस्थामें देखनेको नहीं मिलता। राज्य बने या मिटे, साम्राज्य बनें या बिगड़ें, उसका सीधा असर समाज पर दिखाई नहीं देता। थोड़ेसे अनिवार्य लघुतम सम्पर्कोंके अलावा समाज-जीवन राजनीतिसे अलिप्त रहता था। रिवाज़, कानूनके सर्जन और उसके निष्पादनमें राज्यका भाग बहुत कम रहता था। इस प्रकार राजनीति और समाजके बीचका विशाल अन्तर भारतीय प्रणालीगत व्यवस्थाका केन्द्रवर्ती लक्षण रहा है।

दूसरा, भारतीय समाज अतिविभाजित और अतिस्तरित (highly fragmented and highly structured) रहा है। अनेक भाषाओं, जातियों और प्रदेशोंके कारण भारतीय समाज बहुतसे अलग-अलग समूहोंकी सौपानिक व्यवस्था (hierarchical arrangement)का जालमात्र बना रहा है। भारतीय समाजकी तीन लाक्षणिकताएँ रही हैं: (१) छोटे-छोटे समूह, (२) इन समूहोंकी ऊँचनीच या सौपानिक व्यवस्था करनेकी अतिजागरूकता और (३) ऐसी सौपानिक व्यवस्थाकी अत्यधिक जड़ता। इस प्रकार भारतीय समाजका ढाँचा अतिविभाजित, अतिस्तरित और जड़ है। यों सामाजिक क्षेत्रमें भारत ने संस्थानीकरण और तंत्रीकरणमें ऊँची कक्षा विकसित की है। सामाजिक तंत्ररचनाकी दृष्टिसे भारतीय समाज संकुल और विकसित सोपान प्रतिबिंबित करता है।

तीसरा, ऐसे सुविकसित और अतिस्तरित सामाजिक ढाँचेकी तुलनामें भारतकी राजनीति तंत्ररचना प्राथमिक कक्षाकी रही है। राजनीतिक तंत्ररचनाकी परम्परा अथवा व्यवस्थाशक्ति भारतमें प्रबल नहीं थी। परिणामतः भारतीय प्रणालीमें राज्य सादा और प्राथमिक स्वरूपका रहा। सामाजिक क्षेत्रमें जिस प्रकारका संकुल और अतिस्तरित ढाँचा भारतने विकसित किया था, वैसा ढाँचा राजनीतिके क्षेत्रमें विकसित नहीं हुआ। भारतमें सबल केंद्रीय राज्यसत्ताकी परम्परा कभी बलवान नहीं रही। भारतीय राजनीतिके मुख्य लक्षण रहे: प्राथमिक और अल्पस्तरित तंत्ररचना। संस्थानीकरणकी मात्रा और तंत्ररचनाके आधारोंकी दृष्टिसे भारतीय समाज और भारतीय राजनीतिके बीचकी ये विभिन्नताएँ प्रणालीगत व्यवस्थाका मुख्य परिणाम रही हैं।

चौथा, समाज और राजनीतिको अथवा व्यक्ति और राजनीतिक प्रथाको संकलित करने-वाले श्रृंखलातंत्र (linkage system)की अपर्याप्तता भारतीय राजनीतिकी महत्वपूर्ण लाक्षणिकता है। विकसित देशोंमें सामान्यतः समाचारपत्र, हितसमूह, दावसमूह, दल आदि समाज और राजनीतिको संकलित करनेका श्रृंखला-कार्य करते हैं। भारतमें ऐसे श्रृंखला-तंत्रका विकास सीमित और प्राथमिक रहा है। सुव्यवस्थित और संश्लिष्ट (well-organised and complex) श्रृंखला-तंत्र समाज व राजनीतिके बीचके आपसी संबंधोंके लिए एक अनिवार्य पूर्वशर्त है। समाचारपत्रों या हित-समूहोंके व्यवस्थित निम्नतंत्र (infra-structure) का अभाव भारतीय राजनीतिकी बड़ी मर्यादा है। ऐसी परिस्थितियोंमें दो कारणोंका समावेश होता है: (१) प्रजाकी माँगों और अरमानों-को वाणी देने वाले संस्थानीकृत (well-institutionalized) हितसमूहोंके अभावमें प्रजा

अपनी मांगोंको पेश करनेके लिए जूलूसों, सत्याग्रहों और मोरचों जैसे टोलाशाही मार्गोको अपनाती है। (२) प्रजाके हितोंको स्वरूप व अभिव्यक्ति देने वाले संस्थागत तंत्रोंकी गैरहाज़िरीमें व्यक्ति-केन्द्री समूह जन्म लेते हैं। इस प्रकार भारतीय राजनीतिमें बार-बार दिखाई देने वाले टोलाशाही आविष्कारों और सिद्धान्तविहीन व्यक्तिवादी समूहोंके पीछे मूल कारण शृंखलातंत्रके विकासकी अपूर्णता है। सुव्यवस्थित शृंखलातंत्रके विकासके साथ-साथ राजनीतिक टोलाशाही और व्यक्ति-केन्द्रित समूहवाद दूर होते जाते हैं, जो सर्वत्र देखनेको मिलता है।

पांचवां, भारतीय प्रणालीगत व्यवस्थामें लघुसमूह-अभिमुखता (small group orientation)का खूब प्राबल्य रहा है। कुटुम्ब, जाति या गांव जैसे लघुसमूहोंके प्रति वफादारी या समर्पण-की भावना प्रजामें तीव्र होती है और पक्ष या आर्थिक समूहोंके समान बड़े समूहोंके प्रति कमज़ोर। लघुसमूह-अभिमुखताकी प्रबलता और गुरुसमूह-अभिमुखता (big group orientation)का अभाव एक विशिष्ट परिस्थितिका सर्जन करता है। भारतीय प्रजा लघुसमूहोंके सम्बन्धमें समष्टि-वादी या समूहवादी (collectivist) दृष्टिकोण रखती है, परिवार या जातिके लिए भोग देने या आत्मसमर्पण करनेमें भारतीय प्रजा संकोच नहीं करती। कुटुम्ब या जातिके समान लघु-समूह प्रजामें उत्कट आत्मीयता और संवेदना जागृत करते हैं। जबकि दूसरी तरफ राज्य अथवा आर्थिक वर्ग जैसे गुरुसमूह प्रजाके हृदयोंको स्पर्श नहीं कर पाते और उनके प्रति प्रजाकी भावना या वफादारी बहुत कमज़ोर होती है। फलत: पक्ष, राज्य अथवा गुरुसमूहोंके लिए बलिदान देने अथवा आत्मविलोपन करनेकी तीव्र वफादारी प्रकट नहीं होती। इस प्रकार भारतीय प्रजा गुरु-समूहोंके संबंधमें व्यक्तिवादी (individualistic) दृष्टिकोण रखती है। भारतीय प्रजाका यह दृष्टि-भेद (dichotomy of attitudes) खूब ही उल्लेख्य है। एक तरफ व्यक्ति इतनी हद तक कुटुम्ब या जातिकी शरणमें जाते हैं कि सहज ही तानाशाहीका भास होने लगता है; तो गुरुसमूहोंके प्रति जो उपेक्षा या उदासीन दृष्टिकोण देखनेको मिलता है उसमें व्यक्तिवादी विशृंखलताका दर्शन किया जा सकता है। अनेक पश्चिमी राजनीतिज्ञोंने एक या दूसरी कक्षाके दृष्टि-बिन्दुओंका आधार लेकर आपसी विरोधी विधानोंकी ओर संकेत किया है। पिताकी आज्ञाका अंध-पालन करनेवाले नचिकेता, भीष्म या पुरुका उदाहरण देकर यह बतानेका प्रयत्न किया गया है कि भारतीय राजनीतिमें तानाशाही दृष्टिकोण वर्तमान थे। जबकि दूसरी ओर भारतीय प्रजाकी विशृं-खलताके भी बहुतसे दृष्टान्त ढूंढ़े गए हैं। इन दोनोंमें सत्यका अंश है, परन्तु ये अधूरा और अर्द्धसत्य पेश करते हैं। भारतीय प्रजामें समष्टिवादी और व्यक्तिवादी—ये दोनों ही दृष्टिकोण रहे हैं, लघुसमूहोंके सम्बन्धमें भारतीय प्रजा समष्टिवादी रही है, तो गुरु-समूहोंके विषयमें व्यक्तिवादी। लघु-समूह-अभिमुखताके कारण भारतमें छोटे-छोटे समूह अधिक सबल और शक्तिशाली रहे हैं; अधिकमें कहें तो बड़े-बड़े समूह भी छोटे-छोटे समूहोंमें बंट जानेकी अनिवार्य वृत्ति प्रकट करते हैं। जबकि दूसरी तरफ गुरु-समूह अभिमुखताके अभावके कारण 'सार्वजनिक हित', 'सामान्य हित' या 'सार्वजनिक मुद्दों'की अवधारणा अत्यधिक धुँधली और अल्पविकसित रहती है।

छठा, भारतका राजनीतिके प्रति प्रणालीगत दृष्टिबिन्दु विशिष्ट रहा है। राजनीति समग्र समाजके हित और सामाजिक फर्ज़की दृष्टिसे चलनी चाहिए, ऐसा भाव भारतीय समाजका रहा

है। समष्टिहित और कर्तव्य-बोध—ये दोनों राजनीतिके भारतीय आदर्शमें प्रमुख स्थान पर हैं। समाजके विविध समूहोंके बीच निरे भौतिक हितोंके लिए लड़नेवाली राजनीतिकी पश्चिमी धारणा भारतीय परम्परामें दिखाई नहीं देती। राजनीतिके इन दो दर्शनोंके बीच विभिन्नता उल्लेखनीय है। विविध समूह अपने भौतिक हितोंके लिए राजनीतिक स्पर्धामें उतरें, यह धारणा ही भारतीय मनको निन्द्य लगती है। इस कारण राजनीतिकी नींवके रूपमें समूह-हित और लाभ-प्राप्तिकी पश्चिमी धारणा अभी तक भारतीय मनको स्वीकार्य नहीं बनी हैं। इसलिए नेता भी यदि समष्टि-हितमें कर्तव्य-बोधसे प्रेरित होकर काम करता है, तभी वह लोकस्वीकृति प्राप्त करता है। परिणामतः नेताओंको अथवा लोगोंको, समूह-हित तथा लाभ-प्राप्तिमें काम करते रहने पर भी बातें तो समष्टि-हित और कर्त्तव्य-बोधकी करनी पड़ती हैं। राजनीतिक विषयक इस प्रकारकी दृष्टिसे भारतीय समाजमें बारम्बार दृष्टिगत सेवा और सत्ताका द्वंद्व उत्पन्न होता है। यह माना गया है कि सत्ता निंदा-योग्य वस्तु है। भौतिक हित या समूह-हितके लिए स्पर्धा खराब है, वर्ज्य है और इसलिए भारतीय मनमें यह दृढ़ मान्यता है कि स्पर्धात्मक सत्ताकी राजनीति भी अनुचित है। इसलिए ही सत्तामें डूबे रहने पर भी बात सेवाकी ही करनी पड़ती है। सत्तापर अधिकार करनेके लिए दल राजनीतिमें प्रवेश करते हैं यह कहने की अपेक्षा यह कहना पड़ता है कि वे सेवा करनेके लिए आगे आए हैं। इसके फलस्वरूप नेतृत्व विषयक पश्चिमी और भारतीय धारणामें भी बहुत बड़ा अन्तर है। पश्चिममें विविध समूहोंके भौतिक हितोंके लिए प्रयत्नशील नेता मानार्ह है, जबकि भारतमें समष्टिहित और नैतिक सुधारके लिए प्रयत्नशील नेता स्वीकार्य होता है। इस प्रकार नेतृत्व सम्बन्धी भारतीय धारणा समष्टिकेन्द्री और कर्त्तव्यप्रेरित रही है। ठीक इसके विपरीत नेतृत्व विषयक पश्चिमी धारणा समूहकेन्द्री और हितप्रेरित रही है। राजनीति और सत्ताके प्रति इन विशिष्ट दृष्टियोंके कारण अनेक बार राजनीतिक वाणी और व्यवहारके बीच अन्तर आता दिखाई देता है।

सातवाँ, इस दृष्टिकोणके संदर्भमें स्पर्धा विषयक अभिगम भी देखना प्रसंगप्राप्त है। समाजमें स्पर्धा और संघर्ष दूर करने योग्य दूषण हैं, इस कारण भारतीय मनमें यह जम गया है कि सभी काम सर्वसम्मतिसे करने चाहिएँ। इस रूपमें भारतीय प्रणालीमें संघर्षको नीचा स्थान दिया गया है और सर्वसम्मति या समन्वयको आदर्श माना गया है। जाति-व्यवस्थाका आदर्श भी समाजमें स्पर्धा-निवारण ही था। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'—इस सूत्रका मुख्य लक्ष्य समाजके विविध समूहोंके बीचकी स्पर्धाको अकारथ बनाना था। इस कारण भारतीय राजनीतिमें सर्वसम्मतिको अग्रस्थान दिया गया है और सर्वसम्मति की राजनीतिक शैलीको सहज रूपमें लोकस्वीकृति मिल जाती है।

उक्त सात मुद्दे भारतीय समाज और राजनीतिकी प्रणालीगत लाक्षणिकताओंको स्पष्ट करते हैं। भारतमें आधुनिक राजनीतिके आरम्भके पहले पूर्वभूमिका इस सांदर्भिक परिस्थिति (contextual situation) या प्रणालीगत व्यवस्था (traditional order)को प्रदान करती है। भारतीय राजनीतिके आधुनिक सोपानके आरम्भ कालका स्वर क्या था, इसकी धारणा सांदर्भिक परिस्थितिकी चर्चा देती है। किन्तु भारतीय राजनीतिकी ये प्रणालीगत लाक्षणिकताएँ किसी रूपमें सनातन नहीं हैं; वे भी परिवर्तनके प्रवाहाधीन हैं।

उन्नीसवीं सदीके आरम्भसे ही भारतमें आधुनीकरणका आरम्भ हुआ। इस समय भारतमें ब्रिटिश साम्राज्यकी नींव दृढ़ थी और यूरोपमें ब्रिटेनके सामने नेपोलियनकी चुनौतियोंका अन्त आ गया था। यहाँसे भारतमें राष्ट्रवाद, पश्चिमी शिक्षा तथा आधुनिक राज्यप्रबन्धका आरम्भ हुआ। इस नए युगमें भारतकी राजनीतिक प्रणालीगत व्यवस्थामें बहुत रद्दोबदल हुई। पिछले डेढ़ सौ वर्षोमें भारतीय राजनीतिके प्रणालीगत ढांचेमें परिवर्तन लानेवाले मुख्य तीन परिबल हैं: (१) ब्रिटिश शासनके नीचे स्थापित सुकेन्द्रित और एकीकृत राजतंत्र : भारतमें असरकारक और सबल केन्द्रीय सरकारकी परम्परा मजबूत बनी और उसके साथ व्यवस्था-एकीकरणके प्रवाह रचे गए। इस प्रकार केंद्रीय राज्य-व्यवस्था आधुनिक दफ्तरशाही और सिविल सेवा आधुनीकरणके मुख्य चालक बने। (२) राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनका विकास : कांग्रेसके नेतृत्वमें विकसित राष्ट्रीय आन्दोलनने भी राष्ट्रीय बोध और आधुनिक राष्ट्रीय विशिष्ट वर्ग (modern national elite)को बनानेमें बड़ा भाग अदा किया। (३) स्वतंत्रता पानेके बाद अपनाई हुई प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था: पिछले दो दशकोंकी प्रजातांत्रिक राजनीतिने प्रणालीगत लाक्षणिकताओंमें महान परिवर्तन उपस्थित किए। इन परिवर्तनोंने राज्य और समाजके बीचके अन्तरको कम करनेमें और अभूतपूर्व वेगसे हो रहे राजनीतीकरणके प्रभावान्तर्गत भारतीय समाज-व्यवस्थाकी सौपानिक जड़ता (hierarchical rigidity) कम करनेमें महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। इस प्रकार, आधुनिक दफ्तरशाही, राष्ट्रीय विशिष्टवर्ग और प्रजातांत्रिक राजनीतिक प्रणालीगत व्यवस्थामें परिवर्तन लाने वाले मुख्य परिबल बन रहे हैं।

इन तीन परिबलोंके नीचे भारतीय राजनीतिकी प्रणालीगत व्यवस्था बहुत तेज़ीसे बदल रही है। भारतीय राजनीतिमें आ रहे परिवर्तनके मुख्य कारण इस प्रकार हैं:

प्रथम, भारतीय राजनीतिमें सबल केन्द्रीय सरकारकी परम्परा विकसित हो रही है। प्रणालीगत व्यवस्थामें केन्द्रीय सत्ता खूब कमज़ोर थी, जो धीरे-धीरे दूर हो रही है। राष्ट्र-जीवनके हरेक क्षेत्रमें एकीकृत तंत्र-व्यवस्थाका गहरा असर पड़ रहा है। राष्ट्रीय पुरुषार्थ और परिवर्तनकी पहल या लगाम (initiative) स्थानीय समूहोंके हाथोंमेंसे खिसक कर राष्ट्रीय विशिष्ट वर्ग या राष्ट्रीय सरकारके हाथोंमें जा रही है।

दूसरा, राजनीति और सामाजिक जीवनके बीचका प्रणालीगत विशाल अन्तर कम होता जा रहा है। राजनीतिके प्रभावान्तर्गत सामाजिक ढांचा बदल रहा है और सामाजिक निम्नतंत्रका असर राजनीति पर पड़ रहा है। उदाहरणार्थ, एक तरफ जातियों या धर्मसमूहोंका असर राजनीति पर हो रहा है, तो दूसरी तरफ स्पर्धात्मक राजनीतिके प्रभावके नीचे अनेक जातियोंका समवायीकरण, अ-सम्प्रदायीकरण और राजनीतिक विभाजन हो रहा है। समाज और राजनीतिके बीच यह अन्तःप्रसरण (mutual penetration) दोनोंके ही बीच नई कड़ियाँ रच रहा है।

तीसरा, एक तरफ राजनीतिका प्रणालीगत 'प्राथमिक और अतिस्तरित' ढाँचा तेज़ीसे मिश्र और अतिस्तरित बन रहा है तो दूसरी ओर सामाजिक ढाँचेकी अतिस्तरितता टूट रही है। राजनीतिमें नए असरकारक और संश्लिष्ट तंत्र आकार ले रहे हैं, केन्द्र और राज्य सरकार, अतिस्तरित प्रबंधतंत्र, जिला पंचायत, तहसील-पंचायत, ग्राम-पंचायत, नगरपालिकाएँ—ये सब राजनीतिक तंत्र-

रचनाके बढ़ते हुए संस्थानीकरण और तंत्रीकरणके उदाहरण हैं। जबकि दूसरी तरफ सामाजिक दर्जे पर आधारित और बहुतसे छोटे जलाभेद्य (water-tight) समूहोंमें विभाजित भारतीय समाजकी अनतिविभाजितता और अतिस्तरितता पिघल रही है। राजनीतिमें छोटे समूह प्रभाव नहीं डाल पाते, जिससे छोटे समूह टूट कर नए विशाल समूहोंका आकार ग्रहण कर रहे हैं। राजपूत, बारैया, पाटणवाडिया, काठी, कोली जैसे अनेक जातिसमूहोंके संबंध-स्थापन और समवायीकरणसे उत्पन्न क्षत्रिय-बोध समाज ढाँचेकी टूटती हुई अतिस्तरितताका निर्देश करते हैं। अधिकमें कहें तो राजपूत आदि उच्चवर्ग बारैया और काठी आदि निम्न जातिसमूहोंको रिझानेकी जो कोशिश कर रहे हैं, वह शिथिल होती हुई सोपानिक जड़ताको प्रकट करती है। इस प्रकार समाज-जीवन और राजनीतिकी संस्थानीकरणकी मात्राके बीच जो प्रणालीगत विभिन्नता थी; वह धीरे-धीरे कम होती जा रही है।

चौथा, समाज-जीवनके आधुनीकरण और विकासमें राजनीति केन्द्रस्थ स्थान प्राप्त कर रही है। राष्ट्र-जीवनके प्रेरकबलके रूपमें राज्यका महत्व बढ़ रहा है।

पाँचवाँ, प्रणालीगत व्यवस्थामें कुटुम्ब या जातिके समान जन्मजात प्राथमिक संस्थाओंका ही प्रभाव था और विकल्पकी नींव पर रची हुई गौण संस्थाओं (secondary organisation)की परम्परा कमजोर थी। इसके बदलेमें अब भारतीय राजनीतिमें गौण संस्थाओंकी परम्परा विकसित होने लगी है। दाबसमूह और हितसमूह, युवक-संगठन, मजदूर-संघ आदि ऐसी ही गौण संस्थाओंके उदाहरण हैं। किन्तु इन सबमें राजनीतिक दल सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण गौण संस्था है। ऐसी संस्थानीकृत और आधुनिक गौण संस्थाओंका संश्लिष्ट और व्यवस्थित जालतंत्र आधुनिक राजनीतिकी आवश्यकता है। इस दिशामें भारतीय राजनीतिमें विकासका आरम्भ हो गया है।

छठा, प्रणालीगत समाज-व्यवस्था और आधुनिक राजकीय प्रथाके बीच समन्वय स्थापित किया जा रहा है। प्रणाली और आधुनिकता एक-दूसरे पर असर कर रही हैं और दोनोंका एक-दूसरेमें अन्तःप्रसरण (inter-penetration) हो रहा है। प्राणालीगत समाज-व्यवस्था और आधुनिक राज्य-व्यवस्थाके बीच सम्पर्क और अन्तःप्रसरणके साधन समूह बनते हैं। आधुनिक राजनीतिक दलोंमें जातिवादी समूह विकसित हो रहे हैं; तो प्रणालीगत जातियोंमें दलगत समूह उत्पन्न हो रहे हैं। कभी-कभी जाति-प्रथा पक्ष-प्रथाकी उपप्रथा बन जाती है, जबकि कभी-कभी पक्ष-प्रथा जाति-प्रथाकी उप-प्रथा बन जाती है। इस प्रकार समूहवादी राजनीति प्रणालीगत समाज-जीवन और राजनीतिके बीचकी कड़ी बन जाती है।

इस प्रकार भारतीय राजनीति तेजीसे बदल रही है। स्पर्धात्मक राजनीति और चुनाव-प्रथा परिवर्तनके इस प्रवाहको अधिक वेग प्रदान करती हैं। जमानेसे अलिप्त समाजके अनेक समूह राजनीतिमें खिंचे आ रहे हैं। राजनीति और सत्ताकी साझेदारीकी प्रतिदिन तीव्र होनेवाली मात्रा भारतीय राजनीतिमें विकासको प्रेरणा देती है। जमानेसे स्थगित राजनीतिकी प्रणालीगत व्यवस्थाका रुद्ध पानी अभूतपूर्व वेगसे आन्दोलित हो गया है। भारतीय राजनीतिकी प्रणालीगत व्यवस्था विदा ले रही है और उसकी जगह आधुनिक व्यवस्था आकार पा रही है। इस ढंगसे देखने पर वर्तमान समय भारतीय राजनीतिका संक्रांतिकाल है। परिवर्तनके विस्तार और वेगकी दृष्टिसे यह

संक्रांतिकाल भारतके राष्ट्र-जीवनमें अपूर्व प्रवाहात्मकता और नाट्यात्मकताकी रचना कर रहा है।

परन्तु इस परिवर्तन अथवा संक्रांतिकालके भी अपने प्रश्न हैं। यह कहना कठिन है कि भारतीय राजनीतिका यह संक्रांतिकाल कितना लम्बा होगा। इस संक्रांतिकालमें भारतीय राजनीतिको अनेक प्रश्न परेशान कर रहे हैं और कितनी ही वातों पर तंगदिली वढ़ रही है।

संक्षेपमें, ऐसे परिवर्तनके प्रश्नोंको इस प्रकार लिखा जा सकता है: (१) 'सार्वजनिक हित' और 'सार्वजनिक प्रश्नों'से सम्बद्ध विंब कमज़ोर और धुँधला रहता है। केन्द्रीकरणके बढ़ते हुए प्रवाहोंके होने पर भी अभी तक सामान्य जनसमूहमें राजनीतिकी विशाल इकाइयों और प्रश्नोंके प्रति आत्मीयता या जागरूकता प्रकट नहीं हो पाई है। विशाल हितों और सार्वजनिक प्रश्नोंके दर्शन (perception)की निम्नमात्रा भारतीय राजनीतिकी बड़ी कमी है। (२) राजनीतिमें व्यक्तिपरक समूहवादका प्रभाव प्रवर्तित है। समाज और राजनीतिके वीच सम्पर्क-स्थापनमें यह समूहवादी राजनीति महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। अधिकांशत: लघुसमूह-अभिमुखतासे पीड़ित भारतीय राजनीतिमें छोटे-छोटे समूहोंको विशाल आधारकी राजनीतिक इकाइयोंमें नियोजित करनेके साधनरूपमें समूहवाद महत्वपूर्ण और स्वागत-योग्य भाग अदा करता है। परन्तु राजनीतिक वफादारीकी नींव सिद्धांत या हितके वदले व्यक्तिपरक होनेके कारण राजनीतिमें तर्कहीन व्यक्ति-भक्तिका चलन अधिक होता है। इस प्रकार राजनीति अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तिपरक, समूहवादी व हेतुविहीन वन जाती है। (३) राजनीतिमें व्यक्तिपरक और सिद्धान्तविहीन समूहों पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भरता राजनीतिको हेतुशून्यता और अस्थिरता प्रदान करती है। (४) राजनीतिमें सिद्धान्तों और नीति-विकल्पोंका स्थान गौण रहता है। परिस्थितिका मूल्यांकन, विविध समूहोंके हितोंकी व्यावहारिक चर्चा, विविध विकल्पोंवाली नीतियोंके गुणदोष विषयक विवाद—ये सब राजनीतिमें अत्यधिक सीमावर्ती वने रहते हैं। (५) सर्वसम्मति, समष्टिवाद और कर्त्तव्यकी वाणी और स्पर्धा, समूहवाद और हितोंका व्यवहार राजनीतिमें संदिग्धता और तनाव (strain) उत्पन्न करते हैं। सर्वसम्मतिकी वातें और स्पर्धात्मक राजनीतिसे उत्पन्न वाणी और व्यवहारके भेद या अन्तर गंभीर प्रकारके अन्तर्विरोधों (inner-contradiction)को जन्म देते हैं। ऐसे अन्तर्विरोध राजनीतिके प्रति लोगोंकी आस्था और श्रद्धाको चोट पहुँचाते हैं। ये और इस प्रकारके अन्य प्रश्न भारतीय राजनीतिके संक्रांतिकालके मुख्य प्रश्न हैं। ये प्रश्न भारतीय राजनीतिके सामने चुनौतियाँ हैं, किन्तु ये ही उसके विकासके लिए अवसर भी प्रदान करते हैं।

भारतीय राजनीतिमें इस संक्रांतिकालकी तंगदिलीके पीछे राजनीतिके ढाँचे और शैलीके वीचका संघर्ष मुख्य कारण है। भारतीय राजनीतिका ढाँचा आधुनिक स्पर्धात्मक और संस्थाकृत है; जवकि उसकी शैली प्रणालीगत, सर्वसम्मतिमय और व्यक्तिपरक है। इस प्रकार स्पर्धा राजनीतिके आधुनिक ढाँचे और प्रणालीगत शैलीके वीचके संघर्ष और असंगततासे संक्रांतिकालकी मुश्किलें पैदा होती हैं। आधुनिक औपचारिक राजनीतिके परिचालनमें जातिवादके समान निम्न-तंत्रोंका असर वर्तमान है। मुक्त और स्पर्धात्मक राजनीतिकी वास्तविकतासे सर्वसम्मतिकी शैली

टकराती है। इसी प्रकार राजनीतिके ढाँचे और शैलीके संघर्षमेंसे संक्रांतिकालके संवेदन आकार ग्रहण करते हैं।

भारतीय राजनीतिमें आ रहे परिवर्तनोंकी यह घटना राजनीतिक विकास (political development)के प्रश्न खड़े करती है। किसी भी राजकीय प्रथामें प्रथा-परिचालन (system operation) और प्रथा-परिवर्तनकी प्रक्रियाएँ सतत और लगातार चलती ही रहती हैं। वस्तुतः परिवर्तनमें परिचालन और परिचालनमें परिवर्तन सन्निहित हैं। इन दोनोंको अलग करना संभव नहीं है। इस पर भी विश्लेषणात्मक स्पष्टताके लिए प्रथा-परिवर्तन या राजनीतिक विकासका अलग ध्यानकेन्द्र विकसित करना जरूरी है।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि प्रत्येक अदला-बदली परिवर्तन या विकास नहीं है। प्रथाके स्थापित ढाँचे और अन्तर्संबंधोंकी रीतिकी मर्यादामें अदला-बदली भी परिवर्तन नहीं है, परन्तु प्रथाके ढाँचे और अन्तःसंबंधोंकी रीतिमें हुई अदला-बदली परिवर्तन या राजनीतिक विकास है। राजकीय विकासके लिए विकसित राजनीतिशास्त्रकी चर्चामें 'विकास' (development) एक मूल्यरहित (valueless) अवधारणा है। इस प्रकारके प्रयोगमें 'विकास' और 'प्रगति' परस्पर पर्याय नहीं हैं। प्रथाके ढाँचेमें हुए किसी भी हेरफेरको विकासके रूपमें निरूपित किया जाता है। इस तरह विकासकी यह धारणा प्रगति और अगति—दोनोंकी प्रक्रियाओंको अपनेमें समाए हुए है। इसीलिए इस चर्चामें राजनीतिक विकास और प्रथा-परिवर्तनकी धारणाओंको लगभग पर्यायोंके रूपमें मान लिया गया है।

किसी भी प्रथामें राजनीतिक विकास रचनेवाले परिबल या कारण कौन-से हैं? राजनीतिक विकासकी प्रक्रियाको जन्म देनेवाले और वेग प्रदान करनेवाले मुख्य चार परिबल माने जा सकते हैं: (१) युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष या स्पर्धा जैसी बाह्य चुनौतियाँ, (२) टेक्नोलोजी-की अदला-बदली, (३) राष्ट्र जीवनमें परिवर्तन लानेके लिए तैयार विशिष्ट वर्गोंके प्रयास और (४) प्रजातांत्रिक राजनीति तथा समग्र प्रजाको समा लेने वाली राजनीतिक स्पर्धा और साझेदारीकी प्रक्रिया। ये चारों परिबल अपने-अपने ढंगसे राजनीतिक प्रथाके स्थापित ढाँचेको आन्दोलित करते हैं। ये परिबल या तो राजनीतिक प्रथामें सीधे ढंगसे परिवर्तन लाते हैं या फिर राजनीतिक प्रथाके सामाजिक आर्थिक निम्नतंत्र (infra structure)में वे ऐसा परिवर्तन उपस्थित करते हैं कि उनके संदर्भमें राजनीतिक प्रथामें हेरफेर करना जरूरी बन जाता है।

इस प्रकार किसी भी राष्ट्रके जीवनमें राजनीतिक विकास केन्द्रीय महत्त्वका स्थान धारण करता है। इस पर भी बहुत लम्बे समय तक राजनीतिशास्त्रमें प्रथा-परिवर्तन या राजकीय विकासके प्रश्नों पर ध्यान ही नहीं दिया गया। सामान्यतः राजनीतिशास्त्रमें राजनीतिक प्रथा किस प्रकार काम करती है, यह समझने पर अधिक भार दिया गया। परन्तु अन्तिम सदीमें विविध समाज-शास्त्रियोंने राजनीतिक विकासकी प्रक्रियाको अधिकाधिक समझनेका प्रयास किया है। कार्ल मार्क्स, टायनबी, स्पेंगलर, ऑगस्ट, कोम्टे, हेन्री मेन, फर्डिनान्ड टोएनी, एमिल डर्कहाइम, मेक्स वेबर, टालकोट पारसंस—इस प्रकार समाजशास्त्रियोंकी परम्पराने विकास या परिवर्तनके प्रश्नोंकी खूबियों पर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है। इस विचार-परम्पराके आधार पर दूसरे विश्वयुद्धके बाद

राजनीतिक विकास का ऐतिहासिक निरूपण

बढ़ता हुआ तांत्रिक विभिन्नीकरण और सांस्कृतिक असम्प्रदायीकरण	अल्प	मध्यम	अधिक
आधुनिक प्रथा राजनीतिक भिन्नतंत्रों का विभिन्नीकरण	क्रान्तिकारी समग्रवाद (रूस) रूढ़िवादी समग्रवाद (नाजी जर्मनी) पूर्व-तकनीकृत सत्तावाद (घाना)	आधुनिकीकरण के लिए संघर्षशील सत्तावाद (ब्राजील) रूढ़िवादी सत्तावाद (स्पेन) पूर्व-तकनीकृत प्रजातंत्र (१९६६ के पूर्व का नाइजीरिया)	अधिक स्वायत्त प्रजातंत्र (इंग्लैण्ड) सीमित स्वायत्त प्रजातंत्र (फ्रान्स) भारत अल्प स्वायत्त लोकशाही (मेक्सिको)
प्रणालीगत प्रथा सरकारी ढाँचे का विभिन्नीकरण	राजा और दरबारी	"दफ्तरशाही साम्राज्य"	सामन्तशाही प्रथा
प्राथमिक प्रथा अनौपचारिक और बिखरा हुआ ढांचा	प्राथमिक टोलियां	पिरामिड प्रथा सत्ता का श्रेणी-स्तूप	मिश्र टोलियां

बढ़ती हुई प्रथा-स्वायत्तता →

राजनीतिक विकासके बारेमें अधिक सोचा गया और प्रभावशाली कहे जाने योग्य साहित्य रचा जा रहा है।

राजकीय विकासके स्वरूप और प्रक्रियाको समझनेके लिए किए गए अनेक प्रयासोंमेंसे तीन दिशाओंके अभिगम मुख्यतः ऊपर उभर आए हैं : (१) तांत्रिक विभिन्नीकरणका अभिगम, (२) संस्थानीकरणका अभिगम और (३) संकटोंका अभिगम। इन तीनों अभिगमोंमें सत्यके महत्त्वपूर्ण अंश ही नहीं हैं, वरन् वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं।

प्रथम, राजनीतिक प्रथामें तांत्रिक विभिन्नीकरण (structural differentiation)की मात्रा कितनी विकसित हुई है इससे राजकीय विकासका माप निकाला जा सकता है। विख्यात राजनीतिके विद्वान् ग्रेवियल आलमण्डने इस अभिगमको रूप दिया है। ग्रेवियल आलमण्डकी मान्यता है कि तांत्रिक विभिन्नीकरण, राजकीय संस्कृतिका असम्प्रदायीकरण अर्थात् प्रादेशिक या समूहवादी संकुचित राजकीय संस्कृतियोंके बदलेमें समग्र राष्ट्रके लिए एकीकृत राजनीतिक संस्कृति-का उद्भव और राजनीतिक प्रथाके विविध क्षेत्रों और अंगोंमें स्वायत्तताका विकास—इन तीन निर्देशकोंके आधार पर राजनीतिक विकासके ऐतिहासिक सोपान निश्चित किए जा सकते हैं। इस दृष्टिसे वह राजकीय विकासको तीन सोपानोंमें बाँटता है : (१) प्रथम सोपान : इस सोपानमें राजनीतिक ढाँचा अनौपचारिक, अविभिन्न और आन्तरायिक (informal, undifferentiated and intermittent) होता है। (२) प्रणालीगत सोपान : जब सरकारी ढाँचा भिन्न स्वरूपमें उभर कर आता है, तब राजनीतिक विकासके इस दूसरे सोपानका आरम्भ होता है। पिता, टोलीनायक या धर्मगुरुकी अपेक्षा राजाकी भूमिका (role) जब अलग दिखाई दे, तब इस प्रकारके तांत्रिक विभिन्नीकरणकी प्रक्रियाका आरम्भ होता है। राजाके दरबारमें अलग-अलग दरबारियोंके बीच विकसनशील विशिष्टीकरण, राज्यके अलग-अलग प्रदेशों पर राजाके प्रभावशाली अंकुशको बनाए रखनेके लिए सैद्धान्तिक सत्ता-ढाँचे (hiararchical power-structure) का विकास, केन्द्रीय दफ्तरशाही और सिविल सेवाका उदय, सामन्तवादकी व्यक्तिगत वफादारी और अनुबन्धों पर आधारित राज्य-व्यवस्था—ये सब इस प्रणालीगत सोपानमें विकास प्राप्त करने वाले सरकारी ढाँचेके विभिन्नीकरणके उदाहरण हैं। (३) आधुनिक सोपान : जब राज-नीतिक प्रथाके दल हितसमूह, समाचारपत्र जैसे राजकीय निम्नतंत्र विकसित करने लगें, तब राजनीतिक विकासका आधुनिक सोपान आरम्भ होता है। जब विशाल भूमि पर प्रजाका बड़ा भाग राजनीतिमें भाग लेने लगे, तब प्रणालीगत राज्यप्रथा अपूर्ण सिद्ध होती है और दलों, समाचार-पत्रों और हितसमूहोंका उद्भव अनिवार्य हो जाता है। इस ढंगसे अनौपचारिक और खण्डित राजकीय ढाँचा, सरकारी ढाँचेका विभिन्नीकरण और राजकीय निम्नतंत्रोंका विभिन्नीकरण—ये तीनों क्रमशः प्राथमिक, प्रणालीगत और आधुनिक राज्यप्रथाओंकी लाक्षणिकताएँ हैं। अधिकतः इन तीनों सोपानोंमें ग्रेवियल आल्मण्ड स्वायत्तताकी मात्रा पर क्रमानुसार वर्गीकरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार आल्मण्डने तांत्रिक विभिन्नीकरणकी नींव पर राजनीतिक विकासका ऐतिहासिक उत्क्रांति-विवरण उभारा है।

दूसरा, सेम्युअल हंटिंग्टन राजकीय विकासका मूल आधुनीकरण और संस्थानीकरणकी

मात्राओंके संतुलनमें देखता है। आधुनीकरण और सामाजिक तरलीकरण (modernisation and social mobilisation)की मात्रा समाजमें ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, तदनुसार राजकीय प्रथाके सामने या तो नए प्रश्न खड़े होते जाते हैं या फिर पुराने प्रश्न विराट रूप धारण कर उपस्थित होते हैं। आधुनीकरणकी बढ़ती हुई मात्रासे उत्पन्न प्रश्नोंको हल करनेके लिए यदि समाज आवश्यक संस्थागत परिपक्वता विकसित न कर सका तो राजनीतिक पतन आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार आधुनीकरणके साथ-साथ यदि समाजके संस्थानीकरण (Institutionalisation)की मात्रा भी बढ़ती जाय, तभी राजकीय विकास सम्पन्न किया जा सकता है। आधुनीकरण और संस्थानीकरणके बीच थोड़ा अन्तर रहना स्वाभाविक है; परन्तु यदि यह अन्तर बहुत बढ़ जाय तो राजकीय विकासके लिए खतरा उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार सेम्युअल हंटिग्टन यह मानता है कि संस्थानीकरणके लिए समाजकी शक्ति पर राजनीतिक विकासका आधार है। विशेषतः विकासोन्मुख अ-पश्चिमी देशोंमें संस्थानीकरणके विकासके लिए क्षमताकी सीमाका ख्याल न रख कर यदि आधुनीकरणकी ओर आँख बन्द कर दौड़ा जाय तो ऐसे राष्ट्रोंकी राजकीय प्रथाके टूट जानेका भय भी उसे दिखायी देता है। अतः आधुनीकरण और संस्थानीकरणके वेगोंके बीच संतुलन बनाए रखनेकी योग्यता राजकीय विकासके लिए आवश्यक पूर्वशर्त है।

तीसरा, ल्युसियन पाईने राजकीय विकासका स्वरूप समझनेके लिए संकटोंका सिद्धान्त विकसित किया है। ल्युसियन पाईके मतानुसार किसी भी राजकीय प्रथाको मुख्यतः छः मूलभूत संकट हल करने पड़ते हैं : (१) आत्म-परिचय अथवा अहंताका संकट (the identity crisis) : किसी भी राजकीय प्रथाका प्रथम और मूलभूत संकट प्रजाके विविध वर्गोंमें आत्म-परिचयकी सामान्य भावनाको विकसित करनेका है। यदि प्रजाके विविध वर्ग या प्रदेश आपसमें तादात्म्य (identification)का अनुभव न करें, तो वह राज्य टिक नहीं पाता। इवो जाति यदि नाइजीरियाके राज्यमें तादात्म्यका अनुभव न करे अथवा मुस्लिम अखण्ड भारतमें तादात्म्यका अनुभव न करे, तो राज्यकी रचना ही असंभव होगी। इंग्लैण्डके साथ तादात्म्य न अनुभव करनेवाला आयरलैण्ड अलग हुआ; इसे इंग्लैंडके आत्म-परिचयके संकटके रूपमें निरूपित किया जा सकता है। इंग्लैण्ड आयरलैण्डके मामलेमें असफल हुआ, किन्तु स्काटलैण्डकी ओरसे उत्पन्न ऐसे आत्म-परिचयके संकटको हल करनेमें सफल भी हुआ। भारतके अंगभूत भागके रूपमें रहनेकी नागालैण्ड या मीजीलैण्डके आत्यन्तिक तत्वोंकी आनाकानी भी इसी आत्म-परिचयके संकटका निर्देश करती है। (२) लोक-स्वीकृतिका संकट (the legitimacy crisis) : राज्यकी रचना निश्चित होने पर किस प्रकारकी राज्य प्रथा विकसित की जाय, इस सम्बन्धमें प्रजाके विविध वर्गोंकी सर्वसम्मति और सर्वस्वीकृति प्राप्त करना एक दूसरी महत्वपूर्ण चुनौती है। राज्यसंचालन सम्बन्धी चाहे कोई भी प्रथा विकसित की जाय, किन्तु यदि वह धीरे-धीरे प्रजाके दिलमें घर नहीं कर लेती तो वह लम्बे समय तक नहीं टिक पाती। संविधानसे सम्बद्ध विवाद लोकस्वीकृतिका संकट घोषित करता है। संविधानके मूलभूत ढांचेमें संबंधित विविध वर्गों और दलोंके बीच एकमतता स्थापित कर लेनेसे लोक-स्वीकृतिका संकट हल किया जा सकता है। एकात्मक सरकार या संघीय सरकार विषयक विवादमें कांगोंकी प्रथा टूट गई, और इसी प्रकार संघीय तंत्र या अर्द्धसंघीय तंत्र विषयक

विवादको लेकर नाइजीरियामें अन्तर्विग्रह आरंभ हो गया। भारतमें भी जनसंघ संघीय तंत्र विषयक और वामपंथी साम्यवादी दल प्रजातंत्र विषयक विरोध और आशंकाएं प्रकट करते हैं। इस पर भी भारतने बड़ी मात्रामें यह संकट हल कर लिया है और उसकी शासन प्रथा विशाल लोकस्वीकृति प्राप्त करती जा रही है। (३) प्रसरणका संकट (the penetration crisis) : नए राज्योंके सामने एक और संकट यह है: राष्ट्रजीवनके दूरतम और निम्नतम स्तर तक उसके आदेशोंको प्रसारित करनेकी असरकारकता उत्पन्न करना। आदेश-प्रसरणकी असरकारकता यदि उत्पन्न न हो तो राज्यके हुक्म कागज पर ही रह जायेंगे और वास्तवमें सिद्ध नहीं हो पायेंगे। यदि भारतकी ही बात करें तो कितने ही दशकोंसे बाललग्न पर कानूनी प्रतिबंध लगाए जाने पर भी बाललग्न देशके किसी न किसी कोनेमें होते ही रहते हैं; इसी प्रकार नशा-निषेध या अस्पृश्यता-निवारणकी नीतिके कार्यान्वयनमें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। ये प्रसरण सम्बन्धी संकटके उदाहरण हैं। (४) साझेदारीका संकट (the participation crisis) : ज्यों-ज्यों प्रजाके विविध वर्ग राजनीतिकी ओर खिचते जाते हैं और उसमें भाग लेने लगते हैं, त्यों-त्यों सत्ताविभाजन या सत्ताकी साझेदारीका संकट जन्म लेता जाता है। जबकि राजनीतिमें जनताके सामूहिक तरलीकरण (mass-mobilisation)का युग स्वरूप ग्रहण कर रहा है, तब साझेदारीका संकट अधिक तीव्र और सहज बन जाता है। भारतमें ब्राह्मण-अब्राह्मणोंके झगड़े, उत्तर भारतमें जाट और राजपूतोंकी आपसी स्पर्धा अथवा गुजरातमें पाटीदारों और क्षत्रियोंके बीचका संघर्ष—ये सब साझेदारीके संकटका निर्देश करते हैं। (५) एकीकरणका संकट (the integration crisis) : प्रजाके विविध प्रदेश-समूहों, संस्कार-समूहों तथा वर्ग-समूहोंके बीच जीवन्त संवहन (communication) स्थापित करने और उसमेंसे आकार लेनेवाली आपसी अन्तःक्रिया (interaction) पर आधारित संबंधोंकी एकीकृत प्रथा विकसित करनेकी चुनौती भी राजकीय प्रथाके लिए बड़ा संकट है। (६) विभाजनका संकट (the distribution crisis) : इस मुद्दे पर विभाजनका संकट जन्म लेता है कि समाजकी आर्थिक संपत्ति और राजकीय सत्ताको प्रजाके विविध वर्गोंमें किस प्रकार विभाजित किया जाए। मार्क्सवादके उदयके बाद विभाजनका बोध और उसके लिए स्पर्धा राजनीतिमें अधिक तीव्र हुये हैं।

ल्युसियन पाईके मतानुसार किसी भी राजकीय प्रथाको ये छः संकट हल करने पड़ते हैं। राजकीय प्रथाका विकास इस पर आधारित है कि वह इन संकटोंको कैसे और कितनी सफलतासे हल करती है। यहाँ यह नोट करना चाहिए कि संकट प्रत्येक देशमें निश्चित क्रमसे नहीं आते। इंग्लैण्डमें ट्यूडर-युगमें आत्म-परिचयका संकट उत्पन्न हुआ, स्टुअर्ट-युगमें लोकस्वीकृतिका संकट आया, उन्नीसवीं सदीमें सामाजिक तरलीकरणसे निष्पन्न साझेदारीका संकट आया और ठीक बीसवीं सदीमें विभाजनका संकट तीव्र हुआ। इसके विपरीत यूरोपमें ऐसा स्पष्ट क्रम नहीं चल सका, अतः वहाँ राजकीय विकास इंग्लैण्डके समान क्रमिक व शान्त नहीं रहा। जर्मनी और इटली में राष्ट्र-रचना होनेके बाद आत्म-परिचयका संकट आया। फ्रांसमें लोकस्वीकृति और एकीकरणका संकट पूरी तरहसे हल न हो सकनेके कारण उसके प्रसरण और विभाजनके संकट खूब विकट बन गए हैं। किसी राष्ट्रमें लोक-स्वीकृति और

आत्मपरिचयका संकट हल होनेके पूर्व विभाजन या साझेदारीका संकट आ पड़ने पर उसकी राजकीय प्रथा टूट जाती है। इस प्रकार ये छः संकट जिस रूपमें राजकीय प्रथाके सामने आते हैं, उसके अनुसार ही वहाँके राजकीय विकासकी रीति (pattern) निश्चित होती है। ल्युसियन पाई तो यह मानता है कि संकटके क्रम-विकल्पोंसे राजकीय विकासकी विविध रीतियाँ तय करनेवाली प्रकार व्यवस्था (typology) भी विकसित की जा सकती है। अधिकतः यह भी निश्चित नहीं होता कि ये संकट एकके बाद एक ही आयेंगे। एशिया और अफ्रीकाके नवोदित राष्ट्रोंकी मुख्य कठिनाई यह है कि उनके हिस्सेमें बहुतसे संकट एक साथ और एक ही समयमें हल करनेके लिए उपस्थित हो गए हैं।

प्रथा-परिवर्तनके स्वरूप और प्रक्रिया विषयक ये तीन अभिगम राजकीय विकासकी धारणा स्पष्ट करते हैं। तांत्रिक विभिन्नीकरण, संस्थानीकरण सम्बन्धी क्षमता-वृद्धि और कितने ही मूलभूत संकट या चुनौतियाँ हल करनेकी शक्ति—इन तीनों पर किसी भी प्रथाका राजकीय विकास निर्भर करता है। प्रथा-परिवर्तन विषयक इन अवधारणात्मक विश्लेषणों और अभिगमोंसे धीरे-धीरे राजकीय विकासका सिद्धान्त आकार ले रहा है। मात्र प्रथा परिचालनके पहलुओं और प्रक्रियाओं पर ही भार देनेवाली राजनीतिके अभाव प्रथा-परिवर्तन विषयक ये जोतें पूरी कर रही हैं। राजकीय प्रथाके परिचालन और परिवर्तन विषयक इन सिद्धान्तोंके समन्वयसे ही राजनीतिका सर्वांगीण और संतुलित सिद्धान्त जन्म लेगा।

राजकीय विकासके इस अवधारणात्मक ढाँचे (conceptual frame-work)के संदर्भमें भारतके राजनीतिक विकासके प्रश्नोंका मूल्यांकन करना शेष है। आजकल भारतीय राजनीति-अति आन्दोलित और अतिप्रवाहात्मक स्थितिसे गुज़र रही है। राजकीय विकासके प्रवाह अभूतपूर्व वेगसे भारतीय राजनीतिकी नवरचना और नवसंस्करण कर रहे हैं।

एशिया और अफ्रीकाके नवोदित राष्ट्रोंमें अपूर्व वेगसे आकार लेती राजकीय विकासकी प्रक्रिया विश्व इतिहासके अर्वाचीन युगकी अत्यन्त उल्लेखनीय घटना है। एक तरफ कितनी ही सदियोंके हेरफेर थोड़ेसे दशकोंमें हो रहे हैं, तो दूसरी तरफ अनेक क्षेत्रोंमें एक साथ परिवर्तन हो रहा है। इस प्रकार अल्पविकसित अ-पश्चिमी राज्योंमें आधुनीकरण और विकासके विश्व-आदर्श तेज़ीमे फैल रहे हैं। प्रणालीगत सामाजिक-राजकीय ढाँचोंमें विविध स्तरों पर आधुनीकरणके प्रवाहोंके फैलनेमे विविध परिवर्तन रचे जा रहे हैं। जिस प्रकार एक समय औद्योगिक क्रांति या फ्रेंच क्रांतिके प्रवाह विश्वके कोने-कोनेमें फैल गए थे, उसी प्रकार आज नई विश्व-संस्कृतिके अंगभूत आधुनीकरण और विकासकी धारणाएँ विश्वके कोने-कोनेमें फैल रही हैं और राजनीति और समाज-जीवनमें अनेक क्रांतियाँ रच रही हैं। इसमे भी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि आधुनीकरण और विकास विषयक अभूतपूर्व संज्ञानता अ-पश्चिमी राष्ट्रोंमें प्रवर्तित है, परिणामस्वरूप आधुनीकरण नवोदित राज्योंमें अबोधात्मक प्रक्रिया नहीं रही है, परन्तु वह तो बोधमय समाज-परिवर्तनका दर्शन बन गया है। अतः नवोदित राज्योंकी राजनीतिमें प्रथा-परिचालनकी अपेक्षा प्रथा-परिवर्तनकी प्रक्रिया व परिणाम अधिक महत्व धारण कर लेते हैं। सुविकसित राज्यप्रथाओंमें राजनीतिकी स्थिर और स्थायी रीति विकसित हो चुकी होती है, जिसमे वहाँ परिवर्तन और विकासके प्रश्न सीमावर्ती होते हैं और प्रथा-परिचालनके प्रश्न केन्द्रीय स्थान पर होते हैं। नवोदित राष्ट्रोंमें इसका

उल्टा ही होता है। नवोदित राष्ट्रोंमें राजनीतिकी रीति अभी स्थिर नहीं होती, जिससे प्रथा-परिचालनके प्रश्नोंको देखनेकी स्वस्थता प्राप्त नहीं होती; परन्तु प्रणालीगत प्रथासे आधुनिक राजकीय प्रथा रचनेके प्रयासोंके कारण इतनी त्वरासे परिवर्तन हो जाते हैं कि ऐसे राष्ट्रोंकी राजनीति समझनेके लिए राजकीय विकासमूलक परिप्रेक्ष्य (development context) अनिवार्य बन जाता है।

भारतकी राजनीति भी इसमें अपवाद नहीं। भारतीय राजनीतिमें भी सम्प्रति प्रथा-परिवर्तनके प्रश्न खूब महत्वपूर्ण हो गए हैं; जिससे भारतीय राजनीतिको भी विकासके संदर्भमें मूल्यांकित करना अनिवार्य हो गया है। भारतीय समाज और राजनीतिके प्रणालीगत ढाँचे पर आधुनीकरण और स्पर्धात्मक प्रजातांत्रिक राजनीतिके कारण जो हेरफेर हो रहे हैं, उसकी विस्तृत चर्चा आगे हुई है। यहाँ इतना ही उल्लेख करना अलम् है कि एक तरफ प्रणालीगत समाज और दूसरी तरफ आधुनीकरण और स्पर्धात्मक प्रजातंत्र—इन दोनोंके बीच आपसी संबंधों और प्रभावोंमेंसे विकासकी प्रक्रिया आकार ग्रहण कर रही है और धीरे-धीरे आधुनिक राजकीय प्रथा विकसित हो रही है। भारतके राजकीय विकासकी लाक्षणिकताओंका उल्लेख करने तथा उसके प्रश्नोंको समझनेके लिए प्रथा-परिचालनके तीन मुख्य अभिगमोंको लिया जा सकता है। इस दृष्टिसे भारतके राजनीतिक विकासके प्रश्नको तांत्रिक विभिन्नीकरण, संस्थानीकरण और विविध संकटोंको हल करनेकी क्षमता नामक तीन कसौटियों पर आँका जा सकता है।

तांत्रिक विभिन्नीकरण, सांस्कृतिक असम्प्रदायीकरण और उप-प्रथा स्वायत्तता (sub-system autonomy) की दृष्टिसे भारतके राजनीतिक विकासने अच्छी-खासी मंज़िल पूरी कर ली है। सरकारी तंत्र और राजकीय ढाँचेमें अधिकाधिक विभिन्नीकरण और संश्लिष्टताके तत्त्व प्रविष्ट हो रहे हैं। प्रणालीगत सोपानमें भारतीय राजनीतिका ढाँचा सादा और अल्पस्तरित था; अब वह खूब तेज़ीसे अतिस्तरित बन रहा है। अधिकत: ग्रेब्रियल आलमण्ड जिसे राजकीय निम्नतंत्र कहता है, वैसे समाचारपत्रों, दलों; हितसमूहोंका भी भारतमें उचित विकास हुआ है। इस पर भी इस क्षेत्रमें विकास अभी अधूरा है और उप-प्रथा स्वायत्तता अभी तक विकसित नहीं हुई है। जैसी स्वायत्तता समाचारपत्रों और हितसमूहोंको चाहिए, वैसी स्वायत्तता स्थापित नहीं हुई है। बहुत बार समाचारपत्र आर्थिक हितों व राजकीय दलोंके बाजे बन जाते हैं। दल, आर्थिक सत्ता-ढाँचे और समाचारपत्रोंके बीच अभी स्पष्ट विभिन्नीकरण नहीं हुआ है। उसी प्रकार भारतमें हितसमूह भी अधिकांशत: दलगत राजनीतिसे घिरे रहते हैं। उदाहरणके रूपमें, मज़दूर-संगठन अलग-अलग दलोंके प्रभावान्तर्गत विभाजित हैं। इतना ही नहीं, परन्तु एक दलमें चल रहे समूहवादी संघर्षोंके चरणों पर मज़दूर संगठनोंमें भी समूहवादी विभाजन हो जाता है। इस प्रकार पक्षीय राजनीतिसे स्वायत्त निम्नतंत्रके रूपमें हितसमूह अभी तक पूरे-पूरे विकसित नहीं हुए हैं और तदनुसार तांत्रिक विभिन्नीकरण राजनीतिक निम्नतंत्रकी कक्षा पर अभी तक थोड़ा कच्चा है और उस क्षेत्रमें उप-प्रथा स्वायत्तताकी मात्रा अभी तक कम है।

संस्थानीकरणकी दृष्टिसे देखें तो संस्थानीकरणकी बढ़ती हुई आवश्यकताओंको पूरा करनेकी क्षमता भारतके सामने एक मुख्य चुनौती है। जिस तेज़ीसे आधुनीकरण, शिक्षा, आर्थिक प्रगति विकास प्राप्त कर रहे हैं; उस संदर्भमें ज़रूरी संस्थाएँ खड़ी करना तथा उनके लिए कार्यक्षम मानव-

रूप विकसित करना एक मुश्किल काम है। समाज-जीवनके नए-नए उन्मेषों और प्रवाहोंको यदि संस्थाकीय स्वरूप दिया जाय तो वे स्थिर रीतिमें परिणत हो सकती हैं। उदाहरण देना हो तो आजकल भारतमें कांग्रेसके प्रभावकी एक-दल-प्रभाव-प्रथाका संस्थाकीय ढाँचा टूट गया है और उसके स्थान पर विकसनशील अधिक तीव्र दलगत स्पर्धावाली राजनीतिको संस्थाकीय स्वरूप देनेमें उपस्थित मुश्किलोंके कारण आजकी अस्थिरता जन्मी है। अधिक विशाल अर्थमें देखें तो प्रजाके असंतोष और माँगोंको स्पष्ट आकार और अभिव्यक्ति देने वाले, सत्ताकेन्द्रके कानों तक पहुँचानेवाले और तद्विषयक सरकारके साथ बातचीत करनेवाले असंख्य हितसमूहोंके संस्थागत जाल (institutional network) पूरे-पूरे विकसित न हो सकनेके कारण प्रजाकी माँगें टोलाशाही प्रदर्शन या गली-राजनीतिका स्वरूप लेती हैं। संस्थाएँ रचने और समाजमें आकार ले रहे प्रवाहोंको संस्थाकीय स्वरूप देनेकी क्षमता भारतके राजनीतिक विकासमें केन्द्रवर्ती भाग अदा करेगी।

प्रथाके सामने उपस्थित छः मूलभूत संकटोंकी दृष्टिसे देखें तो भारतके विकासके कितने ही पहलू स्पष्ट हो जाते हैं। आत्म-परिचयका महान् संकट भारतने स्वराज्य-प्राप्तिके समय अनुभव किया। अखण्ड भारतकी एक सरकार रचनेके दशकोंके महाश्रमके बावजूद भी हमें विभाजन स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार हम समस्त भारतको आवृत करनेवाला राज्य बनानेमें सफल नहीं हुए। परन्तु बाकीके भारतमें हम एक सुदृढ़ राज्य बनानेमें सफल हुए हैं। द्रविड़िस्तानके आन्दोलन-ने भी अलगतावादकी माँग छोड़कर राज्योंके लिए अधिक स्वायत्तता प्राप्त करनेकी माँग स्वीकार कर ली, जो आत्म-परिचयके एक और संकटमें भारतीय राजनीतिक प्रथाकी विजय दर्शाती है। मात्र नागालैण्ड और मीज़ोलैण्डके कुछ आत्यन्तिक तत्त्वोंके अपवादको छोड़कर भारतने सम्प्रति तो आत्म परिचयके संकटको पार कर लिया है। उसी प्रकार भारत द्वारा अपनाई गई शासन-प्रणाली भी प्रजाके विविध वर्गोंकी सर्वसम्मति और सर्वस्वीकृति प्राप्त कर सकी है। जनसंघको संघीयतंत्र पर, वामपंथी साम्यवादी पक्षको प्रजातंत्र पर थोड़ा अविश्वास और थोड़ी शंकाएँ हैं; परन्तु वे भी इसके विषयमें आत्यन्तिक आग्रही नहीं हैं। इस तरह लोक-स्वीकृतिका संकट भी भारतीय राजकीय प्रथा पार कर गई है। तफसीलमें बिना उतरे यह कहा जा सकता है कि प्रसरण और साझेदारीके संकटको हल करनेमें भी भारतको सफलता मिली है। दिनोंदिन सरकारका तंत्र अधिक व्यापक और प्रभावशाली बन रहा है। उसी ढंगसे सदियोंसे राजनीतिसे उदासीन प्रजाके विविध वर्गोंको राजनीतिमें खींचनेकी तरलीकरण और राजनीतीकरण (mobilisation and politicisation) की प्रक्रिया भी उचित रूपमें आगे आई है। पिछले बीस वर्षोंमें प्रजा-का बहुत बड़ा वर्ग राजनीतिमें भाग लेने लगा है; इतना ही नहीं, परन्तु इससे निष्पन्न सत्ता-साझे-दारीका संकट भी बड़ी उथल-पुथल या अंधाधुंधीके बिना ही शांत हो गया है। इस प्रकार भारतीय राजनीतिने चार संकट बड़ी मात्रामें हल कर लिए हैं या निकट भविष्यमें कर लेगी, ऐसे आसार नज़र आ रहे हैं। मात्र एकीकरण और विभाजनके संकट भारतकी राजकीय प्रथाको हल करने शेष हैं। आने वाले दिनोंमें ये दोनों संकट भारतीय राजनीतिक प्रथाके लिए महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ बन जायेंगे।

राजकीय विकासको इन तीन मुख्य अध्ययन-अभिगमोंकी दृष्टिसे आँकने पर तो भारतकी

राजकीय प्रथाके सामने मुख्य चार प्रश्न या चुनौतियाँ हैं : संस्थानीकरण, आधुनीकरण, एकीकरण और सत्ता व सम्पत्तिका उचित बँटवारा। इन चार क्षेत्रोंमें भारतकी राजकीय प्रथा कितनी सफल होगी, इसका आधार उसके राजकीय विकास पर निर्भर है।

इस दृष्टिसे भारतकी राजकीय प्रथाने उल्लेखनीय विकास किया है। तांत्रिक विभिन्नीकरण, संस्थानीकरण और संकटोंको हल करनेकी क्षमताकी कक्षा पर उसकी सिद्धियाँ प्रभावशाली हैं। इस पर भी कितनी ही महत्त्वपूर्ण चुनौतियोंका उसे सामना करना शेष है। इन चुनौतियोंकी व्यापकता और गंभीरता चिन्ता पैदा करनेवाली है। परन्तु पिछले दो दशकोंमें भारतके राजकीय विकासकी गतिविधि संतोषप्रद रही हो; इतना ही नहीं, अपितु विकासकी स्थिर रीति भी भारतमें विकसित हो रही है। समग्रतः प्रथाके सामने चुनौतियाँ भविष्यके लिए गंभीर प्रश्न खड़े करती हैं। परन्तु अब तकके अनुभवोंके आधार पर, ऐसे आसार नज़र आते हैं कि इन चुनौतियोंको झेल लेनेके लिए अपनी शक्ति विषयक आशा तथा विश्वास उत्पन्न हो जायेंगे। चुनौती और उसका सामना करना जीवन्त राजनीतिकी अन्तःप्रक्रिया है और उसमेंसे ही राजकीय विकास आकार लेता है।
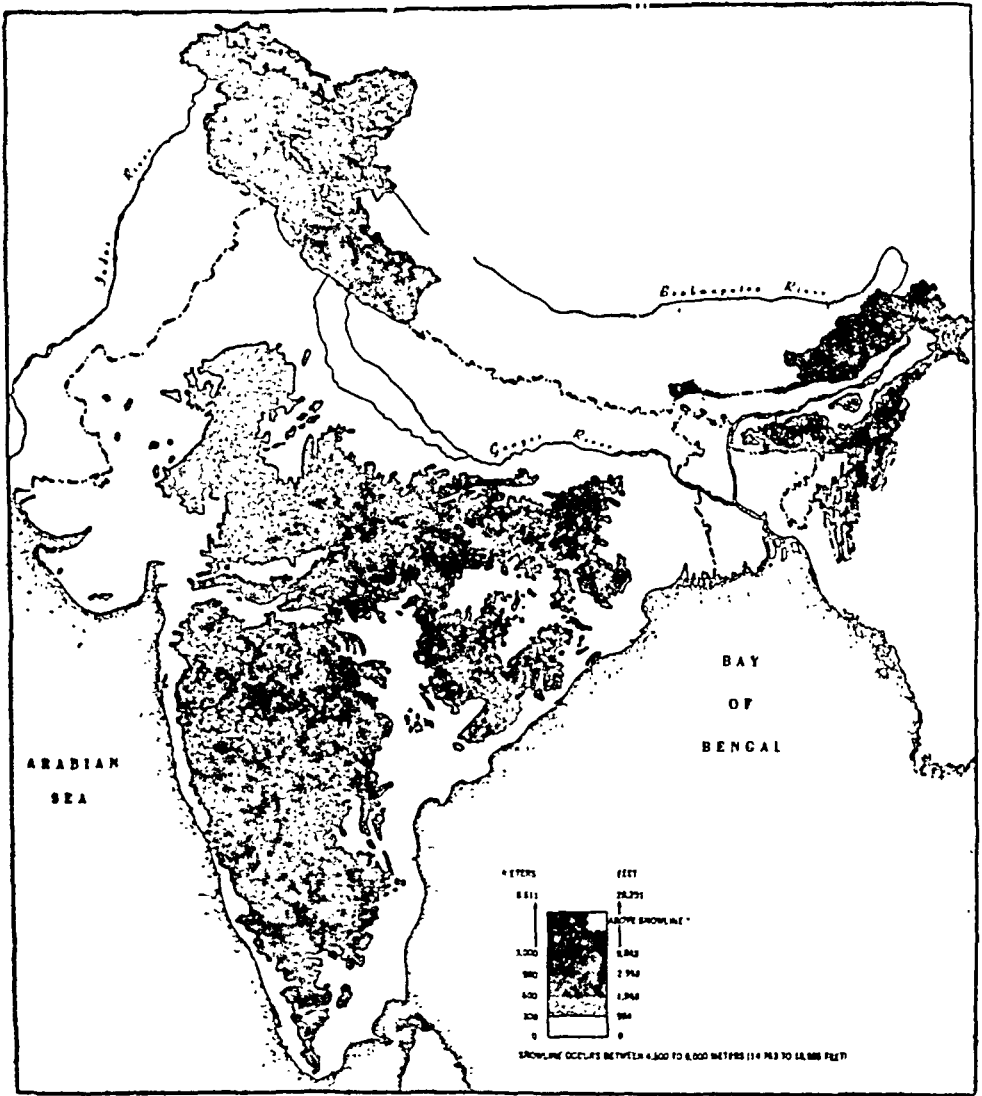
भारत : प्राकृतिक प्रदेश

भारत (ब्रिटिश समय का १९४७)
ब्रिटिश भारत तथा आश्रित प्रदेश
देशी राज्य
विदेशी थाने
कश्मीर
सिक्किम
भूटान
जयपुर
जोधपुर
कच्छ
मध्य भारत
गोआ
पाँडिचेरी
पुडुकोट्टाई
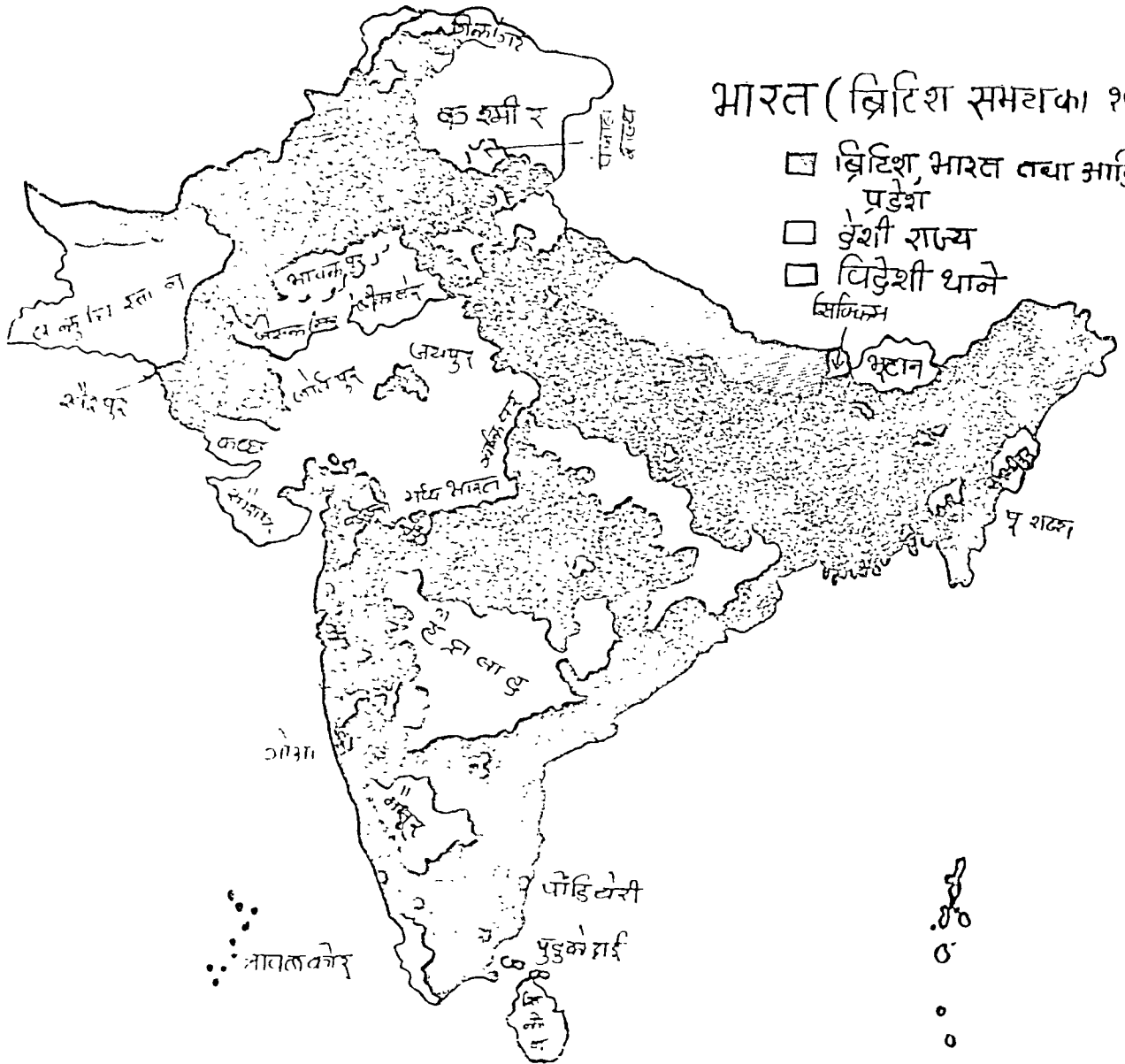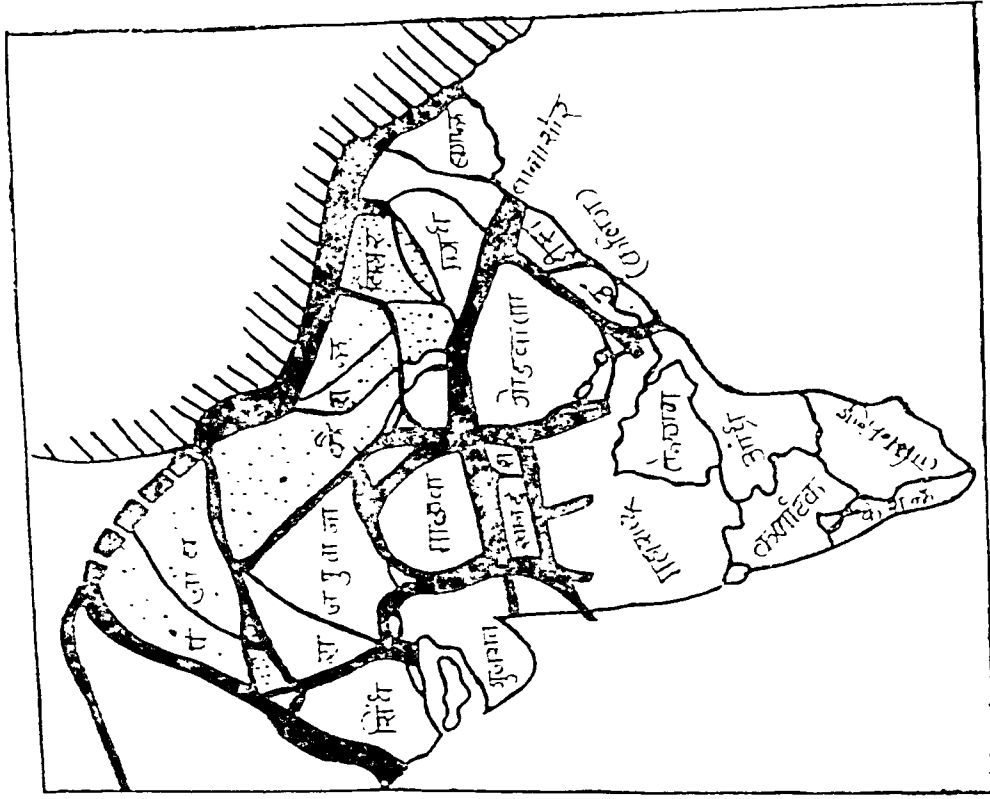
राजकीय प्रदेशोंकी भौगोलिक नींव
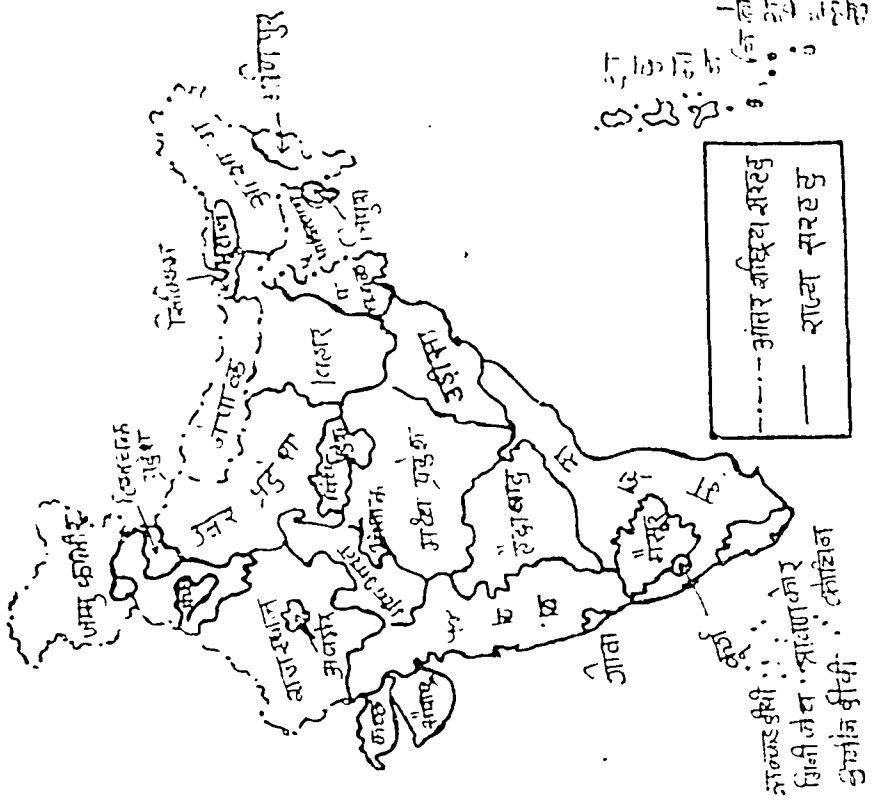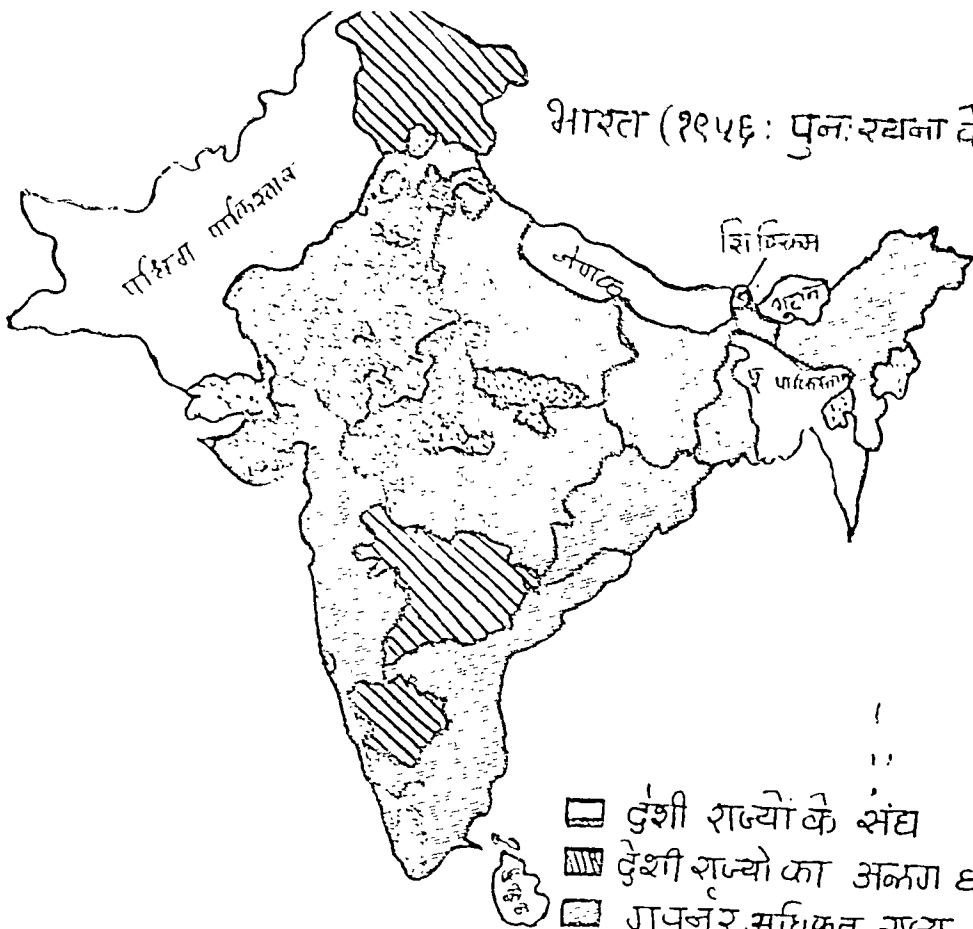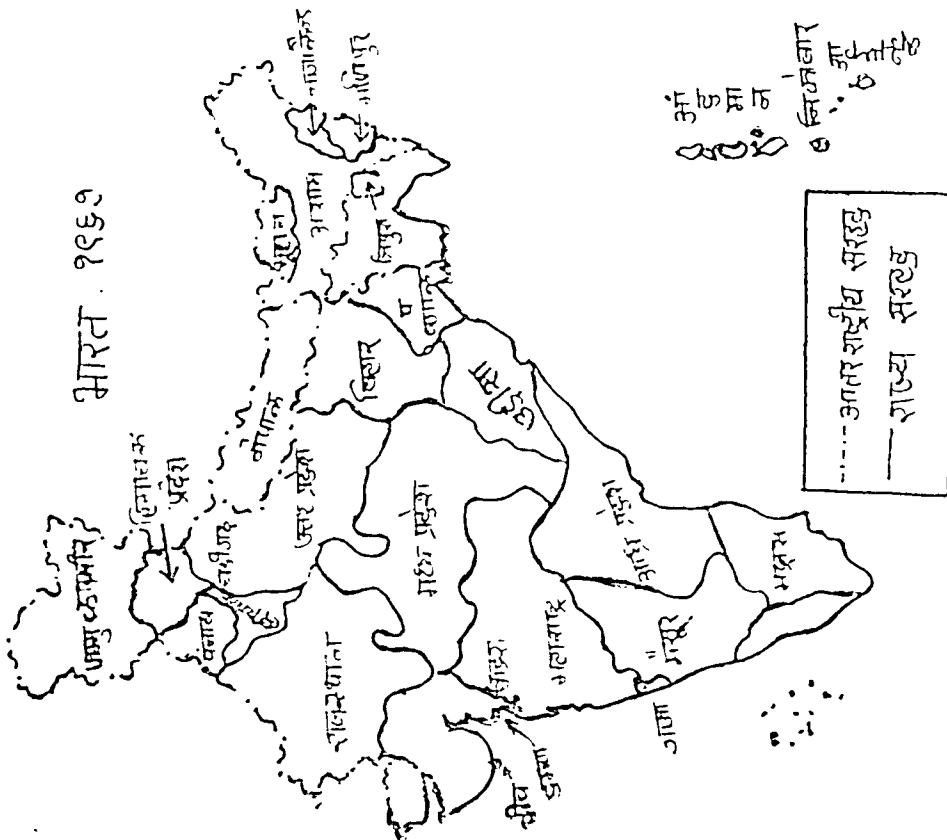
भारत
मुख्य भाषाओ अने बोलीओ
बुरुशस्की
कश्मीरी
तिब्बती बोलियाँ
पश्चिमी पहाड़ी
मध्य पहाडी
(पूर्वी) पंजाबी
मारवाडी
हिन्दुस्तानी
मेवाती
जयपुरी
राजस्थानी
व्रजभाषा
अवधी
(पश्चिमी) हिन्दी
कोसली अथवा (पूर्वी) हिन्दी
भोजपुरी
मैथिली
लेपचा
आसामी
मिरी
उफला
नागा
बंगाली
बिहारी
मगही
गुजराती
मालवी
कोर्कू
मराठी
गोंड
मुंडारी
सवर
गडाबा
तेलुगु
कन्नड
तामिल
इन्डो-आर्यन
द्राविडी
ओस्ट्रिक
चीनी-तिब्बती
अंडमानी
निकोबारी
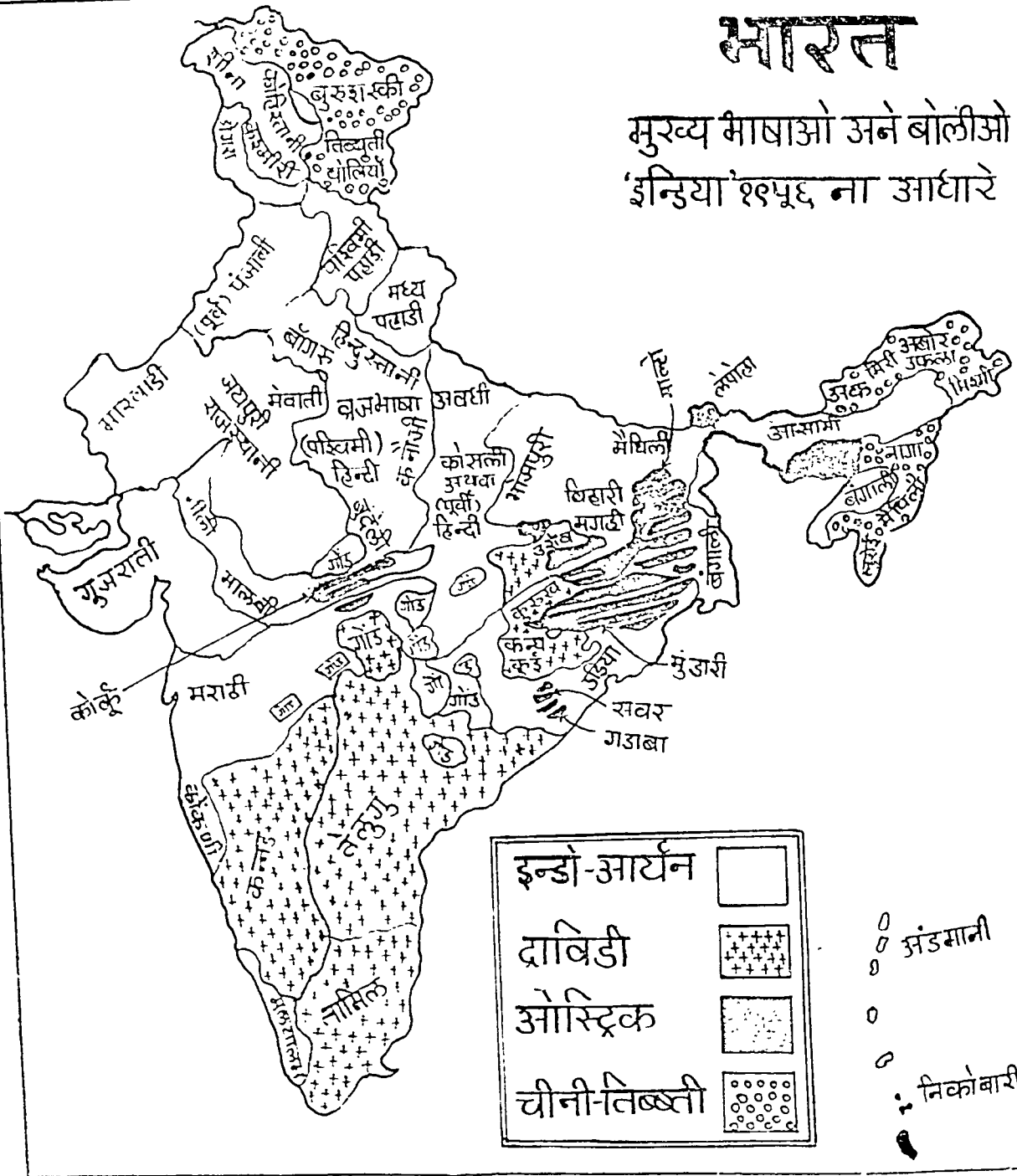
२ : भारतीय राजनीतिके आधार

किसी भी राष्ट्रकी राजनीति शून्यावकाशमें निर्मित नहीं होती। जिस प्रकार रंगमंच और सन्निवेशकी पृष्ठभूमि नाटकके अभिनयको स्थायी एवं अवैयक्तिक संदर्भ प्रदान करती है, उसी प्रकार राष्ट्रीय उत्तराधिकार किसी भी समयकी राजनीतिको स्थिर आधार प्रदान करता है। राष्ट्रके भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक उत्तराधिकारको कोई एक पीढ़ी न तो एकाएक बदल ही सकती है और न उसकी उपेक्षा ही कर सकती है। इस प्रकार उत्तराधिकार द्वारा निर्मित बड़े ढाँचेकी सीमाओंमें रहकर राजनीतिज्ञोंको राजनीतिको आकार देना पड़ता है। इस तरह एक तरफ तो ऐसे आधारके परिबल राजनीतिको स्थायी और अवैयक्तिक पहलू प्रदान करते हैं तो दूसरी तरफ तत्कालीन प्रसंग, प्रजासमूह और व्यक्ति राजनीतिको गतिशील और परिवर्तनशील बनाते हैं।

इस दृष्टिसे देखें तो राजनीतिके परिबलोंको दो प्रकारोंमें बाँटा जा सकता है : (१) स्थायी और अवैयक्तिक आधारके परिबल (Foundation factors) और (२) तत्कालीन और वैयक्तिक मानव-परिबल (human factors)। आधारगत परिबल पूरे अर्थमें स्थायी और अवैयक्तिक नहीं होते; परन्तु छोटी अवधि (अर्थात् एक या दो पीढ़ियोंकी समयावधि)की दृष्टिसे वे अपेक्षाकृत स्थायी और अवैयक्तिक होते हैं। दीर्घकालकी दृष्टिसे तो मानव-प्रयत्न ही ऐतिहासिक परम्पराओं, भौगोलिक परिबलों, सामाजिक-आर्थिक ढाँचों तथा साँस्कृतिक दृष्टियोंका निर्माण करते हैं और उन्हें बदल सकते हैं। अतः सम्पूर्ण अर्थमें आधारगत परिबलोंको स्थायी या अवैयक्तिक कहना उचित नहीं। परन्तु चूँकि कोई एक पीढ़ी या व्यक्तिसमूह इन आधारगत परिबलोंके उत्तराधिकार-संदर्भको नहीं बदल सकते, अतः इस अर्थमें उन्हें स्थायी और अवैयक्तिक कहा जा सकता है। जबकि दूसरी तरफ आधारगत परिबलोंके संदर्भ-ढाँचेमें रह कर तत्कालीन घटनाएँ और परिबल राजनीतिको स्वरूप प्रदान करते हैं। अगर आधारभूत परिबलोंके विशाल ढाँचेकी जरूरत स्वीकार भी कर लें, तो भी इस सीमाके होते हुए भी मानव-प्रयत्नोंके लिए खूब अवकाश रहता है। आधारभूत परिबलोंका उत्तराधिकार-संदर्भ समान होते हुए भी तत्कालीन नेतृत्वके दो समूह राजनीतिको पृथक्-पृथक् मोड़ दे सकते हैं। इस प्रकार आधारभूत परिबल और मानव-परिबल एक-दूसरेके पूरक होते हैं और उनके समन्वय और अन्तःसम्बन्धोंसे जीवन्त राजनीति आकार लेती है।

समाजशास्त्रमें आधारभूत परिबलोंकी यह धारणा मूलतः सही है; परन्तु अनेक बार

अतिशयोक्तियों और अर्द्धसत्योंके कारण इस मूलतः सही धारणाकी भी अनेक विकृतियाँ जन्मी हैं, जिससे ऐसी भ्रान्तियों और विकृतियोंको रोकनेके लिए आधारभूत परिवलोंकी धारणाविषयक थोड़े मुद्दे नोट करने प्रसंगानुकूल हैं : (१) छोटी अवधिमें आधारभूत परिवल स्थायी और अवैयक्तिक होते हुए भी लम्बी अवधिकी दृष्टिसे वे परिवर्तनशील और मानवनिर्मित हैं। (२) आधारभूत परिवलोंके असरकी अवगणना नहीं की जा सकती और उसके ढाँचेकी सीमाको स्वीकार करना पड़ता है; यह सब कुछ होने पर भी आधारभूत परिवलोंका असर पहले से ही तय किया हुआ या विधिवादी नहीं होता और उसमें मानव-प्रयत्न और नीति-विकल्पोंके लिए खूब अवकाश रहता है। इस तरह आधारभूत परिवलोंकी धारणा निर्णीतवादी, विधिवादी या नियतिवादी (deterministic or fatalistic) नहीं है, अतः वह मानव-इच्छा-स्वातंत्र्य (human free will)के लिए अवरोधक नहीं है। (३) विविध प्रकारके आधारगत परिवलोंके असरका अनुमान करना शेष है। किसी भी एक आधारभूत परिवलको अलग कर उसके महत्वकी अतिशयोक्ति करनेसे बहुतसे नुकसानदेह परिणाम आए हैं। आर्थिक परिवलों या भौगोलिक परिवलोंको अतिमहत्त्व देनेसे आर्थिक निर्णीतवाद (economic determinism) या भू-राजकीय निर्णीतवाद (geopolitical determinism)की विकृतियाँ जन्मी हैं। अतः आधारभूत परिवलोंकी बात करते समय प्रमाण-बोध रखना आवश्यक है। अधिकमें कहें तो आधारभूत विविध परिवल एक-दूसरे पर असर डालते हैं और तदनुसार उनमें परिवर्तन लाते हैं। सांस्कृतिक दृष्टियाँ आर्थिक परिवलोंके असरको गहरा या हल्का बनाती हैं या फिर आर्थिक परिवलोंमें हो रहे परिवर्तन भू-राजकीय असरोंमें हेरफेर लाते हैं। इस प्रकार आधारभूत परिवलोंका असर सीमित होता है और एक-दूसरे आधारभूत परिवलके प्रभावके नीचे बदलता रहता है। यदि ये तीन बातें ध्यानमें रखें तो समाजशास्त्रोंके अध्ययनमें आधारभूत परिवलोंकी यह धारणा खूब उपयोगी साबित होगी।

यदि इस दृष्टिसे भारतीय राजनीति पर विचार करें तो भारतीय राजनीतिको विशाल संदर्भ-ढाँचा प्रदान करनेवाले राष्ट्रीय उत्तराधिकारको परखना अनुकूल होगा। भारतीय राजनीतिको स्थायी और अवैयक्तिक पृष्ठभूमि प्रदान करनेवाले इस राष्ट्रीय उत्तराधिकारके मुख्य पाँच आधार हैं : (१) भौगोलिक अथवा भू-राजकीय भूमिका या आधार, (२) ऐतिहासिक और राष्ट्रवादी आधार, (३) सामाजिक आधार, (४) आर्थिक आधार और (५) सैद्धान्तिक और सांस्कृतिक आधार या भारतकी राजनीतिक संस्कृति।

भौगोलिक दृष्टिसे भारत दक्षिण एशियाके बड़े भागको समाए हुए है। एशिया खण्डके कुंआ-स्तम्भके समान पामीरके उच्च प्रदेशसे चारों दिशाओंमें फैलती हुई पर्वतमालाएँ दक्षिण एशिया उपखण्डको अलग करती हैं।

हिन्दुकुश, सुलेमान, कराकोरम और हिमालयकी महान् पर्वतमालाएँ दक्षिण एशियाको एक तरफ तो रेतीले और सूखे पश्चिम एशियासे और दूसरी तरफ ठण्डे मध्य एशियासे अलग करती हैं। इस प्रकार दक्षिण एशिया या भारतीय उपमहाद्वीप पश्चिम एशियाकी अपेक्षा अधिक भीना और मध्य एशियाकी अपेक्षा अधिक गरम है। इस भीनेपन और गरमीके कारण आसपासके प्रदेशोंकी अपेक्षा भारतीय उपमहाद्वीप मानवके बसनेकी दृष्टिसे अधिक आरामदायक और आकर्षक रहा

है। परिणामतः पश्चिम एशिया और मध्य एशियासे मानवसमूहोंने भारतीय उपमहाद्वीपमें आनेके लिए वारम्वार आक्रमण किए हैं। इसके विपरीत भारतकी ओरसे इन प्रदेशों पर आक्रमण नहीं हुए; कारण कि भारतकी तुलनामें, मनुष्योंके वसनेकी दृष्टिसे, ये प्रदेश अनाकर्षक हैं।

कुछ अंशोंमें एक ही आधार पर स्थित आमने-सामने तो त्रिकोणोंके समान भारतका आकार है। इन दोनों त्रिकोणोंका आधार एक है—विंध्य पर्वतमालाकी श्रृंखला। इस आधार पर उत्तरके त्रिकोणका ऊपरी भाग हिमालयमें निहित है; जवकि दक्षिणके त्रिकोणका ऊपरी भाग कन्याकुमारी पर स्थित है। क्षेत्रफलकी दृष्टिसे भारतका विस्तार ११,२७,००० वर्गमील (२९, २०,००,००० हेक्टर) है। भारतकी उत्तर-दक्षिण लम्वाई २,००० मील (३,२०० किलोमीटर) तथा पूर्व-पश्चिमकी लम्वाई १,७०० मील (२,७२० किलोमीटर) है। भारतकी भूमिकी सरहद ८,२०० मील (१३,१२० किलोमीटर) तथा सामुद्रिक सीमा ३,५०० मील (५,६०० किलोमीटर) है। इतने विस्तारके भीतर भारत प्रभावशाली भौगोलिक विभिन्नताएँ और विरोध धारण किए हुए है। वड़े उपजाऊ मैदान और पथरीला उच्च प्रदेश, घने जंगल व भयंकर रेगिस्तान, हिमाच्छादित गिरिमालाएँ और नीला समुद्रतट, विषुववृत्तीय उष्णप्रदेश और शीतकटिवन्धको भी शरमा देनेवाले हिमक्षेत्र—ये सव प्रादेशिक विभिन्नताएँ भारतमें देखनेको मिलती हैं। इस प्रकार विस्तार और विविधताकी दृष्टिसे भारत उपमहाद्वीपके लक्षणोंसे पूर्ण है।

किसी भी राष्ट्रकी राजनीति पर पड़े हुए भौगोलिक या भू-राजकीय प्रभावका यदि मूल्यांकन करना हो तो इन पाँच वातोंका परीक्षण करना चाहिए : (१) प्राकृतिक प्रदेशोंके भू-राजकीय आधार और विशिष्टताएँ, (२) राजनीतिके मुख्य मर्मप्रदेश, (३) प्राकृतिक सम्पत्ति, (४) भौगोलिक सीमाएँ और उनके संरक्षणकी समस्याएँ तथा (५) पड़ोसी विस्तारकी प्रादेशिक रीतमें राष्ट्रका स्थान। इन पाँच वातोंका अध्ययन यदि किया जाय तो राष्ट्रीय राजनीति पर भौगोलिक प्रभावोंका महत्त्व और सीमा समझमें आ सकती है।

(१) प्राकृतिक प्रदेश

प्राकृतिक प्रदेशोंकी दृष्टिसे भारतके मुख्य चार भाग हैं: हिमालयकी पर्वतमाला, गंगा नदीका मैदान, दक्षिणका उच्च प्रदेश और तटीय मैदान। प्रथम, हिमालयकी पर्वतमाला विशाल और संकुल पर्वतप्रदेश हैं। तीन समानान्तर पर्वतमालाओंकी श्रेणियाँ २,००० मील (३,०० किलोमीटर) तक फैली हुई है। इन तीनों पर्वतमालाओंकी संयुक्त चौड़ाई १०० से २०० मील (१६० से ३२० किलोमीटर) है। काश्मीर, नेपाल, भूतान, सिक्किम, नेफा-विस्तार, नागालैण्ड तथा मीज़ो प्रदेश आदि इस हिमालयी पटमें समाए हुए हैं।

दूसरा, हिमालय पर्वतामालाके दक्षिणमें गंगाका विशाल मैदान स्थित है। उर्वरता, घनी आवादी और परिवहन आदिकी दृष्टिसे गंगाका मैदान भारतका श्रेष्ठ प्रदेश है।

तीसरा, गंगाके मैदानके दक्षिणमें दक्षिणका पटार स्थित है। दक्षिणका यह उच्चप्रदेश भारतीय द्वीपकल्पनाके वड़े भागको अपनेमें समा लेता है। भौगोलिक विभिन्नताकी दृष्टिसे दक्षिणके पठारको तीन उपविभागोंमें वाँट सकते हैं:

(अ) विंध्याचलके उत्तरका और अरावलीके पश्चिमका भाग : माल्वा और वुन्देलखण्डका

उच्च प्रदेश। इस प्रदेशका ढलाव उत्तरकी ओर है और उसकी सोन और चम्बल जैसी नदियाँ उत्तरपूर्वमें बह कर गंगा नदीमें मिल जाती हैं।

(ब) विंध्य पर्वतमाला और अजंता श्रणियोंके बीचका प्रदेश : इस प्रदेशका ढलान पश्चिमकी ओर है और यहाँकी नर्मदा और ताप्ती नदियाँ पश्चिममें बहती हुई अरब सागरमें मिल जाती हैं। मात्र नर्मदाके उद्‌गमके पूर्वमें स्थित मैकल श्रेणियोंके पूर्वका यह प्रदेश पूर्वकी ओर ढलता है। मैकल पर्वतमालासे आरम्भ होनेवाले इस पूर्व-तरफी ढलानके कारण महानदी उड़ीसामें होती हुई बंगालकी खाड़ीमें जा मिलती है।

(स) अजन्ता पहाड़ियोंका दक्षिणी त्रिकोण उच्च प्रदेश है, जिसके पश्चिममें पश्चिमी घाट और पूर्वमें पूर्वघाट स्थित है। दक्षिण-पूर्वकी ओर इस प्रदेशका ढलान है और इस प्रदेशमें उत्तरसे दक्षिणकी ओर जानेवाली क्रमशः गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियाँ बंगालकी खाड़ीमें मिलती हैं।

चौथा, इस दक्षिणी पठारके पूर्व और पश्चिमी किनारोंपर मैदान स्थित हैं। पश्चिमी तट पर गुजरात और केरलके मैदान हैं। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टिसे भारत चार प्रदेशों अथवा उनके दस उपप्रदेशोंमें बँटा हुआ है।

ये भौगोलिक या प्राकृतिक प्रदेश भारतीय राजनीतिमें राजनीतिक प्रदेशवादकी नींव बने हैं। अलग-अलग समयमें भारतके अलग-अलग भागमें विकसित राजकीय इकाइयोंका अगर अध्ययन किया जाय तो उनमें सातत्य और निश्चित रीतिका अनुगमन होता दिखाई देता है। उक्त दस उपप्रदेशोंके आसपास ही राजकीय इकाइयाँ रची जाती रही हैं। ये दस उपप्रदेश भारतीय राजनीतिके घटक या इकाइयाँ हो गए हैं। भारतीय राजनीतिमें संघर्ष, स्पर्धा या समन्वयकी जो रीतियाँ रची गई, उनकी इकाइयाँ तो अधिकांशतः ये दस उपप्रदेश ही रहे हैं। केलिडोस्कोपमें काँचके टुकड़ेकी रीतें बदलती रहती हैं, परन्तु कांचके टुकड़े तो वे ही रहते हैं; उसी प्रकार भारतीय राजनीतिमें इकाइयोंके रूपमें काम करनेवाले ये राजकीय प्रदेश तो वे के वे ही रहे हैं। भारतीय संविधान-के सत्रह राज्य भी ज्यादातर इन प्राकृतिक प्रदेशोंकी नींव पर रचित हैं। इस प्रकार भारतीय राज-नीतिके प्रदेशवादकी रीतिके पीछे भू-राजकीय नींवोंके इन प्राकृतिक प्रदेशोंकी विभिन्नता और विशिष्टता स्थित है।

(२) हार्द-प्रदेश

किसी भी राष्ट्रकी राजनीतिमें हार्द-प्रदेश (core-area)की धारणा भू-राजकीय प्रदान है। प्रत्येक राष्ट्रमें उर्वरता, बरसात और यातायातकी सुविधाकी दृष्टिसे एक ऐसा प्रदेश होता है, जो राष्ट्रका हार्द बन जाता है। ऐसे प्रदेशोंमें आबादी घनी होती है और दूसरे प्रदेशोंकी अपेक्षा इसका राजनीतिक प्रभाव खूब अधिक होता है। और राष्ट्रीय राजनीति उसके आसपास घूमती रहती है। इस दृष्टिसे देखने पर तो भारतीय राजनीतिके परम्परागत हार्द प्रदेश दो रहे हैं: (१) गंगाका मैदान, (२) कावेरीका मैदान। उत्तर भारतमें गंगाका मैदान, तो दक्षिणमें कावेरीका मैदान केन्द्रवर्ती महत्व रखता है। १९५१की जनगणनाके अनुसार ११ करोड़की आबादी अर्थात् एक चौथे भागकी आबादी गंगाके मैदानमें रहती है, जबकि ढाई करोड़की आबादी कावेरीके मैदानमें रहती है। इन दो हार्द-प्रदेशोंके महत्वका पता इससे चलता है कि नर्मदा, महानदी, ताप्ती, गोदा-

वरी और कृष्णाके मैदानोंकी कुल आवादी मात्र पांच करोड़ है। ये पाँच नदियाँ पहाड़ी उच्च प्रदेशमें वहती रहनेके कारण उनकी घाटियाँ गहरी और कम चौड़ी हैं। अतः इन नदियों पर निर्वाह करने वाली आवादी भी वहुत पतली घाटियोंमें रहती है। जबकि दूसरी तरफ गंगा और कावेरीके मैदान विशाल और सपाट होनेके कारण अधिक आवादीका निर्वाह कर सकते हैं। भारतके अधिकांश साम्राज्य गंगा और कावेरीके मैदानोंमें ही विकसित हुए हैं; अधिकतः उत्तर और दक्षिण भारतके वीचकी स्पर्धा और समन्वयकी नींवमें भी इन्हीं हार्दप्रदेशोंने महत्त्वका भाग अदा किया है। मौर्य, गुप्त और मुगल साम्राज्योंका सर्जन गंगाके मैदानमें हुआ है; चोल और पाण्ड्य राजाओंके साम्राज्य कावेरीके मैदानमें विकसित हुए। स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिमें गंगाके मैदानका प्रभाव विदित ही है। लोक-सभाके छत्तीस प्रतिशत सदस्य इसी प्रदेशसे चुने जाते हैं और अव तक के सभी चारों प्रधान-मंत्री इसी प्रदेशके रहे है। इस हार्दप्रदेशका विरोध करनेवाला परिवल कावेरीके हार्दप्रदेशमें विकसित हुआ है जो द्रष्टव्य है। इस प्रकार दो हार्दप्रदेशोंके आस-पास भारतीय राजनीतिने आकार ग्रहण किया है।

इन दो प्रणालीगत हार्द-प्रदेशोंमें उद्योगीकरणने दो नए हार्दप्रदेश जोड़ दिए हैं: (१) जमशेदपुर-कलकत्ता विस्तार और (२) वम्वई-अहमदावाद विस्तार। लोहे, कोयले और विद्युत-की सुविधाके कारण ये दो प्रदेश तेज़ीसे भारतीय राजनीतिके हार्द-प्रदेशके रूपमें विकसित हो रहे हैं।

भारतीय राजनीतिके इन विकसनशील हार्द-प्रदेशोंने कितने ही टेढे प्रश्न भी खड़े किए है। ऐसा ही प्रथम टेढ़ा प्रश्न इन हार्द-प्रदेशोंके वीच यातायात सम्वन्ध विकसित करना है। गंगा के मैदान और कावेरीके मैदानके वीच यातायातीय मार्गके रूपमें उड़ीसा-आंध्रके तटीय विस्तार वहुत पहलेसे विकसित हैं। उसी प्रकार गंगाके हार्द-प्रदेश और गुजरातके तटीय प्रदेशको जोड़नेवाले दोनों मार्ग—अरावलीके पश्चिमका मरु-प्रदेश-मार्ग तथा अरावलीके पूर्वका पहाड़ी मार्ग—सदियोंसे सुपरिचित है। गंगाके हार्द-प्रदेशसे दक्षिणके हार्द-प्रदेशमें जानेके लिए मुख्य द्वार चम्वलकी घाटी वनी हुई है। उसी प्रकार गुजरात तटीय प्रदेशसे दक्षिणके उच्च प्रदेशमें जानेके लिए नर्मदा और ताप्तीकी घाटियाँ महत्वपूर्ण मार्ग प्रदान करती हैं। हार्द-प्रदेशोंकी धारणासे निष्पन्न दूसरा टेढ़ा प्रश्न है—माल्वा-वुन्देलखण्डके अटारी प्रदेशका। विन्ध्यका यह उच्च प्रदेश गंगाके हार्द-प्रदेशसे अलग दिखाई देते हुए भी ऐसा लगता है कि मानो उस पर नजर रखने वाली अटारी वन गया हो। गंगाके हार्द-प्रदेशके साथ इस अटारी प्रदेशके विशिष्ट सम्वन्धके कारण भारतीय राजनीतिमें एक नई रीति विकसित हुई है। वाहरके हमलेके सामने गंगाके हार्द-प्रदेशका वचाव करना असंभव वन जाने पर इस हार्द-प्रदेशके पराजित मालिक इस अटारी प्रदेशमें सरक जाते थे। प्रदेश पहाड़ी होनेके कारण उसे पराजित करना कठिन था। इस पर भी हार्द-प्रदेशके मालिक हार्द-प्रदेश पर नजर रख सकते थे और हार्द-प्रदेशकी सत्ताके कमजोर होने पर पुनः उस पर अधिकार करनेकी आशा वनी रहती है। मौर्य और गुप्त साम्राज्यके वढते हुए दवावसे इस प्रदेशमें पुनर्गठित गण-राज्य अथवा मुस्लिम आक्रमणोंके कारण गंगाके हार्द-प्रदेशके स्वामित्वको वनाए रखनेमें असफल होने वाले और अटारी प्रदेशका आश्रय लेने वाले राजपूत राजा—ये दोनों भारतीय राजनीतिमें इस अटारी प्रदेशका महत्त्व प्रदर्शित करते हैं।

(३) प्राकृतिक सम्पत्ति

प्राकृतिक सम्पत्तिकी दृष्टिसे भारत भाग्यवान है। भारतमें महान् औद्योगिक राष्ट्र बननेकी गुंजाइश और संभावना निहित है।

औद्योगिक विकासकी दृष्टिसे धातु और लोहेको लेकर भारतकी स्थिति ईर्ष्या-प्रेरक है। विश्वभरके लोहेके श्रेष्ठ भण्डारोंमेंसे एक भारतमें है। यह अनुमान किया जाता है कि विश्वके लोहेके पूरे भण्डारका एक चौथाई भाग भारतमें है। इसमें २,१०० करोड़ टन लोहा तो उच्च-कोटिका है। आजकल हम ३५-४० लाख टन लोहेका उपयोग करते हैं; इस गणनाके अनुसार तो हमारा यह लोहेका भण्डार लाखों वर्ष चलेगा। इसके अतिरिक्त अवरखके उत्पादनका ७०-८० प्रतिशत भाग भारत उत्पन्न करता है और मेगनीजोंका भण्डार भी अच्छी मात्रामें है। उसी प्रकार एल्युमिनियम बनानेके लिए बाक्साइट और अणुशक्तिमें प्रयुक्त थोरियम धारक मोनाज़ाइटके विषयमें भी भारतकी स्थिति खूब संतोषकारक है।

उद्योगीकरणके लिए अपेक्षित चालकशक्तिकी दृष्टिसे देखने पर भारतमें कोयलेका भण्डार कम और निम्न कक्षाका है। कोयला उत्पादकोंमें भारतका सातवाँ नम्बर है। भारतमें कोयलेके भण्डार विषयक अनुमान २२९ करोड़से लेकर ६,००० करोड़ टन तकके हैं। आजकी गतिसे यदि हम कोयलेका उपयोग करते जायें तो उसका भण्डार २००से ३०० वर्ष तक चल पायेगा। दूसरी अन्य धातुओंकी अपेक्षा कोयलेकी स्थिति मध्यम है। प्राकृतिक तेलके सम्बन्धमें भारतका उत्पादन सीमावर्ती है। राष्ट्रीय उपयोगका मात्र दस प्रतिशत खनिज तेलका हम उत्पादन करते हैं। आसाम और गुजरातके तेलक्षेत्र विकसित हो रहे हैं। इनका जो परिणाम आयेगा, उस पर तेलकी संभावना निर्भर है। इस प्रकार हमें लम्बे अर्सेकी दृष्टिसे विद्युतशक्तिके अन्य साधनों—अणुशक्ति और जलविद्युत पर आधार रखना पड़ेगा। ट्राम्बे, तारापुर और राणाप्रताप सागरके अणुविद्युत केन्द्र जब पूरा-पूरा काम करने लगेंगे, तब लगभग ५२० मेगावाट बिजली हमें मिल सकेगी। इस दिशामें अधिक विकास करनेके लिए भारतके पास असीम अवसर हैं। उसी प्रकार जलविद्युत उत्पन्न करनेकी भारतकी अनुमानित क्षमता ४ करोड़ किलोवाटकी है। इसमेंसे इस समय तो हम मात्र एक करोड़ किलोवाट विद्युत उत्पन्न करते हैं। अतः जलविद्युतके क्षेत्रमें अभी भी चार गुना विकासके लिए अवकाश है।

इस प्रकार औद्योगिक विकासके लिए आवश्यक खनिजों और साधनोंकी दृष्टिसे भारत विशाल संभावनाओंसे पूर्ण है। इन संभावनाओंको वास्तविकताओंमें बदल देने पर भारत विराट् औद्योगिक राष्ट्रके रूपमें विकसित हो सकता है। इसका होना न होना हमारी अर्थनीति और राज-नीति पर निर्भर करता है।

(४) सीमाएँ और संरक्षण

भारतके संरक्षणमें हिन्द महासागर और हिमालय महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते आये हैं। राजनीतिक जीवन बहुधा अन्तर्मुखी रहा है; अधिकतः भारतके पड़ोसी प्रदेश आकर्षक व ललचाने-वाले न होनेके कारण भारतकी दृष्टि आक्रामककी अपेक्षा संरक्षणात्मक रही है। इसलिए भारतीय राजनीतिकी कमजोर कड़ी संरक्षण और सीमा विषयक अपूर्ण और अधूरी जागरूकता रही है।

भारतके विख्यात राजदूत और विद्वान् के० एम० पन्नीकरने 'Geographical Factors in Indian History' और 'India and Indian Oceans' नामक पुस्तकोंमें भारतीय संरक्षणकी दृष्टिसे हिन्द महासागर और हिमालयकी विशद चर्चा की है।

सिंगापुरसे ब्रिटेनकी होने वाली विदा और चीनी नौकादलके वढ़ते हुए भयके संदर्भमें भारतीय संरणक्षके लिए हिन्द महासागरका महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। भूतकालमें भी जलसेनाकी कमज़ोरीके कारण भारतमें उपनिवेशवादी अपना अड्डा जमानेमें समर्थ हुए थे। अतः यह देखना रहा कि कहीं हिन्द महासागर विरोधी अथवा प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रोंके अधिकारमें न चला जाय। उसी प्रकार हिमालयके विषयमें भी निश्चिंत वैठना भारतके लिए अच्छा नहीं है। सामान्यतः जैसी मानी जाती है, वैसी अभेद्यता हिमालयकी पर्वतमालाकी नहीं है। २८,००० फुट ऊँची पर्वतमाला होने पर भी यहाँ एक अजीव भौगोलिक घटना घटी है। सामान्य रूपसे पर्वतमालाकी शिखर-रेखा (crest-line) और जलथल रेखा (watershed-line) एक ही होती है; परन्तु नदियोंकी अपेक्षा हिमालय नया होनेके कारण हिमालयमें शिखर-रेखा और जलथल-रेखा एक नहीं रही। शिखर-रेखा हिमालय पर्वतमाला पर और प्रदेशकी जलथल-रेखा कराकोरम पर्वतसे तिव्वतके नीचे स्थित पूर्व-पश्चिम कैलास पर्वतमाला पर है। इससे हिमालयके उत्तरसे निकलनेवाली सिंधु, सतलज, कोसी और ब्रह्मपुत्र नदियाँ हिमालयको वेधकर दक्षिणकी ओर आती हैं। विश्वके भूगोलमें स्थिति ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगी। ये नदियाँ जहाँ आगे आकर हिमालयको भेद कर भारतीय उपमहाद्वीपमें प्रवेश करती हैं, वहाँकी घाट-घाटियाँ भारतीय संरक्षणकी कमज़ोर कड़ियाँ वन गई हैं। इस दृष्टिसे जहाँ कराकोरमको वेध कर लद्दाखमें श्योक नदी प्रवेश करती है, वहाँ श्योक घाटी; जहाँ सिंधु नदी भारतमें प्रवेश करती है, वहाँ डमचोक विस्तार; जहाँ हिमालयको वेध कर सतलज भारतमें प्रवेश करती है, वहाँ शिप्की घाट; कोसी नदी जहाँ हिमालयको भेद कर नेपालमें प्रवेश करती है, वहाँकी घाटी; सिक्किमके भूटानके वीच स्थित चुम्वी घाटी; भूटानमें प्रवेश करनेवाली मनास नदीकी घाटी; नेफामें थागला रिजके आगेकी डान्गमे और तावांग नदियोंके प्रदेश; ब्रह्मपुत्र जहाँ आसाममें प्रवेश करती है, वहाँके प्रदेश—ये सव भारतके संरक्षणकी कमज़ोर कड़ियाँ हैं।

इस तरह देखने पर भूगोल भारतके सामने अलग प्रश्न खड़े करता है।

(५) प्रादेशिक रीतियाँ

एशियामें प्रवर्तित राजनीतिकी विशाल प्रादेशिक रीतियोंकी दृष्टिसे देखने पर भारत तीन प्रदेशोंका अंगभूत भाग है। दक्षिण एशियाके प्रदेशवादका सिंहभाग भारत प्रदान करता है। दक्षिण एशियामें पाकिस्तान, सिलोन आदिकी तुलनामें भारत खूब वड़ा होनेके कारण इन राष्ट्रोंमें हीनताग्रंथि और वर्चस्व-भय (fear of domination) उत्पन्न करता है। इस प्रकार एशियाकी राजकीय रीतियोंकी पृष्ठभूमिकासे उभर कर आनेवाली भारतकी विराट् प्रतिमा (giant image) अनेक संश्लिष्ट प्रश्न उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त भारत पश्चिममें पश्चिम एशिया और पूर्वमें दक्षिण-पूर्व एशियाके प्रदेशोंके साथ संयुक्त है। यों भी कहा जा सकता है कि भारत पश्चिम एशिया और दक्षिण-पूर्व एशियाको जोड़नेवाला सेतु है। इस प्रकार भारतने इन दोनों प्रदेशोंसे सम्बन्ध विकसित किए हैं। स्वराज्य-प्राप्तिके वाद भी भारतकी विदेश-नीति इन दो प्रदेशोंके वीच अवगणना

और आकर्षणके भावोंमें झोंका खाती रही है। १९४७से १९५५ तक भारतकी विदेश-नीतिका केन्द्र दक्षिण-पूर्व एशिया था। बांडुंग परिषद्के बाद भारतका रस दक्षिण-पूर्व एशियामें कम होता गया और १९५६से भारतीय विदेश-नीतिने पश्चिम एशियाकी तरफ अधिक ध्यान देना शुरू किया। इस प्रकार एशियाकी राजनीतिमें बन रहीं विविध प्रादेशिक रीतियोंमें भारत अपना उचित स्थान ढूंढ़नेकी पूरी कोशिश कर रहा है।

भारत विश्वके सबसे पुराने राष्ट्रोंमेंसे एक है। मानव-इतिहासके उषःकाल तक उसका इतिहास फैला हुआ है। पाँच हजार वर्षके इस इतिहासमें भारतने बहुतसे उत्थान-पतन देखे हैं और विविध संघर्षों और समन्वयोंमें उसका व्यक्तित्व तैयार हुआ है।

भारतीय इतिहासका मुख्य मर्म राजकीय एकता और सांस्कृतिक समन्वयके लिए किए जाने वाले प्रयास ही रहे हैं। उपमहाद्वीपीय विस्तारको रखनेवाले भारतमें राजकीय एकता स्थापित करनेमें सफल हुए साम्राज्यों—मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य, खिलजी साम्राज्य, तुग़लक साम्राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य—के समयका हिसाब करें, तो सब मिला कर सात सौ वर्षसे भी कम होते हैं। इस तरह भारतकी राजकीय एकता सिद्धिकी अपेक्षा स्वप्न अधिक रही है। राजकीय एकता-की इन मुश्किलोंके कारण उसकी चाह प्रजा-जीवनमें अधिक तीव्र बनी है। हिमालयसे कन्याकुमारी तक चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करनेके आदर्श और प्रयत्न भारतीय इतिहासके हरएक युगमें हुए हैं। यों भी कहा जा सकता है कि राजकीय एकता भारतीय समाजमें लोकस्वीकृत और सर्व-सामान्य राजकीय मूल्य बन गई है।

राजकीय एकताके अतिरिक्त सांस्कृतिक समन्वय भारतीय इतिहासकी दूसरी चुनौती रही है। पश्चिम एशिया और मध्य एशियाकी अपेक्षा भारत उर्वर जमीन, अपेक्षित बरसात तथा समघात हवामानके कारण मानव-आबादीकी दृष्टिसे हमेशा स्वागत योग्य और आह्लादक रहा है। इस वजहसे इतिहासके विविध स्तरों पर मध्य एशिया और पश्चिम एशियासे नई-नई टोलियाँ-जातियाँ भारतमें आती रही हैं। विविध संस्कृतियोंके भारतमें आगमनने भारतीय इतिहासमें सांस्कृतिक संघर्ष और समन्वयके अनेक प्रश्न उत्पन्न किए हैं। बाहरसे आने वाले सांस्कृतिक आघात और उनसे निबट लेनेके लिए जन्मे राष्ट्रीय प्रत्याघातोंमें भारतीय-संस्कृतिकी सर्जनात्मकताके स्वर्ण पल रचे गये हैं। आर्योंके आगमन और द्रविड़ोंके साथ उनके संघर्ष-समन्वयसे उभरती वेदकालीन संस्कृति, ग्रीकोंके आक्रमणके प्रतिकार स्वरूप उभरता मौर्य साम्राज्य, शकोंके साथ हुए संघर्षसे उत्पन्न गुप्त साम्राज्य, मुस्लिम आक्रमणोंके कारण उत्पन्न पुनरुत्थानवाद और हिन्दू-मुस्लिम समन्वयके प्रवाह, ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा आए हुए यूरोपीय संस्कृतिके आघातके प्रत्याघात स्वरूप विकसित हुई राष्ट्रीय पुनर्जागृतिकी प्रक्रिया—ये सब यह बताते हैं कि भारतीय इतिहासकी सर्जनात्मकताकी चाबी बाहरसे आई हुई संस्कृतियोंकी चुनौतीके प्रतिकार रूपमें और उनको आत्मसात् करनेमें रही है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय इतिहासके तीन मुख्य युग भी बाह्य संस्कृतियोंके आगमन और उनके आघातमेंसे जन्मे हैं—आर्योंके आगमनसे हिन्दू युग, मुस्लिमोंके आगमन से मुस्लिम युग और अंग्रेजोंके आगमनसे ब्रिटिश युग।

पाँच हजार वर्षोंके इस इतिहासमेंसे भारतको अनेक अनुभव और प्रश्न मिले हैं। हर-एक युग और हर-एक संस्कृतिने भारतके व्यक्तित्वके बनानेमें अपना योग दिया है। बौद्धधर्मके

आन्दोलनने भारतके अहिंसा और शान्ति विषयक मूल्य स्थापित किए; मौर्य और गुप्त साम्राज्यमें विशाल साम्राज्यके लिए व्यवस्था तंत्रके विकसित होते हुए विज्ञानके दर्शन होते हैं। मुग़ल समयमें व्यवस्था या प्रशासनतंत्रके वर्तमान ढांचेके बीज देखनेको मिलते हैं। सूबा, सरकार, परगना और महल आदि विविध स्तरोंपर प्रशासन तंत्रकी उल्लेखनीय तफसील मुग़ल साम्राज्यने विकसित की। उसी प्रकार अकबरके शासनने जमीन-महसूलकी वर्तमान व्यवस्थाकी नींव डाली। इस प्रकार भारतीय इतिहासने विविध अनुभवों और विकास द्वारा भारतको समृद्ध बनाया है। इसीके साथ भारतीय इतिहासने कितने ही प्रश्न और चुनौतियाँ भारतको दी हैं। संकुचित प्रदेशवाद और जातिवाद भारतीय इतिहासके द्वारा पैदा हुए प्रश्न हैं। उसी प्रकार आर्यों और द्रविड़ोंके आपसी संघर्षका मनोवैज्ञानिक आक्रमण-भय अभी तक मद्रासमें हिन्दी-विरोधी आन्दोलन और द्रविड़ोंके लिए अलग उपराष्ट्रवादकी प्रवृत्तिमें दिखाई देता है। अधिकतः मध्ययुगमें हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीच हुए सत्ता-संघर्षमें मानापमान तथा हीनता या लघुता ग्रंथियोंके प्रश्न ऐसे उलझ गए हैं कि उनके कारण भारतकी मौजूदा राजनीतिमें हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न एक बड़ी समस्या बन गया है। १८५७के विप्लवसे चौंक कर अंग्रेजोंने देशी राज्योंके विलीनीकरणकी प्रवृत्ति पर यदि ब्रेक न लगाई होती तो आज भी भारतके ब्रिटिश-विभाग और देशी राज्योंके विभागके बीच राजकीय अनुभवों और दृष्टिकोणोंके विषयमें जो भिन्नता मिलती है, वह शेष न होती। ऐसा न होनेके कारण ही हमें देशी राज्योंके विलीनीकरणकी समस्याको सुलझाना पड़ा और अभी भी भारतीय राजनीतिमें राजाओंकी शक्ति महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। इस प्रकार इतिहासने भारतको अनुभव-समृद्धि और प्रश्न-परिताप—दोनों ही प्रदान किए हैं।

आजके भारतका जन्म १९वीं सदीमें हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा लाई गई पश्चिमी संस्कृतिका आघात और उससे जन्मे राष्ट्रीय प्रत्याघात—इन दोनों परिबलोंके संघर्ष और समन्वयसे वर्तमान भारतने आकार लिया है। १७०७में औरंगज़ेबकी मृत्युसे लेकर १८१८ तकका समय भारतमें सत्ता-संघर्ष और अंधाधुंधीका रहा है। मराठों, फ्रान्सीसियों तथा ब्रिटिशरोंके त्रिपक्षी सत्ता-संघर्षमें १९वीं सदीके आरम्भमें ब्रिटिशरोंकी स्पष्ट विजय दिखाई देती है। ब्रिटिश साम्राज्यका विस्तार करनेकी और दृढ़ीकरण करनेकी प्रक्रिया वेलेज़ली (१७९८-१८०५) और हेस्टिंग्स (१८१३-१८२३)के समयमें अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई। उस समय तक यूरोपमें नेपोलियनका विग्रह भी समाप्त हो गया था और ब्रिटेनमें उदारवाद (liberalism)का प्रवाह वेग ग्रहण कर रहा था। अतः ब्रिटिश साम्राज्यका वास्तविक प्रभाव १९वीं सदीसे भारतीय जीवन पर पड़ने लगा था।

लार्ड बेन्टिक (१८२८-१८३५)के समयमें भारतमें पश्चिमीकरण और आधुनीकरणके प्रवाहोंने गति ग्रहण की। सती-प्रथाका उन्मूलन, ठगोंके त्रासका नाश, कायदेका व्यवस्थीकरण, रेलवे, टेलिग्राफ, मेकालेकी सिफारिशोंके अनुसार आरम्भ अंग्रेजी-शिक्षा—इस प्रकार विविध क्षेत्रोंमें आधुनीकरण और समाज-सुधारके प्रयास आरम्भ हुए। १९वीं सदीके बादके हिस्सेमें उक्त बातोंके साथ-साथ उद्योगीकरणका प्रवाह भी मिल गया। इस तरहसे सुदृढ़ राजकीय एकता और तार-डाकके समग्र देश पर छा जाने वाले जाल, पश्चिमी शिक्षा, उदारवादके असरमें आकर शुरु किए गए समाज-सुधारके काम और विकसनशील उद्योगोंके चरणों पर फैलता हुआ आधुनीकरण—ये सब भारतीय

जीवन पर बिछते हुए ब्रिटिश साम्राज्यके सांस्कृतिक प्रभावोंके माध्यम थे। भारतके लिए बाह्य संस्कृतिका ऐसा तीव्र और सर्वव्यापी प्रभाव-आघात अभूतपूर्व था। मुस्लिम-संस्कृतिकी चुनौती बहुधा सीमावर्ती और राजनीतिक थी; मुस्लिम-संस्कृतिका प्रभाव-आघात सीमित था और हिन्दू-समाज संरक्षणात्मक मनोग्रंथिके संस्कारवश अलगतावादकी जड़ काँचलीमें जा भरा था। परिणामतः भारतमें हिन्दू और मुस्लिम समाज आपसमें ओत-प्रोत न हो सके और समानान्तर समाजोंके रूपमें जीवित रहे। ब्रिटिश साम्राज्यका सांस्कृतिक आघात इतना तीव्र और सर्वव्यापी था कि उससे उदासीन रहना या उससे मुँह फेर लेना भारतीय समाजके लिए असंभव था। पश्चिमी-संस्कृतिका यह प्रभाव-आघात पहली किसी भी संस्कृतिकी अपेक्षा अधिक व्यापक था। शिक्षित वर्गोंके माध्यमसे यह समाजके अलग-अलग स्तरों और कोनोंमें फैलने लगा। उसने बड़े पैमाने पर समाजमें स्पन्दन और संवेदनोंको जगाया।

ब्रिटिश साम्राज्यके सांस्कृतिक आघातके प्रत्याघात मिलेजुले थे। तत्कालीन सामन्तशाही और प्रणालीगत विशिष्ट वर्गने उसका विरोध किया। समाज-सुधार और टेक्नोलोजीके क्षेत्रमें प्रकटित नए उन्मेषने भारतीय जीवन पर प्रभाव डालनेवाले इन सामन्तशाही और विशिष्ट वर्गोंको क्षुब्ध कर दिया। इस क्षुब्धता और हक्केबक्केपनसे १८५७का विप्लव खड़ा हो गया। इस विप्लवके लिए देसी राज्योंके विलीनीकरणकी नीति जितनी जिम्मेदार है, उतने ही जिम्मेदार हैं सामाजिक और टेक्नोलोजिकल सुधार। परन्तु १८५७का यह विप्लव इन नए सुधारोंके विरुद्ध आखिरी लड़ाई सिद्ध हुआ। इस विप्लवने सामन्तशाही और विशिष्ट वर्गोंकी सदाके लिए कमर तोड़ डाली। सामन्तशाही और विशिष्ट वर्गके मिटे हुए प्रभावके कारण उत्पन्न शून्यावकाश पश्चिमी शिक्षा द्वारा विकसित हो रहे नए आधुनिक विशिष्ट वर्गसे भरा जाने लगा।

विलियम बेन्टिकके समयमें छोटेसे किन्तु आधुनिक पश्चिमी शिक्षाप्राप्त वर्गने इन सुधारोंका स्वागत करना शुरू कर दिया। इस नए वर्गके प्रतिनिधि थे राजा राममोहन राय। पश्चिमी-संस्कृतिके इस आघातका स्वागत या चुनौती देनेकी प्रक्रियामें ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज आदि कितने ही धर्मसुधार सम्बन्धी आन्दोलन चल पड़े। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनरुत्थान और समाज-सुधारके आन्दोलनोंसे भारतकी राष्ट्रीय पुनर्जागृति (national renaissance)ने रूप ग्रहण किया। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि इस जागृतिके ज्योतिधर थे। इस तरह १८२५-१८७५के पाँच दशकोंमें राष्ट्रीय नवजागृति और राष्ट्रवादके प्रवाह पुष्ट हुए और धीरे-धीरे आधुनिक शिक्षाप्राप्त विशिष्ट वर्गके हाथोंमें समाज जीवनका नेतृत्व चला गया।

१८५७का विप्लव और १८५७के आसपास जन्मी राष्ट्रवादी आन्दोलनकी नेतागीरियोंके बीच भिन्नता खूब सांकेतिक है। एक तरफ झाँसीकी रानी, तात्या टोपे या बहादुरशाह तो दूसरी तरफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी या दादाभाई नौरोजी—नेतृत्वके दो समूह भिन्न दुनिया पेश करते हैं। एक प्रणालीगत और सामन्तशाही नेतृत्व प्रतिबिंबित करता है तो दूसरा आधुनिक और प्रगतिशील नेतृत्व उपस्थित करता है। इस तरह १८५८से १८७५ तक का समय भारतीय समाजके विशिष्ट वर्गमें आ रहे मूलभूत और स्मरणीय परिवर्तनका साक्षी है।

इन परिबलोंके कारण १८७५के आसपास भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलनका सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा दी गई राजकीय एकतासे जन्मे राष्ट्रबोध, सिविल सेवामें शिक्षित

भारतीयोंके प्रति हुए अन्यायसे उत्पन्न असंतोप, लॉर्ड नॉर्थब्रुकके त्यागपत्रमें निमित्त हुए रूई पर चुंगी विपयक विवाद आदि अनेक प्रसंगोंमें प्रतिबिंबित आर्थिक शोषण और अन्याय, इल्बर्ट बिलके विवादसे वहिरागत जातीय भेदभाव, सामाजिक और धार्मिक सुधारोंसे पुष्ट हुई राष्ट्रभावना, पश्चिमी शिक्षासे प्रकटित आधुनिक विशिष्ट वर्ग आदि विविध कारणोंसे भारतका राष्ट्रवाद विकसित हुआ। १८७७में सुरेन्द्रनाथ वनर्जीने जिस सिविल सेवा आन्दोलनको जगाया था, उसीके चरणों पर १८८५में वम्बईमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका जन्म हुआ।

भारतीय राष्ट्रवादके विकासको चार सोपानोंमें बाँटा जा सकता है: (१) आरम्भिक सोपान: १८७५से १८८५ तक, (२) ब्रिटिश न्यायवृत्ति और आवेदनपत्रोंकी असरकारकता पर विश्वास रखनेवाली नरम राजनीतिका सोपान: १८८५से १९०४, (३) राष्ट्रीय आन्दोलनके गरम और नरम दलोंके बीच संघर्षका समय: १९०५से १९२० और (४) गांधीवादी राजनीतिका सोपान: १९२०से १९४७ तक। राष्ट्रीय मुक्तिसंग्रामके इन चारों सोपानोंके प्रसंग और प्रवाह इतने सुपरिचित हैं कि उनकी तफसीलमें उतरना आवश्यक नहीं।

१९२०में भारतीय राजनीतिमें एक महत्वपूर्ण बड़ी उलझन पैदा हो गई थी। कांग्रेसके ये गरम और नरम दल—दोनों ही असफल सिद्ध हुए थे; एक खूब विनम्र होनेके कारण तो दूसरा अति उग्र होनेके कारण। इन परिस्थितियोंमें इन दोनों परम्पराओंका समन्वय कर मध्यम मार्ग बनानेका काम गांधीजीके हिस्सेमें आया। एक तरफ व्यवस्था और वैधानिक पद्धतियोंके लिए नरम दलका आग्रह और दूसरी तरफ गरम दलकी आक्रामकता—इन दोनोंका समन्वय कर गांधीजीने राजनीतिकी नयी शैली विकसित की। इनके नए शस्त्र थे अहिंसक सत्याग्रह और सामूहिक आन्दोलन। इस प्रकार शिक्षितों तक सीमित राष्ट्रवादी आन्दोलनको गांधीजीने सामाजिक आधार पर विकसित किया। नगरके बुद्धिजीवी वर्गके साथ गाँवोंके किसान भी इस आन्दोलनमें आ मिले। १९२१में खिलाफत आन्दोलन, १९२२में वारदोली सत्याग्रह, १९३०में दांडीयात्रा, १९३१का सत्याग्रह, १९४२का भारत छोड़ो आन्दोलन आदि सत्याग्रहोंकी परम्पराने कांग्रेसके स्वरूप और शक्तिका विस्तार किया और प्रजाके अलग-अलग वर्गोंको राजनीतिक प्रवाहमें खींच लिया। गांधीजीके नेतृत्वमें कांग्रेसने सच्चे अर्थोंमें सामूहिक रूप धारण किया। शहरी मध्यम वर्ग और गाँवोंका समृद्ध किसान वर्ग—ये दोनों ही समूह आन्दोलनके मुख्य भागीदार बने। इस आन्दोलनके प्रति पूँजीवादियों और दलित वर्गकी सहानुभूति बनी रही; परन्तु एक या दूसरे कारणोंको लेकर वे इस आन्दोलनमें सक्रिय भाग न ले सके। एशियाके विविध राष्ट्रीय आन्दोलनोंकी तुलनामें कांग्रेसकी नींव प्रभावशाली ढंगसे फैली हुई थी; परन्तु यह सब होते हुए भी उसके आन्दोलनकी चरमसीमा आने पर भी उसकी सदस्य-संख्या ४० करोड़की आबादीमें २०-२५ लाखसे अधिक नहीं बढ़ी।

राष्ट्रवादी आन्दोलनके अन्तिम दिनोंमें राष्ट्रीय आकांक्षाओं और भावनाओंका माध्यम कांग्रेस बनी। प्रजाके विविध वर्ग और उनकी विविध विचार-धाराओंको गूँथ कर एक विशाल राष्ट्रीय मंच बनानेमें कांग्रेसको उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। इतना ही नहीं, परन्तु राष्ट्रवादी आन्दोलनका ध्येय राजकीय मुक्ति तक सीमित न रख कर प्रजा-कल्याण और सर्वोदयकी जागरूकता विकसित करनेमें कांग्रेसकी विशाल सामाजिक प्रश्नोंसे सम्बन्धित संवेदनशीलता प्रकट होती है।

कांग्रेसके इस आन्दोलनको सफलता और असफलता दोनों ही मिलीं। कांग्रेसकी सफलताके कारण ब्रिटिश साम्राज्यने जल्दी ही संवैधानिक सुधार करने आरम्भ कर दिए और यह प्रक्रिया अन्तमें १९४७की स्वातंत्र्य धारामें परिणत हुई। जबकि दूसरी तरफ भारतीय राष्ट्रवादके प्रवाहोंको मुस्लिमोंके साथ जोड़नेके अनेक प्रयास करने पर भी कांग्रेस उसमें असफल हुई। १८२०में वहाबी आन्दोलन शुरू हुआ; मुस्लिम राष्ट्रवादके प्रवाहको सर आगा खाँ तथा सर सैयद अहमदखाँने पुष्ट किया और ब्रिटिशरोंने उसे प्रोत्साहन दिया। १९०६में मुस्लिम लीगकी स्थापना, १९०९में अलग मतदातामण्डलकी रचना, १९४०में लीग द्वारा स्वीकृत पाकिस्तानकी माँग, १९४५-४७में हुए व्यापक साम्प्रदायिक दंगे—यह सब प्रसंग-परम्परा महत्वपूर्ण होनेपर भी यहाँ उसकी तफ़सीलमें उतरना आवश्यक नहीं। अन्तमें मुस्लिम अलगतावादको समाप्त करनेमें कांग्रेसको मिली असफलतासे पाकिस्तानका जन्म हुआ (विशेष विवरण इसी ग्रंथमाला-योजनाके स्वातंत्र्य-संग्राम दर्शन ग्रंथमें देखिए)।

१९४७की १५वीं अगस्त जितनी भारतीय राष्ट्रवादके लिए विजयकी प्रतीक थी, उतनी ही पराजयकी भी। स्वातंत्र्य-दिवसके समारोह पर दिल्लीमें जगमगाती रोशनी और बंगालमें पीड़ित मानवोंके आँसुओंको पोंछते हुए गांधीजी—ये दो चित्र हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनकी जय-पराजय और गौरव-करुणताको वेधक ढंगसे प्रतिबिंबित करते हैं।

किसी भी राष्ट्रकी राजनीतिके पीछे सामाजिक परिबल और समूह काम करते रहते हैं। समाजमें धन, धर्म, जाति, भाषा, प्रदेश आदि विविध आधारों पर सत्ता-ढाँचा और सत्ता-संबंध बनते रहते हैं। इस प्रकारमें सत्ता-ढाँचेके अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक सत्ता-ढाँचे भी होते हैं। समाजके विविध क्षेत्रमें ये सत्ता-ढाँचे और परिबल एक-दूसरे पर असर डालते रहते हैं। राज्यशास्त्रकी परिभाषामें इस वास्तविकताको औपचारिक राजनीति और उसकी सामाजिक-आर्थिक निम्न-संरचनाके आपसी संबंधोंके रूपमें निरूपित किया गया है। राजनीतिकी औपचारिक परिपाटी और सामाजिक-आर्थिक निम्न-संरचनाकी अनौपचारिक परिपाटीके बीच समन्वय-संघर्षसे ही जीवन्त राजनीति स्वरूप प्राप्त करती है।

राजनीतिके औपचारिक और अनौपचारिक कक्षाके अन्तः-संबंधोंकी स्पष्टताके लिए थोड़े मुद्दे नोट करना अपेक्षित है: (१) किसी भी समाजकी राजनीतिकी आर्थिक-सामाजिक निम्न-संरचना होती ही है। इस निम्न-संरचनाकी तफसीलें और स्वरूप विविध समाजोंमें अलग-अलग हो सकते हैं; परन्तु निम्न-संरचनाके बिना राजनीतिका होना संभव नहीं। (२) इन दोनोंका आपसी असर सम्पूर्ण और एकमार्गी नहीं होता। दोनों कक्षाएँ एक-दूसरे पर असर डालती हैं और यह असर दूसरे अनेक परिबलोंसे सीमित बनता है। कितनी बार आर्थिक समूह और जातिवादी परिबल औपचारिक राजनीति पर असर डालते हैं तो कितनी ही बार औपचारिक राजनीति आर्थिक समूह या जातियोंमें जड़से ही परिवर्तन ला देती है। इस प्रकार ये अन्तःसंबंध न तो पूर्वनिर्णीत ही हैं और न एकमार्गी ही। (३) राजनीति और उसका आर्थिक-सामाजिक निम्नतंत्र—ये दोनों स्थगित न होकर गतिशील और परिवर्तनशील हैं। राजनीतिके हर-एक परिवर्तनका असर उसके निम्नतंत्र पर पड़ता है और निम्नतंत्रमें होने वाले परिवर्तनोंका असर राजनीति पर पड़ता है। इस तरह

राजनीति और उसके निम्नतंत्रके वीचके अंत:संवंधोंकी रीति (pattern) प्रतिक्षण वदलती रहती है।

भारतकी राजनीतिके आधारमें काम करनेवाले सामाजिक परिवल और सत्ता-ढाँचेका अध्ययन करें तो धर्म, भाषा, जन-जाति और जाति—ये चार मुख्यत: उसकी इकाइयोंके रूपमें हमारे सामने आते हैं। ये चारों परिवल अलग-अलग काम नहीं करते, परन्तु वे एक-दूसरे पर असर डालते रहते हैं। अनेक वार धर्म भाषाकीय समूहोंको या भाषा जाति-समूहोंको काटता रहता है। इस प्रकार तीनों ही वल सामाजिक ढाँचेकी रचनामें इतने उलझे रहते हैं कि वास्तवमें उन्हें अलग करना असंभव हो जाता है। यहाँ मात्र विश्लेषणकी दृष्टिसे इन चार परिवलोंको अलग-अलग कर देखा गया है।

(१) धार्मिक समूह

धर्मकी दृष्टिसे भारतमें चार मुख्य धर्म कहे जा सकते हैं : हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और सिख। १९२१की जनगणनाके अनुसार चार धर्मोंके अनुयाइयोंका प्रतिशत क्रमश: ८३·५, १०·७, २·४ और १·८ है। इस तरहसे भारतके सामाजिक जीवनमें हिन्दू प्रभावशाली स्थान प्राप्त किए हुए हैं। काश्मीर राज्य और आसामके पर्वतीय प्रदेशोंमें हिन्दुओंकी आवादी ५० प्रतिशतसे कम है, कच्छ, केरल, पंजाव और आसामके घाटीप्रदेशोंमें ५०-७५ प्रतिशतके वीचमें है। इनके अतिरिक्त शेष सभी प्रदेशोंमें हिन्दुओंकी आवादी ७५ प्रतिशतसे अधिक है। हिन्दू वहुमतमें होनेके कारण लघुताग्रंथि या भयग्रंथिसे पीड़ित नहीं हैं। युगोंसे विकसित परम्पराके अनुसार हिन्दुओंका दृष्टिकोण सहिष्णु और समन्वयवादी रहा है। इसी कारण वहुमती धर्मसमूहकी जननी राजनीति भारतमें विकसित न हो सकी। स्वराज्य-प्राप्तिके पूर्व भी हिन्दूराष्ट्रका नाद जगाने वाली हिन्दू महासभा भारतकी राजनीतिमें उल्लेखनीय समर्थन प्राप्त नहीं कर सकी थी। स्वराज्य-प्राप्तिके वाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघ हिन्दूराष्ट्रके सिद्धान्तको आगे वढ़ा रहे हैं। सामान्यत: यह देखनेको मिला है कि जहाँ हिन्दू अल्पमतमें होते हैं या जहाँ अन्य जातियोंकी चुनौती उल्लेख्य होती है, वहाँ-वहाँ आत्यन्तिक हिन्दूवादी राजनीतिको वल मिला है। यह भी द्रष्टव्य है कि स्पर्धात्मक राजनीतिके दवावोंमें आकर जनसंघ भी भाषा और व्यवहारमें अपने आत्यन्तिक सिद्धान्तोंको नरम और अधिक स्वीकार्य वनानेकी कोशिश कर रहा है। सिलोनमें जिस प्रकार 'मात्र सिंहली'के सिंहली राष्ट्रवादके प्रवाहमें वन्दरनायकेका पक्ष सत्ता पर आया, उसी प्रकार भारतमें उग्र हिन्दूवादके प्रवाहमें किसी पक्षका सत्ता पर आ जाना असंभव नहीं तो भी आजकलकी परिस्थितियोंको देखते हुए इसका होना संभव नहीं लगता।

भारतमें हिन्दुओंके वाद दूसरा धार्मिक समूह मुस्लिमोंका है। भारतके वँटवारेसे पहले मुस्लिमोंकी आवादी २५ प्रतिशत थी, जो अव घट कर १० प्रतिशत हो गई है। इस प्रकार मुस्लिम भारतमें सवसे वड़े अल्पमतमें हैं। इस पर भी मुस्लिम आवादीकी संख्याकी दृष्टिसे इण्डोनेशिया और पाकिस्तानके वाद भारतका तीसरा स्थान है। काश्मीर राज्यमें मुसलमानोंकी आवादी ६८ प्रतिशत है। उत्तर गुजरात, उत्तर प्रदेश, विहार, वंगाल और आसाममें मुसलमानोंकी संख्या क्रमश: १७, १०८, ५८, ७० और २८ लाख है। दक्षिणमें भूतपूर्व हैदरावाद राज्यकी राजधानी

हैदराबादके आसपास मुसलमानोंकी १०से १५ प्रतिशत आबादी है। निज़ामके शासनके कारण इस प्रदेशमें मुसलमानोंका असर रहा है। उसी प्रकार केरलके मलबार विस्तारमें मुसलमानोंकी आबादी १६ प्रतिशत है। इस प्रकार काश्मीर, गंगा नदीका प्रदेश, उत्तर गुजरात, हैदराबाद और केरल—इन पाँच प्रदेशोंमें मुसलमानोंकी आबादी उल्लेखनीय है और वहाँकी राजनीतिमें महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती है।

धार्मिक बहुमत और अल्पमत[1]

राज्य	बहुमत धर्म	बहुमत धर्मका प्रतिशत	सबसे बड़ा लघुमत धर्म	सबसे बड़े लघुमत धर्म का प्रतिशत	सभी लघु मत धर्मका प्रतिशत
केरल	हिन्दू	६०.८	ईसाई	२१.२	३९.२[2]
पंजाब	हिन्दू	६३.७	सिख	३८.३	३६.३
आसाम	हिन्दू	६४.८	मुसलमान	२२.९	३५.२
काश्मीर	मुसलमान	६८.३	हिन्दू	२८.५	३१.७
बंगाल	हिन्दू	७८.७	मुसलमान	२०.०	२१.३
महाराष्ट्र	हिन्दू	८२.२	मुसलमान	७.७	१७.८
उत्तर प्रदेश	हिन्दू	८४.७	मुसलमान	१४.६	१५.३
बिहार	हिन्दू	८४.७	मुसलमान	१२.५	१५.३
मैसूर	हिन्दू	८७.३	मुसलमान	९.९	१२.७
आंध्र प्रदेश	हिन्दू	८८.४	मुसलमान	७.५	११.६
गुजरात	हिन्दू	८९.०	मुसलमान	८.५	११.०
मद्रास	हिन्दू	८९.९	ईसाई	५.२	१०.१
राजस्थान	हिन्दू	९०.०	मुसलमान	६.५	१०.०
मध्य प्रदेश	हिन्दू	९४.०	मुसलमान	४.१	६.०
उड़ीसा	हिन्दू	९७.६	मुसलमान	१.२	२.४

१. केरलमें मुसलमानोंकी आबादी लगभग १६ प्रतिशत है।
२. सेन्सस कमीशन (जनगणना आयोग)की १९६१की रिपोर्ट पर आधारित।

स्वराज्य-प्राप्तिके वादकी राजनीतिमें मुसलमान सामान्यतः कांग्रेसका समर्थन देता रहा है। लघुमत सम्प्रदाय होनेके नाते मुसलमान स्वभावतः लघुताग्रंथि तथा भयग्रंथिका अनुभव करते हैं; अतः अपने हितोंका रक्षण करनेके लिए कांग्रेसको ही समर्थन देनेकी भावना मुसलमानोंमें दिखाई देती है। इस तरह स्वराज्यके वाद दो दशकों तक कांग्रेसको मुसलमानोंका समर्थन मिलता रहा है; परंतु पिछले थोड़ेसे वर्षोंमें मुस्लिम मतों पर कांग्रेसका प्रभाव कम हो गया है। वीस वर्षोंकी स्पर्धात्मक राजनीतिके वाद मुस्लिमोंमें आत्मविश्वास वढ़ा है और उनमें राजनीतिक विभाजन हो रहा है। केरलकी राजनीतिमें मुस्लिम लीगने सदा ही एक प्रभावशाली वलके रूपमें भूमिका अदा की है। परन्तु १९६५के वाद मुस्लिम अधिक सक्रिय वने हैं। चौथे चुनावके समय उत्तर प्रदेशमें मजलिसे मुशावरतने राजनीतिमें सक्रिय भाग लिया और अलग-अलग राज्योंमें शाखाएँ स्थापित कर मुस्लिम मतदाताओंको मार्ग-दर्शन देनेकी कोशिश की। चौथे चुनावमें पहली ही वार मुस्लिम मतों पर कांग्रेसका प्रभाव टूटा है और विविध पक्षोंके वीच मुस्लिमोंका विभाजन होना शुरू हो गया है। इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ पब्लिक ओपीनियनकी मत गणनाके अनुसार १९५७में कांग्रेसको मिले मतोंका प्रतिशत ५३ था, जवकि १९६७में घटकर ४४ प्रतिशत रह गया है। राजनीतिक विकासकी दृष्टिसे यह स्वागतयोग्य प्रवाह है।

भारतमें ईसाइयोंकी आवादी मात्र २·४ प्रतिशत है; परन्तु उनकी आवादी केरल, नागालैण्ड और मद्रासमें केंद्रित होनेके कारण वहाँ उनका राजनीतिक प्रभाव अधिक है। नागालैण्डमें आदिवासी ईसाई धर्मका पालन करते हैं। १९वीं सदीमें ईसाई पादरियोंने यहाँ शिक्षण और धर्मका प्रचार करना शुरू किया, तभीसे यहाँ ईसाई धर्मके चरण पड़े। आज नागालैण्ड राज्यमें ईसाइयोंकी वहुसंख्या है। केरलमें ईसाइयोंकी आवादी २१·२ प्रतिशत है और केरलमें वह वड़ा प्रभाव रखती है। ईसवी सन् ५२में अपोस्टल थामस मलवारमें आया। तभीसे वहाँ ईसाई कौमका आरम्भ हुआ। केरलकी राजनीतिमें ईसाइयोंका प्रभाव खूव रहा है। वे मुख्यतः व्यापार, उद्योग, वैंकों आदिके क्षेत्रमें महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित कॉलेज और स्कूल तथा ईसाई चर्च केरलकी राजनीतिमें सक्रिय भाग अदा करते हैं। आरम्भके वर्षोंमें केरलमें कांग्रेसमें ईसाइयोंका प्रभाव अधिक था और पट्टमाथानु पिल्लईके वाद नायर तत्वोंको हटाकर ईसाइयोंने कांग्रेसके नेतृत्वको सँभाल लिया। वहुत वर्षों तक नायर और ईसाई समूहोंके वीच संघर्ष और मान-मनौवल चलती रही। परन्तु १९६०के वाद कांग्रेसमें एलवा जातिका प्रभाव वढ़ने लगा और आर० शंकरका दल आगे आया। एलवा जातिके वढ़ते हुए प्रभावसे असंतुष्ट होकर पी० टी० चेको और के० एम० जॉर्जके नेतृत्वमें ईसाई समूहने १९६४में कांग्रेस छोड़कर 'केरल कांग्रेस'की स्थापना की। १९६५के चुनावमें इस विद्रोही कांग्रेसने २४ वैठकों पर अधिकार जमा लिया और तवसे यह ईसाई-तत्वोंका राजनीतिक रंगमंच वन गई।

सिखोंकी आवादी मात्र १·८ प्रतिशत है, फिर भी यह पंजाव में केंद्रित होनेके कारण पंजावकी राजनीति पर असर डाल रही है। १६वीं सदीमें गुरु नानकके नेतृत्वमें सिख धर्मकी स्थापना हुई। मुगल साम्राज्यकी जनूनी नीतिके विरुद्ध सिखोंने अपना मिजाज़ सैनिक वना लिया। जहाँगीरके समयमें प्रथम शहीद गुरु अर्जुनसिंह हुए; उसके वाद औरंगजेवके समयमें नौवें गुरुकी हत्या हुई और इसके वाद गुरु गोविन्दसिंहने खाल्सा पंथकी स्थापना की। इस प्रकार मुग़ल
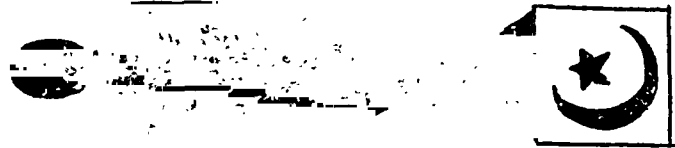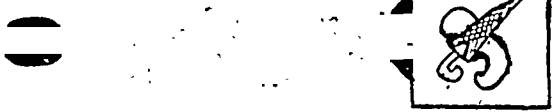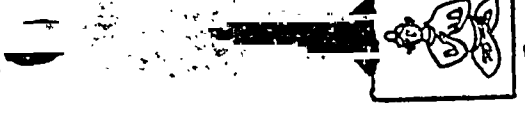
भारत: धर्मके अनुसार बस्ती
३६,६५,०३३३८
४६९,३९,३५७
१,०७,२६२९०
७८,४५,१७०
३२,५०,२२७
२०२७,२६७
१६,०५,९६४
हिन्दु
मुस्लिम
ईसाई
सिख
बौद्ध
जैन
इतर

साम्राज्यके साथ हुए संघर्षसे सिखोंकी लड़ायक वृत्ति तैयार हुई। १९वीं सदीके तीसरे दशकमें गुरुद्वारेका प्रवन्ध करनेवाले प्रवन्धक वर्ग उदासी पंथके महंतोंके अनुचित कामोंके विरुद्ध आरम्भ हुए गुरुद्वारा आन्दोलनमेंसे अकाली दलका जन्म हुआ। १९३०में अकाली आन्दोलन मास्टर तारासिंहके प्रभावमें आया। आज़ादीके वाद पंजावकी राजनीतिमें अकाली दल महत्वपूर्ण परिवल रहा है। १९४७से सिखोंकी वहुसंख्या वाले पंजावी सूवेकी रचनाके लिए अकाली दल आन्दोलन कर रहा है। १९५५में प्रादेशिक फार्म्युलाके आधार पर अकाली दल और कांग्रेसके वीच समाधान हो गया और १९५७के चुनाव दोनोंने मिल कर लड़े। परन्तु १९५८ में अकाली दलने पुनः पंजावी सूवेके लिए आन्दोलन शुरू कर दिया और कांग्रेसके साथ हुए मेलका अन्त आया। तवसे हिन्दी भाषाके पक्षमें आर्यसमाज और जनसंघ आदि हिन्दू शक्तियों और पंजावी सूवेके पक्षमें अकाली दलके वीच संघर्ष शुरू हो गया। १९६१में पंजावी सूवेके लिए मास्टर तारासिंहने सैंतालीस दिनका उपवास किया। उसके वाद मास्टर तारासिंहके नेतृत्वके विरुद्ध असंतोष उत्पन्न होनेके कारण १९६३में अकाली दल दो भागोंमें वंट गया—एक वर्ग मास्टर तारासिंहका और दूसरा संत फतहसिंहका। १९६३के वाद मास्टर दल कमजोर होता गया और संतदल मजवूत हुआ। १९६५में सिख गुरुद्वारा प्रवन्धक समितिके चुनावमें १३८ वैठकोंमेंसे ९५ वैठकें प्राप्त कर संतदलने अपनी सर्वोपरिता सिद्ध कर दी। अनेक आन्दोलनोंके वाद १९६६में सिख वहुसंख्या वाला पंजावी सूवा स्थापित किया गया। १९६७के चुनावके वाद अकाली दलके नेतृत्वमें संयुक्त मोर्चेकी सरकारका गठन हुआ; परन्तु कांग्रेस षड्यंत्रोंके कारण वह समाप्त हो गई। १९६९में हुए मध्यावधि चुनावोंमें अकाली दल पंजावकी सवसे वड़ी पार्टीके रूपमें वाहर आया और फिरसे उसके नेतृत्वमें संयुक्त सरकारकी रचना हुई।

(२) भाषा-समूह

भारतके सामाजिक ढांचेका दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवल भाषा है। १९५१की जनगणनाके अनुसार भारतमें ८४४ भाषाएँ और वोलियाँ हैं। ये भाषाएँ मुख्यतः चार कुलोंमेंसे विकसित हुई हैं: (१) इण्डो-आर्यन भाषा-कुल : संस्कृतसे निकली हुई भाषाएँ, (२) द्रविड़ियन भाषाकुल: द्रविड़ भाषामेंसे निकली हुई दक्षिण भारतकी चार भाषाएँ, (३) तिव्वत-वर्मा भाषाकुल : नेपाल तथा उत्तर प्रदेशमें वोली जानेवाली नेवारी, सिक्किमकी लेप्या और नेफा व आसामकी पर्वतीय प्रदेशोंकी वोलियाँ, (४) आदिवासी समूह : गुजरात और राजस्थानकी सरहदों पर भील और मध्य भारतमें संथालोंकी वोलियाँ। इसमें इण्डो-आर्यन समूह लगभग ७५ प्रतिशत और द्रविड़-कुल २४ प्रतिशत आवादीमें व्याप्त है। इस प्रकार भाषाकीय वैविध्यकी दृष्टिसे भारत एक विशिष्ट दृष्टान्त वन जाता है।

परन्तु भारतीय संविधानके परिशिष्टमें इन सव भाषाओंमेंसे १४ भाषाओंको राष्ट्रभाषाओं (national languages)के रूपमें स्वीकार किया गया है। इन चौदह भाषाओंके वोलनेवाले भारतकी आवादीके ९१ प्रतिशत हैं।

भाषाकीय कुल : राज्यानुसार

राज्य	बहुसंख्यावाली भाषा	बहुसंख्यावाली भाषाका प्र. श.	मुख्य अल्पसंख्यकों की भाषा	मुख्य अल्पसंख्यकोंकी भाषाका प्र. श.	कुल अल्पसंख्यकोंकी भाषाओंका प्र. श.
आसाम	आसामी	५५.०	बंगाली	१९.०	४५.०
पंजाब*	हिन्दी	५५.२	पंजाबी	४०.८	४४.८
काश्मीर	काश्मीरी	५४.३	पंजाबी	२८.५	४५.७
राजस्थान	राजस्थानी	७०.१	हिन्दी	२१.४	२९.९
मैसूर	कन्नड	७१.१	तेलुगु	१०.९	२८.९
केरल	मलयालम	७४.३	तमिल	३.७	५.७
महाराष्ट्र	मराठी	७६.४	उर्दू	६.८	२३.७
मध्य प्रदेश	हिन्दी	७६.७	राजस्थानी	३.४	२३.३
बिहार	हिन्दी	८१.५	उर्दू	७.०	१९.१
मद्रास	तमिल	८२.४	तेलुगु	११.०	१७.६
उड़ीसा	उड़िया	८२.४	तेलुगु	२.३	१७.६
बंगाल	बंगाली	८४.६	हिन्दी	६.३	१५.४
आंध्रप्रदेश	तेलुगु	८४.८	उर्दू	५.४	१५.२
उत्तर प्रदेश	हिन्दी	८९.१	उर्दू	७.०	१०.९
गुजरात	गुजराती	९०.२	उर्दू	२.९	९.८

भारतके भाषा-प्रश्नकी तीन विशेषताएँ हैं: एक तो मुख्य भाषाओंकी संख्या चौदह है। केनेडाकी दो भाषाओं और स्विट्ज़रलैण्डकी तीन भाषाओंकी तुलनामें भारतका भाषाकीय प्रश्न खूब जटिल और नाजुक है। दूसरे, इन सभी भाषाओं पर निर्विवाद प्रभाव डालनेमें समर्थ बड़ी भाषा कोई भी नहीं है। हिन्दी सबसे बड़ी भाषा है, पर उसके बोलने वाले मात्र ४२ प्रतिशत लोग हैं और यह भी नहीं कि वह बंगाली, मराठी और गुजरातीकी अपेक्षा अधिक विकसित होनेका दावा कर सके। इससे उसकी सर्वोपरिताका स्वीकार सहज और अनायास नहीं बनता। रशियामें लगभग २०से अधिक भाषासमूह हैं, परन्तु रशियन भाषाभाषियोंकी संख्या ७६ प्रतिशत है तथा वहांकी सभी भाषाओंकी अपेक्षा अधिक विकसित होनेके कारण रशियन भाषाका प्रभुत्व स्वाभाविक रूपसे स्थापित हो गया है। भारतमें हिन्दीके नेतृत्वके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता। तीसरे, भारतमें भाषाएँ बृहदांशतः एक या दूसरे प्रदेशमें केंद्रित हैं; अतः भारतीय जीवनमें भाषासमूह और भौगोलिक प्रदेश एक ही हो गए हैं। भाषावाद और प्रदेशवादके इस संगमने भाषाको भारतकी राजनीतिमें सबसे अधिक शक्तिशाली परिबल बना दिया है। धर्म और जातियोंको भी भाषाएँ विभाजित कर देती हैं, कारण कि धर्म और जातियाँ समग्र भारतमें फैली हुई हैं; जबकि भाषाएँ भौगोलिक प्रदेशमें ही केंद्रित हैं। भाषावादकी भावना और वफादारी कई बार इतनी उत्कट होती है कि वह भाषाकीय उपराष्ट्रवाद (Sub-nationalism) तक विकसित हो जाती है।

भारतकी राजनीतिमें भाषासमूह महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। भाषाकीय प्रान्तोंकी रचना और राष्ट्रीय स्तर पर उपयोगमें लाई जानेवाली सम्पर्क भाषाके विवादमें भाषाकीय परिबलका प्रभाव देखनेको मिलता है। इस प्रश्नकी चर्चा दूसरी जगह होनेके कारण यहाँ उसके विस्तारमें जाना अपेक्षित नहीं।

* विभाज्य पूर्वका संयुक्त राज्य:

(३) जन-जातियाँ

भारतमें आदिवासी जन-जातियोंकी आवादी ६·८ प्रतिशत है। आदिवासी जन-जातियोंकी ३०० लाखकी आवादी भारतमें तीन मुख्य केंद्रोंमें स्थित है: (१) आसामके पर्वतीय प्रदेश : खासी, जेन्तिया, नागा, मीज़ो आदि जातियाँ यहीं रहती हैं। (२) मध्यभारतका उच्चप्रदेश : विंध्य-पर्वतमालाके पूर्वीय भाग और मैकल पर्वतमालाके आसपास भारतके आदिवासियोंकी कुल आवादीका ६० प्रतिशत भाग रहता है। उक्त प्रदेश विहार, वंगाल, मध्यप्रदेश और उड़ीसाके बीचके पहाड़ी प्रदेशको अपनेमें समा लेता है। अतः चार राज्योंमें आदिवासियोंका प्रभाव उल्लेखनीय है। उड़ीसामें २४·१ प्रतिशत, मध्यप्रदेशमें २०·६ प्रतिशत, विहारमें ९·१ प्रतिशत और वंगालमें ५·९ प्रतिशत आवादी आदिवासियोंकी है। (३) गुजरात-राजस्थानका पहाड़ी प्रदेश : भारतके आदिवासियोंका कुल १६ प्रतिशत भाग यहीं रहता है। गुजरातमें १३·४ प्रतिशत और राजस्थानमें ११·५ प्रतिशत आवादी आदिवासियोंकी है। इस प्रकार भारतके सात राज्योंमें आदिवासियोंकी संख्या उल्लेखनीय है। आसामके आदिवासी मुख्यतः ईसाई हैं और अन्य भागोंके आदिवासी हिन्दू हैं।

इन आदिवासियोंका प्रभाव राजनीति पर पड़ने लगा है। धीरे-धीरे आदिवासी राजनीतिक जागरूकता प्राप्त कर राजनीतिमें सक्रिय भाग लेने लगे हैं। नागभूमिमें नागोंके संगठन, आसाममें अखिल पर्वतीय नेता परिषद् और मीज़ो संगठन, विहारमें झारखण्ड दल, मध्यप्रदेशमें महाराज प्रवीणचन्द्र भंजदेवका प्रकरण—जिसमें आदिवासियोंमें फैला हुआ असंतोष प्रतिविंवित हुआ—ये सव धीरे-धीरे राजनीतिमें आदिवासियोंके वढ़ते हुए प्रभावके उदाहरण हैं। गुजरात और राजस्थानमें अभी तक आदिवासियोंका असर दिखाई नहीं दिया है। परन्तु उनके राजनीतिक प्रभावकी भावी संभावनाएँ अच्छी-खासी हैं। इस प्रकार आदिवासी धीरे-धीरे भारतकी राजनीतिमें ओतःप्रोत हो गए हैं। जहाँ शिक्षाकी मात्रा वढ़ी है, वहाँ उनके अरमान और महत्वाकांक्षाएँ और स्पष्ट हो गई हैं। आसामकी आदिवासी-राजनीतिने नागभूमिकी रचना और पर्वतीय प्रदेशोंके स्वायत्त उपराज्यकी रचना—ये दो सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। जहाँ शिक्षाका प्रसार अधिक नहीं है, वहाँ आदिवासी-राजनीति कुछ व्यक्तियोंकी प्रवृत्तियोंको वढ़ानेका साधन वन गई है। एक वात निर्विवाद है कि राजनीतीकरणकी मात्रा ज्यों-ज्यों वढ़ती जायगी, त्यों-त्यों आदिवासियोंके प्रभावकी अवगणना करना मुश्किल होता जायगा।

(४) जातिसमूह

भारतीय समाज-ढाँचेका चौथा महत्वपूर्ण परिवल जातियाँ हैं। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—इन चार जातियोंकी आदर्श व्यवस्था वास्तविक व्यवहारमें तीन हजारसे भी अधिक जातियों में वँट गई है। भोजन और लग्न-व्यवहारके सामाजिक सजातीय विवाहोंसे सम्बद्ध (endogamous) समूहोंके रूपमें जातियाँ सामाजिक ढाँचेकी इकाई वन गई हैं।

जातिप्रथामें सवसे ऊपर ब्राह्मण हैं, जिनकी कुल संख्या भारतकी आवादीका ६·४ प्रतिशत है। ये समग्र भारतमें वँटे हुए हैं, परन्तु उत्तर प्रदेश और पंजावमें इनकी आवादी अपेक्षाकृत सवसे अधिक है और दक्षिण भारतमें कम है। भारतके विविध राज्योंमें ब्राह्मणोंने वहुत वर्षो तक उल्लेखनीय भाग अदा किया है। शिक्षा और वुद्धिजीवी व्यवसायोंके कारण राजनीतिमें उनका प्रभाव अच्छा-खासा रहा है। केरलमें नम्वूद्रीपाद, महाराष्ट्रमें चित्तपावन, मद्रासमें आयर और आयंगर, गुजरातमें नागर

और अनाविल, काश्मीरमें काश्मीरी ब्राह्मण—ये सब प्रभावशाली ब्राह्मण जातियोंके उदाहरण हैं।

१९२० तक भारतकी राजनीतिमें ब्राह्मणोंका जोर था। इसके बाद अन्य जातियोंने ब्राह्मण जातिके वर्चस्वको चुनौती देना आरम्भ कर दिया। महाराष्ट्र और मद्रासमें ब्राह्मणविरोधी आन्दोलन प्रबल हुए। मद्रासमें १९२०में आरम्भ हुई जस्टिस पार्टीकी राजनीति फलफूल कर द्रविड़ मुनेत्र कषगममें विकसित हुई। उसी प्रकार महाराष्ट्रमें ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलनने मराठा कौमकी सर्वोपरिताको जन्म दिया।

अन्य राज्योंमें भी बहुसंख्यक और ग्रामविस्तारोंकी समृद्ध जातियोंने भी राजनीतिमें भाग लेना शुरु कर दिया। इस दृष्टिसे गुजरातमें पाटीदार और क्षत्रिय, राजस्थानमें राजपूत और जाट, बिहारमें भूमिहर और राजपूत, पंजाबमें जाट, आंध्रमें काम्मा और रेड्डी, मैसूरमें लिंगायत और वोकल्लिगा—इन सब ग्रामीण जातियोंका बड़े पैमाने पर प्रभाव बढ़ने लगा। ये ग्रामीण जातियाँ या तो समृद्ध किसान होनेके कारण आर्थिक प्रभाव रखती थीं या फिर बहुसंख्यक होनेके कारण राजनीतिक प्रभाव रखती थीं। इस प्रकार आर्थिक प्रभाव या संख्याबलके कारण इन्होंने राजनीतिमें प्रवेश किया।

पिछले कुछ समयसे हरिजन भी राजनीतिमें सक्रिय बन रहे हैं। भारतकी कुल आबादीके १४·२ प्रतिशत लोग हरिजन हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल, मद्रास, राजस्थान और उड़ीसा—इन पांच राज्योंमें हरिजनोंकी आबादी राष्ट्रीय औसतकी अपेक्षा अधिक है। भारतके सामाजिक जीवनमें हरिजनोंका स्थान खूब नीचा था और उनको अस्पृश्य माना जाता था। गांधीजीके नेतृत्वमें हरिजन-उद्धारकी सबल प्रवृत्तिने भारतमें विकास किया। इसने एक ओर तो हरिजनोंमें संज्ञानता प्रकट करनेमें तथा दूसरी ओर सवर्णों का हरिजनोंके प्रति दृष्टिकोण बदलनेमें महत्वपूर्ण भाग अदा किया। भारतीय संविधानमें भी अस्पृश्यता-निवारणके कानूनको स्थान दिया गया। बी० आर० अम्बेदकरने भी हरिजनोंको संगठित करनेमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई; जिसमेंसे अनुसूचित जाति मण्डल (Scheduled Class Federation) और रिपब्लिकन पार्टीकी राजनीतिने आकार ग्रहण किया। आज रिपब्लिकन पार्टी अधिकांशतः हरिजनोंकी पार्टी बन कर रह गयी है।

इस प्रकार ये विविध जातियाँ भारतीय राजनीतिमें भाग ले रही हैं और उसके द्वारा भारतीय राजनीतिको नए परिणाम हाथ लग रहे हैं।

भारतीय राजनीतिका हार्द समझनेके लिए जाति और राजनीतिके अन्तर्सम्बंधोंकी प्रक्रिया एक महत्त्वपूर्ण चाबी है। अनेक बार जातियों और राजनीतिके सम्बन्धोंको लेकर उथले और अतिशयोक्ति भरे विधान किए जाते हैं। राजनीतिमें जातिका प्रभाव एकमार्गी या सम्पूर्ण निर्णायक नहीं है। जिस प्रकार जातियाँ राजनीति पर असर डालती हैं, उसी प्रकार राजनीतिके प्रभावके नीचे जातियाँ भी बदलती रहती हैं। भारतीय राजनीतिके आधारोंकी परिचालन-प्रक्रियाकी गतिशीलता समझनेके लिए राजनीति और जातियोंके आपसी संबंधोंका विस्तारपूर्वक विश्लेषण अनिवार्य बन जाता है।

राजनीतिमें जातियोंका भाग समझनेके लिए तीन कक्षाओंमें इस प्रश्नको समझना अपेक्षित है : (१) पूर्वशर्तें, (२) संदर्भ, (३) प्रक्रिया। जातियों द्वारा राजनीतिमें प्रभावशाली भाग लेनेके लिए कुछ पूर्वशर्तें आवश्यक हैं। अलग-अलग राज्योंमें जातियोंको अलग-अलग काम करनेके कारण प्रत्येक राज्यमें जातीय राजनीतिकी अलग-अलग रीतियाँ विकसित हुई हैं। सांदर्भिक परिस्थितियोंकी ये विभिन्नताएँ जातियोंकी राजनीतिको दूसरा पहलू प्रदान करती हैं। तीसरे, जातिकी राजनीतिमें
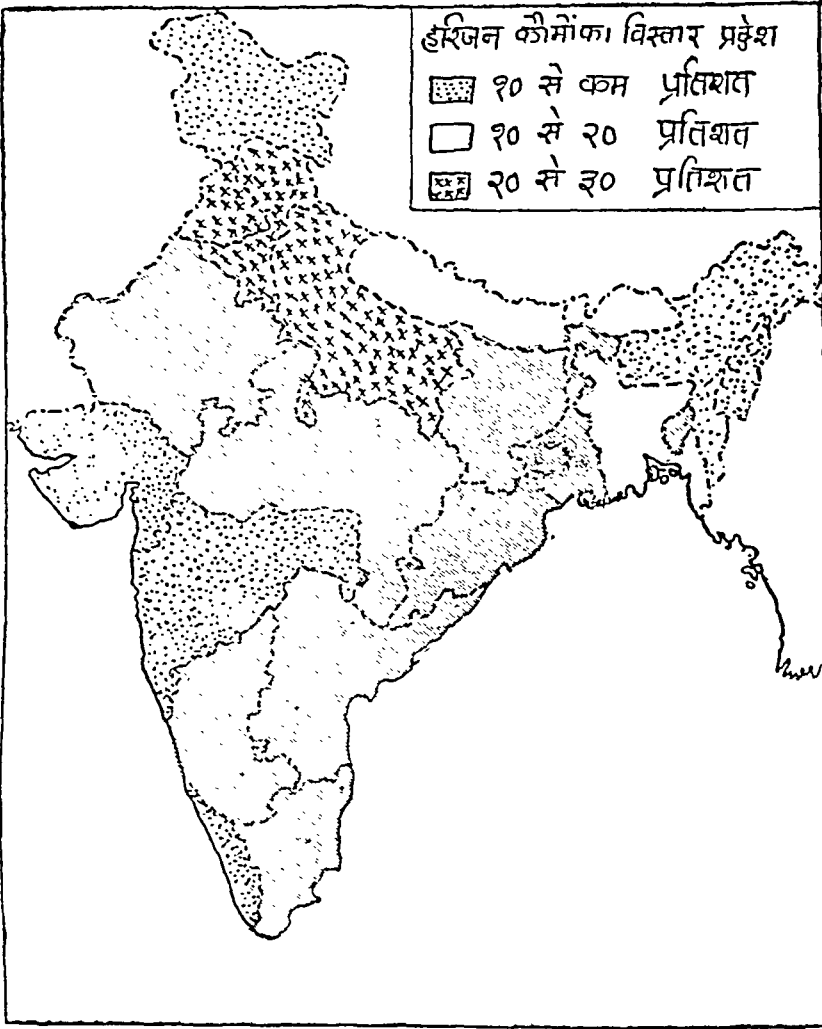
हरिजन-आबादीका राज्यानुसार प्रतिशत

उत्तरप्रदेश	२०.९	मैसूर	१३.२
पंजाब	२०.४	मध्यप्रदेश	१३.१
बंगाल	१९.९	केरल	८.४
मद्रास	१८.०	काश्मीर	७.५
राजस्थान	१६.७	गुजरात	६.६
उड़ीसा	१५.८	आसाम	६.२
बिहार	१४.१	महाराष्ट्र	५.६
आंध्र प्रदेश	१३.८		

भाग लेनेकी प्रक्रिया और उससे निष्पन्न असरोंका अध्ययन करनेके लिए ऐसी राजनीतिके स्वरूपको समझना आवश्यक है। इन तीन कक्षाओं पर राजनीतिमें जातिके स्थानका मूल्यांकन करना चाहिए।

राजनीतिमें जातिके असरकारक बननेके लिए दो पूर्वशर्तें हैं: (१) जाति बहुसंख्यक होनी चाहिए, (२) जातिमें अधिकांशत: आर्थिक हितोंकी समानता (Economic coherence) होनी चाहिए। वयस्क मताधिकारकी राजनीतिमें संख्याका महत्व स्वत: स्पष्ट है। किसी भी स्थान पर सभी जातियाँ प्रभावशाली नहीं होतीं। तहसील, जिला या राज्यके स्तर पर जो एक-दो जातियाँ बहुसंख्यक होती हैं, वे ही प्रभावशाली भाग अदा कर सकती हैं। गुजरातमें पाटीदार और क्षत्रिय, राजस्थानमें राजपूत और जाट, बिहारमें भूमिहर और राजपूत, महाराष्ट्रमें मराठा, आंध्रमें रेड्डी और काम्मा, मैसूरमें लिंगायत और वोकल्लिगा, मद्रासमें अब्राह्मण, केरलमें नायर और एलवा—ये सब राज्यस्तर पर असर डाल सकनेवाली बहुसंख्यक जातियोंके उदाहरण हैं। चुनावकी राजनीतिमें अल्पसंख्यक जातियोंको अपनी जातिविषयक संज्ञानता अवरोधक सिद्ध होती है। अत: बहुसंख्यक जातियाँ जाति-संज्ञानताको उभारने पर अधिक भार देती हैं और लाभ उठानेका प्रयत्न करती हैं। परन्तु अल्पसंख्यक जातियोंको तो भूलना पड़ता है और राजनीतिमें से जातिवादको देश-निकाला देनेकी अच्छी-अच्छी बातें करनी पड़ती हैं।

राजनीतिमें जातिके असरकारक बननेके लिए दूसरी पूर्वशर्त है जातियोंमें आर्थिक हितोंकी समानता। अगर जातियोंमें आर्थिक हितोंकी समानता न हो तो जातिकी एकता अधिक टिक नहीं पाती। जब भी आर्थिक हित और जाति-हित समान होते हैं, तभी जाति खूब प्रभावशाली परिबल बन जाती है। किन्तु जब जाति और आर्थिक हितोंके बीच संघर्ष होता है, तब अधिकांशत: आर्थिक वफादारी विजयी होती है। केरलमें ईसाई समाज और मुस्लिम समाजका आर्थिक हितोंके आधार पर उच्च और नीच वर्गोंके बीच ध्रुवीकरण हो रहा है। गुजरातमें १९५०में पाटीदार और क्षत्रिय जातियोंके आर्थिक हितोंके संघर्षके कारण एकता बनानेमें असफलता मिली। १९५०से पहले गुजरात विभागमें अधिकांशत: पाटीदार जमीन मालिक थे और सौराष्ट्रमें ये ही पाटीदार किसान थे। इसलिए गुजरातके पाटीदार जमीन-सुधारका विरोध करते थे, जबकि सौराष्ट्रके पाटीदार इसका विरोध नहीं करते थे। इस कारण दोनोंके बीच एकता स्थापित नहीं हो सकी। इसी तरहकी परिस्थिति गुजरातमें क्षत्रियोंकी थी। सौराष्ट्रके अधिकांशत: क्षत्रिय जमीन-मालिक थे और गुजरात विभागमें वे किसान थे। १९५२के चुनावमें गुजरातके क्षत्रिय भूमि-सुधारको, अत: कांग्रेसको समर्थन देनेके पक्षपाती थे; जबकि सौराष्ट्रके क्षत्रिय कांग्रेसके जमीन-सुधारके विरुद्ध लड़ लेना चाहते थे। परिणामत: १९५१के अहमदाबाद सम्मेलनमें गुजरात और सौराष्ट्रके क्षत्रियोंके बीचमें बहुत बड़ा बिखराव आ गया। आर्थिक हितोंकी टकराहट जब जगती है तब जातियाँ टूट जाती हैं। इस प्रकारके और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस तरह बहुसंख्यक और आर्थिक सहधर्मिता रखने वाली जातियाँ ही राजनीतिमें प्रभावशाली सिद्ध हो सकती हैं।

जातीय राजनीतिकी पूर्वशर्तोंके बाद दूसरी कक्षा सांदर्भिक परिस्थितियोंकी विभिन्नताओंकी है। विविध राज्योंमें जाति-रंगपटकी बुनावट अलग-अलग होती है। राज्यमें बहुसंख्यक जातियाँ

कितनी हैं, इस पर जातिगत राजनीतिकी रचनाका आधार रहता है। महाराष्ट्र और मद्रास जैसे राज्योंमें एक जाति बहुसंख्यक है; दूसरी जातियाँ इतनी बिखरी हुई और अल्पसंख्यक हैं कि वे राजनीतिको प्रभावित नहीं कर पातीं। दूसरी ओर गुजरात, राजस्थान, बिहार, आंध्रप्रदेश आदिमें दो जातियां बहुसंख्यक हैं; शेष जातियाँ बिखरी हुई हैं। अन्य बहुतसे राज्योंमें एक भी जाति बहुसंख्यक नहीं है। इस प्रकार राजनीतिमें जातिके भागका अध्ययन करनेके लिए सांदर्भिक परि-स्थितियोंके अनुसार राज्यका बहुसंख्यक जातियोंके आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है: एक जाति राज्य, द्विजाति राज्य और अनेक जाति राज्य। अगर अध्ययनकी इकाई जिला या तहसील हो, तो उसका भी वर्गीकरण उक्त रूपमें किया जा सकता है।

इस प्रत्येक प्रकारकी सांदर्भिक परिस्थितिमें जातिगत राजनीतिके अलग-अलग रूप उभर कर आते हैं। एकजाति-राज्यमें राजनीतिके प्रथम सोपान पर राज करनेवाली अल्पसंख्यक जातिसे सत्ता छीन कर बहुसंख्यक जाति अपनी सर्वोपरिता सिद्ध कर देती है। मद्रासमें राजाजीके प्रधान-मंडलको उलट कर अब्राह्मणवादके आधार पर सत्ताधिकार धारण करनेवाले कामराज अथवा महा-राष्ट्रमें ब्राह्मण नेतृत्वको कोनेमें रखकर मराठा पुनर्जागृतिके रास्ते पर सत्ताधिकार धारण करनेवाले यशवंतराव चव्हाण—ये दोनों इस प्रथम सोपानके उदाहरण हैं। एकजाति-राज्यमें बहुसंख्यक जातिकी स्पर्धामें उतर कर उसकी सत्तामें साझेदारी प्राप्त करनेके लिए उसे विवश कर सकनेवाली कोई दूसरी जाति नही होती। इस प्रकारकी सत्ता प्राप्त करनेके बाद अगर बहुसंख्यक जातिमें बिखराव आ जाए, तब ही राजनीतिक स्पर्धा ज़ोर पकड़ती है। मद्रासमें अब्राह्मणोंमें द्रविड़ कषगम और द्रविड़ मुनेत्र कषगमके विभाजनसे बिखराव शुरू होनेके बाद ही कामराजकी सत्ताके विरोधमें चुनौतियाँ उठनी आरंभ हो गई। महाराष्ट्रमें अभी तक बहुसंख्यक जातिमें बिखराव नहीं आया है। यह खुद ही सूचक है कि विरोध पक्षके अधिकांश नेता सत्ता परसे उठा दी जानेवाली अल्प-संख्यक ब्राह्मण जातिके सदस्य हैं। जब कभी मराठा जातिमें बिखराव आएगा, तभी महाराष्ट्रमें राजनीतिक स्पर्धा तीव्र होगी।

द्विजाति राज्यमें जातीय राजनीतिकी रचना दूसरे ही प्रकारकी होती है। वहाँ दो जातियोंके सहयोग और संघर्षसे राजनीतिक रचना उभरती है। प्रथम सोपानमें राज करनेवाली बहुसंख्यक जातिके विरोधमें सत्ता-वंचित बहुसंख्यक जातिका संघर्ष दिखाई देता है। आंध्रमें रेड्डियोंके विरुद्ध काम्मालोग, राजस्थानमें राजपूतोंके विरुद्ध जाट, गुजरातमें पाटीदारोंके विरुद्ध क्षत्रिय, मैसूरमें वोकल्लिगाके विरुद्ध लिंगायत—इन सबकी लड़ाइयाँ द्विजाति राज्य पद्धतिके प्रथम सोपानके उदाहरण हैं। ये लड़ाइयाँ लम्बे समय तक नही चल सकती, कारण कि द्विजाति राज्यमें कोई भी एक जाति अपने ही बल पर न तो सत्ता पर अधिकार ही कर सकती है और न उसे टिकाए रख सकती है। अतः जाति-संघर्षसे जाति-सहयोगका सोपान आता है। इस सोपानमें राजनीतिक स्पर्धा तो होती है, परन्तु वह दो जातियोंके बीच नहीं, बल्कि दो जातियोंके एकत्र हुए समूहोंके बीच होती है। आज आंध्रमें रेड्डी-काम्मासंघर्ष नहीं है; परन्तु रेड्डी-काम्माके एक संयुक्त समूह और रेड्डी-काम्माके दूसरे संयुक्त समूहके बीच संघर्ष है। उसी तरह गुजरातमें और राजस्थानमें यह संघर्ष पाटीदार और क्षत्रिय तथा राजपूत और जाटोंके बीच न होकर दो बहुसंख्यक जातियोंके दो संयुक्त समूहोंके बीच है।

गुजरातकी राजनीतिमें पाटीदार-क्षत्रियोंके बीचके संबंध निर्णायक रहे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनमें प्रमुख भाग लेने, समृद्ध खेती करने, उच्च शिक्षण व लड़ायक जोशको धारण करनेके कारण गुजरातकी राजनीतिमें पाटीदारोंने, जो आबादीके लगभग २२ प्रतिशत हैं, महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सरदारकी मृत्युके बाद मोरारजी देसाईका नेतृत्व गुजरातमें आया; उनके प्रति गुजरातके पाटीदारोंका बड़ा भाग आत्मीयता या अपनापन अनुभव नहीं करता। फिर भी पाटीदार और कांग्रेसी नेतृत्वके बीच कुछ भावपरक संबंध बढ़े हैं। कांग्रेसकी जमीन-नीतिके कारण पाटीदारोंके उच्चवर्गोंको दुःख हुआ—अधिकांशतः जिनके पास जमीन-स्वामित्व था। परिणामस्वरूप पाटीदारोंके दो वर्ग बन गए। एक वर्ग कांग्रेसके प्रति वफादार रहा और दूसरे वर्गने विरोधपक्षका नेतृत्व सम्हाला। १९५२से आरम्भ होकर अभी तकके सभी चुनावोंमें विरोधपक्षका नेतृत्व पाटीदारोंके हाथोंमें रहा है। पाटीदारोंके असंतुष्ट वर्गकी चुनौतियाँ झेल लेनेके लिए कांग्रेसने दूसरी बहुसंख्यक जाति अर्थात् क्षत्रियोंका, जो आबादीके ४० प्रतिशत हैं, साथ ढूँढ़ा। इस प्रकार पाटीदारोंके आधे भाग और क्षत्रियोंके पूरे वर्गके समर्थन पर कांग्रेस १९५२से लेकर १९६२ तकके दशकोंमें संगीन स्थितिमें रही। १९६२में कांग्रेस और क्षत्रियोंके बीच भेद उत्पन्न हुआ और पाटीदारों और क्षत्रियोंके संयुक्त बलके आधार पर स्वतंत्र पक्षकी रचना हुई। इसके बाद ही कांग्रेसको प्रभावशाली चुनौती देना संभव हुआ। आजकल गुजरातके पाटीदार और क्षत्रिय कम या अधिक अनुपातमें कांग्रेस या स्वतंत्र पक्षमें बँटे हुए हैं।

इस तरह सांदर्भिक परिस्थितिकी विभिन्नता जातीय राजनीतिके प्रवाहोंको अलग-अलग रूप प्रदान करती है और नूतन राजनीतिक रचनाओंको जन्म देती है।

जातिके राजनीतिमें भाग लेनेकी प्रक्रियासे विविध प्रभावोंकी सृष्टि होती है। जिस तरह जातिका असर राजनीति पर होता है, उसी तरह राजनीतिका असर भी जातियों पर पड़ता है। इस प्रकार जाति और राजनीतिके बीच अन्तःसंबंधोंसे तीन प्रभाव आकार लेते हैं : (१) जाति-समूहोंका समवायीकरण, (२) जातियोंके बीच गठबन्धन, (३) जातिका राजनीतीकरण और राजकीय विभाजन।

प्रजातांत्रिक राजनीतिमें मुख्य ध्येय सत्ताप्राप्ति होता है। बहुत बार बहुसंख्यक जातियाँ भी मात्र अपने ही बल पर सत्ताधिकृत करनेमें शक्तिमान नहीं होतीं। इस कारण बहुसंख्यक जातियोंको अपने प्रभावके आधारको विस्तार देना पड़ता है। अतः छोटी-छोटी जातियोंको बहुसंख्यक जातियोंमें मिला देनेकी प्रक्रिया शुरू होती है। विवाह-सम्बन्धोंके लिए जातियाँ अनुपातमें छोटी और सामाजिक स्थान पर केंद्रित होती हैं। सामान्यतः बड़ी दिखायी देनेवाली जातियाँ भी लग्न और सामाजिक सम्बन्धोंके लिए प्रादेशिक और अन्य उपविभागोंमें बँटी हुई होती हैं। ऐसी सामाजिक जातियाँ राजनीतिमें असरकारक नहीं बनतीं। राजकीय हेतुओंके लिए छोटे-छोटे मत-भेदोंको भूलकर यथासंभव विशाल जातियोंकी रचना करनी पड़ती है। इस प्रकार सामाजिक अर्थमें जातियों और राजनीतिक अर्थमें जातियोंके स्वरूप भिन्न होते हैं। छोटी-छोटी जातियोंके एकत्र होकर विशाल जातिसमूहोंके रचनेकी प्रक्रियाको जातिसमूहोंके समवायीकरणकी प्रक्रिया कहा जाता है। राजपूत, चौहाण, बारैया, काठी, पाटणवाडिया आदि अनेक जातियोंके समवायी-करणकी प्रक्रियासे गुजरातकी 'क्षत्रिय जाति'का सर्जन हुआ है। ऐसी प्रक्रिया एक तरफ उच्च

कक्षाकी किन्तु अल्पसंख्यक जातियोंको निचले स्तरकी बहुसंख्यक जातियोंके समर्थनका राजकीय लाभ देती है। दूसरी तरफ निचले स्तरकी बहुसंख्यक जातियोंके सामाजिक दृष्टिसे अधिक ऊँचे स्थान और प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके अरमानोंको पूरा करती है। इस तरहकी निचले स्तरकी बहु-संख्यक जातियाँ उच्चस्तरकी जातियोंकी कक्षा तक पहुँचनेके लिए उनके समान संस्कारी होने (sanskritisation and vertical mobility process)का प्रयत्न करती हैं और सामाजिक प्रतिष्ठामें ऊँची मानी जाने वाली जातियोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर गौरवका अनुभव करती हैं। इस प्रकार अत्यधिक पिछड़ी हुई बारैया, काठी, पाटणवाडिया जैसी जातियोंके समूह राजपूत राजाओंके निकट संबंधी होने जैसा आत्मसंतोष (या फिर आत्मवंचना) अनुभव करते हैं। प्रजातांत्रिक राजनीतिके पीछे-पीछे लगभग प्रत्येक राज्यमें बहुसंख्यक जातियोंने अनेक सीमावर्ती जातियोंको अपनेमें समा लेनेका प्रयत्न किया है और इस ढंगके समवायीकरणकी प्रक्रियासे विशाल जातियोंके समूह रचे हैं। यों जिन्हें हम सामाजिक अर्थमें पहचानते हैं, ऐसी जातियोंके विलोपन और सम्मार्जन पर ही राजनीतिक जातियाँ आकार लेती हैं।

ऐसे जातियोंके समवायीकरणसे निर्मित जातिसमूहोंका सम्पूर्ण बल भी अकेले हाथों सत्ता हथियानेके लिए पूरा नहीं होता। जब अकेले हाथों सत्ता हथियानेमें अपनी सीमाओंका ख्याल आता है, तब बहुसंख्यक जातियोंको भी अन्य जातियोंके साथ राजनीतिक संधि करनी पड़ती है। पाटीदारों और क्षत्रियोंके बीच हुई ऐसी ही संधिके आधार पर गुजरातके स्वतंत्र पक्षका वर्तमान बल आधारित है। राजस्थानमें राजपूतोंके विरुद्ध जाटोंकी और आंध्रमें रेड्डीके विरुद्ध काम्माकी स्पर्धाओंका युग पूरा हो गया है। अब तो कांग्रेस और विरोध पक्ष दोनों हीमें राजपूत-जाट या रेड्डी-काम्माका समन्वय देखनेको मिलता है। इस तरह प्रजातंत्र एक ओर तो जातीय संज्ञा-नताको वेग प्रदान करता है तो दूसरी तरफ वह जातियोंको एक-दूसरेके साथ सहयोग करनेके लिए विवश भी करता है।

ज्यों-ज्यों जातियोंका राजनीतीकरण होता जायगा और राजनीतिक स्पर्धाके प्रवाहोंमें वे अधिक खिचती जायेंगी; त्यों-त्यों उनकी राजनीतिक अलगता और एकताका अन्त होता जायगा। राजनीतिमें जातियोंकी भूमिका जितनी बढ़ती जायगी उतनी ही मात्रामें जातियोंमें विश्रृंखलता आती जायगी। यह संभव नहीं कि वे किसी एक दल अथवा पक्षके एकाधिकारमें रहें। इस तरह राजनीति जातियोंमें स्पर्धा और वकल्पिक नेतृत्वका सर्जन करती है।

जाति और राजनीतिके इन अन्त:प्रवाहोंसे स्पष्ट है कि जाति थोड़े समयके लिए राजनीति पर प्रभाव डाल सकती है, परन्तु लंबे समयकी दृष्टिसे देखें तो राजनीतिमें भाग लेनेसे जातिका स्वरूप बदलता है, सामाजिक अर्थमें जिन्हें छोटी जातियाँ कहते हैं, उन्हें भूलकर अति विशाल राजकीय जातियोंका निर्माण होता है, दूसरी जातियोंके साथ संधि करनेके लिए जातियोंको विवश होना पड़ता है और जातियोंमें राजनीतिक विग्रह उत्पन्न होते हैं। इस तरह प्रजातांत्रिक राजनीतिमें जातिवादी अलगता और व्यक्तित्व बनाए रखना खूब मुश्किल होता है। जितना असर जातियाँ राजनीति पर डालती हैं, उससे अधिक दूरगामी असर राजनीति जातियों पर डालती है। राजनीतिमें भाग लेनेकी प्रक्रियामें उत्पन्न जातियोंका असम्प्रदायीकरण (secularisation) प्रजातांत्रिक राजनीतिके लिए आशा और आश्वासनका कारण बना रहता है।

आर्थिक प्रवृत्ति किसी भी समाजमें विविध वर्गोंकी रचना करती है। ऐसे आर्थिक वर्गोंके आपसी सम्बन्धोंकी रीति राजनीति पर प्रभाव डालती रहती है। इस प्रकार देखनेसे राजनीतिके आधाररूप आर्थिक परिबलोंका अध्ययन तीन कक्षाओं पर किया जा सकता है: (१) विविध आर्थिक वर्गोंका विकास, (२) आर्थिक वर्गोंका वर्तमान ढाँचा, (३) विविध आर्थिक वर्गोंका राजनीतीकरण और उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ।

(१) आर्थिक वर्गोंका विकास

१९वीं सदीके आरम्भमें भारतका वर्गीय ढाँचा अधिकांशतः सामन्तशाही था। नवाबों और जमींदारों व उनके नीचे काम करनेवाले किसानों, व्यापारियों और सैनिकोंसे सम्बद्ध चार मुख्य वर्ग सामन्तशाही युगमें थे। १९वीं सदीमें जब ब्रिटिश राज्य सुदृढ़ हुआ, तब उसके प्रभावके अन्तर्गत भारतके समाज-जीवनमें विविध नए वर्ग विकसित हुए। प्रथम तो ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी व्यापारिक प्रवृत्तियोंके अनुकरण पर भारतमें देशी व्यापारी वर्ग विकसित हुआ। ब्रिटिश व्यापार-व्यवस्थाका लाभ लेकर यह वर्ग धीरे-धीरे समृद्धशाली और प्रभावशाली बनता गया। दूसरा, ब्रिटिश राज्य-व्यवस्थाकी राष्ट्रव्यापी कानूनी और अदालती व्यवस्थाने कानूनी विशेषज्ञों और वकीलोंके वर्गको जन्म दिया। प्रशासनिक तंत्र और प्रक्रियाकी संश्लिष्टता, विधानयुक्त शासन (rule of Law)की धारणा और एकीकृत न्यायतंत्र—इन सब परिबलोंके कारण वकीलोंका वर्ग दिन-प्रतिदिन विशाल और प्रभावशाली होता गया। स्वतंत्रता-प्राप्तिके पूर्व आय और स्वातंत्र्यकी दृष्टिसे बुद्धिजीवियोंको अधिक मात्रामें आकर्षित करनेवाला यह धंधा था। इस कारण वकीलोंके वर्गसे ही अधिकांशतः समाज-जीवनके अग्रणी और राजनीतिक आन्दोलनके नेता प्राप्त हुए। कांग्रेसके पहले पंद्रह अध्यक्षोंमेंसे १० वकील थे। तीसरा, १९वीं सदीके पूर्वार्द्धमें समाचारपत्रोंका आरम्भ हुआ। १८५० तक भारतमें ब्रिटिश स्वामित्वके तीस और देशी स्वामित्वके सौ समाचारपत्र प्रकट होते थे। इस सदीके उत्तरार्द्धमें 'अमृत बाजार पत्रिका', 'टाइम्स आफ इण्डिया', 'स्टेट्समैन', 'हिन्दू' आदि महत्त्वपूर्ण पत्र प्रकट हुए। समाचारपत्रोंके इस विकासके साथ-साथ पत्रकारोंका वर्ग विकसित हुआ। चौथा, अमेरिकन अन्तर्विग्रह (१८६१-६५)के समय इंग्लैण्डमें अमेरिकन रुईका आयात बन्द हो गया और भारतकी रुईकी माँग बढ़ी। रुई-बाजारमें इसके कारण जो भाव-वृद्धि हुई, उससे किसान वर्ग समृद्ध हुआ और भारतमें वस्त्र-उद्योगकी स्थापना हुई। बम्बई और अहमदाबादमें कपड़ेकी मिलें स्थापित हुईं और कलकत्ता सनकी मिलोंका केन्द्र बना। १८५३में आरम्भ हुई रेलवेका ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ, त्यों-त्यों उद्योगीकरणको गति मिली। प्रथम विश्वयुद्धके समय भारतमें भारी उद्योगोंका अभाव खला; तत्पश्चात् लोहा, कोयला, बिजली, चीनी, सिमेन्ट आदि उद्योग सरकारी संरक्षणात्मक शुल्क दर (protective tariff)की नीतिके अन्तर्गत विकसित हुए। इस प्रकार पिछले सौ वर्षोंमें भारतमें उद्योगोंका तेजीसे विकास हुआ है, परिणामतः उद्योगपतियोंके प्रभावशाली वर्गका विकास हुआ।

इस तरह पिछली डेढ़ सदीमें भारतके वर्गीय ढाँचेमें मूलभूत परिवर्तन आए हैं, जमींदारों और नवाबोंके विशिष्ट वर्गने भारतीय जीवनसे विदा ले ली और उसके स्थान पर व्यापारी, उद्योगपति और बुद्धिजीवी मध्यमवर्गका विकास हुआ। भारतीय वर्ग ढाँचेमें आए हुए ये नाट्यात्मक

भारतीय व्यवसायी वर्ग-ढाँचा १९०१--१९६१[1]

वर्ग	१९०१ प्र० श०	१९३१ प्र० श०	१९५१ प्र० श०	१९६१ प्र० श०	१९६१में (संख्या लाखमें)	१९६१में राष्ट्रीय आयमें वर्गका योग (प्र० श०)
१. किसान	५०.६	४५.०	५०.०	५२.८	९९५	४६.६ (१ व २)
२. खेतमजदूर	१६.९	२४.८	१९.७	१६.७	३१५	
३. जंगल, पशुपालन, मत्स्य-उद्योग आदि	४.२	४.९	२.४	२.८ (३ व ४)	५२	—
४. खनिज उद्योग	०.१	०.३	०.६			
५. गृह उद्योग	११.७ (५ व ६)	८.९ (५ व ६)	९.० (५ व ६)	६.४	१२०	८.०
६. व्यवस्थित उद्योग				४.२	८०	११.१ (६ व ७)
७. बाँधकाम	०.८	१.०	१.१	१.१	२१	
८. व्यापार	६.१	५.६	५.२	४.१	७६	१६.८ (८ व ९)
९. यातायात	१.१	१.०	१.५	१.६	३०	
१०. अन्य	८.५	८.४	१०.५	१०.४	१९५	१७.५
कुल काम करने वाले व्यक्ति	१००.०	९९.९	१००.०	१००.१	१,८८४	१००.०
कुल आबादीमें काम करने वालोंका प्र० श०	४६.६	४३.३	३९.१	४३.०	—	—
कुल आबादीमें काम कर सकने वाले उम्रके लोगोंका प्र० श०	—	—	—	५४.४	२,३९०	—
कुल आबादी (लाखमें)	२३५५	२७५५	३६१०	—	४३९२	—

१. १९६१की जनगणनाकी रिपोर्टके आधार पर: देखिए पेपर नं० १, पृ० ३९७।

परिवर्तन संघर्ष अथवा संवेदनोंसे मुक्त न थे। समयके प्रवाहमें टूटती हुई सामन्तशाहीकी मूर्खता और करुणताको प्रकाशित करनेवाला बहुत-सा साहित्य सर्जन हुआ। बंगाली उपन्यासोंमें—'साहब बीबी गुलाम' और 'जलसाघर'में इस प्रश्नको भावपरक ढंगसे प्रस्तुत किया गया है।

(२) भारतका वर्तमान वर्ग-ढाँचा

ऐसे अनेक संघर्षो और परिवर्तनोंके कारण भारतका वर्तमान वर्ग-ढाँचा (class structure) रचा हुआ है। आर्थिक वर्गोंकी दृष्टिसे भारत अभी तक खेतीप्रधान देश है। कुल आबादीके काम करनेवालोंका ७१·५ प्रतिशत गाँवोंमें काम करता है और राष्ट्रीय आयका ४६·६ प्रतिशत भाग खेतीसे आता है।

ग्रामीण-जीवनमें किसान और खेत-मजदूरोंके दो मुख्य वर्ग हैं। १९६१में आबादीका चौथा भाग जमींदारोंका था, इस संख्यामें अगर उनके कुटुम्बियोंको जोड़ दें तो संख्याकी दृष्टिसे इस वर्गका प्रभाव स्वतः स्पष्ट है। जमीनोंकी छोटी और अनुत्पादक इकाइयोंके कारण किसान वर्गका एक बड़ा भाग गरीब और पिछड़ा हुआ है। दूसरी तरफ १९५१की जनगणनाके अनुसार पच्चीस एकड़से अधिक भूमि मात्र ५·३ प्रतिशत किसानोंके पास है; परन्तु कुल जमीनका ३३·५ प्रतिशत स्वामित्व इसी वर्गके पास है। इस प्रकार किसान वर्गमें जमीनका बँटवारा असमान रूपसे हुआ है, जिससे आर्थिक हितोंके संघर्षकी पूरी-पूरी संभावनाएँ वर्तमान हैं। जमींदारी उन्मूलन, भूमिहीन किसानोंकी स्थिति सुधारने और उनको जमीनका मालिक बनानेके नियम, जमीन रखनेसे सम्बद्ध अधिकतम सीमाके कायदे—इन सबके कारण जमीनमालिकोंका वर्ग थोड़ा अधिक विशाल हुआ है; जबकि उसकी तुलनामें खेत-मजदूरोंका वर्ग छोटा होता गया है। कामकी निश्चितता और आयकी दृष्टिसे खेत-मजदूरोंकी स्थिति सबसे खराब और कमज़ोर है। औसत राष्ट्रीय आयके तीसरे भागसे भी कम आय खेत-मजदूरोंको मिलती है। उनकी औसत दैनिक आय एक रुपएसे भी कम है और पिछले दस वर्षोंमें उनकी हालत और भी बिगड़ी है।

शहरी जीवनमें व्यापार, उद्योग और अन्य बुद्धजीवी व्यवसायोंपर निर्वाह करनेवालोंका वर्ग बहुत बड़ा है। १९६१में ५४० लाख लोग खेती रहित व्यवसायोंमें रुके हुए थे। उनमेंसे १५० लाख बड़े उद्योगोंमें काम करते थे। बड़े उद्योगोंमें काम करनेवाले १५० लाख कामदारोंमेंसे ४० लाख कारखानोंमें काम करते थे; इन ४० लाखमेंसे ३० प्रतिशत कपड़ेकी मिलोंमें काम कर रहे थे। इसके अतिरिक्त गृहउद्योगोंमें निभनेवाले कारीगर (६·४ प्रतिशत) और व्यापार-यातायात पर निर्भर (५·७ प्रतिशत) लोग भी शहरी जीवनके महत्वपूर्ण वर्ग हैं।

इस प्रकार भारतके आर्थिक वर्गोंका वर्तमान ढाँचा विभिन्नीकृत (differentiated) और मिश्र है। धीरे-धीरे खेतीके व्यवसायके बदले व्यापार और उद्योगोंका महत्व बढ़ रहा है। परन्तु अभी तक आबादीका बड़ा भाग खेती पर ही निर्भर है। भारतके इस वर्गीय ढाँचेमें गरीबी और असमानता बहुत है। १९६३के अगस्त महीनेमें राममनोहर लोहियाने संसदमें राष्ट्रीय आयके बँटवारेसे सम्बद्ध चर्चा उठाते हुए यह दावा किया कि ६० प्रतिशत अर्थात् २७ करोड़ लोगोंकी दैनिक आय तीन आना है। तबसे राष्ट्रकी आयके विभाजनसे सम्बद्ध संज्ञानता बढ़ी है। राष्ट्रीय आयके विभाजनका अध्ययन करनेके लिए नियुक्त महालनोबिस समितिने इस प्रश्नका अध्ययन

राष्ट्रीय आयका विभाजन*

प्रति-व्यक्ति मासिक आय (रुपयोंमें)	कुल आवादी का० प्र० श०	कुल आयका प्र० श०
२००से अधिक	०.३	८.५
१००–१९९	१.०	६.१
७५–९९	१.०	३.७
५०–७४	२.७	८.०
४०–४९	३.०	६.३
३०–३९	६.०	९.०
२०–२९	१७.०	१९.०
१०–१९	४४.०	३१.५
१०से कम	२५.०	९.५

*राष्ट्रीय सम्पत्तिका अध्ययन करनेके लिए नियुक्त महालनोविस समितिके विवरण (फरवरी, १९६४) पर आधृत (अध्ययन वर्ष १९५५–५६)

कर फरवरी १९६४में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्टमें राष्ट्रीय आयके विभाजनमें विकसित असमानता स्पष्ट होती है। इस प्रकार २५ प्रतिशत आवादीकी मासिक आय दस रुपएसे भी कम है और उनके भागमें राष्ट्रीय आयका ९·५ प्रतिशत भाग आता है; जवकि डेढ़ प्रतिशत-से भी कम आवादीवाले मूर्धन्य वर्गकी सौसे अधिक मासिक आय है और राष्ट्रीय आयका लगभग १२ प्रतिशत भाग इस वर्गके भागमें जाता है। १९६३-६४के वर्षके अध्ययन पर आधारित और और हालमें प्रकट हुई नेशनल सेम्पल सर्वेकी रिपोर्ट भी यही प्रदर्शित करती है। आवादीके ६० प्रतिशत लोगोंसे पूर्ण निम्नवर्ग राष्ट्रीय खर्चका ३३ प्रतिशत खर्च करता है। जवकि २० प्रतिशत-की आवादी वाला उच्चवर्ग राष्ट्रीय खर्चका ४२ प्रतिशतसे अधिक खर्च करता है। प्रति व्यक्ति कम आय और विविध वर्गोंकी आयोंके वीच गंभीर अन्तर या असमानता राजनीतिमें आश्चर्य पैदा करनेवाला मुख्य कारण है।

(३) आर्थिक वर्गोंका राजनीतीकरण

भारतीय समाजके ये विविध वर्ग राजनीतिमें भाग ले रहे हैं। ये आर्थिक हित और परिवल राजनीतिको निम्नतंत्र प्रदान करते हैं। विविध आर्थिक वर्गोंके राजनीतीकरणकी रीतियाँ और सोपान अलग-अलग रहे हैं। प्रथम वकील, पत्रकार आदि वुद्धिजीवी व्यवसायोंसे निर्मित मध्यम वर्गने १९वीं सदीके उत्तरार्द्धमें राजनीतिमें प्रवेश किया। वहुत समय तक इस वर्गने राजनीतिको अधिकांशत: नेतृत्व प्रदान किया है। दूसरा, १९२०में जव गांधीजीने सत्याग्रह शुरू किया, तव उसमें पहली ही वार किसान और कामदारोंने भाग लिया। इस प्रकार २०वीं सदीके आरम्भमें किसान-वर्ग राजनीतिकी ओर दौड़ा; खेड़ा सत्याग्रह, चम्पारन सत्याग्रह और वारडोली सत्याग्रहोंमें किसानोंने राजनीतिमें अपनी शक्तिका परिचय दिया। गांधीजीके आन्दोलनके साथ ग्रामविस्तारके समृद्ध किसानोंका प्रभाव राजनीतिमें वढ़ता गया। विशेषत: पंजाव, गुजरात, उत्तर प्रदेशके पश्चिमी भाग, आंध्रप्रदेशका कृष्णागोदावरीका मुखप्रदेश तथा मद्रास—इन प्रदेशोंके किसान समृद्ध और पानीदार हैं। इन प्रदेशोंके किसानोंने राजनीतिमें प्रमुख भाग लिया। पंजाव और उत्तर प्रदेशके जाट किसान, गुजरातके पाटीदार, आंध्रके रेड्डी—ये सव इन नए समृद्ध ग्रामीण विशिष्ट वर्गके उदाहरण हैं। तीसरा, इनकी तुलनामें खेत-मजदूरोंका राजनीति पर प्रभाव सीमित और सीमावर्ती रहा है। छुटपुट प्रसंगों या विस्तारोंके अलावा खेत-मजदूर राजनीतिक प्रभाव नहीं डाल सके। चौथा, औद्योगिक कामदारोंका वर्ग भी १९२०से राजनीतिमें खिंचा है। शुरुसे ही औद्योगिक

कामदारोंके वर्गका विभाजन हो गया है। कांग्रेस, समाजवादी पक्ष, साम्यवादी पक्षके वर्चस्वमें अलग-अलग मजदूर संगठन रचे गए हैं। इस प्रकार औद्योगिक कामदारोंका वर्ग राजनीतिमें लौट-फेरकर भाग ले रहा है। परिणामतः यह विभिन्न राजनीतिक दलोंमें विभाजित हो गया है। पाँचवाँ, व्यापारी और उद्योगपति सामान्यतः सक्रिय राजनीतिसे अलग रहे हैं। आज़ादीकी लड़ाईके समय भी यह वर्ग सक्रिय राजनीतिसे अलग रहा था। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलनकी ओर इनके बड़े भागने सहानुभूति दिखायी थी और आर्थिक सहायता भी दी थी। स्वतंत्रता मिलनेके बाद भी इस वर्गने प्रच्छन्न सहानुभूति, आर्थिक मदद और व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा राजनीति पर असर डालनेकी अपनी नीति चालू रखी। मात्र पिछले चुनावमें कुछ व्यापारी और उद्योगपतियोंने प्रत्यक्ष राजनीतिमें भाग लिया। इस तरह भारतीय समाजके विविध वर्ग धीरे-धीरे कम या अधिक मात्रामें राजनीतिमें ओतप्रोत होते गए।

इन विविध आर्थिक वर्गोंके राजनीतिक प्रभावमें घटबढ़ होती रहती है। इस दृष्टिसे संसदके सदस्योंका धंधाकीय वर्गीकरण करें तो इस वर्गके प्रभावकी चढ़-उतरका पता चल सकता है। पिछले दो दशकोंमें वकीलोंका प्रतिनिधित्व ३५·६ प्रतिशतसे घटकर १७·६ प्रतिशत रह गया है; उसी प्रकार शिक्षक, डाक्टर, पत्रकार जैसे अन्य बुद्धिजीवी व्यवसायोंका प्रतिनिधित्व भी घटा है। स्वराज्य-प्राप्तिके बाद राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ताओंका प्रतिनिधित्व बढ़ा है; उसी प्रकार राजाओंका प्रतिनिधित्व भी कम हुआ है। सभी वर्गोंमें सबसे अधिक प्रतिनिधित्व किसान वर्गका रहा है। यह ठीक है कि उसकी आबादीके अनुपातमें यह प्रतिनिधित्व अच्छा-खासा कम है।

इस प्रकार समाज-जीवनके विविध आर्थिक वर्गोंका प्रतिबिंब कम या ज्यादा मात्रामें राजनीति पर पड़ा है। इन विविध वर्गोंके हितों और उनके समन्वय संघर्षसे राजनीतिक स्पर्धाकी रीति प्रभाव ग्रहण करती है।

सैद्धान्तिक विचारधाराएँ और सांस्कृतिक मूल्य तथा दृष्टिकोण—ये किसी भी राजनीतिके निर्माणमें केन्द्रवर्ती परिबल हैं। दूसरे परिबलोंकी तुलनामें ऐसे सैद्धांतिक और सांस्कृतिक परिबल अमूर्त होते हैं; परन्तु इसके कारण उनकी असरकारकताको कम माननेकी भूल नहीं करनी चाहिए। समाजमें प्रवर्तमान विचारधाराएँ और समाजके बड़े भागकी राजनीति, सत्ता और सरकार विषयक दृष्टिकोणको ध्यानमें रखे बिना किसी राष्ट्रकी राजनीतिका स्पष्ट पता नहीं चल सकता।

भारतकी राजनीतिको गढ़नेवाली सबसे प्रबल विचारधारा राष्ट्रवादकी है। कन्याकुमारीसे काश्मीर तकके भारतकी सांस्कृतिक इकाईकी धारणा प्राचीन युगमें भी देखनेको मिलती है। कितने ही राष्ट्रभावनाके द्योतक अवतरण साहित्यमें मिलते हैं। परन्तु प्रजाके विशाल वर्गमें राष्ट्रके प्रति एकात्मता और भक्तिभावकी उत्कट मात्राके स्वरूपको यदि हम देखें तो भारतमें राष्ट्रवाद अर्वाचीन युगका परिबल है। १९वीं सदीमें पश्चिमी संस्कृतिके और उसके उत्तरस्वरूप भारतीय प्रत्याघातोंके समन्वयसे राष्ट्रवादका जन्म हुआ है। यह राष्ट्रवाद एक तरफ आत्मसुधारके लिए तो दूसरी तरफ आत्मस्वातंत्र्यके लिए संघर्षशील रहा है। भारतके मुक्ति-संग्रामके विविध सोपानों द्वारा भारतीय राष्ट्रवादका विकास हुआ है। भारतीय राष्ट्रवाद संकुचित नहीं बना। राष्ट्रवादके साथ-साथ वसुधैव कुटुम्बकम् और विश्व-व्यवस्थाके आदर्श भी विकसित किए गए हैं। दूसरे विश्व-युद्धके बाद विश्वमें विकसनशील अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाके अंगभूत और पूरक बननेमें भारतीय राष्ट्र-

वादने अपनी परिपूर्णता अनुभव की है। अधिकमें कहें तो भारतीय समाजकी कमियोंको सुधारनेका काम भी हमारे राष्ट्रवादका भाग बन गया है। सामाजिक सुधार, आर्थिक प्रगति, सामाजिक और आर्थिक अन्यायोंके विरुद्ध आन्दोलन—ये सब भारतीय राष्ट्रवादके भाग बन गए हैं; और उसके द्वारा वे भारतीय राष्ट्रवादको समाजकी आवश्यकताओं और कमियोंको लेकर संज्ञानी और सजग बनाते हैं।

राष्ट्रवादके अलावा दूसरी सैद्धांतिक विचारधाराएँ भारतीय राजनीतिमें असरकारक रही हैं: रूढ़िवाद (Conservatism), उदारवाद (Liberalism), समाजवाद (Socialism) और साम्यवाद (Communism)। भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागृतिके कारण राष्ट्राभिमान और ऐतिहासिक उत्तराधिकार विषयक संज्ञानताको गति मिली है। इसके कारण सांस्कृतिक पुनरुत्थान-वाद (Cultural revivalism) और रूढ़िवादकी विचारधारा विकसित हुई है। दूसरी तरफ पश्चिमी शिक्षाके कारण यूरोपके और इंग्लैण्डके बौद्धिक जीवनसे उदारवादकी विचारधारा राष्ट्रीय नेतृत्वके बड़े भागमें गहरे उतर गई है। १९२०के बाद फेबियन समाजवादके प्रभावमें समाजवादी और रशियन क्रान्तिके प्रभावमें साम्यवादी विचारधाराएँ भारतमें आई। इन चार विचारधाराओंका प्रभाव भारतीय राजनीति पर उल्लेखनीय रहा है। वर्तमान राजनीतिक दलोंको इन चार विचारधाराओंके संदर्भमें अर्थपूर्ण ढंगसे मूल्यांकित किया जा सकता है। आज तो इन चार विचारधाराओंके अनुयायियोंके आपसी सैद्धांतिक मंथनसे राजनीतिका स्वरूप घड़ा जा रहा है।

भारतीय राजनीतिको बनानेवाली विचारधाराओंमें गांधीवादका समावेश नहीं किया गया है। तो भी उसका भारतीय राजनीति पर प्रगाढ़ असर है। गांधीवाद विचारधाराकी अपेक्षा एक समग्र जीवन-दर्शन है। उसका असर इतना व्यापक और सर्वस्वीकृत है कि कोई भी राजनीतिक परिबल उससे मुक्त या अस्पृष्ट नही है।

सैद्धांतिक विचारधाराओंके अलावा सांस्कृतिक मूल्य और दृष्टिकोण भी राजनीति पर असर डालते हैं। राजनीति, सत्ता या राज्य विषयक समाजके सांस्कृतिक मूल्य और मानसिक दृष्टिकोणको राजनीतिशास्त्रकी परिभाषामें राजनीतिक संस्कृति कहा गया है। भारतकी राज-नीतिक संस्कृति विषयक अभी तक गंभीर और शास्त्रीय अध्ययन नही हुआ है। परिणामतः ऐसे अध्ययनके अभावमें भारतीय जीवनके अवलोकनसे थोड़े मुद्दे उल्लिखित कर संतोष किया जा सकता है।

प्रथम, सरकारकी असरकारकता उसकी लोकस्वीकृति (legitimacy) की मुख्य चाबी रही है। जो सरकार सबल तंत्र खड़ा कर सकेगी तथा कानून और व्यवस्था बनाए रख सकेगी, वह सरलतासे लोगोंका आदर प्राप्त करनेमें सफल होगी। इस प्रकार सरकारकी असरकारकता लोकमानसमें उसे स्वीकार्य और न्यायी सिद्ध करनेमें बहुत बड़ा भाग अदा करती है। भारत जैसे विशाल राज्यमें अप्रभावशाली सरकार अथवा राजकीय एकताके अभावसे उत्पन्न अंधाधुंधीके परिणाम इतने गंभीर रहे हैं कि उसके संदर्भमें असरकारक सरकार बनानेकी तीव्र इच्छाको समझा जा सकता है।

दूसरा, भारतीय समाजमें मात्र सत्ता आदरकी पात्र नहीं बनती। सत्तामें नीतिके मेलसे

ही वह भारतीय नज़रोंमें स्वीकार्य बनती है। इस तरह सत्ताको स्वीकार्य बनानेके लिए नीतिमत्ताको अपनाना पड़ेगा और नैतिक मूल्योंके अधीन रहना पड़ेगा। सत्ता और नतिक मूल्योंमें समन्वय स्थापित करनेवाले अशोक और अकबर-से राजाओंको भारतमें वीरोंकी भाँति सम्मान दिया गया है। सत्ताधारी या राजा मात्र राजा ही नहीं होता, वह रार्जाप भी होता है। भारतीय समाज उक्त अपेक्षा राजासे करता है। इस प्रकार भारतमें सत्ताने कभी भी नैतिक मूल्य प्राप्त नहीं किया है। 'सत्ता', 'सत्ताकी राजनीति', 'सत्ताके लिए तीव्र लालसा'—ये सभी शब्द निंदनीय रहे हैं। सत्ताके प्रति यह नकारात्मक दृष्टि भारतीय राजनीतिकी कमजोर कड़ी है। इसके कारण सत्ता और सत्ता-राजनीतिके स्वरूप और संश्लिष्टता विषयक भारतका ज्ञान उथला और नकारात्मक रहा है। राजनीतिमें सत्ताके तत्त्वके विषयमें घृणा और नीतिके तत्त्वकी असरकारकताके विषयमें श्रद्धा—इन दोनों अतिशयोक्तियोंने भारतीय राजनीतिमें उल्लेखनीय विकृतियोंका निर्माण किया है।

तीसरा, प्रजाकी नीतिमय सत्ताके प्रति ऐसी अपेक्षामेंसे राजनीतिकी संत शैलीका विकास हुआ है। भारतमें यह दृष्टि प्रबल रही है कि सत्ता पर आसीन होनेवाला व्यक्ति सादा और संयमी होना चाहिए। सत्ता और समृद्धिका खुला और अमर्यादित उपयोग भारतमें घृणास्पद रहा है। परिणामतः सत्ता और समृद्धि पसंद होने पर भी बाहरसे तो बातें उपेक्षाकी ही करनी पड़ती हैं। इस प्रकार सार्वजनिक जीवनमें काम करनेवाले कार्यकर्ताओंके लिए व्यक्तिगत जीवनमें सादगी और संयमकी अपेक्षा रहती है। फलतः नेताओंको सादा जीवन अपनाना पड़ता है। इस प्रकार समृद्धि और सत्ताके लिए संघर्ष और सादायी और सेवाकी बातें—वाणी और व्यवहारके बीचका अन्तर भारतीय जीवनमें देखनेको मिलनेवाली विशिष्ट घटना है। इस कारण जब राजनीति और संतशैली (Saintly style)का मेल होता है, तब वह भारतमें खूब प्रभावशाली सिद्ध होती है। गांधीजी, विनोबा, जयप्रकाश, राजाजी जैसे व्यक्तियोंके प्रभावका मुख्य कारण उनकी यह संतशैली ही रही है।

चौथा, भारतमें जीवनके प्रति अप्रतिम आदर दिखाई देता है। वनस्पति, प्राणी या मानव-जीवनको दुःख या हानि न पहुँचानेकी रीतिसे व्यवहार करना भारतीय संस्कृतिका अग्रिम मूल्य है। प्रत्येक प्रकारके जीवनके प्रति करुणा दिखानेकी परम्परा भारतमें युगों पुरानी है। इस परम्परासे हिंसाके प्रति अरुचि और अहिंसाकी परम्परा खड़ी हुई है। गांधीजीके प्रभावमें अहिंसाकी परम्परा अधिक दृढ़ और प्रभावशाली बनी है। शस्त्रोंको छोड़नेवाले और सैनिक विजयकी निरर्थकताको समझनेवाले अशोकके चक्रको हमने अपने ध्वज पर जो स्थान दिया है, वह इसी बातका सूचक है।

पाँचवाँ, भारतीय दर्शनमें हमेशा धर्मयुद्धके आवेश या तीव्रताका सदा अभाव रहा है। एक ओर सम्पूर्ण सत्य और दूसरी ओर सम्पूर्ण असत्यके समान प्रकाश और अंधकारके परिबलोंके युद्धकी कल्पना अनेक संस्कृतियोंमें दिखाई देती है। जीवन संघर्षोंसे सम्बद्ध भारतीय धारणा इससे थोड़ी अलग है और संकुल है। भारतीय दर्शनके अनुसार देवोंकी भी कुछ दुर्बलताएँ हैं, और चाहे कितना ही दानव हो, उनमें भी देवत्वका अंश छिपा हुआ रहता है। अतः सत्य या गुणका एकाधिकार किसी एक ही पक्षके पास नहीं हो सकता। चाहे कैसा भी दुष्ट व्यक्ति हो या दुष्ट परिबल

हों, उसमें सुधरनेकी संभावना निहित है। परिणामतः दानवकी अन्तरात्माको जाग्रत करनेके प्रयास स्वागतयोग्य हैं। भारतीय दर्शनके इस जीवन-दर्शनसे तीन मुख्य सांस्कृतिक दृष्टियाँ विकसित हुई है—परस्पर विरोधी पक्षोंमें किसी भी पक्षके पास सत्यका एकाधिकार नहीं होनेकी संभावना, इसके कारण विरोधी पक्षोंके प्रति सहिष्णुता, चाहे कितना भी दुष्ट हो उसकी अन्तरात्माको जाग्रत कर उसमें देवत्व प्रकट कर सकनेकी श्रद्धा भारतीय राजनीतिमें दिखायी देनेवाले दो विरोधी पक्षोंमें से किसी एक पक्षमें जुड़ जानेमें आनाकानी, संहारके बदलेमें सहिष्णुता और संघर्षके स्थान पर समझानेकी वृत्ति आदि ये सब सांस्कृतिक दृष्टियोंके परिपाक हैं।

छठा, भारतीय समाजका दूसरा मुख्य मूल्य सोपानिक तंत्ररचना है। विविध जातियोंको उच्च-नीचके क्रममें व्यवस्था देना तथा प्रत्येक जातिका सोपानिक परम्परामें अपने स्थानको स्वीकार करना—ये भारतीय समाज-जीवनके मुख्य लक्षण हैं। भारतमें जाति, कुटुम्ब या सार्वजनिक जीवनमें उच्च स्थान पर आसीन व्यक्तिके प्रति आदर और आज्ञाकारिताका भाव स्वाभाविक माना गया है। भारतीय परिभाषामें 'उचित व्यवहार' और 'बड़ोंका सम्मान' लगभग पर्याय बन गए हैं। 'बड़ोंको सम्मान दो' यह कहनेके स्थान पर 'उचित व्यवहार करना सीखो' हम अनेक बार कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सोपानिक व्यवस्थाका स्वीकार और बड़ोंको मान देना भारतीय जीवनके महत्वपूर्ण मूल्य हैं।

सातवाँ, भारतमें संघर्षके स्थान पर सर्वसम्मति अधिक इच्छनीय मानी गई है। प्रजाकी यह अपेक्षा रहती है कि संघर्ष-निवारण और सर्वसम्मति तैयार करनेके लिए सतत प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। सर्वसम्मति विषयक यह इच्छा इतनी तीव्र है कि अनेक बार संघर्षकी अनिवार्यता होने पर भी सर्वसम्मतिका ढोंग करना पड़ता है। अतः संघर्षकी राजनीति भी सर्वसम्मतिकी भाषामें खेलती रहती है।

आठवाँ, नेतृत्व विषयक भारतीय धारणा पश्चिमी धारणासे अलग है। यह मान्यता है कि भारतमें नेतृत्व समष्टिगत और कर्तव्य प्रेरित होना चाहिए। समाजके थोड़ेसे गुटोंके लिए लड़नेवाले नेतृत्वकी धारणा भारतीय संस्कृतिमें अपरिचित है। समग्र समाजके लिए कर्तव्य भावनासे प्रेरित होकर काम करनेवाले नेतृत्व ही विशाल लोक-स्वीकृति प्राप्त करते हैं। किसी स्पष्ट गुट या हितोंके लिए लड़नेवाले नेतृत्वकी पश्चिमी धारणा अभी तक भारतमें मान्यता नहीं पा सकी है। गुटों पर आधारित और उनके हितोंके लिए लड़नेवाले नेतृत्वको लोकादरमें उच्च स्थान प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार नेतृत्वकी भारतीय धारणामें गुटोंके स्थान पर समष्टि और अधिकारके स्थान पर कर्त्तव्यको अधिक प्रधानता दी गई है।

नौवाँ, भारतीय जीवनमें परम्परा और यथास्थितिवादका खूब प्रभाव है। प्रणालीवाद या रूढ़िवाद समाज जीवनमें केन्द्रवर्ती स्थान धारण किए हुए है। जातिव्यवस्था, पूर्व जन्मके कर्मोंका सिद्धान्त, भाग्यवाद या नियतिवाद (Fatalism), सांस्कृतिक परम्पराका महत्त्व—ये सब यथास्थिति (Status-quo) और निष्क्रियताको प्रोत्साहन देते हैं। इस प्रकार समाज के अन्यायोंकी व्याख्या पूर्वजन्मके कर्मोंके नाम पर की जाती है और भाग्यवादके नाम पर व्यक्तिगत कार्यलालसाको ठण्डा कर दिया जाता है। इस तरह एक तरफ प्रणाली और परिवर्तन और दूसरी तरफ भाग्य और कर्मके संघर्षमें भारतीय मनका पल्ला प्रणाली और भाग्यके पक्षमें झुकता

रहा है। परन्तु पिछली सदीमें परिस्थितियोंमें तेज़ीसे परिवर्तन आया है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधीके प्रभावमें कर्मवादका प्रभाव बढ़ा है। सामाजिक अन्याय विषयक बढ़ रही संज्ञानता तथा संवेदना और अपने भाग्यको अपने हाथोंमें लेकर उसे सुधारनेकी तैयारी—इन दोनों दिशाओंमें पुराने मूल्य बदल रहे हैं, जो खूब आशास्पद चिह्न हैं।

भारतीय राजनीतिमें बन रहीं सांस्कृतिक दृष्टियों और मूल्य विषयक ये थोड़े मुद्दे भारतीय राजनीतिके सांस्कृतिक आधारको स्पष्ट करते हैं। भारतकी राजनीतिक संस्कृतिके स्वरूप और लक्षण विषयक शास्त्रीय विधानोंके रूपमें नहीं, परन्तु तद्विषयक चर्चा और शोधके लिए तदर्थ प्रमेयों (adhoc premises)के रूपमें ये मुद्दे उल्लिखित किए गए हैं। राजनीति और समाजके सांस्कृतिक परिनिवेश (Cultural environment)के बीच सम्बन्ध जीवन्त और गतिशील हैं। सांस्कृतिक दृष्टियों, सामाजिक मूल्यों और कार्यशैलीकी परम्परा आदिके प्रभावमें राष्ट्रका राजनीतिक व्यक्तित्व आकार ग्रहण करता है।

सरदार वल्लभभाई पटेल

स्व० मौलाना अबुल कलाम आजाद

स्व० पं० गोविन्दवल्लभ पंत

श्री मोरारजी देसाई

मु० शेख अब्दुल्ला

३ : देसी राज्य – विलीनीकरण

(पूर्वभूमिका)

हम पहले देख आए हैं कि भारतमें संघीय तंत्रका विचार मॉन्टफर्ड सुधार (१९१९)के समयसे धीरे-धीरे रूप लेने लगा था। उसमें सब लोगोंकी भाँति देसी राज्योंके राजा भी, चाहे-अनचाहे, फँसते गए। मॉन्टफर्ड सुधारमें राजाओं तथा वायसरायके बीच स्पष्ट कड़ी सूचित की गई थी। साथ ही साथ यह भी ख्याल रखा गया था कि भविष्यमें लोगोंके द्वारा चुनी गई ब्रिटिश प्रान्तोंकी प्रान्तीय सरकारोंके हाथोंमें देसी राज्योंकी सत्ता न चली जाय। परन्तु देसी राज्यों और ब्रिटिश प्रान्तोंके बीच प्रशासनिक सम्बन्ध विषयक साझेदारीसे भरे हुए किसी तंत्रकी जरूरत महसूस हुई। अनेक लेखकोंकी यह मान्यता है कि ब्रिटिश भारत और देसी राज्योंके बीच संयुक्त जिम्मेदारीके बीज ब्रिटिशरोंकी इस इच्छामें वर्त्तमान थे कि पोस्ट, तार, रेलवे आदि विषयक विचारणा केवल ब्रिटिश भारतका ही सिरदर्द न हो; अपितु यह काम किसी संयुक्त कमेटी द्वारा हो।

देसी राज्योंकी ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध शिकायत थी कि उनके विदेशी और राजकीय विभागोंकी ओरसे देसी राज्योंकी छोटी-मोटी सभी आन्तरिक बातोंमें दखल दिया जाता है। यह बात देसी राज्योंके ब्रिटिश ताजके साथ हुए अनुबन्धके अनुसार उचित नहीं थी। अतः देसी राज्यों-की ओरसे ब्रिटिश ताजकी परमाधिकार सत्ता विषयक अधिक स्पष्टता करवानेके प्रयत्न चल रहे थे। हैदराबादके निज़ामने तो यही आग्रह किया था कि भारतकी ब्रिटिश सरकार और देसी राज्य दोनों ही समान हैं और समान माने जाने चाहिएँ। ब्रिटिश सरकार इस बातको स्पष्ट करना सदैव टालती जाती थी। परन्तु लार्ड रीडिंगने १९२६में जो पत्र निज़ामको लिखा था, उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि परमाधिकारी ब्रिटिश ताजके प्रतिनिधिके रूपमें भारतकी ब्रिटिश सरकार केवल विदेश-सम्बन्धों जैसी विशेष बातोंमें ही नहीं; अपितु आन्तरिक बातोंमें भी दख़ल देनेकी पूरी सत्ता रखती है।...राजा लोग आन्तरिक सुरक्षा भोग रहे हैं वह भी आख़िरमें तो ब्रिटिश सरकारके कारण ही है। ...राजा लोग जिस विविध स्तरके सार्वभौमत्वका उपभोग कर रहे है, वह परमाधिकारी सत्ताके अधीन है। यह दूसरी बात है कि लार्ड रीडिंगके बाद लार्ड इरविन (१९२६-३१)के वायसरायके रूपमें आने पर ब्रिटिश-वाणीमें थोड़ा हेरफेर हो गया, परन्तु मूलभूत नीतिमें कोई अन्तर नहीं आया।

वास्तवमें, देसी राज्योंका उदर-शूल मात्र ब्रिटेनकी परमाधिकार सत्ता तक ही सीमित नहीं था। सही दर्द तो इस बातका था कि वे यह प्रत्याभूति चाहते थे कि निकट भविष्यमें अर्थात् १९२९में रॉयल कमीशनकी रिपोर्ट प्रकाशित होते ही ब्रिटिश प्रान्तोंको स्वशासन (Self Government) अधिकार दे दिए जाने पर भी देसी राज्योंकी स्थितिमें कोई आँच नहीं आयेगी। इसे लेकर बटलर

कमेटीकी नियुक्ति हुई और राजाओंके चेम्बरकी तरफसे यह जोर-दार दलील दी गई कि देसी राजाओंने जिन अधिकारोंको अनुबन्धमें ताजको सौंप दिया है, उनको छोड़ उनके अलावा शेष सभी बातोंमें देसी राज्य सम्पूर्ण सत्ताधारी हैं। ताजकी ओरसे राज्योंकी मूलभूत वफादारी किसी तीसरे पक्षके हवाले नहीं की जा सकती। परन्तु बटलर कमेटीने अपनी रिपोर्टमें (१९२९) इस दलीलको जड़मूलसे ही उड़ा दिया कि देसी राज्य 'सम्पत्ति' और 'करार' के आधार पर समान पक्षोंके रूपमें ताजसे संयुक्त हैं। उसने तो यह भी स्पष्ट कर दिया कि जब ब्रिटिश शासनका भारतमें आरंभ हुआ, उस समय किसी भी देसी राज्यका अन्तर्राष्ट्रीय 'स्टेटस' नहीं था। बटलर कमेटीने तो सौ बरस पहले हुए करारकी कीमत 'कौड़ीकी भी नहीं' कह कर यह घोषित कर दिया कि परमाधिकार तो बदलते हुए परिप्रेक्ष्यमें विकसित होते हुए संबंधों का अन्तिम परिणाम है और शाही हेतुओंके लिए अथवा भारत सरकार या देसी राज्योंके हितमें, आवश्यकता पड़ने पर, अनुबन्धोंको किनारे रखकर परमाधिकारको व्यवहार करना पड़ता है। साथ ही उसने इस बातका समर्थन भी किया कि भारतमें भारतीय संसदके प्रति उत्तरदायी सरकार आने पर राज्योंको उनकी सम्मतिके बिना उसके हवाले नहीं किया जायगा। परन्तु भारतका वायसराय ब्रिटिश ताजके एजेन्टके रूपमें तथा ब्रिटिश अधिकृत प्रदेशोंके गवर्नर जनरलके रूपमें दोहरी सत्ता धारण करेगा। कमेटीने 'भारत एक है' यह न मानकर ब्रिटिश भारत और देसी राज्योंका भारत जैसे दो अलग भारत होनेकी बात मानकर दोनोंकी अनेक समस्याओंके निराकरणका रास्ता दोनोंके सहभागी समवाय संघमें निहित होना बतलाया।

देसी राज्योंको परमाधिकार विषयक बातसे संतोष न हुआ और यह कहकर कि कमेटीकी रिपोर्ट किसी पंचका निर्णय नहीं है, अपनी बात कहना जारी रखा। दूसरी तरफ 'स्वायत्तता धारण करनेवाले देसी राज्यों' और 'स्वशासन रखनेवाले ब्रिटिश हिन्द'—दोनोंने ब्रिटिश ताजकी छत्रछायामें समवाय रूपमें जुड़नेकी बटलर कमेटीकी सलाहका स्वागत किया।

१९२९के अन्तमें यह घोषणा की गई कि १९३०में गोलमेज़ परिषद्में देसी राज्य, ब्रिटिश हिन्द और ब्रिटिश सरकार—इस प्रकार तीन पक्षोंको आमंत्रण दिया जायगा। इससे देसी राज्योंको प्रसन्नता हुई; परन्तु वास्तवमें सायमन कमीशन और बटलर रिपोर्टकी सिफारिशोंके बाद अपने अधिकारोंके विषयमें उनमें घबराहट फैल गई थी। इसकी अपेक्षा तो उन्हें समान कक्षा पर समवाय तंत्रमें जुड़ना अधिक आसान और अच्छा लगा। इस व्यवस्थामें अपनी आन्तरिक स्वायत्तता तो सुरक्षित रहनेकी संभावना थी ही, परन्तु बहुतसे देसी राज्य यह भी मानने लगे कि एक बार ब्रिटिश हिन्दको 'स्वशासन' मिलने पर 'समवाय' स्वीकार करनेमें सौदा शायद लाभप्रद न भी रहे। अतः पहलेसे ही तैयारी कर लेना अच्छा। उनकी शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार समवाय सरकारको इस प्रकारकी सत्ताएँ सौंपे, जिससे देसी राज्योंके आन्तरिक बाबतोंमें—उनके उत्तराधिकार सहित—जरा भी आँच न आए।

दूसरी तरफ ब्रिटिश प्रान्तोंके नेताओंकी नियुक्त ऑल पार्टीज़ कमेटीने (१९२८) तथा गोलमेज परिषद्के लिए देसी राज्योंके प्रतिनिधियोंने (१९३०) सैद्धान्तिक रूपमें समवायको स्वीकार कर लिया था। इसके अलावा भारतकी ब्रिटिश नौकरशाहीमें भी समवायके लिए इतना उत्साह था कि संघकी केन्द्र सरकारमें राष्ट्रवादियोंके सामने अगर ब्रिटिश वफादारी वाले राज्यों-

को रखा जाय तो पलड़ा बराबर रहेगा। पहले प्रकरणमें हम देख आए हैं कि मुस्लिम लीगने भी अपने कौमी हित-हेतुओंको ध्यानमें रखकर अलग मुस्लिम कॉन्फेडरेशन द्वारा भारतीय फेडरेशनमें संयुक्त होनेकी सम्मति दे दी थी। ब्रिटिश हितोंके लिए यह बात भी अनुकूल थी। परन्तु ब्रिटिश भारतके मुख्य राजनीतिक पक्ष और गैरमुस्लिम तत्वोंने मजबूत प्रजातंत्रकी दृष्टिसे ही समवायको स्वीकार किया था। यह सब देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समवाय विषयक सम्मति रूपी एकता पतले तंतुओंसे बनी हुई थी।

१९३०के नवम्बरमें जब लंदनमें प्रथम गोलमेज परिषद् हुई, उस समय उपस्थित विनीत नेता सर तेज बहादुर सप्रूने भी सभी रूपोंमें समवायको भारतके हितमें मानकर उसका स्वागत किया था। परन्तु देसी राज्योंकी प्रजाको बिल्कुल प्रतिनिधित्व न मिलनेके कारण कांग्रेस अनुपस्थित रही थी। परिणामतः बहुत-सी चर्चा-विचारणा करनेके बाद भी कोई निर्णय लेना संभव न हो सका। इसके बाद दूसरी गोलमेज परिषद् (१९३१ सितम्बर)में अकेले गांधीजी ही कांग्रेसके प्रतिनिधिके रूपमें उपस्थित रहे थे। परन्तु देसी राज्योंके प्रतिनिधियोंके विषयमें तथा ब्रिटिश हिन्दके दलोंके बीच भी कौमी समस्याको लेकर एकमतता न होनेके कारण और समवाय संसदके अधिकार व स्वरूप विषयक भी मतभेद चालू रहनेके कारण वह परिषद् भी अकारथ गई। बादमें, १९३२में तीसरी गोलमेज परिषद् हुई। उस समय कांग्रेसके सभी नेता जेलमें थे। फिर भी, देसी राज्योंकी समवायमें मिलनेकी संभावित रीतिको लेकर बड़ी महत्वपूर्ण बातों पर चर्चा हुई और १९३३के मार्चमें ब्रिटिश सरकारने एक श्वेतपत्र (white paper) प्रकाशित किया; जिसके अनुसार देसी राज्य समवायके अधिकारमें जिन सत्ताओंको स्वेच्छया सौंपे, उन्हें छोड़कर शेष सभी बातोंमें उनके स्वायत्त अधिकार कायम रहेंगे। इस समयावधिमें देसी राज्योंके अन्दर हिन्दू-गुट और मुस्लिम-गुटके कॉन्फेडरेशनका विचार भी अच्छी मात्रामें जग गया था। इन सब उलझनोंके बीच १९३५की २७वीं अगस्तको एक नए एक्टके रूपमें नया धड़ाका हुआ।

१९३५के इस एक्टमें यह योजना प्रस्तुत की गई थी कि राजाओंकी प्रजा नहीं, पर राजा अगर चाहें तभी समवायतंत्रकी रचना संभव हो सकती है। इस एक्टके अनुसार देसी राज्योंकी कुल आबादी भारतकी आबादीकी एक चौथाई होते हुए भी उनको लोकसभा (House of Assembly)में ३७५में से १२५ बैठकें और राज्यसभा (Council of States)में २६०में से १०४ बैठकें दी गई थीं। ताजके अधिकारोंको दो भागोंमें बाँट दिया गया था। ब्रिटिश भारत और समवाय विषयक अधिकार गवर्नर जनरल के अधीन और राज्योंकी परमाधिकार विषयक बातें वायसरायके अधीन सौंप देनेका विचार था। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया था कि इन दोनोंके अधिकारोंको धारण करनेवाला व्यक्ति एक भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी उलझन भी एक्टमें मौजूद थी: समवायमें ब्रिटिश प्रान्तोंके प्रति समवायके अधिकार बहुत ज्यादा और एक समान थे, जबकि देसी राज्यों पर उसके अधिकार सीमित और विविध प्रकारके थे। प्रान्तोंके लिए समवायमें प्रवेश स्वयमेव था और समवाय सत्ताका अवकाश, एक्टके अनुसार, निश्चित था; जबकि देसी राज्योंके बारेमें समवाय सत्ताका अवकाश प्रत्येक राजाके विलीनानुबन्ध (Instrument of Accession)की सीमामें था। संक्षेपमें, समवायका कोई भी सिद्धान्त शायद ही इसमें रखा गया हो। एक ब्रिटिश अधिकारीने इसे 'तेलके साथ पानीकी मिलावट' बताया था।

देसी राज्य

[आबादी और संविधान परिषद्में प्रतिनिधित्व]

राज्य	आबादी	संविधान परिषद्में बैठकें
हैदराबाद	१,६३,३०,०००	१६
मैसूर	७०,३२,०००	७
काश्मीर	४०,०२,०००	४
ग्वालियर	४०,००,०००	४
वड़ौदा	२०,८५,०००	३
त्रावणकोर	६०,०७,०००	६
कोचीन	१०,४२,०००	१
उदयपुर	१०,९२,०००	२
जयपुर	३०,०४,०००	३
जोधपुर	२०,५५,०००	३
बीकानेर	१०,२९,०००	१
इन्दौर	१०,५१,०००	१
रेवा	१०,८२,०००	२
कोल्हापुर	१०,०९,०००	१
पटियाला	१०,९३,०००	२
भागलपुर	१०,३४,०००	१
अलवर	८,२०,०००	१
कोटा	७,७०,०००	१
भोपाल	७,८०,०००	१
मयूरभंज	९,९०,०००	१
छोटे राज्य	आबादी	
१ राज्य	२,५०,०००	३२
१ "	१,२०,०००	
२ "	९,२०,०००	
३ "	४,९०,०००	
१३ "	२७,५०,०००	
२५ "	३०,०१,०००	
२९ "	५२,३०,०००	
१५ "	१६,६०,०००	
१३ "	२८,३०,०००	
३ "	१६,६०,०००	
२३ "	६१,३०,०००	
कुल आबादी	८,९८,००,०००	
कुल बैठकें		९३

२२ जनवरी, १९४७को संविधान सभाने उद्देश्योंसे सम्बद्ध प्रस्ताव पारित करते हुए घोषित किया था :

"भारत स्वतंत्र सार्वभौमत्व गणतंत्र होगा, जिसके अन्दर प्रदेश शेष सत्ताओंके साथ स्वायत्त इकाइयोंका दर्जा धारण करेंगे और उसे बनाए रखेंगे, तथा सरकार और प्रशासनकी सभी सत्ताएँ और उनके कार्य—जिन सत्ताओं और कार्योंको संघ (केन्द्र) के अधिकारमें सौंप दिया गया होगा अथवा संघमें जिन सत्ताओं और कार्योंका सन्निवेश हुआ होगा और जो अभिप्रेत होंगे, उन्हें छोड़ कर सभी सत्ताओं और कार्योंका उपयोग करेगा।"

"केन्द्र सरकार के अधिकारान्तर्गत प्रान्तीय सरकारोंकी तावेदारी नहीं, अपितु सभीके प्रतिनिधित्ववाली समभावी सरकार होगी।"

इसके बाद १९३६में लार्ड लिनलियगोने वायसरायके रूपमें भारतमें आकर समवाय स्थापनाके बारेमें नया रुख अख्तियार किया। परन्तु दोनों पक्षोंमेंसे किसी एक पक्षको भी संतोष न हुआ। देसी राज्य अपने भारण (weightage) पर तुले हुए थे; कांग्रेस इसमें प्रजातंत्रका और समवायका सत्यानाश देखती थी। ये दो वर्ष बेकार बीत गए। सन् १९३९में वायसरायने कितने ही सुधार सूचित किए, परंतु उसके इस दिशामें आगे बढ़नेके पूर्व ही द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया और सभी बातचीत पर पर्दा गिर गया।

१९३५से १९३९के समयके बीच देसी राज्योंमें जबर्दस्त आन्दोलन जग उठे। अखिल भारत देसी राज्य प्रजा परिषद् (All India States Peoples Conference)को कांग्रेसी नेताओंका, आरम्भमें नैतिक व व्यक्तिगत और बादमें संगठित और राजनीतिक समर्थन प्राप्त था।

१९३५के एक्टके अनुसार कांग्रेसने प्रान्तीय स्वायत्तताको स्वीकार कर अनेक प्रान्तोंमें सत्ता पर अधिकार कर केन्द्रमें प्रवेश किया। इसका देसी राज्योंकी प्रजा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इन आन्दोलनोंसे राजा चौंक उठे। आरम्भमें उन्होंने इस आन्दोलनको कुचल डालनेके मनसूबे बांधे। राजकोट, जयपुर और मैसूर जैसे राजाओंने नेतृत्व सम्हाला; किन्तु वे असफल रहे और प्रजाकी शक्तिके सामने उन्हें झुकना पड़ा। हाँ, राजकोटमें गांधीजी स्वयं बीचमें पड़े और समस्याका हल निकालनेका प्रयत्न किया। जोधपुर, उदयपुर, रतलाम आदिके राजाओंने दमनकी राह पर अन्धे होकर दौड़ना आरम्भ कर दिया। लीमड़ी इसमें अपनी सीमा तोड़ गई।

दूसरी तरफ काश्मीर, त्रावणकोर और हैदराबाद जैसे बड़े राज्योंने समवाय और प्रजातंत्रके विरुद्ध सम्पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करनेका रास्ता पकड़ा। परन्तु कुछ ही महीनोंमें वातावरण बदलने लगा। एक तरफ राजाओंने भीत पर लिखे शब्दोंको पहचानकर अपना रुख बदला और दूसरी तरफ, पोलिटिकल डिपार्टमेण्टकी मददसे परिस्थितियों पर काबू पानेके व्यूह रचे गए। उन्होंने यह घोषणा भी की: 'अगर पहलेसे यह खबर होती कि समवायमें जुड़नेकी पूर्वशर्त राज्यकी प्रजाको पूर्ण अथवा आंशिक उत्तरदायी सरकार प्रदान करना है, तो समवायका विचार व्यावहारिक विचारणा तक पहुँचा ही न होता। तत्काल और त्वरित उत्तरदायी सरकारकी तथा समवायी लोकसभाके प्रतिनिधित्वके मामलोंमें केवल कांग्रेसकी मुन्सिफी देसी राज्यों पर लादी नहीं जा सकती।' इस प्रकार अपने क्रोधके उफानको निकालकर उन्होंने उसी ब्रिटिश सरकारकी तरफ, जिसके सामने परमाधिकारके प्रश्नको लेकर नाटक रचा था, नैतिक और ठोस मददके लिए याचना-दृष्टि डाली। ब्रिटिश पार्लियामेण्टमें इसकी अनुकूल प्रतिध्वनि हुई। यह आश्वासन भी दिया गया कि हिंसा और अंधाधुंधीके विरुद्ध राजाओंकी रक्षा करनेके लिए ब्रिटिश सरकार (परमाधिकारी सत्ता) दौड़ी आयेगी। दूसरी ओर आंध्र जैसे राज्योंने स्वेच्छासे अपनी प्रजाको बहुत ही उदार सुधार दिए। इसका प्रस्ताव तैयार करनेमें गांधीजीने मुख्य भूमिका निभायी थी। इसके विरुद्ध ब्रिटिश सरकारने यह घोषणा की थी कि अगर किसी भी राज्यने, प्राप्त सत्ताके बाहर जाकर, प्रजाको सुधार दिए या अपनी प्रभावशाली सत्ताका त्याग किया; तो परमाधिकार सत्ता बीचमें आए बिना नहीं रहेगी। संक्षेपमें, रजवाड़ोंको अपने अधिकारमें रखकर उनका उपयोग परमाधिकार सत्ता प्रजाकी प्रगतिके विरुद्ध करनेवाली थी।

स्वभावतः कांग्रेसका दृष्टिकोण दृढ़ हुआ। उसने ऐसे किसी भी प्रकारके समवायको स्वीकार

करनेमें इन्कार कर दिया, जिसमें देसी राज्योंकी प्रजा ब्रिटिश प्रान्तोंकी भाँति प्रजातांत्रिक अधिकारों-के साथ मुक्त रूपसे सहभागी नहीं बनेगी।

१९३८के अन्ततक तो गांधीजीकी दृष्टि भी बहुत अधिक बदल गई थी। उन्होंने 'हरिजन' (दिसम्बर १९३८)में स्पष्ट कह दिया था कि 'देसी राज्योंमें जो अन्याय हो रहे हैं, उन्हें देखकर देसी राज्योंके मामलोंमें सीधे दखल न देनेकी पुरानी नीतिको बनाए रखना मेरे लिए अब असंभव हो गया है। अगर कांग्रेसको यह लगे कि वह प्रभावशाली ढंगसे दखल देनेके लिए शक्तिमान् बन गई है, तो ऐसा करना उसका कर्त्तव्य है।' उन्होंने आगे चलकर यह स्पष्ट किया कि 'देसी राज्योंकी प्रजा जबतक पूरी जाग्रत नहीं होती, तबतक दखल न देनेकी कांग्रेसी नीति राजनीतिक कुशलताकी दृष्टिसे आवश्यक थी। अब जबकि देसी राज्योंकी प्रजामें चारों ओरसे जागृति आ गई है और दुःख सहन कर न्यायकी लड़ाई लड़नेके लिए आगे बढ़ रही है; तब उस पुरानी नीतिको कायरता ही कहा जायगा।...' इसके बाद त्रिपुरा कांग्रेस (१९३९)में उस बैठकके अध्यक्ष सुभाषचन्द्र बोसने इस नयी नीति पर स्वीकृतिकी मुहर लगा दी। इस प्रकार देसी राज्योंकी प्रजाको कांग्रेसके खुले पृष्ठबलकी घोषणा होते ही प्रजा-परिषद्के आन्दोलनोंमें ज़बर्दस्त गति आई।

इस अर्सेमें दूसरा युद्ध आरम्भ हो गया और सारा नक्शा अचानक ही बदल गया।

१९३९में युद्ध शुरू होते ही ब्रिटिश सरकारने एकपक्षीय ढंगसे भारतको युद्धमें शामिल कर लिया और युद्धके आशयको भी घोषित करनेसे इन्कार करने पर कांग्रेसने इसके विरोधमें सत्ता-त्याग कर—कुल ग्यारह प्रान्तोंमेंसे आठमें सत्ता प्राप्त की थी, उसे छोड़कर—व्यक्तिगत सत्याग्रहका मार्ग अपनाया। १९४२के फरवरी-मार्चमें जापानके हाथों सिंगापुर और ब्रह्मदेशका पतन हुआ और भारतकी सीमाएं भययुक्त हुई, उस समय ब्रिटिश सरकारका हिया दरक गया। देसी राज्योंके राजा तो पहलेसे ही आदमियों, पैसों और साधनोंके द्वारा ब्रिटिश सरकारकी मदद करने निकल आए थे; परन्तु उनकी प्रजाका असंतोष भभक रहा था। मुस्लिम लीग भी कांग्रेसी सत्ताधिकृत प्रान्तोंमें मुस्लिमोंको न्याय और सद्-बर्तावके आश्वासनके लिए तथा भारतकी संवैधानिक प्रगतिमें मुस्लिम लीगकी सम्मतिके अभावमें एक कदम भी न रखा जाय, इस प्रकारके आश्वासन पानेके लिए कोपभवनमें जा बैठी थी। अतः ऐसी स्थितिमें कांग्रेसको सत्याग्रहसे विमुख कर मना लेनेकी जरूरत ब्रिटिश सरकारको महसूस हुई।

सन् १९४२के मार्चमें ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिलने सर स्टेफर्ड क्रिप्सको भारत भेज दिया। क्रिप्सके प्रस्ताव दो प्रकारके थे: एक तो लम्बे समयका और दूसरे कम समयका। लम्बे समयके प्रस्तावमें युद्ध पूरा होते ही चुनी हुई विधानसभा द्वारा 'डोमेनियन'—संविधान रचनेका वचन दिया गया था। इतना ही नहीं, अगर भारत चाहे तो कॉमनवेल्थसे भी अलग हो सकेगा। इस संविधानसे सम्बद्ध शर्त केवल इतनी ही थी कि अगर किसी प्रान्तको अलग रहना हो तो वह भी उक्त पद्धतिसे अपना अलग संविधान बना सकेगा तथा संविधान सभा और ब्रिटिश सरकारके बीच सत्ताकी अदलाबदलीके लिए एक अनुबन्ध किया जायगा। कम समयवाले प्रस्तावमें भारतके सभी राजनीतिक दलों द्वारा वायसरायकी, कॉमनवेल्थकी और संयुक्त राष्ट्रोंकी बनी हुई कॉन्सिलको भारतकी रक्षाके मामलेमें समस्त युद्ध-संचालनके विषयमें सक्रिय और असरकारक सहायता देनेकी बात कही गई थी।

क्रिप्सके प्रस्तावोंमें देसी राज्योंके विषयमें तत्काल किसी मुद्देको खड़ा नहीं किया गया था। परन्तु लम्बे समयकी दृष्टिसे यह घोषित किया गया था कि संविधान सभामें देसी राज्य ब्रिटिश प्रान्तोंकी भाँति आबादीके आधार पर, उसी प्रकारकी सत्ताके साथ अपने प्रतिनिधि भेज सकेंगे। जो देसी राज्य समवाय विधानमें जुड़ना न चाहें, उन्हें ब्रिटिश सरकारके साथ नया अनुबन्ध करना पड़ेगा। इस मामलेमें अधिक स्पष्टीकरण माँगते हुए देसी राज्योंके चेम्बरके चांसलर राजा जामसाहबने ऐसा दाना फेंका कि जो राज्य भारतके संविधानमें शामिल न होना चाहें, वे पूर्णतः सर्वसत्ताधीश हों और उन्हें इसके आधार पर अपना एक स्वतंत्र संघ बनानेका अधिकार होना चाहिए। क्रिप्सने यह स्पष्ट किया कि जो राज्य भारत संघमें शामिल न होना चाहेंगे, उनके लिए ताजकी ओरसे अपने कर्तव्य अदा करनेकी व्यवस्था रखी गई है और उनकी सम्मतिके अभावमें परमाधिकारकी सत्ताकी स्थिति नहीं बदलेगी। यों उसने साथ-साथ देसी राज्योंको यह धमकी भी दी कि न जुड़नेवालोंको परिणाम सहन करने पड़ेंगे।

इस अवसर पर ही हैदराबादने स्पष्ट इच्छा व्यक्त की कि वह भारतीय संघसे अलग रहना चाहता है और इस सम्बन्धमें आवश्यक अनुबन्ध वह ब्रिटिश सरकारके साथ कर लेगा। पोलिटिकल डिपार्टमेंट द्वारा इस बातको सैद्धान्तिक रूपमें स्वीकार कर लिए जानेके बाद व्यावहारिक कठिनाइयोंकी ओर संकेत किया गया: हैदराबाद चारों ओरसे भारत संघके स्वशासित प्रदेशोंसे घिरा हुआ है और संघके साथ उसके सम्बन्ध बिगड़े बिना नहीं रहेंगे; ब्रिटिश सेनाके लिए भारतकी सेनाके साथ संघर्षकी स्थिति उत्पन्न होना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है। भविष्यमें ताजका अस्तित्व ही न रहनेके कारण अलग हुए देसी राज्य संघके पाससे उदार व्यवहारकी कदाचित् ही आशा रख सकेंगे। स्टेफर्ड क्रिप्सने अधिक स्पष्ट सलाह दी कि 'देसी राजाओंको अपने भविष्यका विचार कर ब्रिटिश सरकारकी तरफ नजर न रखकर भारत सरकारकी ओर नजर डालनी चाहिए।...इसके अतिरिक्त देसी राज्योंकी प्रजा अपनी शिकायतों और माँगोंको मुक्त ढंगसे व्यक्त कर सके, इस प्रकारकी प्रभावशाली व्यवस्था राजाओंको अपने राज्योंमें करनी चाहिए।' आन्तरिक मामलोंमें कुछ भी दबाव न डालनेके पहलेके आश्वासनको ठोकर मारनेवाली यह सलाह राजाओंको सिरकी चोट जैसी लगी।

इस बातचीतके समय (१९४३ अप्रैल) राजाओंके सिर एक नयी आफत आ पड़ी। बिल्कुल छोटे राज्यों (दरबारों)का पड़ौसके बड़े देसी राज्योंमें विलीनीकरण कर दिया गया। इसके अनुसार १९४३में 'अटेचमैण्ट स्कीम'के आधार पर काठियावाड़-गुजरातके ७०० वर्गमील विस्तार वाले व आठ लाखकी कुल आबादीवाले (मात्र ७० लाखकी आयवाले) अनेक राज्योंका फैसला कर दिया गया। राज्योंकी सम्मतिके बिना जोड़ न देनेके सिद्धान्तका एक ही झटकेमें फैसला कर दिया गया। थोड़ेसे मध्यम श्रेणीके राजाओंने ऊहापोह किया, पर बड़े मगरमच्छोंको आनन्द ही हुआ। यों गोंडलके अन्दर मिला दिए गए भाडवाके दरबारने अकेले हाथों कानूनी लड़ाई आरम्भ की। ज्युडीशियल कमिश्नर तथा हाईकोर्ट—दोनोंमें भाडवाके राजाको विजय मिली। अन्ततः १९४४में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा 'अटेचमैण्टका प्रस्ताव' पारित किए जाने पर ही उसका कानूनी निष्पादन संभव हुआ।

अटेचमैण्ट स्कीमसे बड़े राज्योंको लाभ होने पर भी 'बुढ़िया मरी, तो मरी पर यमने घर

देख लिया'के भयसे इस घटनाके बाद बहुत ऊहापोह हुआ। पर सत्ताके बहरे कानोंके आगे कुछ चलता न देख राजाओंकी स्टेंडिंग कमेटीने अपना त्यागपत्र सामने धर दिया। परिणामतः नए वायसराय लार्ड वेवलकी ओरसे यह मौखिक आश्वासन दिया गया कि अब 'राज्योंकी सम्मतिके अभावमें राज्योंके साथ ताज सम्बन्धी कोई अन्य हेरफेर नहीं किया जायगा।' परन्तु राजाओंको भी यह आश्वासन देना पड़ा कि विशेष प्रसंगोंमें बातचीतके द्वारा होनेवाले परिवर्तनोंको वे रोकेंगे नहीं।

संक्षेपमें, रूठनेका उपक्रम करने पर राजाओंको ब्रिटेनके पाससे केवल पुरानी 'तोतेकी वाणी' ही प्राप्त हुई। इसके विपरीत राजाओंने नए आश्वासन दे कर अपने हाथ कलम करवा दिए।

१९४४के अन्तमें राजनीतिक स्थितिमें परिवर्तन आ रहा था। मित्रराष्ट्रोंकी विजय लगभग निश्चित दिखायी देती थी। इससे राजाओंको फिर चटपटी लगी। उन्होंने तीसरी शक्तिके रूपमें अपनेको संगठित करनेका विचार किया और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीगकी खींचातानीमें पल्ला रक्षित रखनेवालोंके रूपमें काम करनेकी महत्वाकांक्षाके स्वप्न देखने लगे। इस दृष्टिसे केन्द्र शिथिल रहे और शेष सत्ताएँ देसी राज्योंके हाथमें रहें, ऐसी योजना उन्होंने बना ली।

१९४५की पहली मईको जर्मनोंने समर्पण कर दिया, फलतः विजयकी घटनाने वातावरणमें विद्युत वेगसे परिवर्तन उपस्थित कर दिया। १५ जूनको लार्ड वेवलने नई योजना प्रस्तुत की। उसमें कुछ भी घटित होनेसे पहले ही लेबर पार्टी सत्तामें आ गई। उसने भारतके मामलोंमें तेजी से व निश्चिततासे कदम उठाने शुरू कर दिए। १९४६की फरवरीमें ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटलीने 'केबिनेट मिशन'की घोषणा की, जिसमें सर स्टेफर्ड क्रिप्सके साथ लॉर्ड पेथिक लॉरेन्स (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स) और ए० वी० अलेक्जैण्डर शामिल हुए। इस मिशनने पुरानी प्रणालीके अनुसार राजाओंसे सम्पर्क स्थापित किया। उसके विरोधमें पण्डित जवाहरलाल नेहरूने स्पष्ट रूपमें कह दिया कि 'देसी राज्योंकी प्रजा अगर साथ न ली गई तो भारतको दी जानेवाली स्वतंत्रता पूरी नहीं होगी।' दूसरी ओर राजाओंने हठ चालू रखा कि भारतमें अगर दो—मुस्लिम और अमुस्लिम—इकाइयाँ बनने ही वाली हों, तो देसी राज्योंकी तीसरी इकाई स्वीकार कर लेनी चाहिए। हैदराबादने अपना रुख स्पष्ट करते हुए बता दिया कि अगर भारतका बँटवारा होता है, तो वह भौगोलिक कारणोंसे पाकिस्तानमें और धार्मिक कारणोंसे भारतमें नहीं मिल सकता। ऐसी स्थितिमें वह स्वतंत्र रहना पसंद करेगा।

केबिनेट मिशनने १२ मई, १९४६का प्रसिद्ध मेमोरण्डम २२ मईको प्रकाशित किया। उसमें बताया गया था कि ब्रिटिश भारतमें पूर्ण स्वशासित अथवा स्वतंत्र सरकार या सरकारोंके अस्तित्वमें आते ही ब्रिटिश सरकारका इन सरकारों पर असर लगभग ख़तम हो जायगा; इस स्थितिमें वह परमाधिकारकी जिम्मेदारी नहीं निभा सकेगी। इस हेतुसे उसने भारतमें सेना रखनेका भी विचार नहीं किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन अधिकारोंको देसी राजाओंने परमाधिकारके हाथोंमें सौंप दिया था, उन परमाधिकारके समाप्त होते ही वे अधिकार उन्हें वापिस मिल जायेंगे। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले अवकाशको भरनेके लिए देसी राज्य या तो (१) नई भारत सरकारके साथ समवाय सम्बन्धमें जुड़ जायें या (२) उन्हें उनके साथ अमुक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करने पड़ेंगे।

इसके अतिरिक्त उसमें यह भी सलाह दी गई थी कि देसी राज्य विविध प्रशासनिक वर्गोंमें संगठित हो जायें तो काम सरल हो जायगा। इन मुद्दोंसे सम्बद्ध जरूरी बातचीत करनेके बाद केबिनेट मिशनने संविधान परिषद् विषयक तैयारीकी योजना प्रकट कर दी। परन्तु उनकी अप्रजातांत्रिक शर्तोंके कारण कांग्रेस तथा देसी राज्योंकी प्रजा परिषद्के लिए संविधान सभामें रहना संभव न हो सका।

इस बीच भारत सरकारके राजनीतिक सलाहकार कोरफील्डने एक बात राजाओंके गले उतारनेकी कोशिश की कि अगर वे अपनी प्रजाके साथ सीधा सम्पर्क रखें और अनुकूल आकारके वैधानिक राजतंत्रके स्वरूपको स्वीकार कर लें, तो वे भारतके निर्माणमें अभी भी बहुत बड़ा योग दे सकते हैं। इस प्रकारके आन्तरिक वैधानीकरणसे वे स्थानीय देश-भावनाको गति दे सकते हैं और वे ब्रिटिश भारत तथा ताजके प्रतिनिधि (वायसराय)—दोनोंके दबावसे मुक्त हो सकते हैं।

कुछ भी हो, परन्तु कोरफील्डके प्रयासोंसे राजाओंकी दृष्टि बदली। कितनी छूटछाटोंके साथ वे केबिनेट मिशनके प्लानको स्वीकार करनेके लिए तैयार हुए। इसी अर्सेमें मुस्लिम लीगने विधान-सभामें न रहनेका अपना निर्णय घोषित किया (अगस्त १९४६)। अतः भोपालके नवाब और दूसरे राजा भी थोड़े ढीले हो गए। दूसरी तरफ १९४६ दिसम्बरकी ९वीं तारीखको विधानसभा आरम्भ हुई। उसमें 'मूलभूत निर्देशक हेतुओं'का प्रस्ताव पारित होते ही बहुतसे राजा चिन्तित हो गए; क्योंकि मूलभूत हेतुओंमें दो बातें थीं : एक तो उसमें देसी राज्य और ब्रिटिश भारतके बने हुए स्वतंत्र सार्वभौमिक गणतंत्रका उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया था; दूसरे यह भी स्पष्ट किया गया था कि ऐसे गणतंत्रकी सत्ता और अधिकारोंका मूलस्रोत प्रजा ही होगी। बहुत बड़े भागके राजाओंके लिए यह बम-विस्फोटसे कम न था। राज्योंके अन्दरका ढाँचा उनकी सम्मतिके बिना ही निश्चित कर दिया गया था, जो उन्हें दिए गए आश्वासनोंके विरुद्ध था। परन्तु दूसरी तरफ राजाओंके चेम्बरके प्रमुख भोपालके नवाबकी साम्प्रदायिक दृष्टिसे चेतकर उनके साथ घिसटनेके लिए बहुत-से राज्य तैयार न थे। उनमेंसे कितनोंने 'मूलभूत हेतुओं'का यह अर्थ भी लगाया कि इसमें तो मात्र प्रजाके आखिरी ध्येय, अभिलाषाओं तथा आदर्शकी प्रतिध्वनि है, तुरन्त कुछ न होगा। कोचीनके महाराजाने इन मूलभूत हेतुओंका खुलकर स्वागत किया (कोचीनने १९४६की जुलाईमें विधानसभासे संयुक्त होनेकी इच्छा प्रकट की थी); इसके बाद तुरन्त बड़ौदाके महाराजाने (फरवरी १९४७) राजाओंके चेम्बरकी बम्बई बैठकमें पारित प्रस्तावकी अवगणना करके स्वयं विधानसभासे संयुक्त हो जानेकी घोषणा कर दी। तदुपरान्त राजपूतानाके देसी राज्य भी इस दिशामें विचार करने लगे।

इस बीच विधान समितिकी बातचीत समितिने बहुत ही होशियारीसे काम करना शुरू कर दिया था। उसने केबिनेट प्लानके अनुसार देसी राज्योंके ९३ प्रतिनिधियोंको पसंद करने तथा उसके विभाजनकी पद्धति निश्चित करनेके अतिरिक्त और किसी अन्य काममें पड़ना उचित नहीं समझा। दूसरी तरफ कांग्रेसकी तरफसे जवाब देते हुए पं० जवाहरलाल नेहरूने यह आश्वासन दिया कि केबिनेट प्लान ही हमारा आधार है। उसमें राजतंत्रके विषयमें कोई उल्लेख न होनेके कारण इन मामलेमें हम बीचमें आना नहीं चाहते; साथ ही, देसी राज्योंकी सम्मतिके बिना हमने

देसी राज्योंकी सरहदें बदलनेकी बात भी नहीं सोची। और इस योजनाके अनुसार कार्यवाही स्वैच्छिक स्तर पर होनेके कारण कोई भी पक्ष किसी समय भी इससे अलग हो सकता है।

इस अर्सेमें (२०-२-१९४७) ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटलीका निवेदन प्रकाशित हुआ कि १९४८के जून तक भारत सम्बन्धी सत्ताका हस्तांतरण कर दिया जायगा। लेबर सरकारकी दृढ़ नीतिका प्रतिबिंब डालते हुए इस निवेदनने सब ढीलीढाली दृष्टियों और शिथिलताको झटक डाला। इसके दबावमें आकर देसी राज्योंको जो प्रतिनिधि भेजने थे, उनमेंसे ५० प्रतिशत या अधिक प्रतिनिधि प्रजाके द्वारा चुने हुए होंगे, यह समाधान राजाओंके साथ हो सका। परन्तु हैदराबादके निजाम, भोपालके नवाब और त्रावणकोरके महाराज विधानसभाके बाहर रहनेका पैंतरा रच रहे थे। इसके विरोधमें बीकानेरके महाराजाने स्पष्ट किया कि 'राह देखने'की नीति खतरेसे खाली नहीं है और लीगकी चालको समझकर सुदृढ़ केन्द्रके पक्षधर हो विधानसभासे सहयोग करना हम सबके हितमें है। पटियालाके महाराजाने भी इसमें अपना स्वर मिलाया। इसके बाद यह प्रस्ताव चेम्बरमें पारित हुआ कि जिन देसी राज्योंको व्यक्तिगत अथवा समूहमें विधानसभासे संयुक्त होना हो, उन्हें इसकी छूट दी जाय और २९-४-१९४७को बड़ौदा, बीकानेर, कोचीन, जयपुर, जोधपुर, पटियाला तथा रेवाके प्रतिनिधियोंने विधानसभामें हाजिरी दी। देखते-देखते दो करोड़ प्रजाके प्रतिनिधि विधानसभामें प्रवेश कर चुके थे और अन्य डेढ़ करोड़के प्रतिनिधियोंके वचन घोषित हो चुके थे।

न संयुक्त होनेवालोंमेंसे बड़े भागके राज्योंने जामसाहबके नेतृत्वमें एक नया नुस्खा आजमाया। पश्चिम भारत, राजपूताना तथा मध्यभारतके छोटे ५० राज्योंके ९३मेंसे २२ बैठकों वाले कॉन्फेडरेशन रचनेका विचार आकार ग्रहण करने लगा। भाषाकी दृष्टिसे इनके बीच ऐक्य न था। इस कॉन्फेडरेशनके अधिकारमें अपने अलग सिक्के, रेडियो तथा सरहद विषयक निर्णय सुपुर्द किए जाने थे—ये अधिकार आजतक इनमेंसे किसीके पास भी न थे। इस प्रकारके संघका सीधा अर्थ केवल इतना ही था कि जो राज्य व्यक्तिगत सत्ता सम्हालनेमें असमर्थ थे, वे सब अब संघ बनाकर स्वयं अपना अस्तित्व बनाए रखनेकी फिराकमें लगे हुए थे। परन्तु इनमेंसे अनेक महत्त्वके राज्य असहमत हुए और यह गुब्बारा फूट गया।

इस बीच, मुस्लिम लीग विधानसभासे संयुक्त होने पर भी अन्तरिम केन्द्रीय सरकारमें कांग्रेसकी भागीदारीमें चल रही थी। दूसरी तरफ उसने सम्प्रदायवादी उत्तेजनात्मक विभाजनका आन्दोलन चालू ही रखा। अन्तमें नए वायसराय माउण्टबेटनके द्वारा ३ जून, १९४७को भारतके विभाजनकी घोषणा कर दी गई। और १२ मई, १९४६के मेमोरण्डमके अनुसार आगे बढ़नेका एलान किया गया। इसके अतिरिक्त १९४८के जूनमें होनेवाले सत्ता-हस्तान्तरणकी अवधि कमकर १५ अगस्त '४७ घोषित कर दी गई। ब्रिटिश नीतिकी इस त्वराने वातावरणको मूलसे हिला दिया—गतिशीलता प्रदान की। अब तो हिन्दू और सिख (अ-मुस्लिम) देसी राज्य पाकिस्तानके सामने मजबूत संरक्षणके लिए मजबूत केन्द्रकी तरफदारी करने लगे। मुस्लिम राजा भी उलझन में पड़ गए। यों तो हैदराबादके निजाम और भोपालके नवाब अभी तक 'स्वतंत्र सार्वभौम'का सपना ही देख रहे थे; यह तो मानो ठीक था। परन्तु त्रावणकोरके महाराजाका स्वतंत्र सार्वभौमत्वका मनोरथ अभी शमित नहीं हुआ था और दूसरी तरफ जूनागढ़ जैसे राज्योंके मनमें जिन्ना साहबने पाकिस्तानका आकर्षण जगा दिया था। इस बीच देसी राज्योंके अन्दर साम्प्रदायिक भावनाए

जोर पकड़ रही थीं। अन्तमें ऐसा विग्रह खड़ा हुआ कि राजाओंके चेम्बरकी बैठक ही न हो सकी।

देसी राज्योंकी अधिकांश प्रजाने कांग्रेसके साथ खड़े होकर कांग्रेसके हाथ मजबूत किए। पं० जवाहरलाल नेहरूने १५ जून '४७को आल इण्डिया कांग्रेस कमेटीमें धड़ाका किया। परमाधिकार (Paramountcy)की लम्बी-चौड़ी चर्चाका एकतरफा अन्त करते हुए उन्होंने घोषित किया :

> भले ही ताजमें आरोपित सत्ता टूट जाय अथवा राज्योंके अधिकारमें वापिस आ जाय; परन्तु भारत सरकारमें अन्तर्भूत परमाधिकार नहीं टूटेगा; जिन भौगोलिक, ऐतिहासिक और संरक्षणके कारणोंसे परमाधिकारका जन्म हुआ है, उन कारणोंसे ही वह अधिकार अब भारतके राज्याधीन आ गया है। जो राजा भारत संघमें समान भागीदारके रूपमें व्यक्तिगत या समूहमें जुड़ेंगे, उनके लिए परमाधिकारका प्रश्न खड़ा ही नहीं होता; परन्तु न जुड़नेवाले राज्योंके लिए यह सवाल खड़ा होता है, क्योंकि वे शून्यावकाशमें नहीं जी सकते। उनको संघके साथ किसी न किसी प्रकारकी व्यवस्था स्वीकार करनी ही पड़ेगी। संघके साथ उनका यह सम्बन्ध समानताका नहीं होगा, परन्तु कुछ अंशोंमें निचले स्तरका होगा। दोनोंके बीचका सम्बन्ध, एक पक्षमें, अमुक मात्रामें, परमाधिकार धारण करनेवाली अमुक प्रकारकी सार्वभौम सत्ता और दूसरे पक्षमें ऐसे राज्य कि जिन्हें परमाधिकार और सार्वभौमत्वकी मर्यादाके अन्दर स्वायत्तता होगी, रहेगा...किसी भी राज्यका अन्य किसी विदेशी राज्यके साथ सम्पर्क निभाया नहीं जा सकेगा। ऐसा कुछ भी करने नहीं दिया जायगा, जिससे भारतकी सुरक्षाको—संरक्षणकी व्यवस्थाके मामलेमें अथवा विदेशी सत्तासे सम्पर्कके मामलेमें—थोड़ी-सी भी आँच आए। ऐसे किसी भी राज्यकी स्वतंत्रता मान्य नहीं की जा सकेगी; इस पर भी दूसरा कोई विदेशी राज्य अगर उसे मान्यता देगा, तो वह भारतके प्रति 'अ-मैत्रीपूर्ण' कदम माना जायगा।

डा० अम्बेदकरने, जो वायसरायकी कार्यपालिकाके सदस्य थे, कानूनी मुद्दे पर प्रकाश डाला। देसी राज्योंने परमाधिकार विषयक जो ऊहापोह खड़ी की है, उसकी भूमिकामें केबिनेट मिशनका १२ मईका मेमोरण्डम उत्तरदायी है। परन्तु कानूनके अनुसार भारतके डोमेनियनके बनते ही भारतके मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार उन्हें काम करनेके लिए विवश होना पड़ेगा। कोई भी देश डोमेनियन बनते ही ताजको सलाह देनेका दावा कर सकता है। उन्होंने तो यह भी कह दिया कि रजवाड़े चाहे जो कहें, पर प्रजाका कर्तव्य स्पष्ट है : प्रजा ब्रिटिश सरकारको नोटिस दे सकती है कि ब्रिटिश पार्लियामेण्टको परमाधिकार-त्याग करनेकी कोई सत्ता नहीं है; इस प्रकारकी किसी भी दरख्वास्तके साथ यदि 'डोमेनियन स्टेट्स' विषयक कायदा बनाया गया तो वह गैरकानूनी होगा और भारत सरकार भारतके किसी भी देसी राज्यको सार्वभौमिक या स्वतंत्र रूपमें मान्यता नहीं देगी।

डा० अम्बेदकरका यह देशभक्तिसे परिपूर्णताका दृष्टान्त है।

सरदार पटेलने चुटकी काटी (५-७-४७) : सहयोग नहीं करोगे तो अंधाधुंधी फैल जायगी; हम सब नष्ट हो जायेंगे, अतः समझ जाओ।

इसके बाद हैदराबाद और त्रावणकोरके प्रजामण्डलोंने राजाओंकी स्वेच्छाचारी स्वतंत्रताकी माँगोंके विरुद्ध जबर्दस्त आन्दोलन शुरू कर दिया। जिन्ना साहबने इसे चुनौती दी हो, इतना

ही नहीं; बल्कि त्रावणकोरके दीवान सर सी० पी० रामस्वामीको यह आश्वासन भी दिया कि सत्ता हस्तांतरणके बाद पाकिस्तान त्रावणकोरके साथ राजनीतिक संबंधोंको रखेगा। इसके विपरीत वायसराय माउंटबेटनने ठण्डा पानी डालते हुए घोषणा की कि सत्ता हस्तांतरणके बाद परमाधिकार राज्यके पास वापिस चला जाता है, अतः डोमेनियन सरकारके साथके सम्बन्धोंको लेकर वे मनमाना निर्णय ले सकते हैं, परन्तु वे अलग डोमेनियनके रूपमें कॉमनवेल्थमें प्रवेश नहीं पा सकते।

माउंटबेटनकी इस स्पष्टताके बाद ही भोपाल, जामनगर और इन्दौर आदि शान्त हुए। इसके बाद इस बात पर जोर दिया गया कि सम्प्रति संरक्षण, विदेश-सम्बन्ध तथा यातायात तक ही विलीनीकरणको स्वीकार किया जाय, शेष बातोंमें यथावत् स्थितिके अनुबन्ध पर हस्ताक्षर किए जायें। माउंटबेटनने तो वायसरायके रूपमें सत्ताके अन्तिम दिवसोंमें (२५ जुलाई '४७) देसी राज्योंको याद दिलाते हुए समझाया कि जिन तीन विषयों तक विलीनीकरण करना है, वे तीनों आजतक उनके अधिकारमें थी ही नहीं और भारत या पाकिस्तानमेंसे किसी भी एक डोमेनियनमें जुड़ जाना उनके लिए लाभप्रद है।

इस तरह भारतकी आज़ादीके संकटके समयमें ब्रिटिश वायसराय माउंटबेटनने भारतके हितमें अपना मन्तव्य प्रकट कर एक अच्छी प्रणालीकी नींव रखी।

अन्तमें, १५ अगस्त १९४७से पूर्व जूनागढ़ और माणवदर तथा काश्मीर तथा हैदराबादको छोड़-कर शेष सभी राज्योंने सीमित विलीनीकरण पर तथा यथावत् स्थितिके अनुबंध पर हस्ताक्षर कर डाले।

जैसा कि हम देख आए हैं, पं० नेहरूने फरवरी १९४७में देसी राज्योंकी चेम्बर-कमेटीकी कार्यकारिणीको यह आश्वासन दिया था कि अगर देसी राज्य तीन मुख्य विषयोंके विलीनीकरण द्वारा समवायतंत्रको स्वीकारेंगे, तो उनकी आन्तरिक व्यवस्थामें, राजतंत्रके स्वरूपके विषयमें तथा राज्योंकी अखण्डताके बारेमें केन्द्रीय सरकार अपना सिर नहीं खपाएगी। सरदार पटेलके साथी वी० पी० मेनन जैसा बताते हैं, उस रूपमें सरदार पटेलने स्वयं ५ जुलाई १९४७के दिन देसी राज्योंको सम्बोधित करते हुए तीन विषयों तक विलीनीकरणकी सिफारिश करते हुए कहा था कि "दूसरी सभी बातोंमें हम राजाओंके स्वायत्त अस्तित्वका सम्मान करेंगे।" तत्पश्चात् माउंटबेटनने भी २५ जुलाईको अर्थात् स्वतंत्रता दिवससे २० दिन पूर्व राजाओंके चेम्बरके सामने पुनः भारपूर्वक आश्वासन दिया था कि "संरक्षण, विदेश-सम्बन्ध और यातायातके अलावा किसी भी मामलेमें केन्द्र सरकारको राज्योंकी आन्तरिक सत्ता पर या उनके सार्वभौमत्व पर झपट्टा मारनेकी कोई भी सत्ता नहीं होगी।"

दूसरी तरफ समवायके पहले सोपानके रूपमें राजाओंने विलीनीकरणपत्र तथा यथावत् अनुबन्ध पर हस्ताक्षर कर नूतन भारतके निर्माताओंको एक बड़ी निश्चिन्तता प्रदान की। परन्तु उसके बाद भारतमें परिस्थिति तेजीसे गंभीर रूप ग्रहण करती रही। पाकिस्तानकी स्थापनाके बाद जूनागढ़के नवाबने पाकिस्तानके साथ संयुक्त होनेकी इच्छा प्रकट की; सम्पूर्ण देश साम्प्र-दायिकताकी आगमें जल उठा; दोनों ओरके शरणार्थियोंके प्रचण्ड प्रवाहसे व्यवस्थातंत्र पर अनहद बोझा आ पड़ा; ठीक उसी समय पाकिस्तान द्वारा काश्मीर पर आक्रमण कर दिया गया और ऊपरसे हैदराबादके निजामने भारत और पाकिस्तान—दोनोंसे स्वतंत्र रहकर विदेशी सत्ताके साथ षड्यंत्र कर भारतकी आज़ादीके गलेमें फाँसी डालनेकी तैयारी शुरू कर दी। भारतकी सीमाओं

१९४७के इण्डियन इण्डिपेण्डेण्ट एक्टके अनुसार देसी राज्योंके संघमें शामिल होनेसे सम्बद्ध धारा

"अगर किसी भी देसी राज्यके राजाने विलीनीकरणपत्र पर हस्ताक्षर किए होंगे और गवर्नर जनरलने अगर उसे स्वीकार कर लिया होगा तो वह देसी राज्य डोमेनियनसे जुड़ा हुआ माना जायगा।"

विलीनीकरणपत्रसे

मैं·············का राजा उक्त राज्य परके सार्वभौमत्वके अन्तर्गत इस विलीनीकरणपत्र पर हस्ताक्षर करता हूँ।

इस पत्रमें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि जिसके अन्तर्गत भारतका भावी संविधान स्वीकारने अथवा ऐसे किसी भी संविधानके अन्तर्गत भारत सरकारके साथकी व्यवस्था स्वीकारनेसे सम्बद्ध अपनी मुन्सिफी पर अंकुश रखनेके लिए मैं बाधित हो जाऊँ···

इस पत्रमें ऐसी कोई भी व्यवस्था नहीं है कि जिससे राज्य परका मेरा सार्वभौमत्व छिन जाय, और इसी प्रकार राजाके रूपमें जो कुछ सत्ता-अधिकारोंका उपभोग करता हूँ अथवा इस समय राज्यमें जो कानून अमलमें हो, उसकी वैधानिकताको चुनौती दी जा सके···

मैं इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि इस राज्यकी ओरसे पत्र पर हस्ताक्षर करता हूँ और यह भी स्वीकारता हूँ कि उसमें जो कुछ उल्लिखित है, वह मेरे और मेरे उत्तराधिकारियोंके लिए है।

"प्रारंभ वचन-भंग से न करें"

सरदार पटेल

[संविधानके २९१वें अनुच्छेदको संविधानसभाके सम्मुख प्रस्तुत करते समय]

"अगर समाधान न हुआ होता तो राजाओंकी उपद्रव और अड़चनें पैदा करनेकी शक्ति, आज (१९४९में) हमें जितना ख्याल आ सकता है; उसकी अपेक्षा बहुत अधिक थी, यह न भूलना चाहिए। हम उनके साथ न्याय करना न चूकें; हम उनकी जगह होते तो क्या?—ऐसा विचार करें और उनके त्यागकी कीमत आँकें। राजाओंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया है। इन करारोंके अनुसार अपना मुख्य फर्ज़ यह है कि उनके वार्षिक जेब-खर्चसे सम्बद्ध मामलेमें दिए गए आश्वासनोंका हम पूरा-पूरा पालन करें। उसमें हम अगर असफल होंगे तो यह अपना वचनभंग माना जायगा; और नयी व्यवस्थाको स्थायी बनानेके काममें यह गंभीर रूपसे पूर्वग्रह पैदा करेगा।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी: 'पिल्ग्रिमेज टु फ्रीडम'में बताए अनुसार:

सरदार द्वारा राजाओंके साथ समाधान किये जानेके बाद कांग्रेसमें आक्रोश फैल गया था। सरदारने उनसे अचानक पूछा : "आपको स्वराज्य मिल गया या नहीं? आपने राज्योंको समाप्त किया या नहीं? जिसने यह बात कर बताई थी, उसने राजाओंको और सनदी नौकरोंको यह विश्वास दिलाया था कि आपको वैधानिक रूपसे गारेण्टी दी जायगी'''अपने तक तो मैं वचन पालन करूँगा ही।" थोड़ी देरके बाद उन्होंने जोड़ा : "हम अपनी स्वाधीनताका प्रारंभ वचन-भंगसे नहीं कर सकते।"

पर भय बढ़ रहा था और भारतके अन्दर आबाद देसी राज्योंमेंसे कौन, कब, किसका और कैसे हाथका खिलौना बन जायगा, कहना कठिन था। सरदार पटेल चेत गए। उन्हें विश्वास हो गया कि भारतकी अखण्डता स्थापित करनेके अलावा कोई दूसरा मार्ग शेष नहीं रह गया है। अतः देसी राज्योंको भारतमें मिला देनेके अलावा कोई दूसरा विकल्प न था।

इन परिस्थितियोंमें राजाओं पर भारत संघमें पूर्णतः मिल जानेका दबाव बढ़ने लगा और वे इस विषयमें लगभग विवश-से हो गए। वास्तविक परिस्थिति समझकर उसमेंसे अपने हितके लिए श्रेष्ठ निराकरण ढूंढनेका सियानापन उनमें आ गया था। उन्होंने अधिकसे अधिक दबाव द्वारा अच्छे-से अच्छा सौदा कर लेनेकी व्यावहारिक नीति अपनायी।

दूसरी ओर कांग्रेसके लिए भी यह बात स्पष्ट थी कि देसी राजाओंकी सम्मतिके बिना जबर्दस्तीसे कोई निर्णय लादनेके प्रयत्नमें भयंकर घात-प्रत्याघातोंका जन्म लेना अनिवार्य होगा। कांग्रेस इस बातसे परिचित थी कि दूसरे विश्वयुद्धके बीच बड़े देसी राज्योंने अपनी सेनामें अच्छीखासी वृद्धि कर ली है; और छोटे-मोटे राज्योंके अधिकारमें $\frac{२}{५}$ भाग धरती अभी भी है। अगर रजवाड़े उल्टे पड़ जायें तो एक बार तो इस नए स्वराज्यके सामने गंभीर संकट आए बिना नहीं रहेगा। ब्रिटिश हित, पाकिस्तान और अंधाधुंधीकी राह देखनेवाले कम्युनिस्ट तत्वोंको सीधे या परोक्ष रूपमें समर्थन मिलते ही भारत पर पक्की पनौती आए बिना नहीं रहेगी। अन्य कुछ भी न हो, तो भी उपद्रव करनेकी देसी राज्योंकी शक्तिको नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता। भारतके धुरन्धर नेता पं० नेहरु और सरदार पटेल पूरी तरह यह बात समझ गए थे।

सरदार पटेलको शक्ति-प्रयोगके स्थान पर कुशलतापूर्वक समाधान निकालनेकी राह अधिक लाभप्रद दिखाई दी। अगर देसी राजा अपनी रियासतोंको भारतमें मिला देनेके लिए तैयार हो जायँ अर्थात् भारतके वास्तविक संकटके समय देशके हितमें एक महत्त्वपूर्ण कदम उठानेके लिए तैयार हो जायें, तो उसके बदले में सरदार पटेल राजाओंको वार्षिक जेब-खर्च और विशिष्ट अधिकार देकर भी उन्हे जीत लेनेके लिए तैयार थे। और सरकारकी आशा फलवती हुई। बात-चीतके बाद दोनों पक्ष इस समाधान पर आए कि—

(१) राजाओंके कुटुम्बके भरण-पोषणके लिए तथा अन्य खर्चके लिए अलाउन्स देना, (२) ऐसे अलाउन्सकी रकम करमुक्त रहे, (३) यह अलाउन्स जीवित राजाओं तक ही सीमित न रहे, (४) राजाओंकी व्यक्तिगत सम्पत्ति उन्हीके अधिकारमें रहेगी, (५) राजाओंके लिए उत्तराधिकारका अधिकार कायम रहे और (६) राजाओंके अमुक विशिष्टाधिकार भी स्वीकारे जायें।

सरदार पटेल द्वारा इन सब बातोंसे सम्बद्ध घोषणा करते समय कहा हुआ कथन महत्व-पूर्ण है: इन सब बातोंको केवल अनुबन्ध रूपमें न रहने देकर भारतके निर्माणाधीन संविधानमें इनका इसी प्रकार समावेश किया जायगा, जिससे उन्हें संवैधानिक महत्त्व तथा स्थायित्व प्राप्त हो।

राजाओंके द्वारा भारतकी एकता और अखण्डताके लिए उठाया हुआ यह कदम भारतके भविष्यकी दृष्टिसे एक महत्वपूर्ण मार्गस्तंभके समान है। इसके अतिरिक्त देसी राज्योंके अधीन

राजाओंके कुछ विशेषाधिकार

१. राजाओंके विरुद्ध दीवानी मुकदमा चलानेके पूर्व भारत सरकारकी आज्ञा लेना आवश्यक है।
२. भारत सरकारकी आज्ञा लिए विना उन्हें फौजदारीके आरोपमें पकड़ा नहीं जा सकेगा।
३. राजाओं और उनके कुटुम्बियोंका सरकारी अस्पतालमें निःशुल्क इलाज होगा।
४. राजाधिकृत जिस सम्पत्तिका उपभोग उनके निवासके लिए होता हो, उसे उनकी सम्मतिके विना और विना उचित मुआवज़ा दिए नहीं लिया जा सकेगा।
५. राजाओंके व्यक्तिगत उपयोगमें आनेवाली कुछ वस्तुओं पर चुंगी नहीं ली जायगी।
६. पेट्रोल खरीदते समय उनके पाससे वसूल की गई चुंगीकी रकम उन्हें वापिस की जायगी।
७. अपने निवास-स्थानों, मोटरों और वायुयानों पर वे अपना ध्वज फहरा सकेंगे।
८. विना लाइसेन्स लिए वे कुछ शस्त्र व बारूद खरीद सकेंगे और शस्त्रोंको रख सकेंगे।

१२००० मील (१९,२०० किलोमीटर) रेलवे भी विना किसी मुआवज़ा लिए भारतको दे दी गई। देसी राज्योंकी आन्तरिक मुद्रा-पद्धति समाप्त होते ही व्यापार-वाणिज्यको बहुत-सा स्थायी लाभ हुआ। अधिकमें कहें तो अनेक महलों और मकानोंके अतिरिक्त ७७ करोड़ रुपएकी राशि या निवेश (Investment) की रकम भी केन्द्रके कोषमें जमा हो गई। अब मुख्य सवाल प्रिवीपर्स निश्चित करनेके स्तरका था। व्यक्तिगत रूपसे प्रत्येक सदस्यकी निश्चित आय जान पाना संभव न था, क्योंकि व्यवस्थित आयके साधनोंके अतिरिक्त बहुतसे राज्योंमें अन्य साधनोंकी भी सीमा न थी। उदाहरणार्थ, राजकुटुम्बमें किसी विवाहके समय अथवा मोटर खरीदनेके समय टैक्स वसूल कर खर्च कर दिया जाता था। इतना ही नहीं, बल्कि प्रजा से तरह-तरहके जबर्दस्ती करोंको वसूल कर व्यक्तिगत विलासके लिए उसे खर्च कर दिया जाता था। गुजरातमें ईडरका 'टैंटुवा कर', और 'तख्ता कर' ऐसे ही अन्यायी करोंका स्मरण कराता है। इस प्रकार जहाँ आयका हिसाब ही पूरा न हो, वहाँ खर्चका अन्दाज लगानेकी संभावना ही क्या ? सरदारके साथी वी० पी० मेनन द्वारा कुल व्यक्तिगत खर्चकी राशि बीस करोड़की होनेका अन्दाज लगाया गया। बहुतोंकी धारणानुसार, उक्त कारणोंसे, यह राशि बहुत कम है।

भारत सरकारके पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट तथा कांग्रेसकी सब-कमेटीने मिलकर दक्षिणके राज्योंके लिए एक फार्म्युला तैयार किया था। उसका स्तर अधिक उदार लगने पर पूर्वी राज्यों के लिए भी फार्म्युला तैयार किया गया। तदनुसार औसतन १५ लाख की आय वाले राज्योंको १,३०,००० रुपए वार्षिक देनेका निश्चय किया गया। दक्षिणवाले राज्योंके वार्षिक खर्चकी रकम, दक्षिणी-राज्य फार्म्युलाके अनुसार १,६२,५०० रु० होती थी और पोलिटिकल डिपार्टमेण्टकी पहली गणनाके अनुसार तो आँकड़ा ३,००,००० रुपए तक पहुँचता था।

वी० पी० मेनन द्वारा बताए अनुसार वास्तवमें कुल ५५४ राज्योमेंसे ४५०की वार्षिक आय १५ लाख रुपएसे कम थी। सौराष्ट्रके अलावा सभी राज्योंमें फार्म्युला मान्य रहा था। किसीको भी १० लाख रुपएसे अधिक न देने पर भी विचार हुआ, परन्तु कितने ही बड़े राज्यों–जो स्वतंत्र प्रान्त बननेकी क्षमता रखते थे–को अपवादके रूपमें स्वीकार किया गया। यद्यपि हैदराबाद और मैसूरको छोड़कर बाकीके सभी राजा इससे अधिक खर्च करते थे।

विशेष उल्लेखनीय बात तो यह है कि हैदराबाद, पटियाला और भोपालके अपवादके अतिरिक्त सम्बन्धित राज्योंके प्रतिनिधियोंने ही यह रकम निश्चित की थी––कितने ही मामलोंमे तो भारतके साथ बातचीत कर निर्णय कर लिया गया था। मेननने बताया है कि तदनुसार गांधीजीने भी अपनी सम्मति दे दी थी। साथ ही, यह भी निर्णय लिया गया था कि १० लाख रुपए-से अधिककी रकम राजाके जीवनकाल तक ही दी जाय; उनके उत्तराधिकारियोंको अधिकसे अधिक १० लाख रुपएकी रकम ही दी जाय।

ध्यान आकृष्ट करने वाली दूसरी वास्तविकता यह है कि राज्योंके संघ-प्रवेश विषयक चर्चा जब अक्तूबर १९४९में विधानसभामें हुई, तब और १९५०के मार्चमें देसी राज्योंसे सम्बद्ध वार्षिक-खर्चके तथ्योंके साथ श्वेतपत्र जब पार्लियामेण्टमें पेश किया गया; तब किसीने भी इस कार्यवाहीके सिद्धान्तके विषयमें या वार्षिक-खर्चकी रकमके विषयमें टीका नहीं की। कांग्रेस-अध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारामैयाने तो सरदारको कमसे कम रकम देनेका निश्चय करनेके लिए धन्यवाद भी दिया था। श्री मेननके अनुसार अनेक लाभोंके सामने वार्षिक-खर्चकी रकमकी कोई बिसात न थी।

इनके अतिरिक्त राजाओंको कितने ही विशिष्टाधिकार भी दिए गए थे।

पिछले कुछ समयसे राजाओंके प्रिवी-पर्स और विशिष्टाधिकारोंकी प्रथाको समाप्त करनेकी दिशामें बहुत-सा ऊहापोह खड़ा हो गया है। अभी तक केन्द्र सरकार किसी निश्चित निर्णय पर नहीं आई है। प्रिवी-पर्स सबंधी धारा २९१ तथा विशिष्टाधिकारोंसे सबंधित धारा ३६१-३६२––दोनों ही विधानके अनुसार प्रतिभूति होनेके कारण उन्हें बदलनेके लिए संविधानको बदलना पड़ेगा। इस प्रकारका अपेक्षित परिवर्तन करनेके लिए आन्दोलन चल रहा है। इस बीच जुलाई १९६८में कांग्रेसकी केन्द्रीय कार्यकारिणीकी बैठक हुई और उसमें संविधानमें संशोधन कर इस प्रथाको बन्द करनेका प्रस्ताव पारित कर दिया गया है।
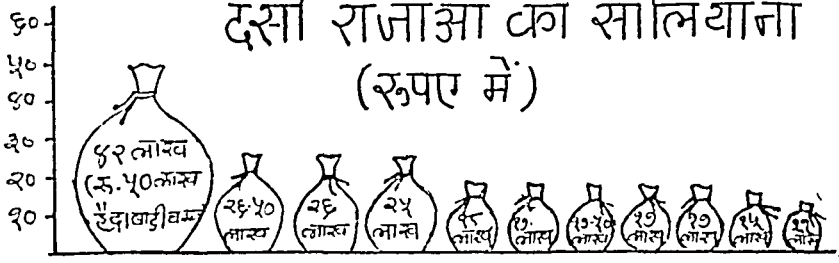
यद्यपि केन्द्रीय सरकार अभी तक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं आयी है, परन्तु प्रिवी-पर्स और विशेषाधिकार समाप्त करनेकी बात उसके मस्तिष्कमें है। इस बीच मतमतांतरोंके कारण ऊहापोह चालू ही है। एक मत ऐसा है कि भारतके आन्तरिक संकटके समय राजाओंने भारतकी एकता और अखण्डताके लिए अपनी सारी सत्ता और राजपाट संघ सरकारको सौंप देनेका जो हित-कृत्य किया था, उसके कारण उन्हें दिए गए वैधानिक आश्वासनोंका महत्त्व केवल अनुबन्ध-पत्र तक ही नहीं है; केवल कानूनी ही नहीं हैं; बल्कि ये बन्धन नैतिक भी हैं। संविधान-निर्माताओंकी दृष्टिसे इसमें किसी भी प्रकार अपयान वचन-भंग करनेके समान है।

दूसरा मत यह है कि अधिकांश राजाओंने देश-प्रेमसे प्रेरित होकर कुछ भी त्याग नहीं किया है। समयानुसार अगर वे झुके न होते तो प्रजाके रोषके सामने उन्हें उनकी जमीन महँगी पड़ गई होती। उन्होंने अपनी प्रजा पर कोई कम जुल्म नहीं किए हैं; देशके स्वाधीनता-यज्ञमें कोई कम हड्डियाँ नहीं डालीं, और जब स्वराज्य निश्चित आता दिखाई दिया तब भी संघीय केन्द्र सत्ताको कमजोर रखकर अपनी स्वतंत्र सत्ता अखण्ड बनाए रखनेके लिए कम प्रयत्न नहीं किए। अन्ततः जब उनके समूल अस्तित्वके लिए खतरा पैदा हो गया, तभी वे ठिकाने आए। दूसरी तरफ हमने परिस्थितिके वशीभूत होकर विवशतापूर्वक प्रिवीपर्स और विशेषाधिकारके बन्धन स्वीकार किए थे। इतने वर्ष किसी तरह चला लिया। हम लोग समाजवादी ध्येयको वरण किए हुए हैं। अनुचित लगनेवाले और अप्रजातांत्रिक अधिकारोंका अविलम्ब अन्त होना ही चाहिए। अतः आवश्यकता-नुसार, प्रजातंत्रकी राह में, अपेक्षित बहुमतसे संविधानमें संशोधन कर पुराने युगके अवशेषोंको तत्काल समाप्त कर देना चाहिए।

तीसरी दृष्टि यह है कि युगके बदलने पर संविधान बदलना भी इष्ट है; यह न्यायसंगत है। वर्तमान युगमें किसी भी व्यक्ति या वर्गके लिए पुरानी सेवाओंके लिए 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ'

प्रिवी-पर्स देनेकी बात बेहूदी है तथा प्रजातांत्रिक समाजमें इस प्रकारके विशेषाधिकारोंको यावज्जीवन चलाए रखनेकी बात हास्यास्पद ही मानी जायगी। अगर ऐसा ही चलता रहा तो समान नागरिकताका आदर्श—प्रजातंत्रका आधार ही खण्डित हो जायगा। अतः वर्तमान युगीन प्रजातंत्रमें इसका कभी न कभी तो अन्त करना ही होगा। इतिहासमें आजसे पूर्व सामन्ती युगके अनेक अधिकार रद्द हो चुके हैं और स्वराज्य-प्राप्तिके बाद जमींदारोंके अधिकारों तथा पूंजीवादी समाजके कितने ही निर्बंध शोषणके अधिकारों पर नियंत्रण रखा गया है। अतः अब प्रिवी-पर्स और विशेषाधिकार भी समाप्त कर देनेमें कुछ भी अनुचित न होगा। समय और पद्धति मात्रका सवाल है। यह बात सिद्धांतकी नहीं है, व्यावहारिक वृद्धि और गणनाकी है। कमसे कम संघर्षमें न्याययुक्त समाजकी रचना करनेका रहस्य इसमें समाया हुआ है।

उत्कल विश्वविद्यालयके राजनीति-शास्त्रके प्राध्यापक डा० रामचन्द्र दासका मत यह है कि विशेपाधिकारोंसे सम्बद्ध वचनोंको देखनेसे ऐसा लगता है कि संविधानके निर्माताओंने राजाओंको संविधानसे परे माना था। ३६२वाँ अनुच्छेद संसदमें किसी भी नियमको बनानेसे हमें रोकता है। अनुच्छेद २९१ और ३६२ इस मामलेमें संघके प्रबन्ध और वित्तीय क्षेत्रको भी छोड़ देते हैं।

ए० अप्पादुरै मानते हैं कि दो पक्षोंके बीच हुए पवित्र करार (convent) एकपक्षी निर्णयसे बदले नहीं जा सकते। अतः राजाओंकी सम्मतिके बिना कोई भी परिवर्तन गैरकानूनी होगा—संविधानमें परिवर्तन करने पर भी प्रिवी-पर्स बन्द करनेका निर्णय लिया जाय तो भी संभव है, सर्वोच्च न्यायालय इस कदमको अवैधानिक घोषित करे। और 'कॉन्वेंट' 'ट्रीटी' न होनेके कारण अदालती सत्तासम्पन्न पंच भी इसका फैसला नहीं कर सकता। यह लेखक तो आगे चलकर यह भी सूचित करता है कि यह 'कॉन्वेन्ट' संविधान बननेके पूर्व ही स्वीकृत होनेके कारण उसका स्थान संविधानके भी अस्तित्व से परे माना जायगा। अगर इसे एक पक्ष भंग कर सकता हो तो दूसरे पक्षको भी भंग करनेका अवसर मिलना चाहिए—आजकी वास्तविकतामें राजाओंके लिए ऐसे अवसर संभव न होनेके कारण नैतिक रूपसे भी यह परिवर्तन अनुचित है।

कानूनी बातको अगर एक तरफ रख भी दिया जाय तो भी जो तीन दृष्टियाँ ऊपर प्रस्तुत की गई हैं, उनमेंसे प्रत्येकमें आंशिक सत्य अवश्य है। मूलभूत बात सरदार पटेल ने स्पष्ट कर दी है कि समस्त राष्ट्रके संकटके समय, राजाओं द्वारा पूर्ण विलीनीकरणको स्वीकार किये जानेके अवसर पर सबके नहीं तो बहुतोंके हृदयमें देशके टुकड़े-टुकड़े हो जानेका भय था। सरदार पटेलने १९४६में कहा था:

> "हम भारतके इतिहासमें महत्त्वके स्तर पर आ पहुँचे हैं। संयुक्त पुरुषार्थ द्वारा हम देशको महान् स्थिति तक पहुँचा देंगे, अन्यथा फूट द्वारा आफतोंको बुला लेंगे। सभीके संयुक्त हितके लिए किए जाने वाले सहयोगका विकल्प अंधाधुंधी और अराजकता है। अगर हम लघुतम समान कार्योंके लिए एकत्र हों, उन्हें पूरा करनेमें समर्थ नहीं बनेंगे; तो हम सब बड़े-छोटे इसकी आंधीमें बह जाएँगे।"

सरदार पटेलने इरादापूर्वक सबके समान हितकी बात आगे रखकर राजाओंके व्यक्तिगत हितोंको स्पर्श करनेके अतिरिक्त उनके राष्ट्रत्वका ढिंढोरा पीटनेका प्रयास किया था। राजाओंकी ओरसे भी इसकी प्रतिध्वनि हुई और तभी सरदार पटेलने देसी राजाओंको स्वतंत्र और संयुक्त भारतका सहस्थपति (Co-architccts) कहकर उनका सम्मान किया था।

इस प्रकार सरदार पटेलने बड़ी होशियारीसे देसी राजाओंको जीतकर जो ऐतिहासिक सफलता प्राप्त की थी, उसे और आगे बढ़ानेके लिए सरदार पटेलके अनुयायियोंके लिए शान्तिमय प्रजातांत्रिक मार्गसे उन्हीं राजाओंको जीत लेना असंभव नहीं होना चाहिए।

अद्यतन समवाय तंत्र

मूल ब्रिटिश उपनिवेश

- ⊙ ऑस्ट्रेलिया
- ⊙ केमोरोन
- ⊙ केनेडा
- ⊙ भारत
- ⊙ मलेशिया
- ⊙ नाइजीरिया
- ⊙ अमेरिका

स्पेनिश राजनीतिक प्रणाली पर विकसित

- ⊙ अर्जेन्टीना
- ⊙ ब्राजील
- ⊙ मेक्सिको

स्पेनिश विचारधारा पर आधृत

- ⊙ ऑस्ट्रिया
- ⊙ जर्मनी
- ⊙ स्विट्जरलैण्ड

तानाशाही

- ⊙ लीबिया
- ⊙ रूस
- ⊙ युगोस्लाविया

विश्व के समवाय तंत्र

आबादी और राज्य इकाइयों का अनुपात-दर्शक चार्ट
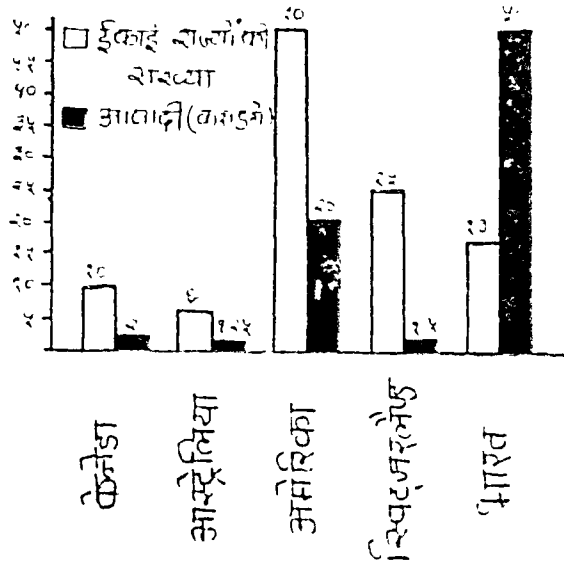
४ : समवायतन्त्र : सिद्धान्त और व्यवहार

[प्रवेश]

आज़ादी प्राप्त करनेवाले किसी भी देशके सामने उसके राजनीतिक ढाँचेका सवाल महत्त्वका होगा ही। भारतकी स्वतंत्रताके सूत्रधारोंके मनमें उसके राजनीतिक स्वरूपके विषयमें इतना तो स्पष्ट था ही कि स्वतंत्र भारत प्रजातांत्रिक गणतंत्र होगा। परन्तु इस आदर्शको मूर्त रूप देनेके लिए भारतके संवैधानिक ढाँचेके प्रकार तथा स्वरूपका निश्चित निर्णय करना सरल नहीं था।

सर्वसामान्यतः मुख्य रूपसे दो प्रकारके प्रजातांत्रिक संविधान जगत्‌में विकसित हुए हैं: एक तो इंग्लैण्ड तथा फ्रांस जैसे एकतंत्री या एकात्मक (Unitary) राज्यशासन, जिसमें प्रांत-प्रदेशोंके अधिकारमें स्थानीय प्रशासकीय सत्ताएँ होने पर भी अन्तिम निर्णायक सत्ता केवल केन्द्रके ही हाथोंमें होती है। दूसरा प्रकार अमेरिका, केनेडा, स्विट्ज़रलैण्ड और आस्ट्रेलिया जैसे समवायी या संघात्मक (Federal) राज्यशासनका है; जिसमें अलग-अलग इकाई राज्य (unit-states) स्वेच्छासे जुड़े हुए हों और सार्वभौम सत्ताओंके संघ (केन्द्र) और इकाई (राज्य)के बीच वैधानिक विभाजन किया गया हो।

इन दोनों प्रकारकी राज्य-प्रणालियोंके गुण-दोषोंकी चर्चा राजनीतिशास्त्रियोंके बीच सदियोंसे होती आई है और हो रही है।

अंग्रेजी शब्द 'फेडरेशन'का मूल लेटिन (Foedus)में है, जिसका अर्थ 'कॉन्वेण्ट' अर्थात् 'पवित्र करार' है। मूलतः यह शब्द धार्मिक संदर्भमें प्रयुक्त हुआ है—ईश्वर और मनुष्यके बीच पवित्र और चिरन्तन सायुज्यके अर्थमें। बादमें फ्रेन्च और जर्मन चिन्तकोंने उसे नए संदर्भमें प्रयुक्त किया। समाजका निर्माण तावेदारीके सम्बन्धोंके स्थान पर सहकारिताके संबंध-स्तर पर करनेकी वृत्तिको समवायी भावना माना गया है। उसका मुख्य झुकाव सहकारी सामाजिक व्यवस्था—सबकी समान भागीदारी—की ओर है।

इस समवायी भावना और आदर्शकी तात्त्विक चर्चाएँ प्राचीन ग्रीसके जमानेसे होती आई हैं। कितनी ही पुरानी चर्चाएँ आदर्श विश्वराज्यके संदर्भमे हुई हैं। प्रूधों, लार्ड एक्टन जैसोंने नागरिक-समस्या पर इस संदर्भमें विचारणा की है कि राजनीतिक सत्तामात्र अनिष्ट है—राज्य स्वयं एक आफत है। मॉण्टेस्क्युने सत्ताको काबूमें रखनेके लिए प्रतिसत्ताकी आवश्यकता पर बल दिया है। प्रतिसत्ताका अर्थ है सत्ताका विविध स्तर पर वितरण। इस कामके लिए छोटी-छोटी प्रादेशिक इकाइयाँ आवश्यक हैं। रूसोका यह मत है कि प्रजा ज्यों ही अपना प्रतिनिधित्व दूसरे हाथोंमें सौंपती है, उसी क्षण उसकी स्वतंत्रता मिट जाती है—उसका अस्तित्व ही नहीं रहता।

सार्वभौमत्वकी तो बात ही क्या ? रूसो भी छोटी इकाइयोंकी अनिवार्यता बताता है। परन्तु ये दोनों विचारक प्रजातंत्रके सिर-दर्दसे परिचित हैं। मॉण्टेस्क्यूके मतानुसार 'गणतंत्र राज्यका आकार यदि छोटा हो तो वह विदेशी आक्रान्ताओंके हाथों समाप्त हो जायगा और यदि वह बड़ा होगा तो आन्तरिक अपूर्णताओंके कारण नष्ट हो जायगा।' रूसो तथा अन्य फेडरेलिस्ट इस मन्तव्यपर आए हैं कि समवाय ही एक ऐसी युक्ति है कि जिससे सुरक्षा और आन्तरिक प्रजातंत्र प्राप्त हो सकते हैं, जिसमें स्वशासन (Self-government) और स्वतंत्रता (liberty)के लिए सिद्धान्तोंके लिए पूरा-पूरा अवकाश रहता है।

मेडिसन और स्टुअर्ट मिल राजनीतिक स्वतंत्रताका वरण करते हुए भी उक्त विचारोंसे सहमत नहीं हो जाते। मेडिसनका यह मत है कि केन्द्र सरकारकी सत्ता ही राज्योंके विरोधमें राजनीतिक स्वाधीनताकी गारण्टी हो सकती है। मिल भी इटलीके भावी संविधानके संदर्भमें यही दलील देता है और अन्तमें स्पष्ट करता है कि प्रजातंत्रकी सुरक्षाके लिए स्थानीय तंत्रोंके हाथोंमें अधिक काम सौंपनेका नुस्खा महत्वपूर्ण है। बेन्थाम सत्ताके वितरणके सिद्धान्तको अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि यह सिद्धान्त प्रजातंत्रके साथ कभी मेल खाने वाला नहीं है। अधिकाधिक स्वतंत्रताके लिए सत्ताके अंग अनिवार्य हैं: (१) राष्ट्रपतिपरक या संसदीय (Parliamentary) पद्धति, (२) दलीय पद्धति, (३) सामाजिक-आर्थिक परिबल। वह और आगे कहता है कि अगर ये सत्तांग किसी एक ही दल या वर्गके हाथमें पड़ जाते हैं तो स्वतंत्रताकी संभावना ही नहीं रहती। यह कह कर वह एक महत्त्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन करता है: संवैधानिक सत्ता-वितरणसे वास्तवमें राजनीतिका वितरण नहीं होता, क्योंकि स्वातंत्र्यका आधार समस्त समाजकी बहुलता (plurality) पर, बहुदल पद्धति पर निर्भर करता है। समवाय या संघ स्वयमेव कुछ ऐसी बहुलता धारण किए हुए नहीं होता। और बहुदल पद्धति—यह कोई समवायी या संघात्मक राज्यकी पैदाइश नहीं है अथवा उसके संचालनकी शर्त भी नहीं है। द'तोकिवले भी प्रजातंत्र और संघके बीच अनिवार्य सम्बन्धोंको नहीं स्वीकारता। वह केन्द्रित सरकार और केन्द्रित प्रशासनके बीच भेद मानता है। इसके विपरीत वह तो यह मानता है कि समवायता प्रजातंत्र विरोधी है।

'फेडरालिज्म : मेच्योर एण्ड इमर्जेण्ट' नामक ग्रंथके 'फेडरालिज्म एण्ड क्रिटिक' प्रकरणमें फ्रांज़ न्यूमान हमारे सामने दो मूलभूत सवाल रखता है। एक तो यह कि क्या समवायतंत्रमें कुछ ऐसे अन्तर्निहित मूल्य हैं कि उसकी स्थापनासे प्रजातंत्र और स्वतंत्रताका आदर्श अपने आप पूरा हो जाता है ? और दूसरा, क्या इन आदर्शोंको पूरा करनेके लिए समवायतंत्र ही एकमात्र उपयुक्त साधन है ? उसके कथनानुसार समवायतंत्रका अर्थ सीधा है: वह यह है कि समवाय राज्यके नागरिक वैधानिक ढंगसे एक ही साथ केन्द्रकी संसद और सुप्रीम कोर्ट तथा इकाई राज्यकी राज्यसभा और प्रशासनिक तंत्र—इन दोनों सत्ताओंके नीचे आते हैं। यह वैधानिक स्थिति है और (१) समवाय तंत्र राजनीतिक स्वातंत्र्यको सबसे अधिक अवसर प्रदान करता है। (२) वह प्रभावशाली प्रति-सत्ताकी स्थापना करता है। (३) सत्तामें अन्तर्निहित अनिष्टोंकी शक्तिको अवरुद्ध करता है। (४) वह स्थानीय सरकारके लिए बहुत उपकारक होनेसे आधारभूत प्रजातंत्रको आगे बढ़ाता है—आदि सभी धारणाओंको निराधार सिद्ध करता है; और जो कुछ गुण हैं वे समवायके अपने अलग

अनिवार्य गुण नहीं हैं। परन्तु सरकारी संगटनों, नियंत्रणों और संतुलनों, कोर्टके दृष्टिकोण, समवायकी प्रशासनिक सेवाओंके प्रकार और उसके रुखके आभारी हैं या फिर समाजके बहुलतावादी (pluralistic) और गतिमान ढांचेके आभारी हैं या केवल ऐतिहासिक परिस्थितियोंके या उक्त सब या उनमेंसे कुछ परिबलोंके आभारी हैं।

न्यूमानके कथनानुसार इस या उस प्रकारका कानूनी शासन मुख्य नहीं है। जिस-तिस देशमें एक तो राष्ट्रपतिपरक (Presidential) या संसदीय (Parliamentary) परिपाटी किस प्रकारकी है, उस देशमें सत्ताका वितरण किस प्रकारका है और वहांकी दल-पद्धति किस प्रकारकी है—सत्ताके ये तीन अंगोंके प्रकार मुख्य भूमिका अदा करते हैं। इसके अतिरिक्त उस देशका सामाजिक ढांचा सबसे अधिक महत्वपूर्ण चाभी है। जिस प्रकार, एक तो वहांके समाज-निर्माणमें एकात्मक (monolithic) तत्त्व विशेष है या बहुलता का तत्व विशेष है, (२) नगर प्रदेश और ग्राम प्रदेशका अनुपात कैसा है और (३) आर्थिक सत्ताका केन्द्रीकरण किस हद तक हुआ है—इन सब परिबलोंके स्तरों पर ही वहांकी समवायी पद्धतिका ढांचा खड़ा करना है और उसके आधार पर उसका परीक्षण करना उचित है।

ऊपरकी सिद्धान्त-चर्चाके प्रकाशमें हम इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे। इतिहासमें तो एक या दूसरे प्रकारके समवायी राज्यशासनके रूपमें परिचित अनेक प्रकार देखनेको मिलते हैं। अनेक बार विश्व-राज्यसे लेकर अलग-अलग राज्योंके सीमित संगटनोंको भी समवायके रूपमें देखा गया है। उदाहरणार्थ, ग्रीक नगर-राज्योंकी 'एकीकन लीग' (Achean League), प्रशिष्ट रोमन साम्राज्य, इटलीके नगरोंकी मध्ययुगीन मण्डलियाँ, स्विस फेडरेशन (१२९१), युनाइटेड नीदरलैण्ड (१६वीं सदी), ऑस्ट्रो-हंगरी एम्पायर, स्वीडन-नार्वेका राजतंत्रात्मक विलीनीकरण, इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्डका युनाइटेड किंगडम तथा १८७१से १९१९ तकके जर्मनीके प्रयोग। परन्तु इसमेंसे शायद ही किसीको हम अद्यतन अर्थमें समवायी शासन कह सकेंगे।

'इण्टरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशियल सायंसिस' बताता है कि इनमेंसे कितने ही शक्ति पर रचित साम्राज्य हैं; कितने ही दो राजाओंके वैयक्तिक आधार पर उनकी इच्छानुसार जुड़े हुए हैं; कुछ मात्र वैधानिक (Legislative) संघ हैं; तो कुछ विकेन्द्रित एकात्मक तंत्र हैं। तिस पर समवाय (Federation) और राज्यसंघ (Confideration)का भेद भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है।

सम्प्रति, अपनेको समवायी तंत्रके रूपमें परिचित करानेवाले सोलह राष्ट्रोंकी रीति-नीति भी हमारा ध्यान खींचनेवाली है। इनमें आप खुद और नादिरशाही शासनोंका भी समावेश है।

यद्यपि आधुनिक समवायी अवधारणा अधिकाधिक जिनके निकट वहीं जा सकती है, ऐसे चार राज्य माने गए हैं : १७८७में अमेरिकी राज्य 'फेडरेशन'से 'फेडरल' बने; १८४८में स्विस

संविधानमें हेरफेर होनेके कारण उसे समवायका नया ढाँचा प्राप्त हुआ; १८६७में ब्रिटिश नॉर्थ 'अमेरिका एक्ट'के अनुसार केनेडा समवायी राज्य हुआ; और १९००-०१में आस्ट्रेलियाने समवायी संविधान तैयार किया।

अमेरिकाका समवाय तंत्र मॉडलके रूपमें प्रस्तुत किया जाता रहा है। वहाँ मूल तेरहसे क्रमशः पचास तककी संख्यामें रचित स्वतंत्र राज्योंने स्वेच्छासे सदाके लिए समवायी संघको स्वीकार किया है। उनमेंसे प्रत्येक राज्य अपनी आन्तरिक एकता और लाक्षणिकता रखनेके कारण प्रत्येक इकाई मजबूत मानी जाती है। उन्होंने अपनी लाक्षणिकताओंको सुरक्षित रखने तथा अधिकाधिक सत्ताको बनाए रखनेके लिए संघ (केन्द्र)के अधिकारमें आवश्यक सत्ताएँ सौंप दी हैं। इसके अलावा शेष सत्ताएँ (residuary powers) इकाई राज्योंके अधिकारमें रखी गई हैं।

पहले सोबी मोगीकी दृष्टिसे समवाय और राज्यसंघके भेदको देख लें:

'प्रोबलम्स ऑफ फेडरेलिज्म' नामक ग्रंथमें उसके कथनानुसार राष्ट्रीय लक्षणोंको धारण करने वाली दो या दोसे अधिक प्रजाओंके राज्य अमुक समझौतेके अनुसार और सीमित हेतुसे संघ राज्यकी रचना करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्यके प्रजाजनोंकी नागरिकता और निष्ठा अपनी-अपनी इकाइयोंके प्रति बनी रहती है। उसमें जुड़े हुए राज्योंकी स्वायत्तता लगभग एक-सी रहती है और संघ शासनके अधिकारमें बहुत ही सीमित सत्ताएँ होती हैं। इस प्रकार समवायतंत्रकी लाक्षणिकता अनेक राज्योंको आपसी संबंधमें जोड़नेसे सिद्ध नहीं हो जाती। इसकी कुंजी यह है कि संघमें समवायी आदर्श कितने अंशों तक सुरक्षित रहते हैं: अर्थात् इकाई राज्योंकी स्वतंत्रता तथा इकाई राज्योंके अन्दरके दल, चुनाव और राजनीतिक पद्धतियाँ कितनी सीमा तक समवायी लक्षण रखते हैं, स्थानीय स्वराज्यके तंत्रोंकी इकाई सरकारका केन्द्र सरकारके साथ प्रजातांत्रिक संबंध है या नहीं। इस पर भी अनेक विचारक यह मानते हैं कि समय बीतते अमेरिकामें भी केन्द्र सत्ता अधिकाधिक बलवान होती जा रही है।

इस प्रकार इतिहासमें और सम्प्रति समवायतंत्रके नामसे परिचित अनेक प्रकार होनेके कारण उसे व्याख्याबद्ध करना मुश्किल है।

'दि एन्साइक्लोपीडिया अमेरिका'में प्रो० लिविंग्स्टन राज्यसंघ (Confederation) और एकात्मकतंत्र (Unitary)के साथ समवायतंत्रकी तुलना करता हुआ उसकी लाक्षणिकताएँ संक्षेपमें प्रस्तुत करता है:

> राज्यसंघमें जनरल (संघ) सरकार प्रादेशिक सरकारों पर आधारित होती है; एकात्मक पद्धतिमें प्रादेशिक सरकार केन्द्र सरकार पर आधारित होती है जबकि समवायतंत्रमें एकका भी सार्वभौमत्व नहीं होता, वह केन्द्र और इकाई सरकार—दोनोंके बीचमें बँटा हुआ होता है।

यह कह कर विद्वान् लेखकने समवायकी संक्षिप्त व्याख्या दी है:

> "जिसमें जनरल (केन्द्र) और प्रादेशिक (इकाई राज्य) वाली राजनीतिक पद्धति एक ही साथ जीवित हो, प्रत्येकके अधिकारमें अमुक सौंपी गई सत्ताएँ और कार्य हों, प्रत्येक

स्तरकी सरकार अपने क्षेत्रमें सीमित हो और उसमें वह दूसरे स्तरसे स्वतंत्र और स्वायत्त हो; दोनोंसे कोई भी स्तर दूसरेको सौंपी गई सत्ता छीन न सकता हो और दोनोंमें से एक भी अपने विधान बनाने, कर और कर-भारके मामलेमें दूसरे पर अवलम्बित न हो।"

अमेरिकाके चीफ जस्टिस पी० चेज़े समवायको "नाश न किया जा सकने वाला राज्योंका अविनाशी संघ है' कह कर उसके स्थायी तत्त्व पर बल देते हैं।

अधिकांशत: विचारक इस बात पर जोर देते हैं कि समवायतंत्रमें सत्ताका संचालन भागीदारी और आपसी छूटछाटकी भावना पर स्थित होना चाहिए और उसका खास झुकाव स्थानीय स्वराज्यके तंत्रोंकी ओर होना चाहिए। यह भी इस सीमा तक कि जहाँ एकपक्षी अमल करनेका वैधानिक अधिकार है, वहाँ भी जोर-जबर्दस्तीकी अपेक्षा सहकार और समझौतेसे सर्वसम्मति द्वारा निर्णय लेना इष्ट है।

निस्सन्देह, यह स्वाभाविक है कि केन्द्र और इकाईके बीच घर्षण उत्पन्न हो। प्रजातंत्रमें यह अनिवार्य है। परन्तु यह घर्षण विकासलक्षी होना चाहिए; विनाशलक्षी न बन जाय इसलिए दोनोंको इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि दोनोंके बीच संतुलन बना रहे।

समवायतंत्रके अनेक सच्चे और कथित प्रकारोंकी गहराईसे समीक्षा करनेके बाद आजके विद्वानोंमें समवायके जिन मूलभूत लक्षणोंके विषयमें सामान्यत: सहमति दिखाई देती है, अब उन पर दृष्टिपात किया जाय:

१. समवायमें जुड़नेवाली इकाइयोंका जुड़नेका निर्णय लिखित और स्थायी स्वरूपका होना चाहिए।

२. सत्ताका बँटवारा संघ (केन्द्र) और इकाई सदस्योंके दोनों स्तरों पर हुआ होना चाहिए और दोनोंकी सत्ताओंके विषयमें संविधानमें निश्चित निर्देश होने चाहिएँ और शेष सत्ताके विषयमें भी स्पष्टता होनी चाहिए।

३. सत्ताका बँटवारा जो संवैधानिक ढंगसे किया गया हो, उसमें केन्द्र और इकाई आपसी सहमतिके बिना परिवर्तन न कर सके अर्थात् संविधानकी समवाय तंत्रसे सम्बद्ध धाराओंमें हेरफेर करनेका एकपक्षी अधिकार केन्द्र या इकाईके पास न हो।

४. ये दोनों स्तरकी सरकारोंका संविधानमें निश्चित किए गए अपने-अपने क्षेत्रोंमें स्वायत्त, स्वतंत्र और समकक्ष रहना आवश्यक है। ऊपर होनेकी भावनाके या अधीनताके संबंधोंके लिए इस व्यवस्थामें अवकाश नहीं है। प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्रमें स्वायत्तताका उपभोग करती है।

५. समवायी संविधान इकाई राज्योंकी सम्मतिसे तयार किया हुआ एक करार है और अन्य करारोंसे यह इस रूपमें अलग हो जाता है कि उसके निष्पादनके लिए विशिष्ट तंत्र खड़ा किया जाता है। प्रत्येक इकाई सदस्यका अपना अलग संविधान हो सकता है और उसमें रद्दोबदल करनेकी पूरी सत्ता इकाईके अपने अधिकारमें है। कुछ यह भी मानते हैं कि इकाई राज्योंको बाहरके राज्योंके साथ स्वतंत्र करार करनेकी भी सत्ता हो सकती है।

६. संघमें जुड़े हुए इकाई राज्योंकी भौगोलिक सीमाओंमें, इकाई राज्योंकी अनुमतिसे और वह भी अपवाद रूपमें ही परिवर्तन किया जा सकता है।

७. समवायका निर्माण करनेवाला सत्ताका मूलस्रोत केन्द्र या इकाई राज्य नहीं हैं, बल्कि संविधान बन जाता है। अगर इसे हम सैद्धान्तिक भाषामें कहें तो केन्द्र और इकाई संविधानके अनुसार सीमित सत्ता रखते हैं, बल्कि संविधानकी सीमामें सभी सरकारें समान रूपसे स्वायत्त (autonomous) हैं; अर्थात् केन्द्र या इकाईमेंसे एकको भी सार्वभौमत्व (sovereignty) प्राप्त नहीं है।

८ केन्द्र और इकाई राज्योंकी सरकारोंके बीच उत्पन्न संवैधानिक विग्रहके न्यायके लिए स्वतंत्र न्यायतंत्र होना चाहिए; अथवा प्रजाकीय 'रेफरेण्डम' लिया जाना चाहिए। संक्षपमें, यह संबंध न्यायक्षम होना चाहिए।

यह तथ्य पर्याप्त स्पष्ट है कि समवायतंत्रके मुख्य लक्षणोंकी कसौटी पर ऐतिहासिक कथित समवायी शासन और आज जो इस नामसे पुकारे जाते हैं उन समवायी राज्यों में बहुत ही कम समानता है। अमेरिका और केनेडा जैसे नमूनेदार गणमान्य समवायीतंत्र भी इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इसका मुख्य कारण यह है कि समवायीतंत्रोंके ये प्रयोग किसी पूर्व स्थापित समवायी आदर्शोको ध्यानमें रखकर उसकी पूर्णताके लिए नहीं किए गए हैं। सही बात तो यह है कि अलग-अलग जमानेमें, अलग-अलग परिस्थितियोंके उत्पन्न होनेसे अलग-अलग राज्योंने अपने तत्काल या लम्बे समयके हितके लिए अपनी आवश्यकताके अनुसार प्रयोग किये थे। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रयोग-कालमें कभी भी प्रजातंत्र और स्वतंत्रता पर विचार ही नहीं किया गया था। परन्तु उनकी पृष्ठभूमिमें स्थित परिबल आवश्यकतासे जन्मे प्रतीत होते हैं।

सोबी मोगी अपने विशाल ग्रंथ 'दि प्रोबलेम ऑफ फेडरेलिज्म' (ग्रंथ-२)के अन्तिम प्रकरणमें समवायका सत्व संक्षेपमें प्रस्तुत करता हुआ कहता है:

> "समवायता (federalism) स्वयं एक राजनीतिक सिद्धान्तके अतिरिक्त राजनीतिक टेकनीक है। वह एकात्मकता (unitarism)का विरोधी है। उसका आधार निरपेक्षता न होकर सापेक्षता है। उसका प्रारंभ पूर्वनिश्चितता (a-priorism)से न होकर प्रत्यक्ष अनुभववाद (empiricism)से होता है। उसके राजकीय तंत्रमें जुड़नेसे लेकर समवाय राज्यों तकके विविध प्रकारीय राज्यसंघ प्रदान करता है। वह बहुलतावादी (pluralistic) राजकीय संगठनोंका रास्ता तैयार करता है। उदाहरणार्थ, समवायके अन्दरके सामूहिक राज्य (collective states) और वैयक्तिक राज्योंके बीच राज्यसत्ताका बँटवारा अथवा केन्द्रीय सत्ताके निर्णयोंमें इकाई राज्योंकी भागीदारी अर्थात् विधान और प्रशासन (legislation and administration)के विकेन्द्रीकरणकी नींव पर रचित सीनेट अथवा फेडरेल काउंसिलका सर्जन...।
>
> "समवायता अपनी राजकीय टेकनीकमें राजनीतिक और प्रशासनिक विभागोंकी समस्याओंका तथा केन्द्रीय व स्थानीय सत्ताओंके बीचकी समस्याओंका निराकरण करती है।

"समवायताकी तात्विक दलीलोंका आधार अमुक समय पर निश्चित और स्थान पर अपनी श्रेष्ठ संभव उपयोगितामें निहित है।

"इस तरह चाहे जो कानूनी सिद्धान्त अपनाया जाय, समवायताका विचार अमुक निश्चित समयमें और स्थान पर अमुक निश्चित सूचित परिस्थितिमें श्रेष्ठ संभव उपयोगिताकी अधिकाधिक निकटताकी अपेक्षा अधिक दावा नही कर सकता है, क्योंकि समवायताका सिद्धान्त स्वभावतः अनुभववाद पर ही—बल्कि समन्वय और भूतकाल और वर्तमानकालके मानव-अनुभवों और बुद्धिशालिताके स्वानुलक्षी संगठन पर ही आधारित होना चाहिए न कि पूर्वनिर्णीतता पर।"

संक्षपमें, संगठनका समवायी प्रयोग किसी सैद्धान्तिक आदर्शमेंसे पैदा नहीं हुआ है और न दार्शनिक तत्त्वविचारणामेंसे ही पैदा हुआ है। परन्तु राजकीय प्रयोगकी वास्तविक आवश्यकतासे जन्मा है। महान् फेडरालिस्ट नेता हेमिल्टनने भी इस बातको स्पष्ट किया है कि कानूनी और दार्शनिक सिद्धान्त चाहे कितने ही पैदा किए जाएँ, किन्तु समवाय संघका आधार तो उसमें जुड़नेवालोंकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता सिद्ध होने पर निर्भर करता है। के० आर० बोम्बवेल 'युनियन रिलेशंस इन इण्डिया'के 'इम्पेरेटिव्ज़ ऑफ फेडरालिज्म इन इण्डिया' नामक प्रकरणमें इस बातके समर्थनमे अनेक विद्वानोंके मत उद्धृत करता हुआ कहता है कि सैद्धान्तिक नींव पर कहीं कोई भी समवायतंत्र रचा नहीं गया है, परिस्थितिके दबावके कारण समाधानके लिए उसकी रचना हुई है। इसके पीछे मूल प्रेरक बल ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें और समस्याओंमें निहित होता है।

यह लेखक तो आगे चलकर यह भी कहता है कि अधिकांशतः एकात्मक शासन ही पसंद किया जाता है, विवशतामें ही लोग समवायी शासनको स्वीकार करते हैं।

समग्रतः इतनी बात स्पष्ट होती है कि शायद ही किसी प्रजाके सामने शुद्ध एकात्मक या शुद्ध समवायी—इस प्रकारकी स्पष्ट पसंदका सवाल खड़ा होता है अर्थात् समवायीतंत्रकी इष्टता (desirability) चाहे कितनी ही स्वीकार कर ली गई हो, फिर भी आवश्यकताका विचार प्रत्येक देशको करना है।

आवश्यकताकी दृष्टिसे विचार करने पर दूसरे विश्वयुद्धके बादकी परिस्थितिमें सर्वसाधारणतः यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि जो देश विदेशी गुलामीके नीचे बहुत समय तक दम घोंटता रहा हो और उसके कारण उस देशके विभिन्न प्रदेशोंका समान विकास न हुआ हो, उसमें एकात्मक शासनकी अपेक्षा समवायी शासन पद्धति बहुत जरूरी अर्थात् लाभदायी है। विशेषतः जहाँ भौगोलिक विस्तार बहुत अधिक हो, आन्तरिक प्रदेशोंकी प्रजाओंके बीच इतिहास, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय, जाति (races) आदि भेदोंके कारण एकात्मकता न टिक सकती हो; वहाँकी प्रजाके लिए एकात्मक पद्धति अगर स्वीकार कर भी ली जाय तो वैधानिक ढंगसे प्रजातांत्रिक गणतंत्र होने पर भी उसमें केन्द्रके एकाधिकारी शासनका भय बना ही रहता है। परिणामतः स्थानीय प्रदेशोंका असंतोष उग्र

होने पर केन्द्र भी प्रादेशिक समर्थनके बिना हवामें लटकता हुआ शासन बन जाता है। ऐसे देशके सामने आन्तरिक षड्यंत्र और बाहरी आक्रमणका भय अगर बढ़ जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इससे यह निष्पन्न होता है कि नवोदित राष्ट्रोंके लिए, विशाल प्रदेशों वाले और विविधतासे पूर्ण प्रजाओं वाले देशके लिए समवायी शासन ही अधिक हितप्रद है। समवायमें जुड़ने पर उस प्रजाको यह ढाँढ़स रहता है कि विभिन्न भाषा-संस्कृति वाले प्रदेश अपनी अलग विधानसभा, प्रादेशिक दल और नेतृत्वके द्वारा अपना हित अधिक सुरक्षित रख सकेंगे और केन्द्रके अत्याचारी शासनका भय टल जायगा। संक्षेपमें, समवायी तंत्रमें स्पर्धायुक्त राजनीति (competitive politics)के लिए अधिक अवकाश रहता है।

ऐतिहासिक परिस्थिति पर विचार करने पर विशेष बात सामने आती है कि संघमें जुड़ने वाली इकाइयोंके अन्दर प्रादेशिक, जातीय (racial) तथा समान राष्ट्रीयताकी भावना स्थिर हुई होनी चाहिए। यदि ऐसा विकास न हुआ हो तो बड़े संघमें जुड़ना अपने लिए भयावह बन जाता है। दूसरे संघ रूपमें जुड़नेके लिए प्रजाकी मानसिक तैयारी होनी चाहिए। जब तक ऐसा न हो, तब तक उस प्रजा इकाईका मानस समवायके स्थान पर एकात्मक शासनकी ओर अभिमुख रहनेका भय उचित ही है।

इन सबके बाद विचारणीय महत्वपूर्ण बात यह है कि समवायतंत्रके सर्वसामान्य लक्षण जान लेनेसे या समवायतंत्रकी इष्टता स्वीकार कर लेनेसे या परिस्थितिके अनुसार पसंद भी कर लेनेसे अथवा आवश्यकता भी मान्य कर लेनेसे निराकरण नहीं हो जाता। समवायी ढाँचेका निश्चित रूप प्रत्येक देशको अपनी परिस्थितियोंके आधार पर तय करना होता है। उदाहरणार्थ, इस प्रकारका आग्रह कि शेष सत्ताएँ इकाई राज्योंके अधिकार में रहें अथवा इकाई राज्योंकी स्वायत्तता और मर्यादाका स्वरूप और अनुपात—अर्थात् केन्द्र और इकाई सरकारका समान स्वायत्तता विषयक विचार-विनिमय करना शेष रहता है।

मेडिसनने संघ रचनेमें छः मुख्य हेतुओंका निर्देश किया था और संघ (केन्द्र)की सत्ताको छः कक्षाओंमें बाँट देनेकी सलाह दी थी: एक तो विदेशी भयके विरुद्ध सुरक्षितता; दूसरे, विदेशी सत्ताओंके साथ संबंधोंका नियंत्रण; तीसरा, इकाई राज्योंके बीच उचित व्यवहार और सुसंवादिता; चौथा, अमुक विघातक कार्य करनेवाले राज्यों पर अंकुश; पाँचवाँ, इन सब सत्ता-केन्द्रोंको उचित कार्य-कुशलताकी प्राप्ति और छठा सार्वत्रिक उपयोगितामें सहायभूत होनेका हेतु।

संक्षेपमें, समान संरक्षण, स्वातंत्र्यकी सुरक्षा और सर्वसाधारणके कल्याणके हेतुओंसे समवाय संघ निर्मित होता है। अतः इस हेतुको पूरा करनेके लिए उक्त छः उत्तरदायित्व संघ सरकारके हाथमें होने आवश्यक हैं। परन्तु यह भय भी निरर्थक नहीं है कि कहीं इन सत्ताओंके संघाधिकारमें रहनेके कारण समवायकी इकाइयाँ केवल नाममात्रकी न रह जायें। उस समय समवायको दोनों हेतु एक साथ पूरे करने होते हैं: एक ओर केन्द्र सबल, दृढ़ और कार्यक्षम रहना चाहिए और दूसरी ओर इकाई राज्योंकी सत्ता वास्तविक और घनिष्ठ होनी चाहिए।

समवायके आदर्श और उसके स्वरूप पर हम विचार कर चुके हैं; समवायके महत्वके लक्षण भी देख आए हैं और तत्पश्चात् समवायकी इष्टता और आवश्यकताके मुद्दे पर भी विचार कर चुके हैं। ये सब देखने पर इतनी बात तो स्पष्ट हो जाती है कि भारतके सामने अपने शासन प्रकारकी समस्या तय करनेका काम सरल नहीं था। इसके अतिरिक्त, भारतकी विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमिने तो कितनी ही कठिन समस्याएँ पैदा कर दी थीं: एक भारतकी एकात्मता (integrity)-का स्तर और दूसरे जब अंग्रेज भारत छोड़ कर गए, उस समय भारतके वास्तविक ढाँचेका प्रकार।

भारतकी एकात्मताके स्तर और प्रकारका पहले विचार करेंगे। यह पहले ही जान लेना आवश्यक है कि इस बातमें सभी विद्वान् सहमत नहीं है। एक ओर डा० राधाकुमुद मुकर्जी अपने 'नेशनलिज्म इन इण्डियन कल्चर' ग्रंथमें इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतमें आदिकालसे समस्त भारत देश पितृभूमि रहा है और इस प्रकार राष्ट्रवाद स्पष्ट आकार ग्रहण कर चुका था तो दूसरी ओर सर जान स्ट्रेच तथा अन्य देशी-विदेशी लेखकोंने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया है कि भारत कभी भी पूर्ण राष्ट्रत्वको प्राप्त नहीं हुआ; वह अधिकांशतः एक भौगोलिक संज्ञा है; विविध राज्योंका भानमतीका पिटारा है। परन्तु समग्रतः बहुत बड़े भागके देशी-विदेशी लेखकोंके बीचमें सहमति पाई जाती है। सर हर्बर्ट हिस्लेके कथनानुसार भौगोलिक और सामाजिक वैविध्यके बावजूद हिमालयसे कन्याकुमारी तक आन्तरिक एकता दिखायी देती है। भारतीय चारित्र्य, लाक्ष-णिकता और भारतीय व्यक्तित्व स्पष्टतः अपना अस्तित्व रखे हुए है।

अधिकांशत यह एकात्मता सांस्कृतिक थी, जो सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सीमाओंके कारण भौगोलिक एकता भी सभी स्वीकार करते हैं। इन दोनोंके परिणामस्वरूप अनेक विद्वान् लम्बे युगों तक दिखायी देनेवाली राजनीतिक एकता भी पुराने समयसे चली आई मानते हैं। के० एम० पन्नीकरका कथन है कि आर्यावर्तकी सांस्कृतिक अवधारणाके साथ-साथ भारतवर्षके सतत राजनीतिक शासनकी अवधारणा भी रही ही है और 'हिन्दू राजनीतिक विचारधारामें वह एक अग्रिम परिबल रहा है।' युगों-युगोंके बीच दिखायी देनेवाली राजाओंके चक्रवर्ती होनेकी अदम्य आकांक्षा इसी तथ्यकी ओर अंगुलि निर्देश करती है।

संभव है कि चक्रवर्तीत्वको 'राजनीतिक एकता'के रूपमें स्वीकार करनेके लिए सब तैयार न भी हों। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे दूसरी एक बात महत्वपूर्ण है कि भारतकी विशाल भूमि पर चक्रवर्ती साम्राज्य जब स्थापित हुए, तब भी भारतकी भौगोलिक और सांस्कृतिक इकाइयाँ एक छत्रके नीचे होने पर भी उस समय प्रादेशिक स्वायत्तता कम या अधिक मात्रामें प्रदेशके राजाओं और सूबेदारोंके अधिकारमें रही है। इस प्रकार चक्रवर्ती शासनके नीचे भी प्रादेशिक स्वायत्तताके मर्यादित अर्थमें समवाय-लक्षण देखनेको मिल जाते हैं। प्रो० अनन्त सदाशिव अलतेकर 'स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया' नामक ग्रंथमें लिखते हैं कि 'आदि युगमें प्रान्तीय सूबे कितनी ही बार तो इतनी हद तक स्वायत्तता भोगते थे कि युद्ध और शान्तिकालके निर्णय भी उन्हींके द्वारा किए जाते थे।' इसका अर्थ हमें यह नहीं लगा लेना चाहिए कि वे 'समवायी आदर्श'के पालन करनेका आग्रह रखते थे। विशाल देश, प्रान्तोंकी प्राकृतिक संरक्षक सीमाएँ तथा अविकसित यातायातके साधन इसके कारण थे। इसीलिए तो चक्रवर्ती शासनके निर्बल या नष्ट होते ही ये प्रदेश यदा-कदा स्वतंत्र सत्ताएँ बन जाती थीं।

इसके अतिरिक्त तीसरी बात भी महत्वपूर्ण है। भारतीय हिन्दू समाजकी आन्तरिक स्वायत्तता विचक्षण रूपसे टिकी हुई है। केन्द्रमें चाहे किसी भी प्रकारका राज्य हो, उसमें चाहे कितनी ही छोटी-मोटी उथल-पुथल हो; पर नीचे ग्राम समाजके विधान और व्यवहार पर कोई आँच नहीं आती। इसका कारण यह है कि सामाजिक राजकीय जीवनके आधारमें कुटुम्ब, जाति और ग्रामकी अटूट एकता रक्षित रहती थी।

इस तरह भारतीय साम्राज्य दो प्रकारसे समवाय-लक्षण रखते थे: एक तो प्रादेशिक राजकीय प्रकार और दूसरा सामाजिक प्रकार। श्री के० पी० जायसवालने अपने 'हिन्दू पॉलिटी' ग्रंथमें इस विलक्षणताकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'केन्द्रीयता भारतकी प्रजाकी हड्डियोंमें न थी।'

इस पर भी विरोधाभास न लगे, अतः दूसरी वास्तविकताको साथ-साथ ध्यानमें लेना आवश्यक है। भारतकी उक्त सांस्कृतिक एकता और राजनीतिक एकताको अपेक्षाकृत अधिक गुलाबी रंग देनेकी मनोवृत्तिसे सजग रहना चाहिए। हम जिस विवरणको देख आए हैं, उससे दूसरे दृष्टिविन्दुसे पुनः परीक्षण करते समय हम यह भी कह सकते हैं कि ऐतिहासिक ढंगसे भारतका सांस्कृतिक ढांचा अच्छे अनुपातमें समवाय स्वरूपका होने पर दक्षिण भारतकी द्रविड शाखाकी प्रजा और उत्तर भारतकी आर्यशाखाकी प्रजाके बीच तादात्म्य स्थापित नहीं हो पाया था। परिणामतः दोनोंके बीच एक प्रकारका आन्तरिक वैमनस्य दवा हुआ पड़ा था।

मुस्लिम-युगके आरम्भ होने पर नयी प्रक्रिया शुरू हुई थी। विदेशोंसे आए हुए और अहिन्दू राजकर्ताओं द्वारा प्रशासनिक एकता और दृढ़ताके लिए राज्यसत्ताके केन्द्रीकरण पर जोर देना स्वाभाविक व आवश्यक था। वादशाह-सुलतान सर्वाधिकारी माने जाते थे। इस पर भी व्यावहारिक रूपसे यह देखनेको मिलता है कि स्थानीय सूवे अपनी अलग सेनाएँ और खजाने रखते थे और कामकाजके मामलोंमें भी वहुत-सी स्वायत्तता भोगते थे। अन्तमें, प्रजाके निर्माणका रुख देखकर व्यावहारिक समझदारीकी खातिर भी वे प्रान्तोंके मामलेमें कम ही दखल दिया करते थे।

भारतीय एकात्मताकी दृष्टिसे तो मुस्लिम-युग अपने पूर्वके तमाम युगोंसे अलग पड़ता है। आरंभमें विदेशसे आकर वसे हुए और वादमें अधिकांश स्थानीय हिन्दुओं द्वारा धर्म-परिवर्तन कर मुस्लिम वनने पर भी समग्रतः मुस्लिम प्रजाका राष्ट्रीय तादात्म्य स्थापित न हो पाया। परिणामतः भारतके प्रान्त-प्रदेश इकाई राज्योंमें राष्ट्रीय एकात्मताको लेकर जितनी कमी या जितना अभाव रह गया था, उतने ही अनुपातमें भारतका समवाय स्वरूप कच्चा मानना चाहिए।

इसके वाद ब्रिटिश राज्य प्रवन्धके लम्वे कालमें अल्पसंख्यक विदेशी जाति अंग्रेजोंने देशको अपने अधिकारमें रखनेके लिए सुकेन्द्रित सत्ताका आग्रह रखा था। व्यवस्था, राजस्व, कानून, वित्त, सेना आदि सभीमें एकात्मक शासन था। परन्तु आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन होता गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथोंसे ब्रिटिश ताजके हाथोंमें सत्ता जाने पर सत्ताका विकेन्द्रीकरण आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे इनका भी भारतीय वैविध्यको लिए विना काम न चला। आन्दोलनोंके शुरू होते ही प्रादेशिक स्वायत्तताके विषयमें अधिकाधिक माँग जोर पकड़ती गई। स्वराज्य और प्रजातंत्रकी दिशामें यह एक चुनौती थी। और धीरे-धीरे संवैधानिक सुधार होते गए। दूसरी तरफ अंग्रेज राजकर्ताओंको यह भी लगने लगा कि राष्ट्रीय स्तरके आन्दोलनको कमजोर करनेके लिए जनतामें

प्रान्तीय-प्रादेशिक भावना उत्पन्न करना लाभप्रद है। लॉर्ड हार्डिजने तो भाषावार समूहोंकी सिफारिश भी की थी।

समग्रतः, सर्वसत्ता-सम्पन्न केन्द्रके नीचे प्रान्तीय स्वायत्तताका मार्ग उद्घाटित हुआ। १९१९में मॉण्टफर्ड सुधारोंके बाद इसे और अधिक वेग प्राप्त हुआ और १९३५के सुधारोंमें तो वह प्रान्तीय स्वराज्यकी मंजिल तक पहुँच गया।

इस पर भी, अंग्रेजोंने अपने एकाधिकारी शासनके भाग-रूपमें जो प्रशासनिक सुधार किए थे, उन्हें भूल नहीं जाना चाहिए। इसके कारण प्रशिष्ट समवायके एक अत्यन्त आवश्यक लक्षणका अभाव हमारी नजरके बाहर नही जाना चाहिए।

जब भारतमें अंग्रेजोंने अधिकार जमाया उस समय और जब वे भारत छोड़ गए उस समय भी भारतके तत्कालीन इकाई राज्य स्वतंत्र व सार्वभौमिक राज्य न थे। वे स्वेच्छया समान कक्षा पर अपने संघ नहीं बनाते थे। ये राज्य अधिकांशतः ब्रिटिश प्रान्त थे---वास्तव में ब्रिटिश एकाधिकारी शासनके अन्तर्गत स्थानीय अधिकारोंको पाने वाले प्रशासकीय प्रदेश मात्र थे। इसके अलावा ब्रिटिश 'पेरामाउंटसी'---छत्रछायाके नीचे दबे हुए होने पर भी सार्वभौम माने गए देसी रजवाड़े थे। वे भी अपनी पूर्ण इच्छासे संघमें शामिल नही हुए थे।

ड्राफ्टिंग कमेटीके चेयरमैन डॉ० अम्बेदकरने स्पष्ट कहा है: 'भारतका फेडरेशन कोई राज्योंके बीच हुए करारोंका परिणाम नही है। सच तो यह है कि किसी भी राज्यको उसमेंसे अलग होनेका अधिकार भी प्राप्त नही है। सम्पूर्ण देश अखण्ड है, उसकी प्रजा एक ही मूल स्रोतसे निकले प्रवाहके नीचे जीनेवाली एक प्रजा है।'

वास्तवमें, भारतीय समवायका ढाँचा ब्रिटेन और भारतके राजनीतिक पक्षोंकी आपसी छूटछाटसे उत्पन्न हो रहा था। मजेकी बात तो यह है कि जिस विधान सभाने इसे अन्तिम स्वरूप दिया, उस विधान सभामें चुने हुए प्रतिनिधि भी वयस्क मताधिकारके स्थान पर १९३५के वैधानिक सुधारके अनुसार सीमित मताधिकारके आधार पर चुनकर आए थे।

ब्रिटिश शासनके अन्तिम दिनोंमें समवायका निर्णय भारतकी इच्छाकी अपेक्षा आवश्यकतासे अधिक बन रहा था। दो गंभीर समस्याएँ उसके लिए सिरदर्दके समान थीं।

सर सैयद अहमद खाँ, इकबाल, आगाखाँ और मौलाना मुहम्मद अली जैसे धुरन्धर मुस्लिम नेताओंने इस प्रकारके विचार प्रकट किए कि भारतमें मुस्लिम कौम सर्वथा भिन्न है, वह अपनी अलग राष्ट्रीयताका दावा करती है। भारतके मुसलमान मुस्लिम पहले हैं और भारतीय बादमें हैं, और भारतमें हिन्दुओंका बहुमत होनेके कारण जो कुछ प्रतिनिधित्व मिलेगा, जो प्रजातंत्र आएगा, वह सच्चा नही होगा; बल्कि हिन्दू बहुमतवाला, हिन्दू प्रभुत्ववाला ही राज्य शासन होगा। परिणामतः भारतीय नागरिकके रूपमें उनकी एकात्मतामें बहुत विक्षेप रहा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजोंके पहले मुसलमानोंके हाथमें सत्ता थी। अब उन्हें अपने अलावा किसी दूसरी राजसत्तामें रुचि न थी।

दूसरी ओर, ब्रिटिश राजकर्ता, जो १८५७के विद्रोहमें और उसके बाद मुस्लिमोंके विरुद्ध हिन्दुओंको उत्तेजित करनेका नुस्खा अजमा रहे थे; उन्होंने अब राष्ट्रीय आन्दोलनके विरुद्ध मुस्लिम पूर्वग्रहों और पिछड़ेपनका उपयोग करना आरम्भ कर दिया था। १९०९में मार्ले-मिण्टो सुधारके पूर्व १९०६में सर आगाखाँके नेतृत्वमें 'मुस्लिमोंका अलग मताधिकार' और 'आबादीकी अपेक्षा

अधिक मात्रामें प्रतिनिधित्व' जैसी अप्रजातांत्रिक और विग्रह पैदा करनेवाली कौमी माँगोंको प्रस्तुत करानेमें वायसरायके प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ तथा अलीगढ़ कॉलेजके प्रिन्सिपल आर्चिवाल्ड प्रेरणास्रोत बने थे।

इस कौमवादी विग्रहकारी नीतिमेंसे मजबूत हुई मुस्लिम लीगने १९२४में मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशोंकी रचना करके स्वतंत्र भारतके भावी समवायतंत्रके भीतर मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशोंकी–जितने अधिक मुस्लिम प्रान्त मान्य हों, उतना अधिक दबाव-बल समवाय संघमें काम आ सकेगा; इस हिसाबसे पंजाब, बंगाल, सरहद प्रान्त, बलूचिस्तान और सिंधके पूरे प्रान्तोंकी—अलग रचनाकी माँग पेश की। लीगकी इस माँगके पीछे 'भारतीय फेडरेशनमें मुस्लिम फेडरेशन' बनानेकी युक्ति थी। चाहे जो हो, इतना तो स्पष्ट हुआ कि स्वाधीन भारतका स्वरूप अगर समवाय होगा, तो मुस्लिम लीग उसमें सहमत होगी।

भारतका दूसरा सिरदर्द देसी राज्य थे। भारतमें लगभग ५६२ रजवाड़े मौजूद थे। वे ब्रिटिश ताजकी परमाधिकार सत्ताके अन्तर्गत थे और भारत सरकारकी सीधी हुकूमतसे परे थे। भारत सरकारके अधिकृत ब्रिटिश प्रदेशोंसे ये रजवाड़े बिलकुल भिन्न थे, परन्तु व्यवहारमें पोलिटिकल एजेण्टके द्वारा भारत सरकार अपना प्रभुत्व उन पर जमाए हुए थी।

कांग्रेसकी शक्तिके बढ़नेसे, राष्ट्रीय आन्दोलनका प्रभाव बढ़नेसे तथा अंग्रेज भारत से बिदा लेंगे, उस समय क्या होगा — यह चिन्ता रजवाड़ोंके हृदयोंमें समा गई थी। 'फूट डालो और राज करो'— की ब्रिटिश नीति भी इस मामलेमें उन्हें चंचल बना रही थी। इस स्थितिमें भावी भारत समवायतंत्रात्मक हो और उसमें राज्योंका एक वर्ग इकाईके रूपमें रहे, इस प्रकारकी योजना स्वीकार करनेके लिए दबाव डाला जाता रहा था।

समग्रतः स्वतंत्र भारतमें सीधी ब्रिटिश सत्ताके अधिकृत ग़ैर-मुस्लिम प्रदेशोंकी एक इकाई, मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशोंकी दूसरी इकाई और रजवाड़ोंकी तीसरी इकाई—इस प्रकारका समवायी संघ ब्रिटिश सत्ता, मुस्लिम लीग और देसी राज्योंको अनुकूल था। पहली गोलमेज कान्फ्रेन्समें कांग्रेसने भाग नहीं लिया था, परन्तु लीग और पटियालाके महाराजाने इस प्रकारकी दरख्वास्त पेश की थी। इतना सब होने पर भी भारतीय स्वतंत्रता संग्रामका नेतृत्व करने वाली प्रमुख संस्था इण्डियन नेशनल कांग्रेसके आधार पर अन्तिम निर्णय किया जाना था, यह भी एक सत्य है।

समवायतंत्रके लिए चाहना (desirability) और आवश्यकताके बीच कांग्रेस बहुत समय तक झोंके खाती दिखायी देती है। स्वाधीनताके आन्दोलनका आरम्भ और विकास अधिकाधिक स्थानीय-प्रादेशिक-प्रान्तीय अधिकारों द्वारा स्वशासन प्राप्त करनेके आन्दोलन द्वारा हुआ था और ब्रिटेनने भी १९१७-१८के बीच इस प्रकारके सुधारको स्वीकार कर लिया था। १९२९में सायमन कमीशनने भारतका अन्तिम संविधान संघीय होगा, यह निदान भी कर दिया था। उस समय लीग और देसी राज्योंकी चालोंसे चौंककर कांग्रेसका मन एकात्मक संविधानकी ओर खिंच रहा था। १९२९में पं० मोतीलाल नेहरूकी कमेटीने जो रिपोर्ट तैयार की थी, वह एकात्मक संविधानकी सिफारिश करनेवाली थी। यद्यपि, यह कह कर कि पूर्ण स्वरूपका समवायतंत्र असंभव नहीं है, संघके लिए द्वार खुले रखे थे। १९३१में दूसरी गोलमेज कांफ्रेन्सने भावी संविधानके आधार रूपमें फेडरेशनके विचारको ही मान्यता दी थी। परन्तु जब १९३५में ब्रिटेनने समवायी योजना

तैयार की, तब वह किसी भी महत्वपूर्ण पक्षको संतोष न दे सकी। कांग्रेसकी दृष्टिसे यह ढाँचा विभाजनवादी था; लीग और देसी राज्योंके हाथोंमें 'वीटो' दे देनेके समान था, राजसी क्रीड़ाकौशलकी तरकीबके समान था। अतः वह उसे अमान्य था। हिन्दू महासभाका भारतकी अखण्डताके लिए एकात्मक रचनाका आग्रह होनेके कारण उसने इसके विरुद्ध आन्दोलन जगा दिया था। दूसरी तरफ लीग और देसी राज्योंको भी संतोष न हुआ। केन्द्रके हाथोंमें दी गई सत्ताओंके सामने उन्हें आपत्ति थी। वे तो इस आशामें थे कि केन्द्रकी सत्ता नाममात्रकी रहे। ऐसी स्थितिमें देश दिशाविहीन होकर घिसट रहा था और संविधानके मार्ग पर स्वाधीनताकी नौका भटक गयी थी।

समय बीतते एक ओर केबिनट मिशनने त्रिपक्षीय (ब्रिटिश प्रान्तों, देसी राज्यों और मुस्लिम प्रदेशों वाले) फेडरेशनका ढाँचा तैयार किया। दूसरी तरफ कम्युनिस्ट पक्षने सन् १९४५-४६मे बड़े जोरमें आकर भारतके सोलह प्रदेश कर, प्रत्येकको राष्ट्र रूपमें मानकर, धर्मके आधार पर मुस्लिम राष्ट्रको समर्थन देकर और भारतसे पृथक् रहनेका उनका जन्मसिद्ध अधिकार है, इसे मानकर एक नयी ही भयंकर छलना उत्पन्न कर दी थी। भारतके राष्ट्रवादियोंको इस प्रकारकी समवायी भूमिका राष्ट्रकी बरबादीके समान दिखायी दी।

इस परिस्थितिमें, १९४६के अन्तमें विधानसभाका अधिवेशन हुआ। मुस्लिम लीगने इसका बहिष्कार किया था। पं० जवाहरलाल नेहरूने लीगको जीत लेनेके लिए मजबूत केन्द्रकी बातको छोड़ दिया और 'हेतुओं और उद्देश्यों'से सम्बद्ध प्रस्ताव पेश किया; उसमें 'कमसे कम संघसत्ता और इकाई राज्योंके पास शेष सत्ताएं'का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था।

परन्तु अन्तमें बँटवारेके द्वारा पाकिस्तानका बनना निश्चित होने पर, लीगका दुराग्रह समाप्त होते ही कांग्रेसमें परिवर्तन आया। साम्प्रदायिक दंगे, कम्युनिस्टोंकी अन्तर्विग्रह पैदा करनेकी नीति और देसी राज्योंकी हित-क्रीड़ा—ऐसी संकटपूर्ण अवस्थामें 'दूधका जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है'की उक्तिके आधार पर यथासंभव अधिक मजबूत केन्द्रवाला अर्थात् कम-से-कम समवाय लक्षणों वाला संविधान बनानेका दृष्टिकोण स्पष्ट दिखायी दे रहा था।

अन्ततः जब संविधान तैयार हुआ, उस समय 'समवायतंत्र' (Federation) शब्द-प्रयोगके स्थान पर भारतका नवनिर्माण 'संघराज्य' (Union of States)के रूपमें हुआ। यह संघराज्य संज्ञा स्वयं ही एकात्मक लक्षणोंको सुझाती है, परन्तु इससे वह एकात्मक शासन नहीं बन जाता।

अन्ततः १९४९मे भारतका जो संविधान तैयार हुआ, उसके कितने ही मुख्य लक्षणोंका समवायके सर्वसाधारण रूपसे आवश्यक माने गए लक्षणोंकी तुलनामें परीक्षण करें तो पता चलेगा कि : (१) भारतमें जो समवाय रचना तैयार हुई है, उसमें जुड़नेवाली इकाइयोंने (ब्रिटिश प्रान्तों और देसी राज्योंकी प्रजाओंने) स्वेच्छासे संघ रचनेका निर्णय नहीं लिया था। देसी राज्य अलग-अलग इकाइयोंमें विलीन हो गए थे; और ब्रिटिश प्रान्तोंके एक साथ रहनेकी बात तो एक तरफ रह गयी, बल्कि उनको नए सिरेसे गढ़नेकी व्यवस्था भी संविधानमे कर दी गई थी। (२) सत्ताका बँटवारा केन्द्र और राज्योंके स्तर पर तथा दोनोंकी भागीदारीके स्तर पर निश्चित हो चुकनेके बाद जो शेष सत्ताएँ रह गयी थीं, उन्हें इकाई राज्योंके अधिकार मे न देकर केन्द्रके अधिकारमें सौंप दिया गया। (३) राज्योंकी स्वायत्ततामें परिवर्तन करनेके अधिकार केन्द्र (राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल तथा संसद)के हाथमें सौंप दिए गए थे।

समग्रत: केन्द्राधिकारमें इतनी अधिक सत्ताओंको देखकर कितने ही विचारकोंका मत यह है कि भारतके शासन स्वरूपको समवायके रूपमें जाननेकी अपेक्षा आभासी (quasi) समवायके रूपमें पहचानना अधिक संगत है। कुछने तो इतना तक कह दिया है कि भारतीय 'संघ' है, 'समवाय' नहीं...सच्चे अर्थोंमें तो एकात्मक रचनावाला शासन है, जिसमें समवायके कुछ लक्षण हैं। संक्षेपमें, उनके मतानुसार 'इकाई राज्य तो अधिकसे अधिक' गौरवशाली म्युनिसिपैल्टीज हैं, उनसे अधिक कुछ नहीं।

भारतीय संविधानके एक स्थपति (ड्राफ्टिंग कमेटीके चेयरमैन) डा० अम्बेदकरने शुद्ध कानूनी दृष्टिसे उक्त टीकाओंके सामने खूब जोरदार बचाव किया है:

"संघ अपनी इकाइयोंके साथ शिथिल सम्बन्धों वाली राजमण्डली (लीग ऑफ नेशन्स) नहीं, और न राज्योंके संघकी एजेन्सियाँ ही है; उसकी सत्ताका मूल कहीं केन्द्र पर ही आधारित नहीं है। संविधानने संघ और राज्य दोनोंका निर्माण किया है, जिससे अपने-अपने क्षेत्रमें कोई भी एक दूसरेके अधिकारमें नहीं। एककी सत्ता दूसरेके सहयोगमें है।" डा० अम्बेदकरकी दृष्टिमें समवायकी कसौटी मात्र यह है कि 'केन्द्र और इकाइयोंके बीच धाराएँ बनानेवाली (legislative) और निष्पादित करनेवाली (executive) सत्ताओंका विभाजन हुआ होना चाहिए।'

संविधानके तीसरे वाचनके समय श्री एन० वी० गाडगिलने एक महत्वकी बात कही थी कि "भारतके एक भी पक्ष या व्यक्तिने सम्पूर्ण एकात्मक (Unitary)की सिफारिश नहीं की थी....।"

इस सबसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भारतके समवाय शासनका ढाँचा भारतकी सर्वांगीण परिस्थितिके दबावसे पैदा हुआ है न कि अमुक सैद्धान्तिक आग्रहोंके जोरसे। परिणामत: इष्टताकी अपेक्षा आवश्यकताकी विजय ही अगर देखनेको मिले तो यह स्वाभाविक ही है।

ऐसी विसंवादपूर्ण भूमिका समझ लेने पर आइए अब संविधानके महत्वपूर्ण पहलुओंको देखें और संविधानमें निश्चित हुए समवायका स्वरूप कितनी मात्रामें व्यवहारमें आया है, उसका विशेष परीक्षण करें।

१४ अगस्त १९४७ की मध्यरात्रि को संविधानसभा की बैठक में

पं. नेहरू

साहबान, मैं नीचे का प्रस्ताव पेश करता हूँ
"यह निश्चित किया जाता है कि:
आधी रात का आखरी घण्टा बजने पर
संविधान सभा के सभी हाजिर
सदस्यों को नीचे की प्रतिज्ञा का उच्चारण
करना है।"

प्रतिज्ञा

"भारत की प्रजा ने यातनाएँ और आत्मभोग द्वारा स्वाधीनता हाँसिल की है, ऐसे पवित्र क्षण में मैं.... भारत की संविधानसभा का सदस्य भारत और प्रजा की सेवा में अत्यन्त विनम्रता से अपने आप को समर्पित करता हूँ वह भी इस ध्येय के खातिर कि यह प्राचीन देश दुनिया में अपना न्यायपूर्ण स्थान प्राप्त कर सके और मानव-जाति की सुख-समृद्धि तथा विश्वशान्ति के लिए अपना पूर्ण और स्वेच्छिक योगदान करे।"

क़िस्मतसे सौदा

[१४ अगस्त, रातको १२ बजे संविधान-सभामें पंडित नेहरूका भाषण]

बहुत साल हुए हमने क़िस्मतके साथ एक सौदा किया था और अब अपना वायदा पूरा करनेका वक़्त आया है—पूरे तौर पर जितना चाहिए उतना तो नहीं, फिर भी काफी हद तक। जब आधी रातके घण्टे बजेंगे, जबकि सारी दुनिया सोती होगी, उस वक़्त हिन्दुस्तान जागकर नई ज़िन्दगी और आज़ादी हासिल करेगा। एक ऐसा क्षण आता है, जोकि इतिहासमें कम ही आता है, जबकि हम पुरानीको छोड़कर नई ज़िन्दगीमें क़दम रखते हैं, जबकि एक युग खत्म होता है, जबकि क़ौमकी लम्बे अरसेसे कुचली हुई आत्माका उद्धार होता है। यह लाज़िम है कि इस संजीदा लयमें हम हिन्दुस्तान और उसके लोगों और उससे भी बढ़कर इन्सानियतकी भलाईके लिए ख़िदमत करनेकी प्रतिज्ञा करें।

इतिहासके उदयकालमें भारतने अपनी अनन्त खोज शुरू की, बेनिशान सदियाँ उसकी जी-तोड़ मेहनत, उसकी कामयाबीकी शान और उसकी नाकामियोंसे भरी हुई हैं। चाहे अच्छा वक़्त आया, चाहे बुरा; उसने अपनी इस खोजको आँखोंसे ओझल नहीं होने दिया; न ही उन उसूलोंको भुलाया, जिनसे उसे ताक़त हासिल हुई है। आज हम बदक़िस्मतीकी एक मियाद पूरी करते हैं और हिन्दुस्तान अपने-आपको फिरसे पहचानने लगा है। जिस कामयाबी पर हम आज ख़ुशी मना रहे हैं, यह उनसे भी बड़ी ख़ुशियों और कामयाबियोंकी जानिब महज़ एक क़दम है और आगे आनेवाले मौक़ोंका एक रास्ता है। क्या हम इतने बहादुर और समझदार हैं कि इस मौक़ेकी पकड़ कर सकें और भविष्यकी चुनौतीको क़बूल कर सकें?

आजादी और ताक़त अपने साथ जिम्मेदारी लाती है। वह ज़िम्मेदारी इस सभा पर है, जो कि हिन्दुस्तानके सत्ताधारी लोगोंकी नुमाइन्दगी करने

वाली सम्पूर्ण सत्ताधारी सभा है। आज़ादीके उदयसे पहले हमने मेहनत करनेकी सारी तक़लीफ़ें बर्दाश्त की हैं और हमारे मन उन तक़लीफ़ोंकी यादसे भारी है। इनमेंसे कुछ तक़लीफ़ें अब भी जारी हैं। फिर भी गुज़रा वक़्त अब ख़त्म हो गया है और भविष्य हमें बुला रहा है।

यह भविष्य आराम करने या दम लेनेके लिए नहीं है, बल्कि लगातार जी-तोड़ मेहनत करनेके लिए है; जिससे हम उन शपथोंको, जो हमने बहुत बार ली है, और उस शपथको जो हम आज लेंगे, पूरा कर सकें। हिन्दुस्तानकी ख़िदमतका मतलब है उन करोड़ों लोगोंकी ख़िदमत, जो तक़लीफ़ें उठाते है। इसका मतलब ग़रीबी, अज्ञान, बीमारी और सभी लोगोंको समान मौक़े न मिलनेका अन्त करना है। हमारी पीढ़ीके सबसे बड़े आदमीकी यह ख़्वाहिश रही है कि हर आँखका हर आँसू पोंछ दिया जाय। हो सकता है कि यह हमारी ताक़तसे बाहर हो; लेकिन जबतक आँसू है और दर्द है, हमारा काम ख़त्म नहीं होगा।

इसलिए हमें काम करना है, हमे मेहनत करनी है और सख़्त मेहनत करनी है, ताकि हम अपने स्वप्नोंको सचाईमें बदल सकें। ये स्वप्न हिन्दुस्तानके लिए है, साथ ही ये दुनियाके लिए भी हैं, क्योंकि आज सभी मुल्क और लोग आपसमें एक दूसरेसे इस तरह गुँथे हुए हैं कि कोई भी सबसे अलग होकर रहनेकी कल्पना नहीं कर सकता। अमनके लिए कहा जाता है कि वह बँटवारेकी चीज़ नहीं है, आज़ादी भी ऐसी ही है, समृद्धि भी ऐसी ही है और इस दुनियामें, जो अलग-अलग टुकड़ोंमे बाँटी नहीं जा सकती, मुसीबत भी ऐसी ही है।

हिन्दुस्तानके लोगोंसे, जिनके हम नुमाइन्दे है, हम अपील करते है कि वे भरोसे और ईमानके साथ हमारा साथ दे। यह छोटी-मोटी और नुक़सानदेह नुक्ताचीनीका वक़्त नहीं है; न ही यह बुरी भावना या दूसरों पर इल्ज़ाम लगानेका वक़्त है। हमें आज़ाद हिन्दुस्तानकी इस शानदार इमारतको बनाना है, जिसमे उसके सब बच्चे रह सकें।

संविधान की प्रतिज्ञा

[२६ नवम्बर १९४९]

हम भारत के प्रजाजन गंभीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि भारत का सार्वभौम प्रजातांत्रिक गणतंत्र बने और उसके सभी नागरिकों को—
सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय मिले, विचार, वाणी, मान्यता, धर्म और पूजा की स्वाधीनता रहे, पद और अवसर की समानता मिले, और इन सब में ऐसे भाईचारे की भावना बढ़े कि जिससे व्यक्ति का गौरव और राष्ट्र की एकता स्थापित हो।

२६ नवम्बर १९४९ के दिन हमने अपना संविधानसभा में यह संविधान स्वीकृत किया है और इसे कानून का रूप दिया है और इसे हम अपने संविधान के रूप में स्वीकृत करते हैं।

५ : समवायतन्त्रकी रचना

प्रादेशिक विलीनीकरण

१९४७में भारतको स्वराज्य मिला, उस समय देशभरमें चारों ओर अराजकता थी। बड़ी मात्रामें हो रहे साम्प्रदायिक दंगे गृहयुद्धका आभास दे रहे थे; जल-सेना और वायु-सेनामें हुए विद्रोहोंने सेनामें फैली हुई उदासीनताको खोलकर रख दिया था; युद्धमें हुई विनाश-लीलाके कारण उत्पन्न जीवनोपयोगी वस्तुओंकी भयंकर तंगी अर्थतंत्रको दवाए जा रही थी; बँटवारेके कारण व्यवस्था-तंत्र विगड़ गया था; पुर्तगाल और फ्रान्सके थाने देशकी भूमि पर फैले हुए थे; और शासन सम्हालने वाले नेताओंको प्रशासनिक कार्यका विशेष अनुभव न था। ऐसी परिस्थितिमें तंत्रकी स्थिरता बनाए रखने और तैयार हो रहे संघीय संविधानके लिए उचित इकाई राज्योंकी रचना करनेका कार्य अत्यन्त आवश्यक और अत्यन्त विकट था। यह रचना कार्य वहुत लम्बे समय तक चलता रहा है और अभी तक उसका अन्त नहीं आया है। परिणामस्वरूप, भारतके राजनीतिक नक्शेमें प्रादेशिक परिवर्तन किए गए हैं और अब भी हुआ करेंगे। इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिए चल रहीं दो विभिन्न और वहुधा क्रमानुसारी प्रक्रियाएँ—एकीकरण और पुनर्रचना—इतिहास-प्रवाहमें ऐसी मिल गई हैं कि उन्हें अलग करना लगभग असंभव हो गया है; फिर भी राजनीतिके बौद्धिक पृथक्करणके लिए उसकी अलग-अलग चर्चा करना जरूरी है। वैसे इस कारण ऐतिहासिक कालक्रमका हमें वारबार उल्लंघन करना पड़ेगा।

सबसे पहले विलीनीकरणकी वात पर विचार करें। १९४७में प्रादेशिक क्षेत्रमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रजवाड़ोंका था। पिछले प्रकरणमें हम उसकी भूमिका देख आए हैं। लगभग एकाध सदी पूर्व हुए संधि और अनुबन्धोंकी वैधानिक व्यवस्थासे चिपके रहकर अंग्रेज सरकारने भारतके ५६२ राज्योंको सम्पूर्ण आज़ादी दे दी थी और इस प्रकार सम्पूर्ण भरतखण्डको छिन्न-भिन्न कर डाला था। अंग्रेज सरकारका यह कदम जितना ख़तरेसे भरा हुआ था, उतना ही हास्यास्पद भी था। कारण कि देशी राज्योंके साथ अपने व्यवहारमें अड़चन पड़नेके कारण अंग्रेज सरकारने ये अनुबन्ध कभी नहीं स्वीकारे थे। फल यह हुआ कि कालान्तरमें तमाम राज्योंकी सैनिक-शक्ति और अन्य विदेशी राज्योंके साथ उनके सम्बन्ध लोप हो जानेसे उनके सार्वभौमत्वका लोप हो गया था। कानूनके अनुसार सार्वभौम बन कर बैठे हुए भी व्यवहारमें राजत्वशून्य इन रियासतोंको राज्य मानना बुद्धिका व राजनीतिशास्त्रका अपमान करने जैसा था। लगभग ६००मेंसे तीन सौ सत्ताईस रजवाड़ोंको मात्र जमींदारी-जागीर ही माना जा सकता है जो मात्र मालगुजारी जमा कर सकते थे। ११७ राज्योंके

हाथमें अदालती सत्ता भी न थी। मात्र ७०के लगभग राज्य कानून बनाने और व्यवस्था चलानेकी सीमित शक्ति रखते थे। १० लाखसे अधिक आबादीवाले राज्योंकी कुल संख्या १६ थी। हैदराबाद, काश्मीर, मैसूरके समान बड़े राज्य तो थे, पर उनकी संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती थी। कितने ही राज्य तो केवल खिलौने जैसे ही थे। आधे-आधे मीलका विस्तार रखनेवाले आठ राज्य तो अकेले सौराष्ट्रमें ही थे। पर सबसे छोटे राज्य 'जूना पादर' राज्यका विस्तार ०.३१ वर्ग मील था। ५०० रुपएकी वार्षिक आय वाले 'वेजानो नेस'में २०६ आदमियोंकी आबादी थी और वह भी सार्वजनिक राज्य बन गया।

दूसरी ओर, एक भी राज्यका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध न था। किसीके पास सेना या वित्त सम्बन्धी स्वायत्तताका अंश भी नहीं था। केवल तीन ही राज्योंमें अपने सिक्के चलते थे और डाक-तारकी निजी व्यवस्था भी किसीके पास नहीं थी। बीस-पच्चीस राज्योंको अगर छोड़ दें तो बाकीके सभी राज्योंमें प्रशासनतंत्र अतिशय दुर्बल, प्रजा अत्यन्त पिछड़ी हुई और राजा हल्की मनोवृत्तिके या बुद्धिहीन थे। अंग्रेज सरकारका उनको स्वतंत्र बनानेका यह कदम 'केवल भारतकी ही नहीं, अपितु खुद इन राज्योंकी भी एक बड़ी कुसेवा' है। श्री वी० पी० मेननका 'इण्टीग्रेशन ऑफ इण्डियन स्टेट्स'-में प्रस्तुत यह मत यथार्थ है कि इस आजादीके कारण भारत सरकार पुराने अनुबन्धसे मुक्त हो गयी और रजवाड़ोंका विनाश शीघ्र ही हो गया। इस पर भी, जैसा कि ऊपर कह आए हैं, १९४७की स्थितिमें अगर वे ठीक तरह न चले होते तो देशमें भयंकर खतरा पैदा हो जाता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उनके पास संत्रस्त करनेकी शक्ति अच्छी मात्रामें थी। सरदार पटेलके कथनानुसार 'बड़ी कठिनाईसे प्राप्त आज़ादी रजवाड़े रूपी छिद्रोंमेंसे सरक जायगी'का भय हर-एकके मनमें समाया हुआ था।

बँटवारेके बाद भारतमें स्थित ५६२ देसी राज्योंका प्रश्न हल करनेका काम सरदार पटेल और वापल पेन्गुनी मेनन—इन दो महारथियोंके हिस्सेमें आया। विलक्षण प्रतिभा, व्यवहारकुशलता, शीघ्र निर्णय लेनेकी क्षमता और उस निर्णय पर चट्टानकी तरह अडिग रहनेकी दृढ़ता तथा आवश्यकता पड़नेपर निर्मम बने रहनेके गुणोंको धारण करनेवाले सरदार पटेल तथा रजवाड़ोंके साथ काम बना लेनेके पूर्ण अनुभवके कारण और उनके बलाबलसे पूर्णतः परिचित, स्वस्थ, विवेकशील और शान्त स्वभाववाले मेनन—दोनोंकी जोड़ी एक दूसरेकी पूरक थी। प्राध्यापक मोरिस जॉन्सने मेननकी 'पटेल रूपी लौह हाथ पर चढ़ाए हुए मुलायम रेशमी दस्तानेके' साथ तुलना की है। माउंटबेटनकी स्पष्ट और बातको सीधे समझानेकी शक्ति, सरदारकी दुर्धर्ष और निश्चित दृढ़ता, रजवाड़ोंका पाकिस्तानके सामने रोष, सुविधापूर्ण व्यवस्था कर देने तथा सामनेवाले पक्षके गले बात उतार देनेकी मेननकी कुशलता तथा भारत सरकारकी छत्रछायामें अनुकूल होकर रहनेकी रजवाड़ोंकी सदियों पुरानी आदत तथा अपनी दुर्बलताकी जानकारी—इन सबके परिणामस्वरूप लगभग सभी रजवाड़ोंने सुरक्षा, विदेशनीति और यातायात विषयक अधिकारोंको भारत सरकारको सौंपने, परिस्थिति यथावत् चालू रखने और नयी व्यवस्था होने तक अंग्रेज सरकार और राज्योंके बीच हुई सहमति और प्रशासनिक व्यवस्थाके अनुसार व्यवहार करनेका अनुबंध किया। बड़ौदा, ग्वालियर, पटियाला और बीकानेर—इन चार राज्योंने सबसे

पहले (१०-७-४७) यह व्यवस्था स्वीकार कर ली। इतना ही नहीं, बल्कि बीकानेरके शार्दूलसिंह और पटियालाके यादवेन्द्रसिंहने यह व्यवस्था स्वीकार कर लेनेके लिए अन्य राजाओंको समझाने-बुझानेमें भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया। कितने ही राज्यों पर दबाव डालना पड़ा और त्रावणकोर राज्यके विरुद्ध प्रजा द्वारा आन्दोलन शुरू करनेके बाद और उनके प्रधानमंत्री श्री रामस्वामी अय्यर पर छुरेसे हमला होनेके बाद ही त्रावणकोरके महाराजाकी अक्ल ठिकाने आई।

संरक्षण, विदेश-नीति और यातायात—"इन तीन बातोंके अलावा राज्यके सार्वभौमत्वमें अथवा उनके आन्तरिक स्वशासनमें हस्तक्षेप करनेकी कोई सत्ता भारत सरकारके पास नहीं होगी।" —माउंटबेटनके द्वारा दिए गए वचनकी भारत सरकारने प्रसंगानुकूल उपेक्षा की है। होल्डन फर्बरका यह मंतव्य अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि 'इस संक्रांतिकालमें नई दिल्लीके राज्य-विभागने अंग्रेजी सरकारसे भी अधिक मात्रामें सत्ताका उपयोग किया है।'

१९४७के अगस्त महीनेकी १५वीं तारीख तक लगभग सभी रजवाड़ोंके साथ सीमित विलीनीकरणका सम्बन्ध स्थापित कर लिया गया था। केवल तीन राज्य—जूनागढ़, काश्मीर और हैदराबाद अलग रहे। अन्तमें १५ अगस्त के दिन ही जूनागढ़ने पाकिस्तानके साथ विलीनीकरणका पत्र लिख डाला और पाकिस्तानने त्वरित उसे अनुमति भी दे दी। क्षणमात्रका विलम्ब किए बिना ही सरदारने जवाबी कार्यवाही की। काठियावाड़ राजकीय परिषद्को इसका नेतृत्व सौंप दिया गया और जूनागढ़वासियोंने बम्बईमें कामचलाऊ सरकारकी स्थापना की। माँगरोल और माणवदरके शेखोंने भारतके साथ मिल जानेकी इच्छा व्यक्त की। उनकी रक्षाके लिए तैनात भारतीय थल और जलसेनाने जूनागढ़ पर घेरा डाल दिया। सादे वस्त्रोंमें सजे सैनिकों तथा उत्साही स्वयंसेवकोंके नेता शामलदास गांधीकी सेनाने जूनागढ़ पर अधिकार कर लिया। बादमें नवम्बर १९४७में वहाँ जनमत लिया गया और उसके अनुसार ९१ मतोंके विरुद्ध १,९०,७७९ मतोंसे जूनागढ़को भारतमें मिला लिया गया।

काश्मीरमें कुछ दूसरी बात हुई। घुस आए कबाइलियोंको उत्तेजित कर पाकिस्तानने उन्हें सैनिक सहायता और मार्ग-दर्शन दिया। इस आक्रमण, लूटमार और अत्याचारके विरुद्ध काश्मीरके राजा हरिसिंहने भारतसे रक्षाकी माँग की और इस व्यवस्थाको वैधानिक बनानेके लिए तुरन्त विलय-पत्र लिख डाला। उस समय हैदराबादका प्रश्न बीच अधरमें लटका ही हुआ था, अतः केवल ऐसे विलय-पत्र पर आधारित रहना तथा भारतके हितोंके विरुद्ध जानेकी संभावनासे इस विलय-पत्रमें यह धारा जोड़ दी गई कि इस बातका आखिरी फैसला जनता द्वारा किया जायगा। वैधानिक विधियोंके पूरा होते ही भारत सरकारने विद्युत वेगसे वहाँ अपनी सेना भेजी और जैसे-तैसे श्रीनगर बच गया। वायुसेनाकी जिन्दादिली, सूझ-बूझ और कठोर श्रमकी प्रशंसा करते हुए माउंटबेटन ने कहा कि 'अपने सम्पूर्ण सैनिक सेवाकालमें इतने थोड़े समयमें ऐसी कार्यवाहीका इतना सफल संचालन मैंने कभी नहीं देखा या जाना।' काश्मीर बच गया। कबाइलियोंको पीछे हटा दिया गया, पर उन्हें काश्मीर प्रदेशसे बाहर निकालनेमें हम असफल हुए। हमने पाकिस्तानके विरुद्ध यह आरोप लगा कर कि वह आक्रामकोंकी मदद कर रहा है, संयुक्त राष्ट्र संघकी सुरक्षा परिषद्में शिकायत की। पहले पाकिस्तानने इन्कार किया, पर बादमें उसे यह बात स्वीकार कर लेनी पड़ी। इस पर भी अभी तक आज़ाद काश्मीरके नामसे पहचाने जानेवाले काश्मीर प्रदेशका प्रशासन पाकिस्तानके हाथमें ही है

और हम उसे अभी तक वापिस नहीं ले सके। दूसरी ओर भारत अधिकृत काश्मीर प्रदेश पर कब्जा करनेके लिए पाकिस्तानने विघातक प्रवृत्ति, घुस-पैठ और अन्ततः आक्रमण (१९६५) करने तकके सभी हथियार आज़मा कर देख लिए। सुरक्षा परिषद्में काश्मीरकी चर्चा पूर्णतया पक्षपातपूर्ण होनेके कारण उसका अंत ही नहीं होने को आता। जनमतकी पहली शर्तका पाकिस्तान द्वारा पालन न होनेके कारण दोनों राष्ट्रोंके बीच समाधान करानेके राष्ट्रसंघके सभी प्रयास अब तक असफल ही रहे हैं।

१९५७में गृहमंत्री पंतने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत इस प्रकार जनमत करानेके लिए तैयार नहीं। सम्प्रति भारतीय नेता राष्ट्रसंघकी चर्चाओंसे थक कर भी उसमें भाग ले रहे हैं, क्योंकि राष्ट्रसंघको प्रश्न सौंप देनेके बाद किसी भी सदस्यको उसे वापिस लेनेका अधिकार नहीं है। भारतका मामला कानूनके अनुसार मजबूत होते हुए भी उसमें अनेक गुत्थियाँ भी हैं। यह तर्क कि वहाँके राजाके द्वारा स्वीकृत विलय-पत्रके अनुसार काश्मीर भारतका अविभाज्य अंग है, एक दुधारी तलवार है। कारण कि फिर वैसे ही विलय-पत्रके अनुसार जूनागढ़ पाकिस्तानका प्रदेश माना जाना चाहिए। दूसरी ओर जनमतको अगर जूनागढ़के मामलेमें आखिरी निर्णय मान लिया जाय तो काश्मीरमें भी जनमत होना चाहिए।

राजनीतिमें कानूनकी अपेक्षा वास्तविकताओंका महत्व होता है। बीस वर्षोंका इतिहास मिटाया नहीं जा सकता। १९४७-४८में काश्मीरकी प्रजा और उसके नेता शेख अब्दुल्ला पाकिस्तानमें नहीं; बल्कि भारतमें मिलना चाहते थे; यह एक वास्तविकता है। काश्मीर झगड़े वाला प्रदेश बन जानेके कारण उसके कुछ भागका भारतमें विलय नहीं हुआ, अतः वहाँकी प्रजाको स्वतंत्रताका कुछ भी लाभ नहीं मिला। काश्मीरमें हुए चुनावोंका आयोजन चुनावपंचने नहीं किया और स्थानीय नेताओं—शेख अब्दुल्ला, बख्शी गुलाम मुहम्मद और सादिक—के अपने खुदके शासनके नीचे लोगोंको जीना पड़ा है। सन् १९५४में दिल्ली करारके अनुसार काश्मीरका विलीनीकरण कर डालनेकी नीति खुद स्वीकार करनेके बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक खटपटके जालमें फंसे हुए शेख साहबने काश्मीरको स्वायत्त और सार्वभौम राष्ट्र बनानेकी माँग शुरू कर दी। फलस्वरूप साथियोंने उन्हें पदमुक्त कर कैदमें डाल दिया। १९६१में उन पर केस चलानेका प्रयास भी किया गया, परन्तु प्रमाणोंके अभावमें यह बात छोड़ देनी पड़ी।

काश्मीरका सवाल भारत और पाकिस्तानके बीच तंगदिली पैदा करनेवाला बन गया है। दोनों देशोंके बीच मैत्री स्थापित करनेके लिए सन् १९६४में शेखको मुक्त कर दिया गया और उन्होंने पहले पंडित नेहरू तथा बादमें अयूबखाँके साथ लम्बी और गुप्त चर्चाएँ कीं। नेहरूके अवसानके बाद यह मंत्रणा रुक गई। हज यात्राके लिए गए हुए शेख अब्दुल्लाने विदेशमें भारत सरकारकी निन्दा की और उन्हें फिर दुबारा पकड़ लिया गया। तीन वर्षके बाद उन्हें फिर मुक्त किया गया है; परन्तु समस्या अभी तक वैसीकी वैसी ही उलझी हुई है।

इस प्रकार काश्मीरका प्रश्न हमेशा उभरता ही रहा है। अन्य राज्योंकी भाँति भारतमें उसका विलीनीकरण नहीं हुआ है। काश्मीरका यह विलीनीकरण अत्यन्त मन्द गतिसे १९५५से शुरू हो कर लगभग १९६७ तक पूरा हो पाया है। यह कार्य अत्यंत मंद गतिसे और खण्डशः होनेके कारण भारतको अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें भी बारबार अवहेलना सहन करनी पड़ी है। चर्चास्पद और ऐसे कामोंका तो त्वरित निर्णय राजनीतिज्ञोंको एक झटकेमें ही पूरा कर डालना चाहिए, जिससे उसकी

काश्मीर-समस्या

जम्मू-काश्मीरका विशिष्ट संवैधानिक स्थान

[भारतके संविधानकी धारा ३७०के अनुसार]

१. जम्मू-काश्मीर राज्यसे सम्बद्ध राज्य और संघकी संयुक्त सत्ता वाली सूची नही रहेगी और संसदकी इस राज्य पर विधायक सत्ताएँ जितनी संघ-सूची में होंगी, उतनी ही रहेंगी।

२. संघ-सूचीमें अ-समाविष्ट विधायक शेष सत्ताएँ भारतकी संसदके अधिकारमें न होकर राज्य-विधानसभाके अधिकारमें रहेंगी।

३. भारतीय संविधानकी धारा २४९में उल्लिखित सत्ताएँ जो किसी भी राज्यके विषयमें कानून बनानेकी संसद-सत्ता है, जम्मू-काश्मीर राज्य पर लागू नही होगी। संकट कालकी घोषणाके समयमें भी नही।

४. राज्यमें संवैधानिक तंत्र समाप्त हो जाय अथवा संघके आदेशोंको पूरा करनेमें राज्य सरकार अगर असफल भी हो जाय तो भी राज्यके संविधानको स्थगित करनेकी सत्ता संघके अधीन नहीं रहेगी।

५. राज्य अथवा उसकी सरहदोंके नाम बदलनेके मामलेमें तथा राज्यका समाधान कर डालनेवाले करार करनेके मामलेमें संघ सरकार राज्यकी विधानसभाकी सम्मतिके अभावमें कदम नही उठा सकती।

६. जब तक राज्य सरकार सहमत न हो, तबतक इस राज्यके मामलेमें आन्तरिक अव्यवस्थाके नाम पर संकटकालीन घोषणा लागू नहीं की जा सकती।

७. भारतकी संसद द्वारा पारित नजरबन्दी कानून इस राज्यमे लागू नही होगा और १९६४की १३ मई तक दस वर्षके लिए इस राज्यकी विधानसभा द्वारा पारित नजरबन्दी कानून, भारतके संविधानके मूल-भूत अधिकारोंसे असंगत होने पर गैरकानूनी नही माना जायगा।

१९५९-६०की अवधिके सुधार

[जम्मू-काश्मीर राज्यको भारतीय संघमें सम्मिलित करनेकी दृष्टिसे किए गए परिवर्तन]

(१) भारतके कम्पट्रोलर तथा ऑडिटर जनरलकी सत्ताका इस राज्यमें विस्तार किया गया। (२) अखिल भारतीय सर्विसेजकी धारा लागू की गई। (३) भारतके चुनाव कमीशन और सुप्रीम कोर्टकी सत्ताओंका विस्तार किया गया।

१९६४के सुधार

अबसे, धारा ३५६के अनुसार राज्यमें विधानसभाके भंग हो जाने पर राष्ट्रपतिको संकटावस्था घोषित करनेका अधिकार लागू होता है; और राज्यकी विधानसभाका कानून बनाने तथा खास अथारिटीके अधिकारमें सत्ता सौंपनेका अधिकार अबके बाद धारा ३५७के अनुसार, पार्लियामेण्ट या राष्ट्रपतिके अधिकारमें सौंप दिया जाता है। उसी प्रकार संघ सूचीकी ३३ और सामूहिक सूचीकी ३४वीं एण्ट्री भी लागू की जाती है। साथ ही, ट्रेडिंग कार्पोरेशन्स विषयक जरूरी एण्ट्री और हाईकोर्टके मामलोंसे सम्बद्ध ७८वीं एण्ट्री भी लागू की जाती है।

१९६५का सुधार

३०-३-१९६५को जम्मू-काश्मीरकी विधानसभाने सदर-ए-रियासतके स्थान पर राज्यपाल (गवर्नर)का और प्रधानमंत्रीके स्थान पर मुख्यमंत्रीका पद निश्चित किया है।
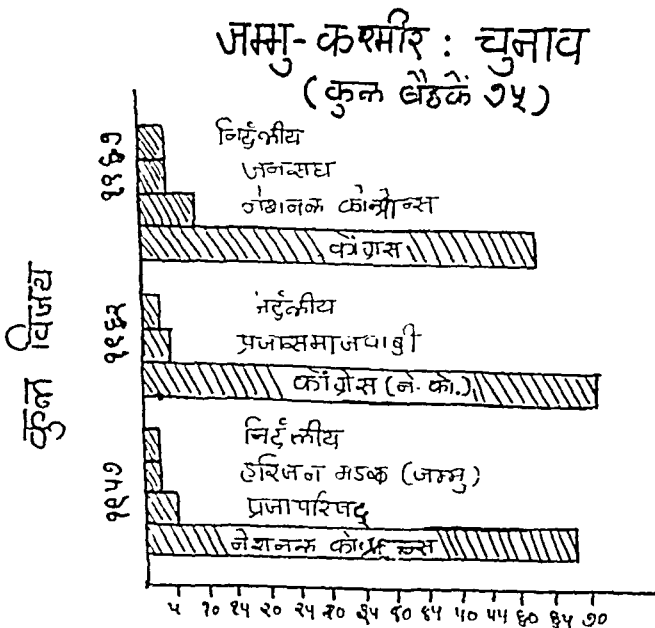
लार्ड माउण्टबेटन

[भारतमें ब्रिटिश गवर्नर जनरल]

(दिनांक २७-१०-१९४७के पत्रानुसार)

"मेरी सरकारकी यह इच्छा है कि काश्मीरमें कानून और व्यवस्था सम्बन्धी शान्ति स्थापित होते ही तथा उसकी धरती परसे आक्रामकोंके हट जाने पर तुरन्त राज्यके विलयका फैसला, उसकी प्रजाकी इच्छानुसार किया जायगा।"

⊙

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

[भारत सरकारके प्रधानमंत्री]

(दिनांक २-११-१९४७ : आकाशवाणीसे)

"हमने जाहिर किया है कि काश्मीरका भविष्य आखिरमें उसकी प्रजाको ही तय करना है। हम यह वचन दे चुके हैं। महाराजाने भी इसका समर्थन किया है। हम केवल काश्मीरकी प्रजाके सामने ही नहीं, पर सारी दुनियाके सामने यह वचन दुहरा रहे है। हमें उचित और न्यायपूर्ण प्रजामत (रेफरेण्डम) चाहिए। उसका निर्णय हम अपने सिर पर चढ़ाएँगे।"

⊙

शेख अब्दुल्ला

[काश्मीर सरकारके प्रधानमंत्री]

(दिनांक २७-१०-१९४७के निवेदनानुसार)

आर्थिक और राजनीतिक रूपसे भारतमें विलय हो जाना अधिक लाभदायी होने पर भी उन्होंने कहा :

"मैं अपनी प्रजाको सलाह दे चुका हूँ कि विलयके संबंधमें अगर तत्काल निर्णय न लिया जाय तो अच्छा है। सबसे पहला कदम संविधानमें परिवर्तन करना होना चाहिए और वह उत्तरदायी सरकारके द्वारा होना चाहिए। उसके बाद, भारत और पाकिस्तानके साथ काश्मीरके भविष्यके विषयमें निर्णय लिया जा सकेगा।"

काश्मीरकी समस्या

१४/१५-८-१९४७

⊙ भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमेनियनोंका जन्म।

२०-१०-१९४७

⊙ महाराज हरिसिंहने प्रजाके नेता शेख अब्दुल्लाको, प्रशासक के रूपमें, राज्यका शासन-तंत्र सौंप दिया।

⊙ जम्मू-काश्मीर रियासतकी सरकार दोनोंमेंसे किसीके साथ भी विलयको लेकर अनिश्चित। तत्काल पाकिस्तानके साथ यथावत् स्थिति (स्टेण्डस्टिल)-का करार।

⊙ पाकिस्तानने जबर्दस्ती विलय करानेकी इच्छासे पंजाबके रास्ते काश्मीर जाने वाले अनाज, नमक, खाँड, कपड़ा आदि जैसे जीवन-निर्वाहके लिए महत्त्वपूर्ण सामान जाने रोक दिए। बादमें तो पाकिस्तान सरकारकी पूरी सहायता और मार्ग-निर्देशनमें घुसपैठियोंके आक्रमण शुरू हो गए।

२४-१०-१९४७

⊙ काश्मीरके महाराजाने तथा प्रदेशकी मुख्य प्रतिनिधि संस्था नेशनल कान्फ्रेन्सने भारतके साथ काश्मीरके विलयकी माँग की।

२६-१०-१९४७

⊙ भारतने दूसरे देसी राज्योंकी भाँति काश्मीरका भी भारतमें विलय स्वीकार किया।

१९४८में

⊙ नेशनल कान्फ्रेन्सने राज्यके भविष्यको आकार देनेके लिए काश्मीर सरकारसे विधानसभा (कांन्स्टिट्यूएण्ट असेम्बली)का आयोजन करनेकी विनती की।

१२-१०-१९४८

⊙ नेशनल कान्फ्रेन्सके सम्मेलनका प्रस्ताव:

> जम्मू-काश्मीरका भारतमें विलय स्थायी बनाया जाता है। अब लोकमतका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

मई, १९५१

⊙ काश्मीरमें विधानसभा बनाए जानेकी घोषणा।

१९५२में

⊙ विधानसभाके लिए समस्त राज्यसे वयस्क मताधिकारके आधार पर चुनाव हुए और।

⊙ ५-११-१९५२को विधानसभाकी पहली बैठक हुई।

⊙ जून, १९५२में राज्यके उत्तराधिगत राजतंत्रका अन्त हुआ; और राज्यके प्रमुखके रूपमें प्रजा द्वारा चुने गए सदर-ए-रियासतकी नियुक्ति की गई।

⊙ जुलाई १९५२में भारत सरकारने काश्मीर राज्यकी सरकारके साथ कितने ही संवैधानिक मामलोंमें करार किए। तदनुसार, भारतीय और काश्मीरकी जनताके नागरिकता तथा मूलभूत अधिकार एक समान हो गए।

९-१-१९५३

⊙ शेख अब्दुल्लाकी पहली गिरफ्तारी : भ्रष्टाचार, पदका दुरुपयोग, जनताको वरगलाने और भयप्रद विदेशी सम्बन्धोंके आरोपमें।

१९५४में

⊙ दूसरे राज्योंकी तुलनामें काश्मीरका विशिष्ट स्थान स्वीकारा गया : धारा ३७०के अनुसार।

८-१-१९५८

⊙ शेख अब्दुल्ला द्वारा रिहाईके पश्चात् तुरन्त दिया गया भाषण : काश्मीरका भारतके साथ विलय कामचलाऊ और उस समय तक सीमित था। मुक्त और निष्पक्ष जनमत लेना अभी बाकी है।

शेख अब्दुल्लाकी गिरफ्तारियाँ

३०-४-१९५८

⊙ प्रिवेन्टिव डिटेन्शन एक्टके अन्तर्गत शेख अब्दुल्लाकी दूसरी बार गिरफ्तारी : पाकिस्तानके अधिकारियों और एजेन्टोंके साथ मिल कर राज्य सरकारको उखाड़ फेंकनेके प्रयत्नके आरोपमें।

८-४-१९६४

⊙ नेहरूके शब्दोंमें 'जोखिमसे भरी' : दूसरी बारकी रिहाई।

—हजयात्रा

—विदेशमें काश्मीरकी चर्चा

—चाऊ एन लाईके साथ भेंट।

७-५-१९६५

⊙ तीसरी बार गिरफ्तारी।

२-१-१९६८

⊙ तीसरी बार मुक्ति।

शेख अब्दुल्ला किस मार्ग पर ?

२८-४-१९४०

⊙ नेशनल कान्फ्रेन्सकी कार्यकारिणीके समक्ष : "मैं पहला मुस्लिम हूँ और आखिरी मुस्लिम हूँ।"

२७-१०-१९४७

⊙ "हमने काश्मीरके मुकुटको धूलमें मिलनेसे बचाया है। हमारे लिए

भारत या पाकिस्तानके साथ जुड़ना एक गौण प्रश्न है। प्रथम तो हमें अपनी आज़ादी पूरी करनी है।"

५-२-१९४८

⊙ सुरक्षा परिषद्के सामने :

"काश्मीर और भारतके बीचके मामलेमें पाकिस्तानका कोई लेना-देना नहीं है। काश्मीरके महाराजा और वहाँकी प्रजाने भारत सरकारसे विलय स्वीकार करनेकी विनती की थी।"

१२-१०-१९४८

⊙ "जम्मू-काश्मीरके हम प्रजाजनोंने अपना भाग्य भारतके प्रजाजनोंके साथ बाँध दिया है, वह भी किसी निराशाके क्षणोंमें नहीं और न आवेशमें आकर ही, परन्तु अपने विवेक और पसंद द्वारा।"

१६-१०-१९४८

⊙ "सभी बातोंका सार यह है कि पाकिस्तानकी नींव ही असत्य, धोखाधड़ी और दंभ पर पड़ी हुई है। काश्मीर और पाकिस्तान कभी एक नहीं हो सकते; क्योंकि उनकी श्रद्धाके मूल तत्त्व ही भिन्न हैं। जब तक एक भी काश्मीरी जीवित है, तब तक वह पाकिस्तानमें मिलनेका विचार तक नहीं करेगा।"

१९४९में

⊙ काश्मीरका प्रश्न जब सुरक्षा परिषद्में था, उस समय लन्दनके 'आब्जर्वर'के साथ बातचीतमें :

"दोनोंमेंसे किसी एकके साथ मिल जानेसे शान्ति नहीं आने वाली। दोनों डोमेनियनोंके साथ हम मैत्रीसे रहना चाहते हैं। शायद मध्यम मार्ग एक ही है : दोनोंके साथ आर्थिक सहयोगका। निस्संदेह, स्वतंत्र काश्मीरकी गारण्टी केवल भारत और पाकिस्तानको ही नहीं; बल्कि ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघके दूसरे सदस्योंको भी देनी होगी।"

२३-५-१९५०

⊙ "भारत और काश्मीरके बीचका यह बन्धन हृदय और आत्माकी सगाई है। दो महान् प्रजाओंके बीच उत्तरोत्तर दृढ़तर हो रही और विकसित हो रही यह कड़ी कभी भी तोड़ी नहीं जा सकती।"

१३-५-१९५१

⊙ "स्वतंत्र काश्मीरका विचार आजके अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भमें असंभव और अव्यावहारिक है।"

२५-१-५१

⊙ "काश्मीरकी प्रजा जानती है कि वह असाम्प्रदायिक प्रजातंत्रके अन्तर्गत

ही विकास कर सकती है। उसे भारतकी प्रजाकी ओरसे प्रेम, हमदर्दी और अनहद सक्रिय सहायता मिली है।"

५-१-१९५२

⊙ काश्मीरकी विधान सभाके सामने :

"प्रजाके प्रतिनिधियों द्वारा स्वयं मैत्री पूर्ण विलयकी प्रार्थना करनेके कारण भारत सरकारने उसे स्वीकार किया था।"

अप्रैल १९५२

⊙ शेखके दृष्टिकोणमें परिवर्तन :

भारतकी असाम्प्रदायिक नीतिकी टीका और काश्मीरमें मुसल्मानोंके हितोंकी सुरक्षाके विषयमें शंका।

१४-६-१९५२

⊙ भारतमें विलयके विरुद्ध निरन्तर आवाज : "कामचलाऊ विलय स्वीकार किया है, पूर्ण विलीनीकरण नही। काश्मीरकी प्रजाने जिन शर्तोंके साथ कामचलाऊ विलय स्वीकार किया है, उससे आगे जानेके लिए वह तैयार नहीं है। संघर्ष कामचलाऊ विलयके विरुद्ध नही है, बल्कि पूर्ण विलीनीकरणके विरुद्ध है। साम्प्रदायिक लोग जबर्दस्तीसे यह करना चाहते है।"

१९५३में

⊙ "अगर जम्मू और लद्दाख चाहें तो वे भारतके साथ सम्मिलित हो सकते हैं और घाटी (काश्मीर)का सीमित विलय चलता रह सकता है।"

१४-६-१९५३

⊙ काश्मीरके पास तीन रास्ते हैं: (१) भारतके साथ पूर्ण विलय, (२) पाकिस्तानके साथ पूर्ण विलय और (३) स्वतंत्र रहकर दोनोंके साथ मैत्री।

२५-७-१९५३

⊙ "काश्मीरी मुसल्मानोंने पाकिस्तानसे क्यों मुँह मोड लिया? कारण कि उनके हित भारतमें सुरक्षित है और उन्हें उचित न्याय मिलने वाला है।"

११-१-१९५८

⊙ "विधानसभा द्वारा काश्मीरके अन्तिम विलयसे सम्बद्ध पारित प्रस्तावके विरुद्ध हूँ। ९ अगस्त, १९५३ के (शेख अब्दुल्लाकी गिरफ्तारीका दिन) बाद उसके सदस्योंने प्रजाका विश्वास खो दिया है।"

१२-१-१९५८

⊙ "काश्मीरका भविष्य दिल्ली या कराचीमें नहीं, परन्तु काश्मीरकी प्रजा काश्मीरमें ही तय करेगी।"

१५-१-१९५८

⊙ "स्वतंत्र काश्मीर कोई असंभव बात नही।"

१३-६-१९६२

⊙ शहीद दिवस :

"अगर मुझे यह लगा कि हम स्वतंत्र रह कर समृद्धि और प्रगति कर सकते है तो मैं यह आवाज उठानेमें हिचकिचाऊँगा नहीं। अगर मुझे विश्वास

हो जाय कि पाकिस्तानके साथ जुड़नेसे आगे बढ़ा जा सकता है तो कोई भी सत्ता हमें यह कहनेसे रोक नहीं सकती।"

७-५-१९६५

⊙ पाकिस्तानके राष्ट्रपति अयूबखाँको लिखे गए पत्रमें :

"मैं भी मानता हूँ कि भारत, पाकिस्तान और काश्मीरकी प्रजा अर्थात् सम्बद्ध सभी पक्षोंकी सहमतिके अभावमें कोई भी निराकरण स्थायी नहीं बन सकता। मेरी बातचीत (पं० नेहरूके साथ) इस बातकी खोजमें है; और उक्त निराकरण हो सके, इस आशयकी कितनी ही विस्तृत दरख्वास्तें हम तैयार कर रहे हैं...।"

२७-५-१९६४

⊙ पण्डित नेहरूका अवसान।

१७-४-१९६४ : काश्मीरके मुख्यमंत्री जी० एम० सादिक

⊙ आत्म-निर्णयका अधिकार काश्मीरकी समस्याका समाधान नहीं है। इससे तो समस्या और उलझ जायेगी। हमारे द्वारा पसंद किए हुए मार्गसे कोई सत्ता हमें विचलित नहीं कर सकती। बम्बई, कलकत्ता अथवा मद्रासकी भाँति हम भारतके अंगरूप हैं। किसीको भी, भारतकी पार्लियामेण्टको भी भारतका छोटा-सा प्रदेश छोड़ देनेका अधिकार नहीं है।"

६-५-१९६४

⊙ शेख अब्दुल्लासे मिलनेके बाद पण्डित नेहरू द्वारा कांग्रेस पार्लियामेण्टरी कमेटीकी कार्यकारिणीको आश्वासन :

"भारत सरकार द्वारा काश्मीरके विषयमें लिए गए मूलभूत निर्णय या दृष्टिकोणमें कोई आधारभूत नया परिवर्तन नहीं होगा।"

२८-२-१९६९

⊙ ईदके दिन श्रीनगरकी जुम्मा मस्जिदमें :

पाकिस्तानमें हुई (विद्रोहात्मक) घटनाओंसे संघ सरकारको सबक लेना चाहिए और काश्मीरकी प्रजाके आत्मनिर्णयके अधिकारको अविलम्ब क्रियान्वित करना चाहिए...पाकिस्तानकी क्रान्तिके पीछे उसका युवकवर्ग है। काश्मीरी युवकोंको संगठित और अनुशासनबद्ध बनना है। आपके पास दो ही मार्ग खुले हैं: या तो आत्मनिर्णयका अधिकार प्राप्त करो या फिर नष्ट हो जाओ...अयूबखाँमें हठ छोड़कर विरोधपक्षके नेताओंके साथ बातचीत करनेके लिए निमंत्रण देनेकी हिम्मत तो है, जबकि दुर्भाग्यसे भारतके नेता प्रजाकी आवश्यकता और आकांक्षाओंका स्वागत करनेके लिए तैयार नहीं हैं...काश्मीर छोड़ कर चले गए मुसलमानोंकी जमीनें पाकिस्तान अधिकृत काश्मीरके शरणार्थियोंको दे देनेका आन्दोलन 'राज्यसे मुसलमानोंको नेस्त-नाबूद करनेका षड्यंत्र है।' अगर अ-मुस्लिम शरणार्थियोंको (refugees) सम्पत्तिका अधिकार दिया जायगा तो हिंसा अनिवार्य हो जायगी।

[शेखने गजेन्द्र गडकर जाँच आयोगके भी बहिष्कारकी घोषणा कर दी।]

चर्चा ही खत्म हो जाय। लगता है कि यूरोपीय कूटनीतिज्ञ मैकियावेलीकी यह सलाह भारतीय नेताओंने अपनाई नहीं।

हैदराबादका विलय भी अनेक रूपोंमें कठिन बन गया था और काफी समय तक समस्या उलझी रही। भारत सरकार और निज़ामके प्रतिनिधियोंमें लम्बे समय तक बातचीत चलती रही। भारत सरकार बल-प्रयोग करनेमें संकोच करती थी और निज़ामके मनमें कोई स्पष्ट धारणा या उद्देश्य का पता नहीं चलता था। फिर भी उसने पाकिस्तानके साथ राजनीतिक सम्बन्ध जोड़नेकी कोशिश की और करांचीमें व्यापारिक राजदूतकी नियुक्ति कर दी। कॉमनवेल्थकी सदस्यताके लिए भी प्रयत्न किया, गोवाको खरीदकर सामुद्रिक बन्दरगाह प्राप्त करनेकी कोशिश की और विमानों द्वारा थोड़ी-बहुत शस्त्र-सामग्री भी आयात कर ली। अंतमें भारतने उसके चारो ओर व्यापारिक और आर्थिक नाकेबंदी कर डाली। उसने राष्ट्रसंघमें शिकायत की और मुस्लिम सम्प्रदायवादियोंने डावांडोल स्थितिका पूरा लाभ उठाया। कासिम रिजवीके नेतृत्वमें रजाकारोंने दिल्लीके लालकिले पर हरा परचम फहरानेके स्वप्न देखे और स्थानीय हिन्दुओंमें भय और आक्रोशका वातावरण फैल गया। निजामका प्रशासन-तंत्र बिगड़ गया था और उसका लाभ लेकर अराजक तत्त्व बलवान हो गए थे। जमींदारी प्रथाके निम्नकोटिके दूषणो तथा शोषणसे पीड़ित तेलंगानाके किसानों द्वारा चलाए गए आन्दोलनका नेतृत्व साम्यवादियोंके हाथमें आ गया। अनेक जमीदारो और अधिकारियोंका कत्ल कर दिया गया और बहुतसे लोग इसके विस्तारसे भाग खड़े हुए। एकाध हजार गांवोंके लगभग दस लाख लोग "आजाद" हो गए। "कोत्वेलेन्दु राजा" (वृक्षराज)के नामसे परिचित साम्यवादी सेनाने गुरिल्ला युद्ध-प्रवृत्तिका आरम्भ किया। दूसरी तरफ, साम्यवादी नेताओंने कितने ही उदार और उचित सुधार घोषित किए। जमीदारी उन्मूलन कर किसानोंमें जमीन बांट डाली और जमीनकी पच्चीसमें तीन एकड़की अधिकाधिक सीमा बांध दी। इस प्रकार साम्यवादी पक्ष इस प्रदेशमें अत्यन्त लोकप्रिय हो गया।

साम्यवादियों और रजाकारोंके सामूहिक उपद्रवके कारण हैदराबादमें अराजकता फैल गई। लूटपाट और मारधाड़से बचनेके लिए लोग प्रदेश छोड़ कर भागने लगे। विलयकी बातचीत भंग हो गई। इस समय भारतके अन्य प्रदेशोंमें भी साम्यवादियोंने विद्रोहकी नीति अपनायी थी। स्पष्ट रूपसे यह भय दिखायी देने लगा था कि अगर साम्यवादी तेलगाना जैसे प्रदेशमें अपना गढ़ बनाकर बैठ जायेंगे तो भारतके अस्तित्वके लिए खतरा उत्पन्न हो जायगा। भारत सरकारने अन्ततः बल-प्रयोगका सहारा लिया और सितम्बर १९४८में भारतीय सेनाने 'पुलिस कार्यवाही' का कदम उठाया और हैदराबाद पर अधिकार कर लिया।

भारत सरकार द्वारा हैदराबाद पर अधिकार करनेके बाद दो वर्ष तक तेलंगानामें सैनिक शासन रखना पड़ा और सब मिलाकर लगभग ५०० जमींदारोंकी हत्या हुई थी तथा दोनो पक्षोंके कुल मिला कर लगभग ३,००० मनुष्योंकी मृत्यु हुई। इन आंकड़ोंको ध्यानमें रखनेसे ही विद्रोहकी गंभीरताका हमें कुछ आभास हो सकता है।

स्वतंत्रता-प्राप्तिके पहले वर्षमें वहुतसे रजवाड़ोंमें परिस्थिति विगड़ती जा रही थी। राजाओंकी निर्वीर्य तानाशाहीसे थक, प्रजाने स्थान-स्थान पर विद्रोह करना शुरू कर दिया था। मेननके वताए अनुसार ऐसा लगता था कि नवजागृतिके इन प्रवाहोंके कारण राजाओंको शासक-पदसे हटा दिया जायगा। इस प्रश्नको त्वरित और शांतिपूर्ण ढंगसे हल करनेके लिए सरदार वल्लभभाईने कमर कस ली और विलीनीकरण प्रक्रियाका दूसरा चरण आरम्भ हुआ। आन्तरिक स्वशासनके लिए दिया गया वचन ताकमें रख कर उड़ीसा प्रदेशके राजाओंकी सभामें, विना किसी विवेक प्रदर्शनके, उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि "आप सव इस प्रान्त-शरीरके अन्दर उत्पन्न हुए फोड़े हैं। इसलिए आपको या तो दवाना पड़ेगा या नष्ट करना पड़ेगा। अगर मेरी सलाह मानेंगे और सहयोग देंगे तो मात्र शमित किया जा सकता है, अन्यथा जनता स्वयं आपको जड़मूलसे उखाड़ फेंकेगी।" अंग्रेजोंके जमानेमें भारत सरकार, प्रजाके प्रकोपसे वचानेके लिए राजाओंकी मदद करती थी; वह मदद अव विल्कुल मिलने वाली नही है, यह स्पष्ट कर दिया गया। प्रजाका किसी प्रकारका भी समर्थन न मिलनेके कारण राजा सर्वथा लाचार थे। सीमित विलयके अनुसार वैधानिक हक न होने पर भी आवश्यकता पड़ने पर नीलगिरी, फरीदकोट, रामदुर्ग और अलवर राज्योंके राजाओंके विरुद्ध सख्त कदम उठाए गए। इस दूसरे चरणमें छोटे रजवाड़ोंको प्रान्तोंमें मिला दिया गया और उनके प्रवन्धको भारत सरकारने सम्हाल लिया था। आसपासके छोटे राज्योंको मिलाकर इकाइयाँ वनाई गई। स्वभावतः वे लोग इस कदमके विरुद्ध थे, पर वड़े राज्योंमें यह नीति अमलमें नहीं आयेगी, यह कह कर सरदारने राज्योंमें फूट डाल दी। वादमें तो यह वचन भी भुला दिया गया और हैदरावाद, काश्मीर तथा मैसूरके अलावा अन्य सभी छोटे-मोटे राज्योंको उक्त योजनामें ले लिया गया। निःसन्देह, सत्ता और अधिकारोंको छोड़नेका प्रलोभन देनेके लिए राजाओं के प्रिवीपर्सकी दरख्वास्त पेश की गई। शेख अव्दुल्लाने महाराजा हरिसिंहको एक पाई दिए विना ही सत्तासे हटाया था। इस उदाहरणसे भयभीत हुए राजाओंने स्थानीय नेताओंकी अपेक्षा केन्द्रीय सरकारके साथ वातचीत करना अधिक उचित समझा और प्रिवीपर्सकी रकमको वढ़ानेके अलावा शेष मामले छोड़ दिए।

१९४९ के जुलाई महीनेकी पहली तारीखको त्रावणकोर-कोचीनकी इकाईकी स्थापनाके साथ-साथ यह चरण भी पूरा हो गया। २२३ राज्योंको अलग-अलग प्रान्तोंमें मिला दिया गया, ६१ राज्योंका प्रवन्ध भारत सरकारने सम्हाल लिया और २७५ राज्योंको एक-दूसरेके साथ मिलाकर इकाइयाँ वना दी गई। केवल तीन राज्य ही अपने मूल स्वरूपमें वने रहे : काश्मीर, हैदरावाद और मैसूर। इन आठ इकाइयोंको 'व' वर्गके राज्योंके रूपमें संविधानमें शामिल कर लिया गया।

इस पर भी, राजाओंके वर्गने अपनी महत्वाकांक्षाएँ छोड़ नहीं दी थीं। वड़ौदा और जोधपुरके महाराजाओंने पुनः सत्ता प्राप्त करनेके लिए गुट वनानेका प्रयास किया। शिकार या सामाजिक प्रसंगोंकी आड़में इधर-उधर इनकी वैठकें हुई थीं, पर भारत सरकार सजग थी। गृहमंत्री गोपाल-स्वामी आयंगरने इसकी कड़े शव्दोंमें टीका की थी। इसमें महत्वपूर्ण भाग अदा करनेवाले सर प्रतापसिंह गायकवाड़को पदभ्रष्ट कर दिया गया। प्रिवीपर्स और सत्ताको लेकर स्थानीय और केन्द्रीय सरकारके साथ वारवार झगड़ा करनेवाले वस्तरके राजा प्रवीणचन्द्र भंजदेवने विद्रोह कर आवझूमरका स्वतंत्र राज्य स्थापित करनेकी धमकी भी दी और अन्य राजाओंसे सहयोगकी

अपील भी की। कुछ अस्थिर बुद्धिके इस राजाने अंधश्रद्धालु आदिवासियोंको उत्तेजित किया और सशस्त्र झगड़ेमें उनका अवसान हो गया।

बादमें अपनी सम्पत्ति और लोगोंके रूढ़ विचारोंका लाभ लेकर राज कुटुम्बोंके लोगोंने प्रजातांत्रिक राजनीतिमें प्रवेश किया और कांग्रेस दलमें शामिल होकर या गणतंत्र परिषद् जैसे दलोंका निर्माण कर राजनीतिक वर्चस्व प्राप्त करनेकी कोशिश की। स्वतंत्र पक्षकी स्थापनाके बाद उनमेंसे बहुतोंने इस पक्षको सबल समर्थन देना आरम्भ कर दिया। उड़ीसा, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश और बिहारके अनेक भूतपूर्व राजागण स्थानीय राजनीतिमें महत्वपूर्ण भाग अदा कर रहे हैं।

बस्तरके राजा प्रवीणचन्द्र भंजदेव

विलीनीकरणकी इस प्रक्रियाको समग्र रूपमें देखें तो राजाओंको इससे फायदा ही हुआ है। उत्तरदायित्व कुछ भी न होने पर प्रति वर्ष साढ़े चार करोड़ रुपएकी एक बड़ी रकम मुट्ठीभर श्रीमत राजकुटुम्बोंमें बाँट दी जाती है। यह ध्यातव्य है कि यह राशि भारतके करोड़ों गरीब लोगोंके पाससे करके रूपमें एकत्र की जाती है। 'प्रिवीपर्सकी राशिमें सतत कमी होती रही है'—पण्डित नेहरू द्वारा दिए गए इस आश्वासनको आँकड़े गलत सिद्ध करते हैं। सन् १९५४-५५में यह राशि ४,९३,८०,००० रुपए थी, जो १९५६-५७में बढ़कर ५,३२,६६,००० रुपए हो गई और १९५८-५९में ५,४८,८४,००० रुपये हो गई। यह ठीक है कि इसके बाद उसमें कमी आने लगी है। १९६९-७०के अनुमानपत्रमें ४,८०,००,००० रुपए-की व्यवस्था इसके लिए की गई है। आजादीकी लड़ाई और प्रजातन्त्रके कट्टर विरोधीवर्गको आजादीका इतना लाभदायी फल सबसे पहले दिया गया हो, ऐसा दूसरा उदाहरण इतिहासकी पुस्तकोंमें अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। १९६७के जून महीनेमें कांग्रेस पक्ष द्वारा प्रिवीपर्स और विशेषाधिकारोंको समाप्त करनेका प्रस्ताव पारित होनेके बाद भारत सरकार और राजाओंके बीच अत्यन्त मन्द गतिसे मंत्रणाएँ चल रही हैं। राजाओंने देशभक्ति या त्यागकी भावनासे सत्ताको छोड़ दिया था—यह जो उस समयके नेताओंके भाषणोंमें उपलब्ध होता है, वह केवल एक औपचारिक विवेक है, उसमें सत्यांश बिल्कुल नहीं है।

देशी रजवाड़ोंके विलीनीकरणसे भारतको बहुत लाभ हुआ है। इससे पाकिस्तानकी स्थापनासे अलग हुए प्रदेश और आबादीकी कमी लगभग पूरी हो गई। निरंकुशता, भ्रष्टाचार और कुप्रबन्धके इन गन्दे गड्ढोंकी सफाईके कारण सबल व्यवस्थातन्त्र, भावात्मक ऐक्य (emotional integration) और प्रजातंत्रकी स्थापनाका मार्ग प्रशस्त हो गया। साथ ही उचित स्तर पर इकाई राज्योंकी स्थापनाका मार्ग भी उन्मुक्त हो गया। बहुतसे देशी राज्योंके क्षेत्र आज भी आर्थिक और शैक्षिक दृष्टिसे भारतके पिछड़े हुए प्रदेश कहलाते हैं। फिर भी 'देशी राज्योंका विलीनीकरण स्वतन्त्र भारतकी

ओजस्वी सिद्धि है और जगत्की महान क्रांतियोंमें उसकी गणना होनी चाहिए'—इस प्रकारके विचार चेस्टर बॉल्स द्वारा व्यक्त किए गए हैं। इस सिद्धिका लगभग सम्पूर्ण श्रेय सरदार पटेलको दिया जाना चाहिए और जर्मनीकी राजनीतिक एकता स्थापित करनेवाले महान् कूटनीतिज्ञ 'लोहपुरुष' बिस्मार्कके साथ सरदार पटेलकी तुलना करना सहज हो जाता है। सरदारकी शक्तिके विषयमें दो मत नहीं हो सकते। पर ऐतिहासिक सन्दर्भमें यह तुलना आंशिक रूपमें सत्य है। बिस्मार्कका काम सरदारकी अपेक्षा बहुत मुश्किल था, क्योंकि उसे अच्छे-खासे दो युद्धोंका आयोजन करना पड़ा था।

भारतकी राजनीतिक एकात्मकता सिद्ध करनेके लिए जिस प्रकार रियासतों का भारतमें विलय आवश्यक था, उसी प्रकार फ्रान्स और पुर्तगालके संस्थानोंको हटाना भी अनिवार्य था। इस कामका भार जवाहरलाल नेहरूने उठाया। फ्रान्स और पुर्तगालने अपने-अपने संस्थानोंके लिए विभिन्न नीतियाँ अपनायीं। १९४७में फ्रान्सने अपने बारह व्यापारी ठिकाने भारतको सौंप दिए, अपने पाँचों संस्थानोंको स्वशासन सौंप दिया और उनमें लोकमतके अनुसार चलनेका वचन दिया। १९४९में चन्द्रनगर इसी प्रकार भारतमें जुड़ा। पर बाकीके चार संस्थानोंमें बहुमतवाले समाजवादियोंने भारतके साथ जुड़ना स्वीकार नहीं किया। १९५४में वियतनामके युद्धके कारण फ्रान्सकी स्थिति बिगड़ गई और उसके संस्थानोंमें आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ। फ्रान्सके संस्थानोंमें स्थापित आरजी हुकूमतने कितने ही प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उनको कुचल देनेके लिए आई हुई फ्रेन्च सेनाको भारतने रोके रखा और ये चारों संस्थान भारतमें जुड़ गए। फ्रान्सने इस विलयके सम्बन्धमें भारतके साथ एक समझौता किया और आठ वर्षके लम्बे समयके बाद उसे वैधानिक स्वीकृति मिली।

पुर्तगालने अपने संस्थानोंके विषयमें किसी भी प्रकारकी बातचीत करनेसे इन्कार कर दिया। दीव, दमन और गोवा संस्थान नहीं हैं, अपितु पुर्तगालका समुद्रपार स्थित एक प्रान्त है; ऐसी उनकी धारणा थी। इस कारण पुर्तगालकी यह दृष्टि बन गई थी कि नाटो करारके अन्तर्गत नाटो संघ उसकी सुरक्षाके लिए उत्तरदायी होने तथा चार सौ वर्ष पूर्व ब्रिटेनके साथ हुए समझौतेके अनुसार उसकी सुरक्षाका दायित्व ब्रिटेनके ऊपर होनेके कारण भारत उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। भारत सरकारकी पृच्छाओंके उत्तरमें अमेरिका, ब्रिटेन और केनेडाने स्पष्ट कर दिया कि हिन्द महासागरका प्रदेश नाटोके क्षेत्रमें नहीं आता। संघ के सदस्यके नाते पुर्तगाल अपने हित-संरक्षणकी माँग कर सकता है और उसकी इस माँग पर विचार भी किया जा सकता है, पर उसे संरक्षण प्राप्त करनेका अधिकार नहीं है। दूसरी पृच्छाके उत्तरमें ब्रिटेनने स्पष्ट किया कि वह पुर्तगालकी मूलभूमिके संरक्षणके लिए प्रतिबद्ध है न कि उसके संस्थानोंके लिए।

पुर्तगालने गोवावासियोंके द्वारा शुरू किया गया स्वातंत्र्य आन्दोलन कुचल डालनेके लिए बर्बरतापूर्ण दमन नीतिका आश्रय लिया। भारतीय सत्याग्रहियोंको गोवाकी सीमामें दाखिल होनेसे रोकनेके लिए उन पर गोलियाँ चलाई गई। बातचीत, धमकी, सम्बन्धविच्छेद तथा नाकेबन्दी आदि सभी उपायोंका आश्रय ले चुकनेके बाद भारतका धीरज छूटने लगा। १९५४में दादरा और नगरहवेली

विद्रोह कर भारतमें आ मिले। उनको कुचलनेके लिए जा रहे पुर्तगाली सैनिकोंको भारतने रोक दिया। पुर्तगाल द्वारा की गई शिकायतके निर्णयमें अन्तर्राष्ट्रीय अदालतने भारतके पक्षमें कहा जा सकनेवाला निर्णय दे दिया। अफ्रीकाके पोर्तगीज़ संस्थानोंके सम्बन्धोंकी चर्चामें राष्ट्रसंघकी न्यासिता समिति (Trustee- ship Council)ने राष्ट्रसंघसे १९६१के नवम्बर महीनेमें संस्थानोंको बनाए रखनेमें पुर्तगालको किसी भी प्रकारकी मदद न देनेका अनुरोध किया। उसके बाद राष्ट्रसंघकी सामान्य सभा ने उपनिवेषवादको जड़मूलसे खत्म करनेका प्रस्ताव १४-१२-६१को पारित कर दिया। १७ दिसम्बर १९६१को रातके बारह बजे भारतने आक्रमण किया और पुर्तगालका भारतीय साम्राज्य एक झटकेमें ही खत्म हो गया। पुर्तगाली इस देशमें आनेवाले सबसे पहले यूरोपवासी थे और वे सबसे आखिरमें विदा हुए।

भारत द्वारा किए गए बल-प्रयोगकी इंग्लण्ड और अमेरिकाके समाचारपत्रों तथा स्वतंत्रपक्षके नेताओंने अत्यन्त कटु आलोचनाएँ की, किन्तु शेष सभी देशोंने इस कदमको सराहा। श्रीमती मार्गरेट फिशरने 'एशियन सर्वे' (१९६२ अप्रैल)के अंकमें जो लिखा, उसके अनुसार "१९६१के अरसेमें— पहले काश्मीरमें हुआ उसी प्रकार—अहिंसा और हिंसाके बीच नहीं, परन्तु हिंसाके अलग-अलग प्रकारोंके बीच पसंदगी करनी रहती थी। नेहरूके द्वारा पसंद किये गये विकल्पने—यह पसंदगी उनके लिए कठिन थी, यह स्पष्ट प्रतीत होता था—अनुपातमें रचनात्मक हल प्रदान किया और उसमें हिंसाकी मात्रा न्यूनतम थी।" इस प्रकार प्रादेशिक विलीनीकरण प्राप्त करनेके लिए १९४७में शुरू हुई यात्रा १९६१के अन्त होनेके साथ पूरी हुई।

प्रादेशिक पुनर्रचना

पुनर्रचनाकी जिस दूसरी प्रक्रियाका उल्लेख किया गया है, वह भी साथ-साथ जोर पकड़ती गई थी। एक प्रकारसे देखे तो यह प्रक्रिया विलीनीकरणकी संभावना पैदा होनेके पूर्व ही शुरू हो गई थी। अंग्रेजी शासन-कालकी स्थापनाके दिनोंमें हुई सैनिक हार-जीतके आकस्मिक और अस्थायी तौर पर प्रान्तों और प्रदेशोंकी जो रचना हुई थी, वह बहुधा स्थायी रहते हुए भी उसमें सतत परिवर्तन होते रहते थे। विशेषत: बड़े प्रान्तोंको तोड़कर बिहार, वायव्य सरहदका प्रान्त, सिन्ध और उड़ीसाके समान नए-नए प्रान्तोंके बननेकी प्रक्रिया सतत चलती रही थी। किसी भी सुदृढ़ आधारके अभावमें रचित विस्तृत और बहुभाषी प्रदेश व्यवस्थाकी कार्यक्षमतामें बाधक होनेकी बात अनेक रिपोर्टोंमें स्वीकार की जाने पर भी उसे दूर करनेके लिए निश्चित कदम नहीं उठाए गए थे। देशी राज्योंके इधर-उधर बिखरे होनेके कारण प्रान्तोंकी पुनर्रचना करना कठिन था। दूसरे, जनताको सरकारी और सार्वजनिक कामोंमें दिलचस्पी लेनेके लिए सुविधा प्रदान करनेको अंग्रेज सरकार बहुत उत्सुक न थी।

१९०५में बंग-भंगके विरुद्ध उग्र लड़ाईके दरम्यान जनतामें एकताकी भावना पैदा करनेकी प्रादेशिक भाषाओंकी शक्तिका परिचय सरकारको और जनताके नेताओंको हुआ। अपने-अपने

प्रदेशको भाषाके आधार पर बंगाल और मद्रास प्रान्तोंसे अलग करानेके लिए आन्दोलन चलानेके आशयसे १९०५में उड़ियासभा और १९१३में आंध्रमहासभाकी स्थापना हुई। स्वातंत्र्य-संग्राममें अगर आम जनताको रस लेनेवाली बनाना हो तो कांग्रेसकी प्रादेशिक शाखाओंकी रचना भाषाई आधार पर होनी चाहिए—इस माँगका आरम्भमें विरोध करनेके बादमें गांधीजीने इसे समर्थन दिया। कांग्रेसके १९२०के संविधानमें १८ भाषाकीय प्रदेश, दो प्रादेशिक शाखाएँ और बर्मा रूपी प्रान्त बनाए गए। परिणामस्वरूप, आज़ादीके आन्दोलनको उत्तेजना मिली और जनतामें राष्ट्रभावना बहुत तीव्र रूपमें जाग्रत हुई। ठीक १९१८में केन्द्रीय विधानसभामें इस आशयके अनेक प्रस्ताव पारित किए कि भाषाके आधार पर प्रान्तोंकी पुनर्रचना की जायगी और लगभग सभी नेताओंने इस प्रकारके वचन बार-बार दोहराए। १९३७में कांग्रेसके चुनाव-घोषणापत्रमें भी इसका पुनः उल्लेख किया गया। बंग-भंगके कटु अनुभवसे निस्तेज हुई अंग्रेज सरकार भाषाके आधार पर प्रान्त-रचनाके सिद्धान्तसे घबराती थी, पर व्यवहारमें उसने उसे स्वीकार कर लिया था। बम्बईसे अलग करके सिंध और बंगालसे अलग करके उड़ीसा प्रान्तोंकी रचना सन् १९३५में केवल भाषाके आधार पर की गई।

आज़ाद भारतका जब संविधान बन रहा था, उस समय इकाई राज्योंकी रचना भाषाके आधार पर करानेकी माँग ज़ोर पकड़ती जा रही थी। दिल्लीमें भाषाकीय राज्य परिषद्की बैठक हुई। इस प्रश्नकी जाँच करनेके लिए विधानसभाने न्यायमूर्ति धारकी अध्यक्षतामें एक आयोगकी नियुक्ति की। इस आयोगने यह संस्तुति की कि "अगर भाषावार राज्य-रचनाका काम शुरू किया गया तो उससे उत्पन्न होनेवाले मतभेदों और ऊहापोहोंके कारण राष्ट्रभावनाको सख्त आघात पहुँचेगा, अतः यह पुनर्रचनाका काम सम्प्रति स्थगित रखा जाय।"

धार कमीशनकी रिपोर्टके मुद्दे

> सम्प्रति भारतीय प्रान्त ब्रिटिश राजशाहीके प्रशासनिक प्रान्त हैं। उनकी रचना अस्त-व्यस्त पद्धति पर हुई है। प्रजातांत्रिक संस्थाके रूपमें उनका निर्माण नहीं किया गया है।...
>
> अपने देशबन्धुओंमेंसे अनेककी कल्पनाके लिए भाषावार राज्यरचना जबर्दस्त अपील है, विशाल लोकमत इसके पक्षमें है...परन्तु, राष्ट्रवादके जो हितमें हो, उसे प्रथम स्थान मिलना चाहिए और उसके मार्गमें जो बाधक हो; उसका इन्कार किया जाना चाहिए। इस कसौटी पर कसनेसे हमारे मतानुसार भाषावार प्रान्तोंका सिद्धान्त असफल होता है...केवल मुख्यतः भाषाका आधार स्वीकार करना अखिल भारत देशके विशाल हितमें नहीं है, अतः उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए...भाषावार प्रान्तोंका अगर कोई लाभ है, तो वह यह हो सकता है कि प्रान्तीय विधानसभाओंका कामकाज प्रान्तीय भाषाओंमें होने लगेगा।

इस रिपोर्टसे सभी पक्षोंमें और स्वयं कांग्रेसमें उत्पन्न तीव्र असंतोषको शान्त करनेके लिए कांग्रेसने पं० नेहरू, पटेल और कांग्रेसके उस समयके अध्यक्ष पट्टाभि सीतारामैया, इन तीन नेताओंकी एक समितिकी रचना की। परन्तु १९४९में धार आयोगके मन्तव्यको स्वीकार करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि "अभी इस प्रकारकी पुनर्रचनाके लिए उचित समय नहीं है और ऐसा करनेमें अपनेको आर्थिक और प्रशासनिक असुविधाएँ तो होंगी ही, बल्कि उसके परिणामस्वरूप विभंजक परिबल और बलवती हो जायेंगे।" साथ ही यह भी जोड़ दिया कि लोक-भावना अगर अतिशय तीव्र हो तो प्रजातंत्रके उपासकोंके नाते नेताओंको उसके वशवर्ती होना चाहिए। आंध्रको अपवाद मानकर अगर सम्बद्ध पक्ष अपना-अपना मतभेद भूल सकें तो आंध्र प्रदेशकी रचना तत्काल होनी चाहिए। परन्तु इस प्रकारका एकमत स्थापित नहीं किया जा सका, अतः विधानमें यथावत् स्थिति चालू रखी गई। इसके विरोधमें छोटे-मोटे आन्दोलन होते रहे। आंध्रकी स्थापनाके लिए अनशन कर रहे पोट्टी श्री रामुलुका, छप्पन दिनोंके उपवासके बाद, १९५२के दिसम्बरकी १५वीं तारीखको अवसान हो गया। आंध्रमें चारों ओर जबर्दस्त तूफानोंका दौर फूट निकला और विधानसभाके सभी सदस्योंने अपने-अपने त्यागपत्र दे दिए। चार दिनके बाद भारत सरकारने आंध्र प्रदेशकी मांगको स्वीकार कर लिया और १ अक्तूबर, १९५३को आंध्र प्रदेशकी स्थापना हुई। भाषावार राज्य-रचनाकी मांगके सामने सरकारको झुकना पड़ा।

१९५३के दिसम्बर महीनेमें भूतपूर्व न्यायमूर्ति फजल अली, पण्डित हृदयनाथ कुंजरू और सरदार पन्नीकर—इन तीन सदस्योंका एक "राज्य-पुनर्रचना आयोग" नियुक्त किया गया। सम्पूर्ण प्रश्नका गहराईसे अध्ययन करनेके बाद सितम्बर १९५५के अन्तमें इस आयोगने अपनी रिपोर्ट दी। प्रशासनिक व्यवस्था, आर्थिक स्वायत्तता, सांस्कृतिक समानता और भाषा—इन चार तत्वोंको आयोगने स्वीकार किया और केरल, मद्रास, कर्नाटक, हैदराबाद, आंध्र, बम्बई, विदर्भ, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा और काश्मीर नामक सोलह इकाई-राज्य और दिल्ली, मणिपुर और अण्डमान नामक तीन केन्द्रशासित प्रदेश बनानेकी सिफारिश की। इनमेंसे बम्बई, पंजाब और हैदराबादके अलावा शेष सभी राज्य भाषाके आधार पर प्रस्तावित किए गए थे। हैदराबादको अलग रखनेकी आयोगकी सिफारिश अत्यन्त विवादास्पद सिद्ध हुई, क्योंकि आंध्र, महाराष्ट्र और कर्नाटकके भाषावार राज्योंकी रचना पूर्ण करनी हो तो हैदराबादका विसर्जन अनिवार्य था। आयोग द्वारा प्रस्तावित सीमाओंको लेकर लगभग सभी राज्योंमें कम या अधिक मात्रामें आन्दोलन हुए और शासक पक्षके सूत्रधार अपेक्षित परिवर्तनोंसे सम्बद्ध बातचीत चला ही रहे थे कि कितने ही राज्योंमें यह आन्दोलन अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया।

प्रदेशोंकी खींचतानमें राज्य इस वास्तविकताको लगभग भूल ही गए कि वे एक ही संघराष्ट्रकी इकाइयां हैं। वर्षों तक खुलेआम जंग लड़नेके बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि अगर राज्योंके बीच सीमाएँ तय करनेके लिए बातचीत शुरू की जाय तो उनके बीच परस्पर वैमनस्य, रोष और विषादकी भावना तीव्रताके साथ भड़के बिना न रहेगी। विभिन्नता, संकुचितता, प्रादेशिकता और लड़ाकू प्रवृत्तिके भयंकर खप्परमें राष्ट्रभक्ति, समाधानवृत्ति और न्यायपरायणताका होम हो गया और वे देशमें जैसे जड़मूलसे नष्ट हो गईं। वादविवाद, खींचतान, मारकाट,

राज्य-पुनर्रचना आयोग (S. R. C.)

⊙ १९५७ (२९ दिसम्बर)

उड़ीसाके गवर्नर जस्टिस सैयद फज़ल अली, पण्डित हृदयनाथ कुँजरू तथा सरदार पन्नीकर आयोगकी घोषणा :

"समस्याको सभी पहलुओंसे देखनेके बाद हम इस निर्णय पर आए हैं कि किसी भी एक; उदाहरणार्थ, भाषा अथवा संस्कारकी कसौटी पर राज्योंकी पुनर्रचना करना संभव नहीं है और न इष्ट ही है। अपने देशकी एकताके हितमें समग्र समस्याकी ओर संतुलित अभिगम होना जरूरी है।"

⊙ आयोग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टके कुछ मुद्दे :

(१) भाषाके मुद्देका महत्त्व है। प्रशासनकी सुविधा और कार्यकुशलताके लिए यह महत्वका परिबल है; परन्तु प्रशासनिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक मुद्दोंको एक तरफ रखकर भाषाको एकमात्र बन्धनकारक नहीं मानना चाहिए।

(२) भाषावार प्रजाके अलग 'वतन' (homeland)की अवधारणाको ही अस्वीकार करना चाहिए; कारण कि इसमें तो भारतीय संविधानके मूलभूत सिद्धान्तों—उदाहरणार्थ, संघके एक छोरसे दूसरे छोर तक सभी नागरिकोंको समान अवसर और समान अधिकार—का अस्वीकार निहित है।

(३) एक भाषा बोलनेवालोंका एक राज्य—यह सिद्धान्त भी उचित है। आवश्यकतानुसार उसके एकसे अधिक राज्य भी हो सकते हैं। [उदाहरणार्थ, हिन्दीभाषी राज्य]।

(४) भाषावार राज्यके कारण स्थानीय प्रादेशिक भावनाओंको सम्पुष्ट करनेके भयके विरुद्ध राष्ट्रीय भावनाको मूर्त बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। यह देखना चाहिए कि विभिन्न प्रादेशिक संस्कारिताओंके बीच और अधिक एकात्मता दृढ़ हो। केन्द्र और राज्योंके बीच बहुत बड़े पैमाने पर सहयोग स्थापित कर राष्ट्रीय नीति और कार्यक्रमोंको अमलमें लाना चाहिए।

(५) विविध प्रदेशोंमें ऐतिहासिक, भाषाई, भौगोलिक तथा आर्थिक और अन्य परिबलोंने अपनी विशिष्ट रीति उत्पन्न कर ली होती है; अतः उन सबका अध्ययन करनेके बाद ही निर्णय लिया जाना चाहिए। एक ही कसौटीको सभी जगह लागू नहीं किया जा सकता।

हड़ताल, हुल्लड़ और धौंस-धमकीके अभूतपूर्व झंझावातसे राज्य पुनर्रचना आयोग द्वारा की गई सिफारिशोंमें बहुतसे छोटे-बड़े परिवर्तन किए गए। हैदराबादका विभाजन कर दिया गया और उसके तीन टुकड़े कर आंध्र, मैसूर और महाराष्ट्र प्रदेशोंमें मिला दिए गए। गुजरात, महाराष्ट्र और बम्बईके तीन राज्य बनानेका निश्चय करनेके बाद आखिरी क्षणोंमें बम्बईको द्विभाषी राज्य बना दिया गया और स्थानीय लोकमतकी उपेक्षा कर विदर्भको उसके साथ जोड़ा गया। इस प्रकार सोलहके बदलेमें चौदह राज्य और छ: केन्द्र-शासित प्रदेश बनाए गए। परन्तु भाषावार पुनर्रचनाके अपवाद रूप अवशिष्ट बम्बई और पंजाबमें आन्दोलन चलते रहे। राज्य पुनर्रचना विषयक संतोष-असंतोषका १९५७के चुनाव परिणामों पर इतना गहरा असर पड़ा कि अशोक मेहताने 'पोलिटिकल माइंड आफ इण्डिया'में इस चुनावको 'भाषाकीय चुनाव'का उपनाम दे दिया। बादमें, १९६०में महाराष्ट्र और गुजरातको अलग कर द्विभाषी बम्बई राज्यका पुनर्गठन कर दिया गया। इसी प्रकार विचित्र प्रवाह और धौंस-धमकीसे भरे आन्दोलन लम्बे समय तक चलनेके बाद १९६६में पंजाबको विभक्त कर हरियाणा और पंजाब राज्य बनाए गए और दोनोंके बीच झगड़ेकी जड़ चण्डीगढ़को केन्द्र-शासित प्रदेश बनाया गया।

इस प्रकार, दसेक वर्षोंकी कड़ी मेहनतके बाद भारतमें १६ भाषावार राज्य बने। परन्तु इसके बाद अलग सार्वभौम राज्यकी माँग कर रहे नाग लोगोंको अंशतः संतोष देनेके लिए उनकी सभी जातियोंके रहनेके प्रादेशिक आधार पर, न कि भाषाके आधार पर, १७वाँ नया राज्य ठीक १९६२में बनाया गया।

राज्योंकी पुनर्रचनाके कारण उपस्थित हुए प्रश्नोंके समाधानके लिए और भाषाकीय आवेशोंके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई भावात्मक और प्रशासनिक विच्छिन्नता दूर करनेके लिए भारतको पाँच विभागों (जोन)में बाँट दिया गया है। प्रत्येक विभागके लिए एक विभागीय समिति नियुक्त की गई है और केन्द्रीय गृहमंत्री उसके अध्यक्ष माने जाते हैं। विभागोंमें समाविष्ट प्रत्येक राज्यके मुख्यमंत्री तथा दो और मंत्री और केन्द्रशासित प्रदेशोंके ले० गवर्नर और एक प्रतिनिधि इस समितिके सदस्य माने जाते हैं। आर्थिक और सामाजिक प्रश्नोंको हल करनेके लिए और सीमाओंसे सम्बद्ध झगड़ोंको हल करनेके लिए और भाषाई अल्पमतको संरक्षण देनेके लिए, यह माना जाता था कि ये समितियाँ उपयोगी सिद्ध होंगी। इन विभागीय समितियोंकी बैठक जब-तब होती रहती है और उन्होंने कुछ उपयोगी काम भी किया है, पर अब तो वह बहुधा निर्जीव बन गई है। इस प्रकार समवायी तंत्र-व्यवस्थामें ऐसे मध्यावधिके तंत्र खड़े करनेका यह दिलचस्प प्रयोग असफल सिद्ध हुआ है। अंग्रेजोंके शासन-कालमें स्थित जैसे बड़े प्रान्तोंकी याद ताजा करानेवाले ये विभाग अपने देशमें एकात्मक व्यवस्था विषयक मानसिक रुचिकी मजबूतीका प्रमाण देते हैं।

भाषावार राज्य-रचना विषयक उसके परिणामोंको लेकर तीव्र ऊहापोह चलता रहा है और अक्सर उसे सर्वांशतः निम्नकोटिका बताया जाता है। लम्बे समय तक जनताकी माँगोंको संतोष प्रदान करनेवाली और कितनी ही प्रशासनिक सुविधाएँ प्रदान करने वाली इस प्रक्रियाके आनुषंगिक

परिणामोंसे विचारवान् लोग चौंक उठे हैं। जितना रस आम जनतामें भाषावार राज्य-रचनाने उत्पन्न किया है, उतना अन्य किसी भी प्रश्नने उत्पन्न नहीं किया। तमाम वर्गो, पक्षों और प्रदेशोंमें इस प्रश्नके कारण तंगदिली और मतवैभिन्य पैदा हो गया है। अलग-अलग भाषा बोलने वाले लोगोंके बीच वैमनस्य बढ़ा है और संकुचित प्रादेशिक मनोवृत्तिको प्रोत्साहन मिला है; भारतकी एकात्म भावना और स्वस्थता पर जबर्दस्त आघात हुआ है; और भाषावादकी बाढ़ एकरूपमें धुंधुवाती ही रही है। प्रादेशिक भाषाके आग्रहसे एक ऐसा जुनून चढ़ा है कि अन्य भाषा बोलने वाले लोगोंको या तो सम्बद्ध प्रदेश छोड़कर चले जाना चाहिए या परदेशीकी तरह रहना चाहिए। अगर यह भावना अधिक उग्र बन जाय अथवा दृढ़ हो जाय तो इकाई राज्य स्वायत्त राज्योंके बदले स्वतंत्र राष्ट्र बन जायेंगे, अनेक टुकड़ोंमें भारतका विभाजन हो जायगा और अपनी-अपनी प्रादेशिक भूख मिटानेके लिए उनके बीच विग्रह शुरू हो जायेंगे। भविष्यका इस प्रकारका भयावह चित्र बहुतोंको परेशान करता रहा है।

दूसरी तरफ, यह भी माना जाता है कि परदेशी अमल दरम्यान अकारण स्थापित प्रदेशोंकी बुद्धिपूर्वक पुनर्रचना करनेका काम अनिवार्य हो गया था। इस विस्फोटक प्रश्नका सामना करनेके लिए और यथासंभव हल ढूंढ़ निकालनेके लिए जो कुछ परिवर्तन और प्रयोग करना जरूरी दिखायी दे, उसे कर लेनेकी सूझ और शक्ति हममें है, यह भारतने सिद्ध कर दिया है। भाषावार राज्य-रचनाके फलस्वरूप प्रशासनिक और अदालती कामोंमें प्रादेशिक भाषाके उपयोग का मार्ग उन्मुक्त हुआ है तथा जनता और सरकारके बीचकी खाई अंशत: भर गयी है। इकाई राज्योंके प्रति लोगोंके मनमें जितनी आत्मीयता और चाहना दिखायी देती है, उतनी ही मात्रामें राज्यकी शक्तिमें वृद्धि हुई है और केन्द्र सरकारकी सत्ताका व्यावहारिक विकेन्द्रीकरण हुआ है, सच्चे लोक-तंत्रका विकास आरम्भ हुआ है।

यह चर्चा अतिशय आवेशपूर्ण और कटु बन गई है। भारतमें विभंजक परिबल जोर पकड़ते हुए प्रतीत होते हैं और उसका सम्पूर्ण दोष भाषावार राज्य-रचनाके माथे डाला जाता है। अभी आज भी इस रचनाके परित्याग करनेके सुझाव, प्रस्ताव और आन्दोलन हमारी राजनीतिके विविध स्तरों पर चल रहे हैं। अगर इस चर्चाके आसपास लिपटे आवेश और स्वप्नदर्शी (utopian) धारणाओंका जाल दूर कर दें, तो पता चलेगा कि भारतीय राष्ट्रसे सम्बद्ध दो विभिन्न दृष्टिबिन्दु आपसमें टकरा रहे हैं।

एक दृष्टिबिन्दु है: भारत एक अखण्ड, अविभाज्य और एकात्म राष्ट्र है और इस कारण उसके सभी प्रयोजनों द्वारा धर्म, सम्प्रदाय, रंग, भाषा और प्रदेश-भेदको भूलकर केवल उसके प्रति ही एकनिष्ठ भक्ति रखी जानी चाहिए। भारतमें एक ही ध्वज, एक ही निष्ठा होनी चाहिए। दूसरा मन्तव्य है: इस प्रकारकी राष्ट्रभक्ति जगत्के किसी भी समाजमें नहीं है और न इस प्रकार होना मानव-स्वभावमें ही है। मनुष्य अनेक समूहोंसे संयुक्त रह सकता है और तदनुसार उसकी सभीके प्रति निष्ठा भी हो सकती है। मनुष्यमें जिस प्रकार अपने धर्मके प्रति, अपने कुटुम्बके प्रति अनुराग होता है, उसी प्रकार अपनी भाषाके प्रति और उस भाषाके बोलनेवालोंके प्रति भी सहज ही ममत्व हो जाता है। संस्कार और संस्कृतिका जबर्दस्त माध्यम भाषा है। भारत जसे सुविशाल देश

मिश्रित तथा बहुविध समाजमें प्रादेशिक भावनाओंका होना स्वाभाविक है और स्वागत योग्य है। प्रादेशिक भावनाओंकी उपेक्षा करनेसे अथवा उनको कुचलनेसे राष्ट्रभक्तिका विकास होगा ही, यह मान लेनेका कोई कारण नहीं। यूरोपके छोटे-छोटे राष्ट्रोंमें भाषा, धर्म, राष्ट्र, रंग सभी कुछ एकरस होनेके कारण उन देशोंमें दिखायी देनेवाली उग्र राष्ट्रभक्ति अपने जैसे विशाल देशमें संभव नहीं है; और इस प्रकारकी तीव्र और अंधभक्तिने यूरोपके अनेक राज्योंमें प्रजातंत्रके सत्वका ही नाश कर दिया है, जो भूल जाने योग्य नहीं है।

यह मान लेनेका भी कोई कारण नहीं है कि भाषाकीय राज्य अथवा प्रादेशिक ममत्व देश-भक्तिका हमेशा ह्रास ही करता है। यह कहनेका साहस नहीं किया जा सकता कि बहुत वर्षों पूर्व भाषाई आधार पर निर्मित बंगाल, बिहार या उत्तर प्रदेश जैसे प्रान्तोंमें अथवा अपने समाजके प्रति उत्कट अनुराग रखनेवाले बंगाली या महाराष्ट्रीय समाजोंमें बहुभाषी प्रान्तों या समाजोंकी अपेक्षा व्यापक राष्ट्रभक्तिकी मात्रा कम है। चीनी और पाकिस्तानी आक्रमणोंके समय यह निश्चित सिद्ध हो गया है कि भाषावार प्रान्त-रचनाके बाद भी जनतामें स्वदेश भक्तिकी मात्रा थोड़ी-सी भी कम नहीं हुई है। विभंजक तत्त्व जहाँ सबसे अधिक दिखायी देते हैं, वह आसाम और तमिलनाडु राज्य-पुनर्रचनाकी प्रक्रियासे बहुधा अलग रहे हैं।

साथ-ही-साथ भाषावार राज्य-रचनाके समय अनेक प्रदेशोंने अनुचित माँगें प्रस्तुत कीं, अपने प्रदेशोंका विस्तार बढ़ानेके लिए गलत मार्गका उपयोग किया, भाषावादके जुनूनके कारण झगड़े हुए, भाषाई अल्पमत वालोंको बहुत कष्ट सहन करने पड़े, प्रदेशोंके अन्य लोगों पर भयंकर हमले हुए (आसाम १९६१-१९६८) और प्रादेशिक सेनाएं स्थापित हुईं। यह सत्य है कि ये सभी तथ्य चिन्ता पैदा करनेवाले हैं और राष्ट्र या प्रदेशकी प्रगति मे बाधक हैं; पर समग्रतः देखने पर बम्बई और पंजाबमें, जहाँ प्रजाकी उचित माँगें ठुकरा दी गई थी, बड़े झगड़े हुए। इन प्रदेशोंमें भी कितनी ही अनुचित माँगें प्रस्तुत की गई थीं, पर उन्हें स्वीकार करनेका आग्रह चालू नहीं रखा गया था।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भाषाके आधार पर पुनर्रचनाके विरोधी भी राज्योंके निर्माणके लिए कोई निश्चित विकल्प नहीं सुझाते। प्रशासन विषयक दी जानेवाली दलीलें व्यवहारमें अर्थहीन हैं, कारण कि ये सुविधा राज्य-निर्माणका तत्त्व न होकर शासनतन्त्रकी व्यवस्थासे सम्बद्ध आनुषंगिक गणना है। साथ ही, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि एकभाषी राज्य प्रशासनकी दृष्टिसे भी श्रेष्ठ है।

भाषावार राज्य-रचनाकी प्रक्रिया और परिणामोंकी चर्चा लम्बे समय तक चलेगी। पर इस प्रकारकी रचनासे बहुतसे प्रदेशोंको लाभ हुआ है। हाँ, अनेक जातियों और भाषावार समूहोंको रखनेवाले आसामकी प्रादेशिक पुनर्रचनाका सवाल १९६६से भारतके राजनीतिज्ञोंको परेशान करता रहा है और उनके लिए अनेक विचित्र प्रकारके हल सुझाए जा रहे हैं। अगर आसामको अपवाद मान लें तो भारतके राजनीतिक नक्शेने प्रायः अन्तिम स्वरूप धारण कर लिया है और उसमें आज तत्त्वतः किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी संभावनाएँ दिखाई नहीं देतीं। फिर भी इन राज्योंका निर्माण-कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है और ऐसा लगता है कि उसमें दो दिशाओं से हेरफेर करना पड़ेगा। एक तो अपने यहाँ छोटे-मोटे दस केन्द्र-शासित प्रदेश हैं। शुद्ध समवायतन्त्रमें इन

प्रकारके प्रदेशोंके लिए स्थान नहीं हो सकता; फिर भी सामान्य रूपसे संघ सरकारकी राजधानीको संघ सरकारके अधिकारमें रखा जाता है। केनेडा, ऑस्ट्रेलिया और अमेरिकाके कितने ही पिछड़े हुए विजन प्रदेशोंको अथवा संस्थानोंको इस प्रकारका दर्जा दिया जाता है। भारतके केन्द्र-शासित प्रदेश पिछड़े हुए भी नहीं हैं और निर्जन भी नहीं हैं। हिमांचल प्रदेश, गोवा, पांडिचेरी, मणिपुर अथवा त्रिपुरा जैसे प्रदेशोंको स्थायी रूपसे केन्द्रके अधिकारमें नहीं रखा जा सकता। या तो उन्हें सम्पूर्ण-राज्य बना देना चाहिए या फिर उन्हें आसपासके प्रदेशोंमें विलीन कर देना चाहिए। ऐसा होने पर ही समवायतंत्रकी पूर्णाहुति हुई मानी जायेगी। १९६७के आरम्भमें गोवाके विलीनीकरणका प्रयोग जो असफल हुआ, उसे शोचनीय ही माना जाना चाहिए।

दूसरी बात : विस्तार और आबादीकी दृष्टिसे भारतके बहुतसे राज्य अतिशय बड़े हैं; इससे प्रशासनिक क्षमता घटती है। नौकरशाही और लालफीताशाही प्रबल होती है और प्रजातंत्रमें लोगोंके मनमें जो अपनेपनकी भावना होनी चाहिए, वह पैदा नहीं हो पाती। अन्य संघीय तंत्रोंके साथ अगर तुलना करें तो अपने प्रदेशोंका बड़ा कद ध्यानमें आयेगा। दो करोड़की आबादी वाले केनेडामें दस राज्य हैं। सवा करोड़से कम आबादीवाले ऑस्ट्रेलियामें छः राज्य हैं। अठारह करोड़की आबादीवाले अमेरिकामें पचास राज्य हैं और पौन करोड़से भी कम आबादीवाले स्विस अपना प्रशासन पच्चीस केण्टोनके द्वारा चलाते हैं। तब फिर पचास करोड़की आबादीवाले भारतमें केवल सत्रह राज्य हैं। विशाल जन-संख्या वाले राज्योंके कारण समवायीतंत्रका पूरा लाभ लोगोंको नहीं मिल पाता और राज्य स्थानीय कार्योंमें पूरी जागृति और त्वरासे काम नहीं कर पाते। सभी राज्योंका विभाजन कर भारतमें पचाससे साठ छोटे-छोटे राज्योंका अगर निर्माण किया जाय तो यह सभी दृष्टियोंसे श्रेयस्कर होगा। इस प्रकारके कदम उठानेसे भाषाकीय राज्य-रचनाका सिद्धान्त भंग नहीं होता, कारण कि फेडरेशनमें भाषावार केवल एक-एक ही राज्यकी इकाई होनी चाहिए, इस प्रकारके आग्रहके लिए एक भी बुद्धिगम्य कारण नहीं दिया जा सकता। डा० अम्बेदकरकी यह दलील अनुत्तरित है। (अमेरिकाके फेडरेशनमें अंग्रेजीभाषी अनेक इकाइयाँ हैं)। छोटे, सुग्रथित राज्य प्रशासनिक और राजनीतिक विकासके लिए अत्यन्त जरूरी हैं।
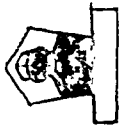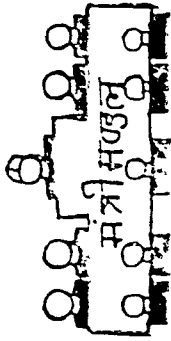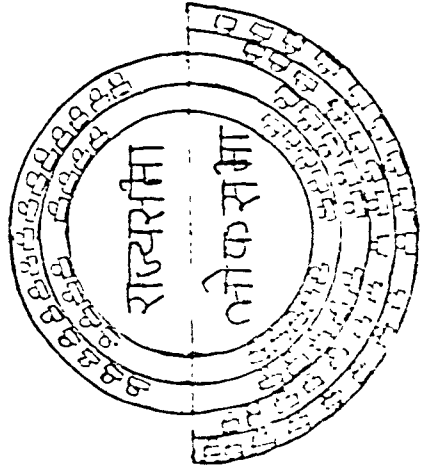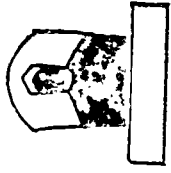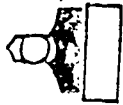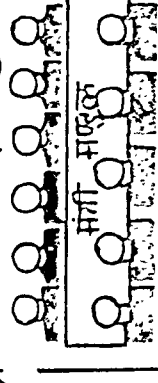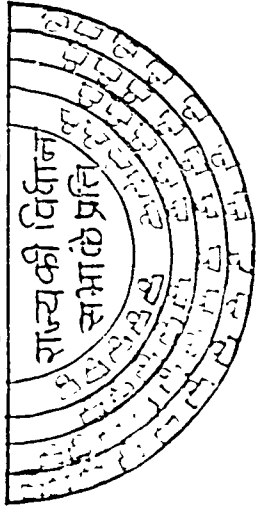
राष्ट्रपति का शासन

अप्रैल-१९५३ - ६ मार्च-१९५४ १५ नवम्बर - १९५४ १९५३-२५ - मार्च १९५४	पेप्सु. आंध्र त्रावणकोर कोचीन
२३ मार्च-१९५६	त्रावणकोर कोचीन
३१ जुलाई-१९५९-२२ फरवरी-१९६० -	केरल
२५ फरवरी १९६१-२३-जून-१९६१	उड़ीसा
सितम्बर - १९६४ -	केरल
२४ मार्च १९६५ -	केरल
५ जुलाई -१९६६ -१- नवम्बर-१९६६	पंजाब
१२-मार्च-१९६७-२२ अप्रैल-१९६७ -	राजस्थान
२१ नवम्बर-१९६७-२१-मई-१९६८	हरियाणा
२१ फरवरी २५ ,, १९६८ २९ जून मार्च १९६९ २२ अगस्त	प. बंगाल उ. प्रदेश बिहार पंजाब

६ : समवायतन्त्रका स्वरूप

जैसाकि पिछले प्रकरणमें हम देख आए हैं, उसके अनुसार रचित और पुनस्संगठित इकाई-राज्योंके संघरूप भारतके समवायतंत्रके स्वरूप और उसमें निहित समवायी तत्वकी मात्राके विषयमें भारतीय राजनीतिके निष्णातोंके बीच उग्र चर्चा चल रही है। इस प्रकारकी चर्चाएँ अन्य समवायी राष्ट्रोंके विषयमें भी चलती रहती है, क्योंकि परिस्थितियोंके अनुसार संघ सरकारके बलाबलमें सतत परिवर्तन होता रहता है। भारतके समवायीतंत्र-विषयक यह चर्चा विशेष रूपसे उग्र रही है। यह सवाल भी खड़ा हुआ है कि भारतका संविधान समवायी माना जाय या नहीं। हमारी संघ सरकार और इकाई राज्योंके बीचके सम्बन्धोंका अगर पूरा विश्लेषण किया जाय, तभी इस चर्चाका रहस्य और उसमें निहित मुद्दे स्पष्ट हो सकते है।

भारतके इकाई-राज्यों और संघ सरकारके बीच अनेक प्रकारके सम्बन्ध हैं और वे अलग-अलग आधारों पर स्थित हैं। वैधानिक संबंधोंकी सविस्तार आलोचना संविधानमें दी गई है। एक तो सौ-डेढ़-सौ वर्षसे चली आ रही रूढ़ियाँ और प्रणालियाँ अभी तक महत्वपूर्ण भाग अदा करती रही हैं। दूसरे, देशभरमें हो रहे आर्थिक परिवर्तन और विशेषतः योजना-पद्धतिका इन संबंधों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त देशमें बदल रही राजनीतिक परिस्थितियाँ, अलग-अलग राजनीतिक दलोंका बलाबल तथा उनके परस्पर संघर्ष और सम्पर्क भी इन संबंधोंके निर्माणमें महत्वपूर्ण योग देते हैं। अतः संघ सरकार और इकाई-राज्योंके बीचके संबंधोंको पूर्णतः समझनेके लिये इन तमाम परिबलोंका हिसाब देखना होगा। इन तीन परिबलोंमेंसे दो—आर्थिक परिवर्तन और राजनीतिक परिस्थिति—सतत क्रियाशील हैं और उनके प्रभावके परिणामस्वरूप समवायी सम्बन्धोंमें सतत हेरफेर होता रहता है। समग्र देशके लिए समवायतंत्र वास्तविक रूपमें स्थापित करनेका यह पहला प्रयोग है और भारतकी समवायी रचनाका स्वरूप अभी बन ही रहा है। १९६७ में हुए आम चुनावोंके परिणामस्वरूप भारतके आठ राज्योंमें कांग्रेस विरोधी सरकारें बनने पर समवायी संबंध विषयक चर्चा अतिशय उग्र और विद्वेषपूर्ण हो गई है।

यद्यपि संघ सरकार और इकाई-राज्योंके बीचके—विधेयक (Legislative, प्रशासनिक (Administrative और आर्थिक (Financial)—संबंधोंकी संविधानमें खुलकर छनाईकी गई है। समवायी संविधानोंमें संघ सरकार और इकाई-राज्योंके बीच सत्ता विभाजित करनेका प्रश्न सबसे बड़ा और विकट प्रश्न होता है। जगत्का कोई भी संविधान अभी तक इस प्रश्नका संतोषप्रद हल नहीं ढूंढ़ सका है। अपने-अपने सत्ता-क्षेत्रके विषयमें असंतोष, अधिक सत्ता और वित्त बटोर लेनेकी खींचातानी, संविधानके अर्थघटनके सन्दर्भमें मतभेद और संघ सरकारकी दखलन्दाजीके

७वें परिशिष्टकी धारा २४६

सूची १ : (संघ सूची)

संरक्षण, सेना, सैनिक कारखाने, वैदेशिक संबंध, रेलवे, यातायात, सूचना-संचार, न्यायतंत्र, कर, बैंक, मुद्रा, बीमा उद्योग, महत्वपूर्ण उद्योग, खनिज आदि धंधों पर अंकुश, शैक्षणिक-वैज्ञानिक संस्थाएँ, आयकर, चुंगी, जन-गणना, चुनाव, सरकारी हिसाबोंकी जाँच आदि लगभग २२ राष्ट्रव्यापी महत्वके कार्य और अधिकारोंको अमलमें लाने तथा उनके विषयमें कानून बनानेकी सत्ता केन्द्र सरकारको सौंप दी गई है।

सूची २ : (राज्य सरकारके अधिकृत सत्ता)

इस परिशिष्टकी दूसरी सूचीमें इकाई-राज्योंके सत्ता-क्षेत्रका विस्तृत वर्णन किया गया है। कृषि, पुलिस, शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य, निचली अदालतें, जंगल, मच्छीमारी, धर्मशाला, होटलों जैसी स्थानीय और सामान्य जनताके दैनिक जीवनको स्पर्श करने वाली लगभग २० बातों पर राज्य सरकार ही कानून बना सकती है। ६५ धाराओं वाली इस सूचीमें राज्य सरकारोंकी आयके साधनोंका वर्णन भी किया गया है। राज्य सरकारके इस अबाधित सत्ता-क्षेत्रमें दखल देनेका केन्द्र सरकारको ज़रा भी हक़ नहीं है।

सूची ३ : (संयुक्त सत्ता)

इसके अतिरिक्त कितनी ही बातें ऐसी हैं, जिन पर केन्द्र सरकार और राज्य सरकार—दोनोंका संयुक्त अधिकार है। ४७ धाराओं वाली इस सूचीको संयुक्त (concurrent) सूची कहा गया है। दीवानी और फौज-दारी क़ानून, कौटुम्बिक संबंध, मज़दूर कल्याण, सामाजिक संरक्षण, डाक्टरी, वकालत आदि धंधों तथा भाव-नियमन, समाचार पत्र आदि ११ बातोंको इस सूचीमें ले लिया गया है। इस सूचीमें जिसे ले लिया गया हो, उसके मामलेमें राज्य तथा केन्द्र सरकार दोनों ही कानून बना सकते हैं। जब तक केन्द्र सरकारका नियम न बना हो, तब तक राज्यका कानून लागू रहता है; तत्पश्चात् राज्यका कानून जितनी मात्रामें केन्द्र सरकारके कानूनके विरुद्ध जाता हो, उतनी मात्रामें वह निरस्त हुआ माना जाता है।

विरुद्ध संघर्ष सभी समवायी देशोंमें हमेशा देखनेको मिलता है। इस सत्ता-विभाजनके लिए विविध पद्धतियाँ मिलती हैं। उनमें अमेरिका द्वारा अपनाई गई पद्धति सबसे सरल है। उसके संविधानमें संघ सरकारकी सत्ताओंकी मात्र चौदह धाराओंवाली बहुत ही छोटी और अस्पष्ट सूत्रोंवाली सूची दी गई है और शेष सभी सत्ताएँ इकाई-राज्योंको सौंप दी गई हैं। जबकि हमारे यहाँ ब्रिटिश सरकारके सन् १९३५के कानूनके अनुसार सत्ता-विभाजनके लिए सबसे क्लिष्ट पद्धति अपनायी गई है और केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारोंके बीच अनेक बार और अनावश्यक रूप से सत्ता-विभाजन किया गया है।

विधेयक सम्बन्ध

अब हम सबसे पहले विधेयक (Legislative) संबंधों पर विचार करेंगे। संविधानके सातवें परिशिष्टमें तीन सूचियाँ दी गई हैं।

पहली सूची द्वारा संघकी केन्द्रीय सरकारके अधिकारकी सत्ताएँ, दूसरी सूचीमें इकाई-राज्योंके अधिकारकी सत्ताएँ और तीसरी सूचीमें दोनोंकी संयुक्त सत्ताएँ निश्चित की गई है।

पहली सूचीकी ९५ धाराओंके द्वारा संघ सरकारके विधेयक और कर विषयक सत्ता-क्षेत्रका निर्धारण किया गया है और ९६वीं धारा द्वारा स्पष्ट किया गया है कि अन्यत्र कहीं भी यदि उल्लेख न किया गया हो, तो ऐसी सभी शेष सत्ताएँ (Residuary Powers) संघ सरकारको सौंप दी गई हैं। धाराओंकी संख्या या सूचीकी लम्बाईके कारण भारतीय संघ सरकारकी सत्ता, अन्य संघ सरकारोंकी तुलनामें. ऐसा मालूम होता है कि अधिक है। परन्तु अमेरिकन संविधान-सूचीकी १४ धाराओंमें ही हमारी ८५ धाराओंमेंसे बहुतोंका समावेश हो जाता है, क्योंकि हमारे संविधानकी धाराओंमें पिष्टपेषण बहुत है।

संवैधानिक दृष्टिसे केन्द्र और राज्य अपने-अपने क्षेत्रोंमें समान और स्वतंत्र हैं। फिर भी पिछले बीस वर्षोंसे स्थापित परम्पराओंके अनुसार राज्य सरकार अगर इस संबंधमें सत्ताका उपयोग करना चाहे तो उसे केन्द्र सरकारकी अनुमति लेनी पड़ेगी और अगर केन्द्र सरकार इन सत्ताओंका उपयोग करे तो उसे मात्र राज्य सरकारको सूचना ही देनी रहती है।

इन तीनों सूचियोंको तथ्यपूर्ण बनानेके कारण एक बहुत ही बुरा परिणाम हुआ है। परिस्थितियोंके अनुसार संघ सरकारके सत्ता-क्षेत्रका विस्तार करनेके लिए अमेरिकी न्यायतंत्र द्वारा विकसित किया गया अभिप्रेत सत्ता (Implied Power) विषयक सिद्धान्त भारतमें लागू नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्तके आधार पर अमेरिकाकी सर्वोच्च अदालतने संघ सरकारकी सत्तामें बेहिसाब और अकल्प्य वृद्धि कर दी है और अनपेक्षित परिस्थितियोंका सामना करनेकी शक्ति उसे प्रदान की है। पर भारतमें ऐसा नहीं हो सकता। न्यायमूर्ति कणियाने अपने एक फ़ैसलेमें कहा था कि केन्द्र सरकार और राज्योंके सत्ता-क्षेत्र विधानकी विस्तृत सूचियोंके अनुसार निश्चित है। इन सूचियोंका समान वैधानिक महत्त्व होनेके कारण एक सूचीका अर्थ-घटन ज्यादा उदार और दूसरीका अर्थघटन संकुचित आधार पर नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिसे देखने पर यह भय बना रहता है कि परिस्थिति और समयके अनुसार क्रमशः और चुपचाप संविधानमें हेर-

फेर कर सकने वाली अमेरिकन पद्धतिका लाभ न उठा सकनेके कारण हमारा संविधान कुछ अंशोंमें अधिक जड़ और स्थितिचुस्त बन जायगा।

परन्तु इस खतरेको दूर करनेके लिए और विधान-सत्ताके इस जड़ विभाजनको कुछ अंशोंमें लचीला बनानेके लिए अपने संविधानमें दो प्रकारकी व्यवस्थाएँ की गई हैं। इनमेंसे एक व्यवस्था ऐसी है कि कोई भी दो या दोसे अधिक राज्य सरकारें मिल कर अपने सत्ता-क्षेत्रको दी गई बातोंके विषयमें कानून बनानेकी सत्ता संघ सरकारको सौंप सकती हैं। दूसरी व्यवस्था यह है कि राज्योंको सौंपी गई बातोंसे सम्बद्ध कानून बनानेकी पार्लियामेण्टको जरूरत है या उसे उचित मानते हैं, इस प्रकारका प्रस्ताव राज्यसभामें दो-तिहाई मतोंसे पारित कर दिया जाय तो पार्लियामेण्ट इस कामको अपने हाथमें ले सकती है।

इन दोनों व्यवस्थाओं पर यदाकदा अमल होता रहा है। बिहार और बंगालकी सरकारोंने प्रस्ताव पारित कर दामोदर घाटीकी योजना पर अंकुश रखनेके लिए विशेष कार्पोरेशन बनानेकी सत्ता केन्द्रको सौंप दी थी। तो संविधानके अमलके शुरूमें ही अनाजकी विकट परिस्थितियोंके कारण अनाजके उत्पादन, हेरफेर और वितरणकी सभी सत्ताएँ राज्यसभाके द्वारा पारित प्रस्तावके आधार पर संघ सरकारको सौंप दी गई थीं। इस संदर्भमें एक यह टीका होती हुई दिखायी देती है कि दोनों प्रकारकी व्यवस्थाएँ संघीय तंत्रके सिद्धान्त को भंग करती हैं। एक सूचीमेंसे दूसरीमें अगर इस प्रकारका हेरफेर होता रहे तो शाश्वत और अचल सत्ता-विभाजनका नियम भंग हुआ माना जायगा। परिणामतः संविधानमें परोक्ष रूपमें और पिछले दरवाजेसे सुधार होते रहेंगे। संघ सरकारका शासक पक्ष अगर राज्यसभा पर भी प्रभुत्व रखता हो, उस समय तो यह व्यवस्था अत्यन्त खतरे वाली बन जाती है। संविधान सभाकी बैठकमें पाटस्कर महोदयने कहा था: "इसके कारण राज्यकी स्वायत्तताकी धारणा हास्यास्पद बन जाती है।" इस टीकाके एक रूपमें सही होते हुए भी उससे घबरा जानेका कोई कारण नहीं है। राज्यशास्त्रके शुद्ध तर्कबद्ध नियमोंको भंग करनेमें कोई नैतिक या सैद्धान्तिक प्रश्न जुड़ा हुआ नहीं है। व्यवहारमें इस प्रकारका कोई जड़ नियम नहीं टिक सकता। भारत सरकारके भूतपूर्व अटॉर्नी जनरल सिरवायीने उचित ढंगसे इस व्यवस्थाको समवायीतंत्रके अमलमें अधिक लचीलापन लानेमें निवारणरूप माना है। संविधान सभाके अध्यक्ष डॉ० अम्बेदकरने एक बार कहा था कि "समवायी राज्यतंत्रोंमें सभी जगह दिखायी देनेवाली जड़ता और कानूनबाजियोंका पराभव करनेके लिए अभिनव मार्गोका विनियोग तो भारतके समवायीतंत्रकी विशेषता है।" यहाँ एक दूसरी बात स्पष्ट करना भी जरूरी है। इकाई-राज्योंको सौंपे गए सत्ता-क्षेत्रमें, सामान्यतः उनका प्रभुत्व स्वीकार किए जाने पर भी, अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धों द्वारा स्वीकार की गई जिम्मेदारियोंको निभानेके लिए संघ सरकार द्वारा चाहे जिस मामलेमें दखल दे सकनेवाली धारा भी राज्यकी स्वायत्तताका नाश करती है। अमेरिका जैसी संघ सरकारके पास इस तरहकी सत्ता न होनेके कारण वह अपार कठिनाइयोंमें फँस जाती है। उदाहरणार्थ, अमेरिकाके राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्टने जापानके साथ 'अ-भेदभावकी नीति'का करार किया, पर सान्फ्रांसिसकोके स्कूलके बोर्डने उस पर अमल करना अस्वीकार कर दिया और आखिरमें जापानके साथ हुए करारका अन्त हो गया! इस प्रकारके कड़ुवे अनुभवकी भूमिकामें भारतमें की गई यह व्यवस्था सामान्यतः उपयोगी और उचित मानी जानी चाहिए। यद्यपि इसका दुरुपयोग होना असंभव नहीं है।

इस संदर्भमें एक दूसरे मुद्देको देखें। संविधानमें किया गया सत्ता-विभाजन आमतौरसे स्थायी होता है; पर भारतीय संविधानकी विशेषता तो यह है कि यह सत्ता-विभाजन स्थायी नहीं है। सामान्य या रोजानाकी परिस्थितिमें ही यह विभाजन लागू होता है। विदेशी आक्रमण, आन्तरिक अव्यवस्था या आर्थिक अराजकताके समय सारे देशमें या किसी निश्चित प्रदेशमें संकटा-वस्था लागू करनेका अधिकार संघीय सरकारको सौंपा गया है। इस प्रकारकी घोषणा किए जाने पर सत्ता-विभाजन समाप्त हो जाता है और सभी बातोंमें कानून बनानेकी, शासन चलानेकी और कर वसूल करनेकी सत्ता संघ सरकारके हाथोंमें चली जाती है। सीधी बात कहें तो असाधारण परिस्थितिमें भारतमें समवायीतंत्र खत्म होकर एकात्मक राज्य बन जाता है।

इस प्रकार भारतके संविधानमें दोनों तरहके राज्यतंत्रोंकी व्यवस्था एक साथ की गई है। सामान्य परिस्थितिमें समवायी रूपमें काम करनेवाला संविधान संकटकालमें एकात्मक बन जाता है। इस प्रकारकी दोहरी परिवर्तनक्षमता (Double Convertability) की व्यवस्था किसी दूसरे संविधानमें नहीं की गई है। सही बात तो यह है कि संकटकालमें कोई भी नियम बाधारूप नहीं होता। संविधानमें व्यवस्था हो या न हो, पर सभी संघ सरकारें आपत्तिकालमें इस तरहके अधिकारोंका प्रयोग करती हैं और वे संवैधानिक हैं या नहीं; इसकी छानबीन कोई अदालत या प्रजाजन नहीं करता। परन्तु समवायतंत्रको वैधानिक रूपसे स्थगित कर देनेकी जो व्यवस्था भारतमें है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

प्रशासकीय सम्बन्ध

संघ और इकाई-राज्योंके विधान-सम्बन्धोंकी चर्चा करनेके बाद अब उनके प्रशासनिक क्षेत्रके सम्बन्धोंकी चर्चा की जाय। आमतौरसे, जिन बातोंमें संघ और राज्यको कानून बनाने और कर वसूल करनेकी सत्ता मिली है, उसके प्रशासनको चलानेकी सत्ता भी उसीको सौंप दी गई है। इसके अलावा संघ सरकार भी अपने प्रशासनके कामोंको चलानेकी सत्ता राज्य सरकारको सौंप सकती है। उड़ीसामें हीराकुड बांधके बननेके समय ऑडिट विभागने आपत्ति की थी कि राज्य सरकार द्वारा अपने कामोंको संघ सरकारको सौंपनेकी व्यवस्था संविधानमें नहीं है। परिणामतः संविधानमें विशेष संशोधन कर इसकी व्यवस्था की गई। अपने-अपने क्षेत्रमें काम करनेके लिए जरूरी प्रशासनिक अधिकारियोंकी नियुक्ति करनेकी, उन पर अंकुश रखनेकी और उन्हें दण्ड देनेकी सत्ता सम्बद्ध सरकारोंको सौंपी गई है। पर अंग्रेजी शासन-कालसे चली आई प्रणालीके अनुसार पुलिस और महसूली विभागके उच्च अधिकारियोंकी पसंद और नियुक्ति अखिल भारतीय स्तर पर की जाती है और बादमें उन्हें अलग-अलग राज्योंमें बाँट दिया जाता है। राज्योंके सत्ता-क्षेत्र में काम करनेवाले इन अधिकारियोंको राज्य सरकारकी नीति और दिए गए आदेशके अनुसार व्यवहार करना पड़ता है। परन्तु उन्हें किसी भी प्रकारका दण्ड देनेसे पहले राज्य सरकारको लोक सेवा आयोगकी अनुमति लेनी पड़ती है। गुजरातमें चर्चाका विषय बने हुए नागरवाला मामलेमें इस प्रकारकी अनुमति लिए बिना ही दिए गए आदेशको राज्य सरकार द्वारा वापिस ले लेना पड़ा था।

उक्त प्रकारकी व्यवस्था न तो तर्कसंगत ही है और न समवायी तंत्रके सिद्धान्तोंके अनुरूप ही। राज्य सरकारोंको यह स्वाभाविक रूपसे भी पसंद नहीं है। जबकि यथासंभव अधिक क्षेत्रोंमें संघ सरकार ऐसी सर्विसेज़ स्थापित करनेके लिए आतुर होती है। न्यायतंत्र, शिक्षा, वनविभाग, स्वास्थ्य विभाग और इंजीनियरिंग विभाग विषयक इस प्रकारकी व्यवस्था शुरू करनेके लिए राज्य सरकारोंसे बारबार अनुरोध किया जाता है और १९६६से अखिल भारतीय जंगल सर्विस शुरू की गई है। पर बहुतसे राज्योंने एक या दूसरे बहानेकी आड़में अथवा कोई बहाना बनाए बिना ही इस तरहकी दरख्वास्तोंको टाला है। एक रूपमें देखने पर तो यह राष्ट्रीय ऐक्य और कार्यक्षमता दोनों ही दृष्टिसे लाभप्रद है कि महत्त्वपूर्ण कामोंके लिए राष्ट्रव्यापी स्तर पर कर्मचारियोंकी पसंद और नियुक्ति की जाय। पर दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि इससे राज्योंकी स्वायत्तताको बहुत बड़ी क्षति पहुँचती है।

हम यह देख आए हैं कि इकाई-राज्योंको सौंपी गई प्रशासनिक क्षेत्रकी स्वायत्तताके सिद्धान्तकी उपेक्षा होनेमें कारणभूत अंग्रेजी शासनकालकी प्रणालियाँ ही हैं। इन प्रणालियोंके कारण जिस प्रकार राज्य सरकारोंको सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार कुछ बातोंमें संघ सरकारको भी असुविधा होती है। अपने द्वारा बनाये गये कानूनोंके अमल करानेके लिए राज्यके तमाम अधिकारियोंको राज्य सरकारोंके द्वारा या सीधे ही आदेश देनेका अधिकार संघ सरकारका है। इस प्रकारके आदेशका पालन न होने पर या संकट उपस्थित होनेकी घोषणा कर राज्यके प्रबन्धको अपने हाथों में ले लेनेकी सत्ता संघ सरकारको सौंपी गई है। विशेषता तो यह है कि एकात्म राज्यके अनुकूल दिखाई देनेवाली यह व्यवस्था ऊपर-ऊपरसे संघ सरकारके लाभकी लगने पर भी, वास्तवमें, उससे बिल्कुल उल्टी है।

राज्यके प्रशासनिक तंत्र पर निर्भर होनेके कारण पार्लियामेण्टके कानूनोंके निष्पादनके लिए संघ सरकारने अपना कोई अलग तंत्र नहीं रखा है। आयकरकी अनिवार्य वसूली राज्यके कलेक्टर करते हैं, संघीय नियमको तोड़ने पर अपराधियोंको राज्यकी पुलिस पकड़ती है और उन्हें राज्यकी जेलोंमें रखा जाता है। भारत सरकारके विशेष निमंत्रण पर उसके व्यवस्थातंत्रका परीक्षण करनेवाले पॉल एपलबीने अपनी रिपोर्टमें बताया है : "अपनी राजनीतिका अमल करानेके लिए संघ सरकारको राज्य सरकारके व्यवस्थातंत्र पर निर्भर रहनेके कारण भारतका संघीय तंत्र प्रशासनिक दृष्टिसे अत्यन्त दुर्बल है।" राज्योंको मार्गदर्शन देने, सुझाव देने और आदेश देनेकी सत्ता संघ सरकारकी होने पर भी इस सत्ताका उपयोग नहीं किया जा सकता; कारण कि उसके कार्यान्वयन में ढिलाई, लापरवाही या उपेक्षा वृत्तिके कारण राज्य सरकार संघ सरकारकी नीतिको असफल बना देती हैं। संकटकी स्थिति घोषित कर और राज्यका प्रबन्ध अपने हाथोंमें ले लेने पर भी संघ सरकारकी सत्ताका तनिक भी उपयोग नहीं हो पाता। एपलबी ने तो इस तरहका मत प्रदर्शित किया है कि : "राष्ट्रीय हितके लिए अपेक्षित कामोंको पूरा करनेकी तंत्र व्यवस्थाके लिये भारतको जितना राज्यों पर आश्रित रहना पड़ता है, उतना अन्य किसी भी संघीय सरकारको नहीं रहना पड़ता।" उसने इस दृष्टिसे अपनी संघ सरकारको 'विश्वकी सबसे कमजोर संघ सरकार' कहा है। राज्योंकी स्वायत्तताकी

धारणा जितनी विकसित होती जायगी, त्यों-त्यों इस दुर्बलताके दर्शन अधिक स्पष्ट होने लगेंगे, उसकी यह भविष्य वाणी आज अनेक वर्षोंके बाद सच होती दिखाई देती है।

इस तरह अंग्रेजी शासनके समय स्थापित एकात्मक तंत्रसे सम्बद्ध प्रणालियाँ दुधारी तलवार जैसा काम करती है। संघ सरकार अपनी नीतियों पर अमल करानेमें अशक्त बन जाती है और राज्य सरकारें अपने सत्ता-क्षेत्रमें एकाधिकृत शासनका उपयोग नहीं कर सकतीं। यों राज्योंके मतभेदोंका निराकरण करनेके लिए और सर्वसम्मत हल खोजनेके लिए अलग-अलग विभागोंके मंत्रियोंकी बैठकें इधर-उधर होती रहती हैं। राज्योंके स्वायत्त-क्षेत्रमें निहित बातोंसे सम्बद्ध नीति तय करनेवाला यह सम्मेलन राज्योंकी स्वायत्ततामें बाधक है और अनेक बार तो उनके कामोंमें अड़चनें पैदा करता है।

जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, संविधान समवायी होते हुए भी प्रशासनिक व्यवस्था अनेक अंशोंमें एकात्मक ढाँचेकी अवधारणाके अनुसार चलती है। पर इससे हमें एकात्मक तंत्रका पूरा लाभ नहीं मिलता। यह दूसरी बात है कि पिछले बीस वर्षोंमें एक ही राजनैतिक दलके हाथमें व्यवस्था-तंत्र रहनेके कारण यह दुर्बलता दिखाई न दी हो। लेकिन अलग-अलग राज्योंका प्रबन्ध अब अलग-अलग दलोंके हाथोंमें आनेसे ये प्रशासन-सम्बन्धी कमियाँ दिखाई देने लगी है।

आर्थिक सम्बन्ध

संघ सरकार और राज्योंके बीच आर्थिक सम्बन्धोंके मुद्दे अधिक जटिल हैं। इस चर्चाके आरम्भमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि कामों और जिम्मेदारियोंके अनुरूप हो, इतनी मात्रामें कर और वित्तीय आय-व्ययका बँटवारा करनेका प्रश्न विश्वके समवायीतंत्रमें संतोषजनक ढंग से हल नहीं हो सका है। भारतकी संघ सरकारको १२ प्रकारके कर लगानेकी सत्ता दी गई है; जिसमें आयकर, व्यापारियोंकी पेढ़ी पर कर और आबकारी-चुंगी मुख्य माने जाते है। राज्य सरकारें १९ तरहके कर लगा सकती हैं; जिसमें मुख्यतः जमीन का लगान, विक्रय कर और वाहन करका समावेश होता है। संघ सरकारको दिए गए क्षेत्र समृद्ध और विकासगामी होनेसे सभी संघीय राष्ट्रोंके समान हमारी संघ सरकार भी जिम्मेदारियोंके अनुपातमें ज्यादा आय प्राप्त करती है। राज्योंकी आय कम है और जनताके स्वास्थ्य, शिक्षा, कानून और व्यवस्था आदि कल्याणकार्योंकी जिम्मेदारी राज्य सरकारोंको निभानी पड़ती है। इस तरहके उपयोगी किन्तु अनुत्पादक कामोंमें आयकी अपेक्षा खर्च अधिक होता है और राज्य सरकारको अत्यधिक वित्तीय कठिनाई उठानी पड़ती है। 'इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम' में प्रा० पामरकी गणनाके अनुसार, सभी राज्योंकी आय एकत्र करने पर भी संघ सरकारकी आयके मुकाबिलेमें बड़ी मुश्किलसे पौने भागकी होती है। १९६७-६८ के आय-व्ययकमें सभी राज्योंकी कुल आय २,३७८ करोड़ रु० थी, जबकि संघ सरकारकी आय ३,११९ करोड़ रु० थी। संघ सरकारके पास कर द्वारा एकत्र इस राशिका कितना हिस्सा राज्योंके बीच बाँटा जाय, इसके लिए संविधानमें धारा २८० के अनुसार इस प्रकारकी व्यवस्था है कि संघ सरकारको प्रत्येक पाँचवे वर्ष या उससे पहले एक वित्त आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति करनी चाहिए। संघ सरकारके

किस करका कितना हिस्सा किस ढंगसे बाँटा जाये आदिसे सम्बद्ध सिद्धान्त और नियम यह आयोग निश्चित करता है। इस आयोगने राज्योंके बीच बँटने वाली रकमको सदा बढ़ाया ही है। पहली पंचवर्षीय योजनाके वर्षोंमें संघ सरकार प्रति वर्ष ६५ करोड़ रु० विनियत करती थी, उसके बाद १९५७-६२में पाँच सालोंके लिए रकम प्रति वर्ष २३९ करोड़ रु० निश्चित की गई। १९६७-६८ में संघ सरकारने राज्योंको ३७० करोड़ और १९६८-६९ में ६२७ करोड़ रु० दिए थे। इसके अतिरिक्त संघ सरकार राज्योंको दो प्रकारकी ग्रान्ट्स भी दे सकती है। आय-व्ययकको संतुलित बनानेके लिए या स्वयंको ठीक प्रतीत हो उस आधार पर और शर्तो पर किसी विशिष्ट काममें सहायता देनेके लिए राज्यको संघकी ओरसे अनुदान और कर्ज दिए जाते हैं। नीचे दिए हुए रेखाचित्रसे यह स्पष्ट हो जायगा कि वित्त आयोग द्वारा निश्चित रकमकी अपेक्षा संघ सरकार बहुत बड़ी रकम अनुदान अथवा कर्जके रूपमें देती है।

अपने प्रदेशका आर्थिक और सामाजिक विकास करनेके लिए और खुदको दिए कल्याण-कार्योको पूरा करनेके लिए राज्य सरकारोंके पास पूरी मात्रामें धन न होनेके कारण उन्हें हमेशा संघ सरकारका मुँह ताकते रहना पड़ता है। अपनी राजनीतिके निर्माणमें और प्रबन्धके विषयमें भी उन्हें संघ सरकारकी सलाह या आदेशके अनुसार चलना पड़ता है। संविधानने जिस क्षेत्रमें सत्ता प्रदान की हो, उस क्षेत्रमें भी राज्य सरकार उन्मुक्त होकर काम नहीं कर सकतीं। संघ सरकार और इकाई-राज्य या राज्योंमें अलग-अलग दलोंके जब शासन चलते हों, उस समय संघ सरकार हमारे प्रति द्वेष या पक्षपात रखती है, इस प्रकारकी भावना और तज्जन्य राजनीतिक संकीर्णता सन् १९६७के बाद पैदा होती रही है। इस तरहकी लम्बे समय तक चलते रहने वाली सतत आर्थिक कंगालीका एक बुरा परिणाम यह हुआ है कि राज्य सरकारें संघ सरकारकी कर्जदार बन गई हैं। सन् १९४४में इस तरहका कर्ज ४४ करोड़ रु० था, जो १९५६में ८७६ करोड़ रु० हुआ और १९६७में ४,८४० करोड़ रु० का हो गया है। इसके अतिरिक्त राज्यों-सरकारोंको संघ सरकारसे यदाकदा अधिविकर्ष (Overdraft) लेना पड़ता है। यों इस रकमको वापिस कर दिया जाता रहा है, पर यह रकम वर्षानुवर्ष बढ़ती ही जाती है।
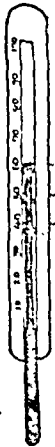
केन्द्र द्वारा राज्यों को दी जा रही सहायता का चढ़ता हुआ पारा

६३.२ (३री योजना)
५२.२ (२री योजना)
२९.० (१ली योजना)

	(१९५१-५६)	(१९५६-६१)	(१९६१-६६)
कर-राशि से भाग रु.	३२६	७१२	११९१
संवैधानिक तथा अन्य ग्रान्ट रु.	२४८	६६८	११४८
केन्द्र सरकार से एड रु.	१६	१९	१३
फंड से अनुदान	२४	५९	१३०
लोन रु.	७९९	१४११	२९८४
कुल राशि रु.	१४१३	२८७९	५४७८

(पाँसटे में प्रदत्त आंकड़े करोड़ में हैं)

इस तरह अपने संविधानका ढाँचा कुछ इस प्रकारका है कि संघ सरकारसे आर्थिक सहायता लिए बिना राज्य सरकार अपना खर्च निभा नहीं सकती। कल्याण राज्यका आदर्श स्वीकार कर लेने वाले राष्ट्रोंमें प्रजाको दी जानेवाली सुविधाओंमें कटौती करना लगभग असंभव है। राज्य सरकारें भी अपने-अपने प्रदेशोंसे गरीबी दूर करनेके लिए आवश्यक विकास कार्योंको रोकनेके लिए तैयार नहीं होंगी। दोनों कारणोंके परिणामस्वरूप 'राज्य संघसे ग्रान्ट प्राप्त करनेके लिए दौड़-धूप करनेवाली पेढ़ियोंके समान बन गए है।' श्री राजगोपालाचारीकी यह उक्ति वास्तविकता बन गई है। संघ सरकारकी मदद पर निर्भर रहनेके कारण ये राज्य परोपजीवी बन गए हैं और आर्थिक जिम्मेदारी निभानेमें झगड़ा करते हैं। प्रशासनिक खर्चमें कटौती करके या राज्यके प्रजा-जनों पर अधिक कर बढ़ाकर उन्हें नाराज करनेके बदले संघ सरकारसे, किसी भी प्रकारसे, सहायता लेना उन्हें अधिक पसंद है। अपने कर्मचारियोंके मँहगाई-भत्तेको बढ़ानेसे उत्पन्न खर्चके बोझको उठानेसे संघ सरकार द्वारा इनकार किए जाने पर १९६७में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेशमें गंभीर संकट पैदा हो गया था। सस्ता अनाज देनेकी योजनामें सहायक होनेसे इनकार करनेके कारण १९६७-६८में मद्रास और केरलकी सरकारोंने केन्द्र सरकारके खिलाफ पर्याप्त रोष प्रदर्शित किया था। महसूल नाबूदीके द्वारा गरीब किसानोंको राहत देनेका वचन अनेक राज्योंकी संयुक्त मोर्चा सरकारोंके द्वारा दिए जाने पर भी बहुतसे राज्य उस पर अमल नहीं कर सके, क्योंकि संघ सरकार द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस प्रकार उत्पन्न कमीको पूरा करनेमें संघ सरकार मदद नहीं करेगी। अपेक्षानुकूल आर्थिक सहायता न मिलने पर संघ सरकारके खिलाफ पक्षपातका आरोप लगानेमें राज्य सरकारें चूकतीं नहीं हैं और अगर इस प्रकारकी सहायता मिल सकती हो तो वे अपनी राजनैतिक और प्रशासकीय स्वायत्तताकी बलि तक देनेमें भी नहीं हिचकतीं। यों अन्य संघीय राज्योंमें भी इस प्रकारकी स्थिति दिखाई देती है; अमेरिकाके इकाई-राज्योंकी तुलनामें हमारी राज्य सरकारें अपंग कम हैं और समृद्ध अधिक हैं; यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं।

हम देख चुके हैं कि संघ और राज्योंके बीच विधान, प्रशासनिक और आर्थिक संबंधोंकी संतोषप्रद रूपमें व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी है, जिसमें संघीयतंत्र पद्धतिका ही कुछ अंशमें दोष है। आधुनिक समयमें वैज्ञानिक विकास और समाजवादी विचार-सरणीके सार्वत्रिक स्वीकृतिके कारण राज्यके कार्य, सत्ता-क्षेत्र और जिम्मेदारियोंमें तथा उसके प्रति अपेक्षाओंमें इतनी अधिक वृद्धि हो गई है और उसका विस्तार इतना अधिक तथा जटिल हो गया है कि सत्ता-विभाजनका काम करना लगभग असंभव हो गया है।

कल्याण राज्यका आदर्श अपनानेवाले आधुनिक उद्योग-प्रधान और सुगठित समाजके लिए संघीय व्यवस्थाका चौखटा कितना उपयोगी सिद्ध होता है, इसकी चर्चा और विचारणा संबद्ध विद्वानोंमें चल रही है। जगत्के सभी समवायी तंत्रोंमें संघीय सरकार एक या दूसरे ढंगसे अधिकाधिक मात्रामें शक्तिशाली होती जाती है और इकाई-राज्योंके सत्ता-क्षेत्र और स्वायत्तता विषयक सम्बन्धोंमें बड़ा परिवर्तन हो रहा है। अतः सत्ता-विभाजनका विश्लेषण कर बैठे रहने मात्रसे अपने संघीय संघटनके स्वरूपकी पूरी प्रतीति नहीं हो पाती। इन सम्बन्धोंके अलावा संविधानमें परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपमें

कल्पित समग्र ढाँचे पर विचार करना पड़ेगा। संविधानकी बिखरी हुई धाराओंका और राज्योंके स्थान और स्तरका माप भी हमें निकालना पड़ेगा। अनेक समवायी संघ राज्योंमें इकाई-राज्योंको अपना संविधान बनाने और उसमें परिवर्तन करनेका अधिकार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय उलझनोंके कारण हमारे यहाँ काश्मीरको स्वतंत्र विधान दिया गया है। पर अन्य किसी भी इकाई-राज्यका अपना संविधान नहीं है। यद्यपि संघ पार्लियामेण्टमें राज्यों का प्रतिनिधित्व करनेवाली राज्य-सभाको चुननेकी सत्ता राज्योंकी विधान-सभाओंको दी गई है, पर सभी राज्योंको समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। इन प्रतिनिधियोंकी संख्या बहुधा आबादीके अनुपातमें निश्चित की गई है; अतः छोटे राज्योंकी आवाज़ कमज़ोर रहती है। हमारे संविधानमें यह आशंका दिखाई देती है कि कहीं राज्यों-को दी गई सत्ताओंका दुरुपयोग तो नहीं हो जायगा। अपना न्यायतंत्र सुयोजित रखा गया है और राज्योंके सभी बड़े न्यायालयोंके न्यायाधीशोंकी नियुक्ति संघका राष्ट्रपति करता है। न्यायालयोंके कार्य-व्यापार विषयक राज्य सरकार द्वारा पारित प्रस्ताव राष्ट्रपतिकी अनुमतिके अभावमें लागू नहीं किए जा सकते। राज्य विधान सभाओंके चुनावोंका संचालन संघ सरकार द्वारा नियुक्त चुनाव आयोग करता है। इस प्रथाके समर्थनमें कितनी ही दलीलें दी जा सकती हैं, पर 'राज्योंकी स्वायत्तता और सत्ता-विभाजनके समवायी सिद्धान्तके साथ इसका मेल नहीं बैठता।'—इस प्रकार श्री ए० के० चन्दा द्वारा 'फेडरालिज्म इन इण्डिया' नामक पुस्तकमें की गई टिप्पणीमें बहुत ही तथ्य समाविष्ट है।

राज्यपालोंकी नियुक्ति और सत्ता

इकाई-राज्योंके मुख्य अधिकारीके रूपमें और उनके प्रशासन पर देख-रेख रखनेके लिए राज्यपालोंको नियुक्त करनेकी सत्ता संघ सरकारके हाथमें है। अधिकतर इस पद पर राजनीतिसे अवकाश-प्राप्त अथवा उससे निवृत्त राजनीतिज्ञ या सेवा-निवृत्त अधिकारियोंकी नियुक्ति की जाती है।

श्री पट्टमथानु पिल्लै, श्री अजितप्रसाद जैन या डॉ० सम्पूर्णानन्दके साथ जिस प्रकार हुआ, ठीक वैसे ही स्थानीय राजनीतिकी उलझनोंको हल करनेके लिए भी कितनी ही बार ये नियुक्तियां की जाती हैं। बम्बईके एक भूतपूर्व राज्यपालने एक सार्वजनिक सभामें कहा था; जिसके अनुसार राज्यपाल विराट् कठपुतलियोंके समान है और राज्यके शासनतंत्रमें जब तक शक्तिशाली दल या पक्षका प्रभाव रहता है, तब तक उसके हाथमें कुछ भी सत्ता नहीं होती। संघके अनुसार ही राज्योंमें भी हमने संसदीय प्रणालीको स्वीकार किया है। परिणामतः राज्यपाल अपनी लगभग सभी सत्ताओंका उपयोग प्रधान-मण्डल द्वारा दी गई सलाहके अनुसार करता है। पर यह विधान सभी जगह लागू नहीं होता। संविधानमें राज्यपालको अनेक विशिष्ट अधिकार दिए गए हैं और उनमेंसे कितने ही अधिकारोंका उपयोग प्रधान-मण्डलकी सलाहके अनुसार न कर उसे अपने व्यक्तिगत विवेकके आधार पर करना होता है।

असमके राज्यपालको आदिवासियों और पहाड़ी क्षेत्रोंके प्रशासनसे सम्बद्ध कितने ही स्वतंत्र अधिकार दिए गए हैं। किसी भी राज्यकी विधान सभाके द्वारा पास किया हुआ कानून राज्यपाल-की स्वीकृतिके अभावमें लागू नहीं किया जा सकता। कुछ विशेष प्रकारके कानूनोंके लिए संघ

सरकारकी अनुमति लेना अनिवार्य है। अगर राज्यपालको ठीक लगे तो वह किसी भी कानूनको राष्ट्रपतिकी अनुमति लेनेका निश्चय करके उसे एक तरफ रख सकता है। राज्यपालको किसी भी व्यक्तिको प्रधान-मण्डल बनानेके लिए आमंत्रण देनेका अथवा प्रधान-मण्डलको अपदस्थ करनेका अधिकार है। इन अधिकारोंको लेकर अपने देशमें काफ़ी चर्चा हुई है; पर वैधानिक सत्ता और प्रजातंत्रकी रूढ़ प्रणालियोंके अनुसार राज्यके सबसे बड़े अधिकारीको यह अधिकार प्राप्त है। यह प्रधान-मण्डल विधान सभाके प्रति उत्तरदायी होनेके कारण विधान सभाको उसे अपदस्थ करनेका पूरा अधिकार है, पर राज्यपाल द्वारा की गई नियुक्तिकी वैधानिकताको न्यायालय या विधान सभामें चुनौती देनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। विधान सभाके सदस्य न हों: ऐसे व्यक्तियों—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और श्री विश्वेश्वरीप्रसाद मंडल—की नियुक्ति कर राज्यपाल अपनी विशिष्ट सत्ताका प्रदर्शन करा सके थे। अगर राजनीतिक अथवा प्रशासनिक रूपमें या अन्य किसी कारणसे राज्यका प्रशासन चलना संभव न हो तो इस आशयकी रिपोर्ट राज्यपाल संघके राष्ट्रपतिको भेज सकता है और संघका राष्ट्रपति संकटावस्था घोषित कर शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले सकता है तथा उसके सभी अधिकारोंका उपयोग राज्यपालके द्वारा होनेके कारण राज्यपाल सर्वसत्ताधीश बन जाता है।

राज्यका प्रशासन सम्हाल लेने तथा सत्ताके उपयोगका क्रम पिछले २५ वर्षोंमें अपने यहाँ बार-बार हुआ है। असम, काश्मीर, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर और मद्रास सहित प्रायः समस्त राज्योंमें थोड़े या ज्यादा समयके लिए राष्ट्रपति शासन (President's Rules) लागू किया जा चुका है। इस मामलेमें सबसे अभागा राज्य केरल है। राजनीतिक दृष्टिसे सबसे अधिक जागृति रखनेवाले और शिक्षाकी दृष्टिसे सबसे अधिक प्रगतिशील राज्यमें राज्यपालको अपनी सत्ताका बार-बार उपयोग करना पड़ा है, जो अत्यन्त शोचनीय और चिन्ताकी बात है। कमज़ोर दलोंके विस्तारकी केरलीय परिस्थिति अन्य राज्योंमें भी फैल गई है और अनेक राज्योंमें स्थिर सरकार स्थापित करना अब सम्भव ही नहीं रहा है। अतः इस प्रकार राज्यपालके द्वारा सत्ता-उपयोगमें आनेकी संभावना बढ़ी है।

यद्यपि इकाई-राज्योंकी सत्ताको समाप्त कर देनेवाली सत्ता किसी भी संघ सरकारके पास नहीं है, फिर भी भारतमें यह देखने को मिलता है कि सत्तालोलुपता तथा बार-बार बदलने वाली सरकारकी अस्थिरतासे थककर जनता प्रजातंत्रीय शासनके बदले संघ सरकारके एजेण्ट रूप राज्यपालका एकाधिकारी शासन पसंद करती है—परिणामतः राष्ट्रपतिके शासनकी माँग भी करती है।

देशके सभी प्रशासनिक स्तरों पर जब तक एक ही राजनीतिक दलका प्रभाव था, तब तक राज्यपालकी सत्ताका आनुषंगिक परिणाम स्पष्ट दिखाई नहीं दे सका था। १९६७के चुनावोंके बाद जब संघीय संघटनका स्वरूप प्रकट होने लगा, तब चुने हुए प्रधान-मण्डल और नियुक्त राज्यपालके बीचका संघर्ष तीव्र होता गया और राजनीतिक पक्ष-भेदके कारण उसमें कटुता आती गई। ऐसी इस स्थितिको पार न करने देनेके लिए, राज्यपालके स्थान पर हमेशा ऐसे ही व्यक्तिकी नियुक्ति होनी चाहिए कि जिसकी निष्पक्षताके विषयमें किसीके मनमें कुछ भी शंका न हो। दुर्भाग्यसे यह नहीं

हुआ है। जैसाकि हम ऊपर देख आए हैं कि ऐसे पद पर अधिकांशतः राजनीतिमें मुख्य भूमिका अदा करनेवाले व्यक्तियोंकी ही नियुक्तियाँ हुई हैं। केरलके राज्यपाल पद पर आसीन होने पर भी श्रीमती इन्दिरा गांधीको प्रधानमंत्रीके रूपमें पसंद किए जानेकी प्रक्रियामें सक्रिय भाग लेनेवाले श्री अजितप्रसाद जैनका उदाहरण महत्वपूर्ण होते हुए भी अनन्य नहीं है। कितनी ही नियुक्तियाँ तो इससे भी अधिक निंद्य हैं। श्री फाज़िल अली जैसे न्यायाधीशों और श्री अनन्तशयनम् आयंगर तथा सरदार हुकुमसिंह जैसे स्पीकरोंकी इस पद पर नियुक्तियाँ कर संघ सरकारने इस पदकी निष्पक्षताको खतरेमें डाल दिया है।

पिछले २५ वर्षोंमें अनेक शिकायतें इस प्रकारकी सामने आती रही हैं कि राज्यपाल पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाते हैं। ये सबकी सब गलत नहीं हैं। राष्ट्रपतिके शासनको लागू करनेमें भी पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया जाता है। १९५८में केरलकी साम्यवादी सरकारके खिलाफ तूफान उठ खड़े होनेसे राष्ट्रपतिका शासन स्थापित किया गया, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उसमें संसदीय प्रजातंत्र और संघीय संघटनाके सिद्धान्तोंको भंग किया गया था। भाषावार राज्य-रचना और गोहत्याके कारण उठे आन्दोलनको लेकर अनेक प्रदेशोंमें बड़े पैमाने पर अराजकता फैल जाने पर भी उन प्रदेशोंकी कांग्रेस सरकारोंको अपदस्थ नहीं किया गया था। यह बात ध्यान देने योग्य है और संघ सरकार तथा उसके प्रतिनिधिरूप राज्यपालकी तटस्थताके विषयमें शंकाको जन्म देनेवाली है। संघीय सम्बन्धोंसे सम्बद्ध प्रश्नोंके नाजुक बन जानेकी भी संभावना है। उस समय पिछले दो दशकोंके अनुभव, जिनके कारण राज्यपालोंके प्रति अश्रद्धा जन्मी है, महत्वपूर्ण भाग अदा करेंगे। कोई भी दूसरी समवायी सरकार राज्यों पर अंकुश रखने और उनकी राजनीतिमें इतने प्रत्यक्ष रूपसे हस्तक्षेप करनेकी सत्ता नहीं रखती। यह ब्रिटिश कालकी शासन-प्रणालीका प्रभाव है और हमें इसमें कुछ भी अनपेक्षित नहीं लगता।

संघ सरकारकी एकात्मक सत्ता !

भारतीय संविधानमें एक ऐसी धारा दिखाई देती है, जो समवायीतंत्रके मूलभूत सिद्धान्तको जड़से ही उखाड़ फेंकनेमें समर्थ है। जिस समय संविधान बनाया गया, उस समय राज्यकी रचना सरलतासे की जा सके, इस हेतुसे संविधानकी धारा ३के अनुसार राज्योंका निर्माण करने, उनकी सीमाओंमें हेरफेर करने और उनके नामोंको बदल देनेकी एकमात्र सत्ता संघ सरकारको सौंप दी गई है। पार्लियामेण्ट केवल बहुमतसे ऐसा कर सकती है। पार्लियामेण्टमें ही इसके लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है और राष्ट्रपतिके द्वारा दिए गए समयके भीतर ही राज्योंको अभिप्राय देना होता है। ये अभिप्राय बन्धनकर्ता नहीं होते। इस तरह, भारतमें इकाई-राज्योंके निर्माण करने और उनके नाश करनेकी सत्ता संघ सरकारके हाथमें दे दी गई है। समवायी संघ अर्थात् 'अविनाशी राज्योंका शाश्वत अविमिलन'—इस तरहका अर्थ सामान्यतः किया जाता है। हमारे यहाँ अविमिलन शाश्वत होने पर भी इकाई-राज्य अविनाशी नहीं है। पिछले अध्यायमें, जैसाकि हम देख आए हैं, इन राज्योंकी पुनर्रचना हमेशा होती ही रही है और आगे भी उसका होना संभव है। भारत सरकारने इस सत्ताका मनचाहा उपयोग किया है।

विशेष बात तो यह है कि सभी स्वीकार करते हैं कि इस प्रकारकी सत्ता आवश्यक थी और इसका उपयोग बहुधा सम्बद्ध सभी पक्षोंको संतुष्ट करनेके लिए किया गया है। फिर भी यह व्यवस्था समवायी सिद्धान्तको भंग करती है और संघ सरकारके द्वारा किसी भी समय इसके दुरुपयोगकी संभावनाको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। रूसमें, स्टालिनके शासन-कालमें इस तरहकी सत्ताका पर्याप्त दुरुपयोग किया गया था। वहाँ वरिष्ठ नेताओंके एकचक्री और स्वेच्छाचारी शासनके खिलाफ अगर कोई आवाज़ उठाता तो इकाई-राज्यों और प्रजासमूहको नष्ट कर दिया जाता था तथा उनकी आबादीको इधर-उधर बिखेर दिया जाता था। हमारे देशमें अभी तक तो ऐसा हुआ नहीं है; पर होनेकी संभावना कानूनमें समाविष्ट है, क्योंकि संघ सरकारको दी गई इस प्रकारकी सत्ता पर किसी भी प्रकारका प्रतिबन्ध या अंकुश नहीं रखा गया है।

एक और महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करना शेष है : 'संघ सरकारको राष्ट्रके विस्तारको कम करनेकी सत्ता प्राप्त है'—इस प्रकारकी मान्यताके आधार पर बंगालका बेरुबारी प्रदेश पाकिस्तानको सौंपनेका प्रयास असफल हुआ, क्योंकि संघ सरकारके पास इकाई-राज्योंके प्रदेशोंको कम करनेकी सत्ता प्राप्त होने पर भी राष्ट्र-विस्तार कम करनेकी सत्ता नहीं है। यह निर्णय सर्वोच्च न्यायालयका है। इसलिए इस प्रकारका हेरफेर करनेके लिए संविधानमें विशेष संशोधन करना पड़ा था। कच्छमें सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके निर्णयके कारण खूब ऊहापोह हुआ। परन्तु उसमें प्रादेशिक आदान-प्रदानका प्रश्न नहीं था, मात्र अनिश्चित सीमा रेखाको निश्चित करनेका ही सवाल था। कच्छ राज्य और सिंध प्रान्तके बीच पिछले ८० वर्षोंसे सीमा-विषयक चल रहा अन्तर्प्रान्तीय विवाद पाकिस्तानकी स्थापनाके कारण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया था और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयने १९४७में और उसके पूर्व जो स्थिति मौजूद थी, उसकी सीमामें रह कर बहुमतके आधार पर अपना निर्णय दे दिया था।

संविधानकी तीसरी धाराका महत्त्व और उससे उत्पन्न परिणामोंकी समीक्षा करते समय एक व्यावहारिक बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि संघ सरकारका मनपसंद राज्य-पुनर्रचना करनेका संवैधानिक अधिकार भी प्रजातंत्रके परिबलोंके अधीन है। भाषावार राज्योंकी रचना संघ सरकारने स्वेच्छासे नहीं की थी, बल्कि स्थानीय जनता और प्रादेशिक नेताओंकी तीव्र भावनाओं और उग्र आन्दोलनोंके दबावमें आकर उसे ऐसा करना पड़ा था। राज्यकी सीमाओंका निर्धारण करते समय प्रादेशिक खींचातानी, सौदेबाजी और आन्दोलनोंने अन्तिम निर्णय करनेमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और पुनर्रचना आयोगकी कितनी ही सिफारिशोंकी उपेक्षा की गई थी। हैदराबादकी स्थितिको ज्यों-का-त्यों बनाए रखनेका पं० नेहरू द्वारा दिया गया आश्वासन भी अमलमें नहीं लाया जा सका। बम्बईको द्विभाषी राज्य रखने और पंजाबी सूबा न स्थापित करनेका दृढ़ निश्चय सरकार द्वारा बार-बार घोषित किया जाने पर भी संघ सरकारको प्रादेशिक परिबलोंके सामने झुकना पड़ा। असममें पहाड़ी जनताकी माँगोंकी लम्बे समय तक उपेक्षा करने पर भी संघ सरकार उसे आंशिक रूपमें स्वीकार करनेके लिए तैयार हुई है और उसके लिए समय-सीमा भी निश्चित कर दी गई है। पर असमके मैदानी प्रदेशके निवासियोंके दबावके कारण यह निर्णय अभी तक अमलमें नहीं लाया

जा सका है। असम राज्यके लिए अशोक मेहता समिति द्वारा की गई सिफारिशें व्यवहारमें संभव भी हैं या नहीं, यह विवादास्पद है। अगर असममें इस प्रकारके तंत्रको स्थापित किया गया तो अन्य बहुतसे राज्योंमें इस प्रकारकी माँगोंका जोर पकड़ना संभव है।

इस प्रकार, संघ सरकारके हाथोंमें असीम सत्ता दिए जाने पर भी उसका उपयोग इकाई-राज्यकी सौदेबाजी करनेकी ताकत पर और उनकी अनुमति पर निर्भर करता रहा है। उसी प्रकार, भाषावार राज्य-रचनाके बाद जनतामें अपने राज्यके प्रति अत्यधिक ममत्व जाग्रत हुआ है। यह संभव नहीं लगता कि सरकार इन लोगोंकी गहरी भावनाओंको ठेस पहुँचाकर कोई हेरफेर कर सकेगी। अब किसी भी राज्यसे उसका महत्त्वपूर्ण भू-भाग ले लेना लगभग असंभव हो गया है। संक्षेपमें, आखिरकार, भारतके इकाई-राज्योंका अस्तित्व या विस्तार संविधान पर निर्भर न होकर, स्थानीय प्रजाके ममत्व और आवेश पर आधारित होनेके कारण प्रजातंत्र और कार्यपद्धति जब तक टिकी रहेगी, तब तक ऐसा प्रतीत नहीं होता कि संघ सरकार उनकी इच्छाके विरुद्ध सत्ताका विशेष उपयोग कर सकेगी। दूसरे शब्दोंमें कहें तो, भाषाके आधार पर राज्योंकी रचना करके भारत सरकारने संविधानकी तीसरी धाराके अनुसार प्राप्त सत्ताको देश-निकाला दे दिया है और १९५७के बाद इस संदर्भमें भारतका संविधान सच्चे अर्थोंमें और अधिक समवायी हो गया है।

आर्थिक योजना

संविधान और संवैधानिक व्यवस्थाएँ किसी भी प्रकारके राजतंत्रके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने पर भी मात्र एक ढाँचा ही हैं, चित्र लगानेके लिए मात्र फ्रेम ही हैं। वास्तविक महत्व तो राजनीतिक दलों और परिबलोंकी परीक्षाके उपरान्त आर्थिक योजनाका ही माना जायगा।

अभी तक भारतमें स्वीकृत आर्थिक योजना-पद्धति संघ सरकारकी सत्ताका सबसे बड़ा साधन हो गई थी। किसी भी प्रकारकी योजना हो, वह संघ सरकार और उसकी सत्ताको सुदृढ़ बनाने वाले परिबलके रूपमें काम करती है।

आर्थिक विकास अपने देशका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। योजनाके प्रकार और अनुपातको लेकर पर्याप्त मतभेद होते रहे हैं, फिर भी राष्ट्रके सभी अग्रगण्य दलोंने योजनाकी धारणाको सैद्धान्तिक रूपमें स्वीकार कर लिया है। यह मान लेनेमें कुछ भी गलत न होगा कि अभी अनेक वर्षो तक तो यह परिबल नष्ट होने वाला नहीं है। अभी तक स्वीकार की गई योजना-पद्धतिके अनुसार इकाई-राज्योंको योजना-नीति और आर्थिक साधनोंके लिए संघ सरकारपर ही पूरी तरह निर्भर रहना पड़ता है। आर्थिक विकासके लिए अपनी-अपनी योजनाएँ तैयार कर इकाई-राज्य योजना-आयोगके सामने प्रस्तुत करते हैं। किसी भी राज्यमें अमुक प्रकारका काम कब शुरू किया जाय, इसका फैसला भी योजना-आयोग करता है और अगर राज्य सरकारने कोई आवेदन प्रस्तुत न भी किया हो तो भी योजना-आयोग उसे यह काम सौंप सकता है। राज्य अपनी माँगोंके समर्थनमें दलीलें दे सकते हैं, दाँवपेंच लगा सकते हैं, सौदेबाजी कर सकते हैं और जरूरत पड़ने पर जनता द्वारा आन्दोलन भी करवा सकते हैं—इस्पातका पाँचवाँ कारखाना विशाखापट्टनम्में स्थापित करानेके लिए १९६६में आंध्रमें हुए दंगे इस पद्धतिके नमूने हैं—पर अन्तिम निर्णयके लिए तो उन्हें योजना-आयोग पर

ही निर्भर रहना पड़ता है। यों योजना-आयोगको कोई वैधानिक स्थान या अधिकार प्राप्त न होनेके कारण उनकी सिफारिशें माननेके लिए इकाई-राज्य कानूनी तौरपर बाध्य नहीं हैं। फिर भी, किसी भी राज्यका काम आर्थिक विकासके अभावमें चल नहीं सकता और इस विकासके लिए आवश्यक सहायता संघ सरकारके पाससे ही मिल सकती है। "आयोजित अर्थतंत्रके कारण भारतमें न केवल आर्थिक केन्द्रीकरण हुआ है, बल्कि नैतिक पद्धतिका भी केन्द्रीकरण होने लगा है।"—इस प्रकारकी चौंकानेवाली टिप्पणी श्री ए० के० चन्दाने की है। सेलिग हेरिसनने 'फॉरेन अफेयर्स' (जुलाई, १९५६) के अंकमें सरकारके नेतृत्वमें हो रही आर्थिक प्रगतिके लिए प्रयुक्त प्रक्रियाको आन्तरिक विघटन दूर करनेवाली सबसे प्रबल शस्त्रके रूपमें दर्शाया है। यद्यपि योजना-कार्यको अधिकाधिक मात्रामें इकाई-राज्योंके हाथोंमें सौंपनेके प्रयासमें योजना-आयोगके नए कार्याध्यक्ष डा० गाडगिलने अपनी मनीषा दिखाई है, फिर भी अभी तक इस विचारको मूर्त स्वरूप नहीं दिया गया है और जब तक संघ सरकारकी आर्थिक सत्ता और उत्तरदायित्व चालू रहेंगे, तबतक किसी महत्वपूर्ण परिवर्तनकी संभावना भी दिखाई नहीं देती। इस पर भी, योजना-कार्यमें उनकी पूर्ण उपेक्षा की जाती है. इस प्रकारकी राज्योंकी शिकायतोंको दूर करनेके लिए और उनसे अधिक सहयोग मिले, इस आशयसे राष्ट्रीय विकास समिति (National Development Council) की रचना की गई है। संघ सरकारके मंत्री, योजना-आयोगके सदस्य, राज्योंके मुख्यमंत्री और योजना-मंत्री इस समितिके सदस्य हैं। यह समिति योजनाके मूलभूत ढाँचेकी छानबीन करती है, आवश्यक जाँचके लिए उपसमिति नियुक्त करती है और योजनाको अन्तिम स्वरूप देती है। राज्योंके अधिकारोंका रक्षण करनेके उद्देश्यसे बनाई गई यह समिति, एक रूपमें स्वयं ही केन्द्रीकरणका साधन बन गई है। संघ सरकारको सीमित मात्रामें विक्रय-कर वसूल करनेकी सत्ताका प्रस्ताव इस समिति द्वारा पारित किए जानेके समय बहुतसे राज्योंके मुख्यमंत्रियोंने अपनी प्रादेशिक विधान-सभाओं अथवा प्रधान-मण्डलोंसे अनुमति नहीं ली थी।

योजना-आयोग द्वारा सौंपी हुई जिम्मेदारियों और कार्योंके अनुपातमें संघ सरकार सामाजिक कल्याण-कार्योंके लिए राज्योंको सहायता देती है। समाज-कल्याण-कार्योंके प्रकार और आकारका सहायतापर निर्भर होनेके कारण योजना-आयोग राज्य सरकारोंके स्वायत्त सत्ता क्षेत्रोंमें भी परोक्ष रूपमें दखल देता है या दे सकता है और राज्योंको यह स्वीकार करना पड़ता है। उन योजनाओंको, जिन्हें राज्य पसंद न करते हों, वे भी उन्हें घसीटना पड़ता है। दैनिक शिक्षाके प्रसारमें बहुतसे राज्योंको कुछ भी रस न था और परम्परानुसार प्राथमिक शिक्षाके विकासमें ही वे पैसा खर्च करना चाहते थे, पर योजना-आयोगके आग्रहके कारण उन्हें यह प्रयोग शुरू करना पड़ा और अनिच्छासे किए गए इन प्रयोगमें राष्ट्रकी शक्ति और साधनोंका बड़े पैमाने पर दुरुपयोग हुआ। यह तो ठीक, पर राज्योंकी इस शिकायतकी मात्रा सदा बढ़ती ही गई है कि उनके हिस्सेका निर्धारित धन भी संघ सरकार समय पर नहीं देती है; अतः उनके योजनाबद्ध काम अधरमें लटकते रह जाते हैं।

इस प्रकार योजना-आयोगके अस्तित्व और कार्यवाहीके कारण केन्द्रीकरणको प्रोत्साहन मिला है और समवायीतंत्रके विकासमें अवरोध उत्पन्न हुए हैं। विधान-कार्यका दोष, तथा आर्थिक

हालतके कारण तथा चीन-पाकिस्तानके आक्रमणों और लगातार अकाल पड़नेसे अव्यवस्थित हुए अर्थतंत्रके कारण व योजनामें अश्रद्धा रखनेवाले दलों और नेताओंकी बढ़ती हुई ताकतके कारण और अधिकांशतः आवश्यक साधनोंको पानेकी मुश्किलों तथा आवश्यक आत्मभोग देनेकी समृद्ध वर्गोंकी अनिच्छाके कारण योजना-कार्योंमें जबरदस्त मुश्किल खड़ी हो गई है। कुछ राजनीतिक और आर्थिक वर्गोंकी माँगोंके अनुसार योजना-प्रक्रियाको कुछ समयके लिए स्थगित कर दिया गया है।

योजना-कार्य अगर हमेशाके लिए समाप्त कर दिए जायँ तो संघ सत्ताके वर्द्धमान केन्द्रीकरण द्वारा राष्ट्रीय ऐक्यकी स्थापना और संवर्द्धन करनेका एक प्रबल साधन नष्ट हो जायगा। अनेक विद्वानोंके मतानुसार अगर योजना-कार्यको विकेन्द्रित कर दिया जाय और राज्योंको योजना-कार्योंमें सक्रिय हिस्सेदार बना लिया जाय तो उक्त भयके विपरीत राष्ट्रीय भावना और अधिक दृढ़ हो जायेगी।

एकदलीय प्रभावका योग

राज्य और संघ सरकारके सम्बन्धोंके निर्माणमें हमारे देशमें प्रचलित दलीय-पद्धतिने भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है। विविध राजनीतिक दलोंके बलाबलके संतुलनमें होनेवाले परिवर्तनका प्रभाव समवायीतंत्रके स्वरूप पर अवश्य पड़ेगा। भारतकी दलीय-पद्धतिने अभी तक अन्तिम आकार ग्रहण नहीं किया है। इतना ही नहीं, बल्कि उससे सम्बद्ध अटकल लगानेके लिए आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं है। यों १९६७के चुनाव दलीय-पद्धतिके विकासमें महत्वपूर्ण सीमाचिह्न माने जायेंगे।

सन् १९६७से पहले अपने यहाँ एक दलीय शासनका प्रभाव था। केन्द्रमें और बहुतसे राज्योंमें कांग्रेस दलका शासन-सातत्य भारतीय राजनीतिमें महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। श्री चन्दाने इस प्रकारका भय व्यक्त किया था कि, "राज्य-प्रशासनके तमाम स्तरों पर एक ही पक्षका वर्चस्व सदाके लिए स्थापित हो जाने पर संघीय शासनकी अवनति हो जायेगी और जैसाकि दक्षिण अमेरिका महाद्वीपके अनेक राज्योंमें तथा रूसमें हुआ है, उसी प्रकार हमारे यहाँ भी संघीय तंत्र केवल दिखावा बन कर रह जायेगा।" एक ही पक्षके सार्वत्रिक वर्चस्वके कारण हमारे यहाँ कितनी ही प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं। सन् १९५९में केरलकी साम्यवादी सरकारको अपदस्थ करनेका हम पहले ही उल्लेख कर आए हैं। साम्यवादी पक्ष और उसकी नीतिकी विवेचना यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं है, पर देशके राजनीतिक पक्षके रूपमें उसे स्वीकृति तो दे ही दी गई है, यद्यपि उसके अधिकार अन्य राजनीतिक पक्षोंकी अपेक्षा निम्नकोटिके माने गए हैं। विधान सभामें स्थिर और स्पष्ट बहुमत होने पर भी अगर संघ सरकार राज्यकी प्रजातांत्रिक सरकारको अपदस्थ कर सकती है तो राज्यकी स्वायत्तता नाममात्रके लिए ही रह जाती है। प्रजाके द्वारा विद्रोह हुआ मानने पर भी कानून और व्यवस्था बनाए रखनेकी जिम्मेदारी राज्य सरकारकी है। आन्तरिक अशान्ति और आन्दोलनके कारण राज्य सरकार अगर मुश्किलमें आ फँसी हो अथवा उसका सामना करनेमें असफल हो गई हो तो तूफानोंसे उसे बचाने अथवा उसका रक्षण करनेकी अपनी जिम्मेदारीको निबाहनेके बजाय यदि संघ सरकार उल्टे

उसीको समाप्त कर दे तो यह 'उल्टा चोर कोतवालको डाँटे' वाली बात होगी। इस प्रकारके तूफान खड़े करनेका काम केन्द्रमें शासन करनेवाले दलके लिए कठिन नहीं है।

दलगत सम्बन्धोंके कारण संघ सरकारने राज्यमें अनुचित हस्तक्षेप किया हो, इसका दूसरा उदाहरण १९६३में कामराज-योजनाके अमलके समयमें पाया गया। कांग्रेस दलके संगठन तंत्रको व्यवस्थित करने और उसे सुदृढ़ बनानेके लिए दलके अनुभवी, शक्तिशाली और माने हुए नेताओं द्वारा प्रशासनिक कार्य छोड़कर दलके संगठनका काम सम्हालनेकी कामराज-योजनाको अमलमें लानेकी सत्ता प्रधानमंत्री पं० नेहरूको सौंप दी गई थी। केन्द्र और राज्योंके प्रधानमण्डलोंकी पुनर्रचना करनेके लिए और निरर्थक, अवांछित तथा खतरनाक तत्त्वोंको बाहर कर देनेके लिए, यह भी कहा जाता है कि पं० नेहरूने इस योजनाका उपयोग या दुरुपयोग किया था। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही तरहसे प्रधानमंत्रीको अपने प्रधानमण्डलकी पुनर्रचना करनेका अधिकार है। अतः इस सत्ताका अनुचित उपयोग हुआ भी हो, तो भी वह अधिकार मर्यादाको भंग नहीं करता। पर उन्होंने तो छः राज्योंके मुख्यमंत्रियोंसे भी त्यागपत्र देनेको कह दिया। इनमेंसे बहुतसे नेताओंको स्थानीय कांग्रेसी विधान-सभाइयोंका बहुमत प्राप्त था और ऐसा भी नहीं लगता था कि इनमेंसे कोई भी व्यक्ति त्यागपत्र देनेमें प्रसन्नताका अनुभव कर रहा हो। फिर भी उन्हें जाना पड़ा और राज्योंके प्रधानमण्डलोंमें महत्वपूर्ण हेरफेर हुए। यह बिल्कुल दूसरा सवाल है कि यह कदम कांग्रेसके हितमें था या नहीं; परन्तु उसे संघीय दृष्टिसे देखने पर, एकपक्षीय प्रभावी स्थिति होनेके कारण शक्य हुए इस कदमसे राज्योंकी स्वायत्तता और स्वशासनको बहुत बड़ा धक्का पहुंचा है और उससे समवायीतंत्रको भी आघात लगा है। दोनों स्तर पर एक ही राजनीतिक पक्षके होनेके कारण शासनसत्ताका किस हद तक केन्द्रीकरण हो सकता है, इसका यह उदाहरण है।

दूसरा दृष्टान्त : पंजाबके मुख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरोंके विरुद्ध भ्रष्टाचारके आरोपोंकी जाँच करनेके लिए संघ सरकारने यह काम न्यायमूर्ति श्रीदासको सौंपा। अतिशय विचारपूर्वक और सतुलित तैयार इस रिपोर्टमें कितने ही आक्षेपोंके सत्य होनेका उल्लेख होने पर प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्रीकी सलाह पर कैरोंने त्यागपत्र दे दिया। उड़ीसाके मुख्यमंत्री श्री विजयानन्द पटनायक और उनके अनुगामी बिरेन मित्रके विरुद्ध आक्षेपोंकी जाँच केन्द्रीय जासूसी विभागने की। उसकी रिपोर्ट पर प्रधानमण्डलकी समितिने विचार किया और आखिरकार इन दोनों मुख्यमंत्रियोंको त्यागपत्र देना पड़ा। इस मामलेमें कोई मतभेद नहीं हो सकता कि भ्रष्टाचार दूर होना चाहिए और राज्यके शासनतंत्र पर अधिकार जमाए आसुरी तत्त्वोंको दूर हटाना चाहिए। पर इन अवांछनीय तत्त्वोंको ढूंढ़ कर और उन्हें दूर करनेकी जिम्मेदारी संघ सरकारको सौंपनेसे पहले दो बहुचर्चित वैधानिक प्रश्नों पर विचार कर लेना चाहिए : (१) राज्योंको सौंपे गए शासनक्षेत्रके प्रशासनमें सिर खपानेका या उसकी जाँच करवाने और उचितानुचित निश्चित करनेका अधिकार संघ सरकारको है भी या नहीं? संविधानके अनुसार तो इस सवालका जवाब स्पष्टतः नकारात्मक ही होगा। राज्यके मंत्रियोंकी योग्यता, प्रामाणिकता और उनके द्वारा अपनाई गई पद्धतियोंका परीक्षण करनेका अधिकार एकमात्र राज्यके प्रधानमण्डल, विधानसभा और जनताके पास ही हो सकता है। १९६७के चुनावोंके बाद कांग्रेसको हटा कर आनेवाली संयुक्त मोर्चा सरकारों द्वारा भूतपूर्व मंत्रियोंके कामोंकी जाँचके लिए नियुक्त आयोग पर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इन मामलोंमें संघ सरकारने जो काम किया, वह कानून

पक्षके कारण ही हुआ। क्योंकि समवायीतंत्रके सिद्धांतके अनुसार संघ सरकारको इस प्रकारकी जाँच करवानेका अधिकार ही नहीं दिया जा सकता और न ही हमारे संविधानमें इस प्रकारका कोई अधिकार दिया गया है। संघीय तंत्रमें केन्द्र और राज्योंमें अलग-अलग पक्षोंकी सरकारें होने पर राज्य सरकारको परेशान करनेके लिए भी केन्द्र सरकार यदाकदा ऐसे आदेश निकालती रह सकती है। प्रजातंत्रमें बड़े-से-बड़े माने और प्रतिष्ठित नेताके विरुद्ध आक्षेप और गाली-गलौज होना संभव है और व्यवहारमें ऐसा होता भी है। इस प्रकारकी जाँचका आदेश अगर शुद्ध बुद्धिसे भी दिया गया हो, तो भी उसमें भ्रान्ति उत्पन्न होना संभव है और इस प्रकारकी अपेक्षा भी नहीं रखी जा सकती कि ऐसी जाँच सदा निष्पक्ष भावसे ही की जायेगी। अगर निष्पक्ष भावसे जाँच की भी गई, तो भी आरोपित व्यक्तिको मानसिक और आर्थिक क्लेश भोगना पड़ता है और उसको लेकर जांच करनी पड़ी थी, इतना कलंक तो सदा उसके माथे पर लगा ही रहेगा।

शासनतंत्रकी धुरी सम्हालने वाले व्यक्तियोंने परम्परा और कानूनको भंग किया है या नहीं, इसका निर्णय अदालती अधिकारियोंके द्वारा करवाना उचित नहीं है। समाजकी प्रगति और समृद्धिके लिए समाज-रचनामें जल्दी हेरफेर लाना हो; तो स्थापित प्रणालियों, पद्धतियों और संस्थाओंमें तोड़फोड़ करना आवश्यक हो जाता है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार मॉम्सके कथनानुसार समाजमें सुधार करनेके लिए विधिविहीन बल (Unceremonious Force)का उपयोग किए बिना काम नहीं चलता। अतः राजनीतिज्ञ सदा रूढ़ियों और उदाहरणोंका अनुकरण नहीं कर सकते। जैसाकि हम पहले प्रकरणमें देख आए हैं, सरदार पटेलने राज्योंके विलीनीकरणके समय जिस पद्धतिको अपनाया था; वह कानूनकी दृष्टिमें गैरकानूनी और अनुचित सिद्ध हुई होती—इस संभावनाको नकारा नहीं जा सकता। राजनीतिक व्यवहार और अदालती पद्धति सदा एकरूप या समानान्तर नहीं चलते। अतः इस प्रकारका जाँच-कार्य न्यायालयको सौंपना खतरेसे खाली नहीं है।

विरोधी पक्षोंका योग-दान

अब तक प्रचलित एकपक्षीय-प्रभाव प्रथाके कारण विकसित एकात्मक प्रणालियोंको दृढ़ बनानेमें विरोधी पक्षोंने भी महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है। राज्योंमें प्रवर्तित कानून और व्यवस्थासे सम्बद्ध परिस्थिति, आन्दोलन, हड़ताल, मंत्रियोंका व्यवहार और स्थानीय विधानसभाके साथ उनके सम्बन्ध आदि बातोंकी चर्चा करनेके लिए पार्लियामेन्टमें सभी पक्षोंके सदस्य बेचैन हो रहे हैं। इस प्रकार पार्लियामेन्ट अपने सत्ता-क्षेत्रके बाहर जाकर राज्यक्षेत्रमें अपना राजनीतिक वर्चस्व बढ़ा रही है।

एकपक्षीय-प्रभाव प्रथाके कारण संघ सरकार और अलग-अलग राज्योंके बीच झगड़ोंका निबटारा अन्दर ही अन्दर दाब-दबाव द्वारा कर दिया जाता है। राज्योंके बीच आपसी तीव्र मतभेद और घर्षण होने पर भी विग्रहके परिणामको सीमित कर पक्षके द्वारा निबटानेका आग्रह रखा जाता है।

महाराष्ट्र और मैसूरके बीचके झगड़ेमें कांग्रेसकी कार्यकारिणीने सक्रिय हस्तक्षेप किया था। राज्य न्याय पानेके लिए अदालतकी शरण नहीं लेते। अब तक एक ही बार (१९६२में) बंगाल

सरकारने केन्द्र सरकारके विरुद्ध केस दाखिल किया था। कोयला-क्षेत्रों पर अधिकार रखनेसे सम्बन्धित इस केसमें सर्वोच्च न्यायालयने केन्द्र सरकारके पक्षमें अपना फैसला दिया था। यों मुकदमे-बाजीका अभाव विविध राज्योंके बीच प्रवर्तित सुमेलका चिह्न नहीं है, पर श्री के० संथानम द्वारा लिखित 'यूनियन स्टेट्स रिलेशन्स'के अनुसार यह बात महत्वपूर्ण है कि राज्य इस भयसे कि केन्द्र सरकारकी नाराजगी सहन करनी पड़ेगी, न्यायपालिकाका उपयोग करनेमें हिचकिचाते हैं।

यों १९६७के चुनावोंके बाद परिस्थितिमें हेरफेर हुआ है। संघ सरकारमें कांग्रेसको बहुमत मिलने पर भी उसके वर्चस्वमें उल्लेखनीय कमी हुई है और बहुतसे राज्योंमें उसे सत्ता छोड़ देनी पड़ी है। दो राज्यों—मद्रास और उड़ीसामें—अ-कांग्रेसी दलोंने बहुमत प्राप्त किया है, केरलमें कांग्रेस लगभग साफ हो गई है। शेष राज्योंमें कांग्रेस सबसे बड़े पक्षके रूपमें रहने पर भी उसने बहुमत खो दिया है। कितने ही राज्योंमें कांग्रेसको मिली बहुमतता आन्तरिक वर्गसंघर्षके कारण नष्ट हो गई है। अनेक राज्योंमें बनी संयुक्त मोरचा सरकारोंने शासनकी बागडोर सम्हाल ली है। सभी राजनीतिक पक्षोंमें चल रही आन्तरिक कलहके कारण राज्यका शासनतंत्र डाँवाडोल हो गया है। पक्षोंकी अदला-बदली करनेकी सत्ता प्राप्त होना संभव होनेके कारण दलबदलुओंका वर्ग हमारी राजनीतिमें महत्त्वपूर्ण और तूफानी भाग अदा करने लगा है। सभी पक्षोंका संगठन कमजोर होने लगा है और स्थानीय नेता स्वेच्छाचारी हो गए हैं। कांग्रेस पक्षके नेता भी अलग-अलग राज्योंके कांग्रेसी नेताओं पर पहलेके समान अंकुश रखनेमें असमर्थ हो रहे हैं। कांग्रेसका स्वरूप भी समवायी प्रकारका होता जा रहा है।

इन परिवर्त्तनोंका परिणाम यह हुआ है कि राज्य संघके विरुद्ध और एक दूसरेके विरुद्ध अपने मन्तव्य और हितोंको अधिक उग्रतापूर्वक और खुलकर प्रकट करने लगे हैं। संघ सरकार पर आक्षेपोंकी मात्रा और तीव्रतामें वृद्धि हुई है। राज्यकी सरकारोंमें आकस्मिक परिवर्तन हो जाते हैं। समग्रतः भारतीय राजनीतिमें नाट्यात्मक तत्व बहुत बड़े अनुपातमें और जोरशोरसे प्रवेश करने लगा है। अलग-अलग राज्योंमें अलग-अलग पक्षोंकी सरकार होनेसे उनके बीचके आपसी सम्बन्ध हमेशा कलहप्रधान रहेंगे और भारतकी एकता नष्ट हो जायेगी, यह माननेका भी कोई कारण नहीं है। राज्य अपने-अपने हितोंको ले कर चलते हैं। खुद कांग्रेसी शासन रखनेवाले मैसूर, आन्ध्र और महाराष्ट्रके आपसी सम्बन्ध बेहद तंगदिलीसे भरे हुए हैं और मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्रके बीच बहुत मेल है।

एकपक्षीय-प्रभाव प्रथामें हुए हेरफेर स्वाभाविक और स्वागत योग्य हैं। इतने बड़े संघीय शासनमें सर्वत्र लम्बे समय तक एक ही पक्षका शासन नहीं चल सकता; प्रजातंत्रकी दृष्टिसे यह हित-प्रद भी नहीं है। विविध पक्ष एक साथ शासन सत्ता पर होनेके कारण उनके आपसी संघर्ष अधिक जाहिर होंगे और समाचारपत्रोंमें कोलाहलकी मात्रा बढ़ जायेगी; पर इनसे भारत समवायीतंत्रके मूलभूत सम्बन्धों पर आंच आना अनिवार्य नहीं है। भारतका आर्थिक और प्रशासनिक गठन कुछ इस प्रकारका है कि राज्य और संघको एक-दूसरेके बिना कल्पना संभव नहीं है। विविध पक्षोंके उदयके कारण हमारे समवायीतंत्रका अधिक सच्चे अर्थोंमें विकास होनेकी संभावना दिखाई देती है।

संघ सरकार और राज्योंके बीच कानूनी और व्यावहारिक सम्बन्धोंकी लम्बी समीक्षाके बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधानने संघ सरकारको अनेक क्षेत्रोंमें उच्च स्तरकी सत्ताएं

प्रदान की हैं। परम्परा, राजनीतिक परिस्थितियों और आर्थिक योजनाके कारण अन्य अनेक क्षेत्रोंमें भी जिससे संघ सरकारकी आन फैल जाय, ऐसी प्रणालियाँ हमारे यहाँ स्थापित हुई हैं। इकाई राज्य संघीय तंत्रके समान स्तरीय हिस्सेदार होनेके वदले निम्नस्तरीय तावेदार तंत्र वन गए हैं।

प्रा० व्हियरने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'भारतका संविधान थोड़ी मात्रामें एकात्मक तंत्रकी सरकारके गुणोंको रखनेवाला समवायी नहीं है, बल्कि थोड़ी-वहुत मात्रामें समवायी गुणोंको रखने वाला एकात्मक शासनतंत्र है। इकाई-राज्य संघ सरकारके समकक्ष राज्य न होकर तावेदार राज्य हैं।' वेंजामिन शोएनफील्डके अनुसार 'आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके कारण सुदृढ़ केन्द्रीय तंत्रकी आवश्यकता और स्थानीय क्षेत्रोंमें स्वायत्तताकी स्वाभाविक मनीषा--इन दो तत्त्वोंके वीचका संघर्ष भारतके संघीय संविधानमें स्पष्ट देखा जा सकता है।' प्रा० पामर द्वारा 'इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम'में व्यक्त मन्तव्योंके अनुसार 'भारतका समवायी तंत्र विधायक न होकर प्रशासनिक है।' संघ सरकार सर्वोपरि सत्ता भोगती है, अतः हमारे संघीय तंत्रको 'सर्वोपरि सत्तावाही समवायी तंत्र' (Paramountcy federation) कहा जाना चाहिए--श्री संथानम द्वारा दिया गया यह सुझाव अत्यन्त आकर्षक है। पर सर्वोपरि सत्ताका कोई निश्चित अर्थ न होनेके कारण इस प्रकारके वर्णनसे कोई स्पष्ट ध्वनि नहीं निकाली जा सकती। परन्तु कम-ज्यादा मात्रामें यह प्रक्रिया जगत्के सभी अन्य संघीय सम्बन्धोंमें चल रही है। अमेरिका जैसे स्वायत्त राज्याधिकारोंकी लम्वी परम्परा वाले संघमें भी राज्य सरकारोंकी सत्ताएँ और उनका महत्व सदा घटता ही रहा है। आस्ट्रेलिया और केनेडामें भी इकाई राज्य केवल प्रशासनिक तंत्र वनकर रह गए हैं। अतः तटस्थ भावसे देखने पर तो हमारा यह संविधान जागतिक परिस्थितिका प्रतिविंव ही प्रस्तुत करता है।

भारतीय राजनीतिके सभी विद्वानोंने उक्त मतका समर्थन किया है। इकाई-राज्योंकी रचना और विनाश करनेकी, छोटे-मोटे कारणोंकी ओट लेकर उनका प्रशासन सम्हाल लेनेकी, उनके कानूनोंको अनुमति देने या न देनेकी, उनकी विधानसभाओंकी स्थापना अथवा भंग करनेकी जितनी वैधानिक सत्ता संघ सरकार भोगती है; उतनी जगत्में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती।

अन्तमें, संक्षेपमें समवायीतंत्रके शास्त्रीय सिद्धान्तोंके अनुसार संघ सरकार और राज्य सरकार अपने-अपने क्षेत्रों में सम्पूर्ण स्वायत्तता भोगनेवाली हों, ऐसा एक भी समवायी राज्य इस जगत्में अस्तित्ववान् नहीं है। हमारे देशमें केन्द्रित प्रशासनकी सुदीर्घ प्रणाली पिछले सौ वर्षोंमें स्थापित हुई है। इस एकात्मक राष्ट्रको तोड़ कर तथा उसमें देसी राज्योंको मिलाकर इकाई राज्य वनाए गए हैं। उन्हें सौंपे गए अधिकारों व सत्ताओंका आर्थिक और राजनीतिक कारणोंसे वे अभी तक उपभोग नहीं कर सके हैं। पर स्थिति वदल रही है। भाषावार राज्य-रचना और अन्य पक्षोंके उदयके कारण राज्योंके महत्व और उनके व्यक्तित्व में सतत वृद्धि होती रही है। भारत इस समय सम्पूर्ण समवायीतंत्र न होने पर भी समवायीतंत्र वनता जा रहा है। यह अपेक्षा तो नहीं रखी जा सकती कि भारत पूरा समवायीतंत्र वन जायेगा; क्योंकि इस तरहका कोई तंत्र जगत्में है ही नहीं और शायद इस प्रकारका तंत्र आजके समाजवादी और कल्याणमार्गी राज्योंके लिए अनुकूल भी नहीं है।

भारतमें अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर जनरल
लार्ड माउण्ट बेटन
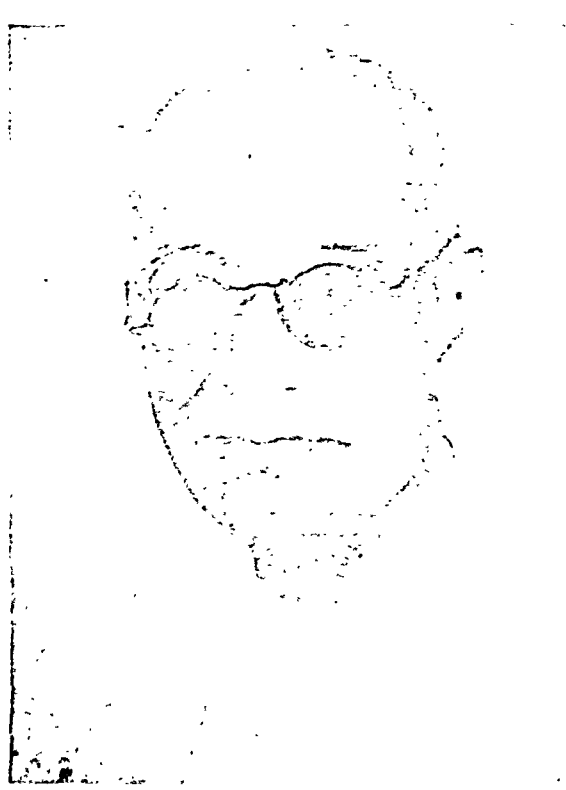
भारतके प्रथम गवर्नर जनरल
महामहिम सी० राजगोपालाचारी
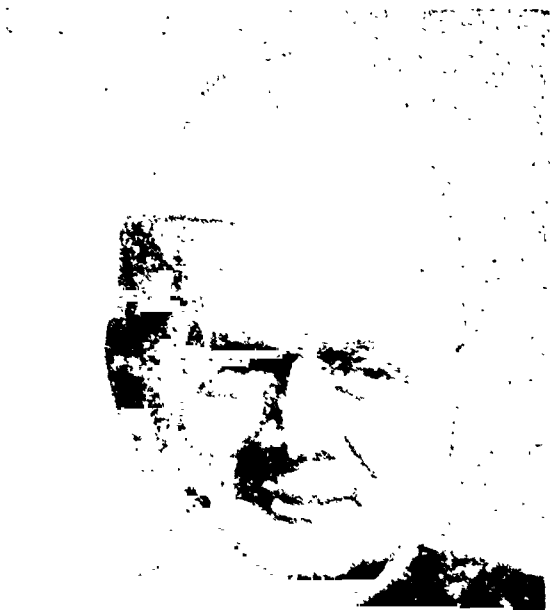
लोकसभाके प्रथम अध्यक्ष
माननीय श्री गणेश वासुदेव मावलंकर
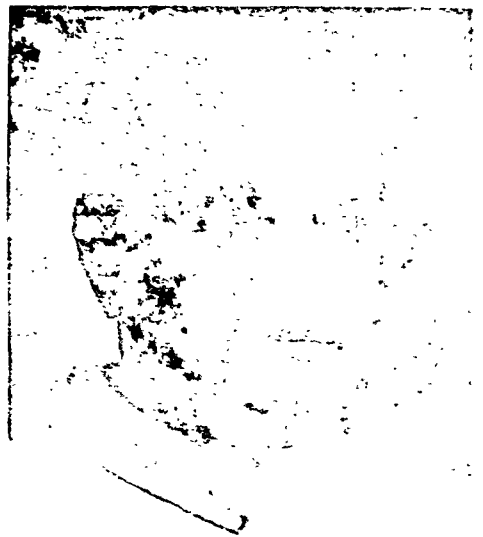
भारतके उपराष्ट्रपति
महामहिम श्री वी० वी० गिरि

भारत गणराज्यके
राष्ट्रपति

⊙

महामहिम डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
महामहिम डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
महामहिम डॉ० जाकिर हुसेन

राष्ट्रपतिका चुनाव : मतमूल्य

इन मूल्योंको निश्चित करनेके लिए संविधानमें दो गणितसूत्र दिए गए हैं :

$$\frac{\text{राज्यकी कुल आबादी}}{\text{विधानसभाके सदस्योंकी संख्या} \times १०००} = \text{मतका मूल्य}$$

प्रत्येक राज्यकी विधानसभाके सदस्यों द्वारा दिए गए मतोंका मूल्य निम्नानुसार निश्चित किया गया है :

उदाहरणार्थ, १९६७में जब राष्ट्रपतिका चुनाव हुआ उस समय गुजरातकी आबादी २,०६,३३,३५० थी और विधानसभाके सदस्योंकी संख्या १६८ थी। संविधानीय गणितसूत्रके अनुसार गुजरात राज्यके प्रत्येक विधानसभा-सदस्यके द्वारा दिए मतका मूल्य निश्चित किया गया था। संसद-सदस्यों द्वारा दिए मत एक साथ ही गिने जानेके कारण सदस्य इस मूल्यको अलग-अलग प्रतिस्पर्धियोंके बीच नहीं बांट सकते हैं। मतका महत्व गिनते समय उसके विशिष्ट मूल्य पर ध्यान दिया जाता है। स्वाभाविक है कि आबादी और विधानसभाके सदस्योंकी संख्या अलग-अलग राज्योंमें अलग-अलग हो सकती है। बड़े राज्योंके विधानसभा-सदस्योंकी संख्या अधिक होती है और उनके मतोंका मूल्य भी अधिक बड़ा होगा। यह अन्तर बहुत बड़ा होता है, जो नीचेकी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा :

	अधिकाधिक मूल्य		कमसे कम मूल्य	
चुनाव-वर्ष	मूल्य	राज्योंके नाम	मूल्य	राज्योंके नाम
१९५२	१४५	मद्रास	७	कुर्ग
१९५७	१४७	उत्तर प्रदेश	५९	काश्मीर
१९६२	१४७	उत्तर प्रदेश	५९	काश्मीर
१९६७	१७४	उत्तर प्रदेश	८	नागप्रदेश

इससे स्पष्ट हो जायगा कि राज्य के विस्तार, आबादी या विधानसभाके सदस्योंमें अगर घट-बढ़ हो जाय तो तदनुसार इन मूल्योंमें भी घट-बढ़ हो जाती है।

सभी राज्योंके विधानसभा-सदस्यों द्वारा दिए गए मतोंका मूल्य लगभग तीनसे चार लाख होता है। विधानसभाओं और लोकसभाके बीच संतुलन बनाए रखनेके लिए यह निश्चित किया गया है कि राज्योंके मत और लोकसभाके मतका मूल्य समान होना चाहिए। यह दूसरा गणितसूत्र है।

सभी विधानसभा-सदस्योंके मतोंके विशिष्ट मूल्यके कुल जोड़को पार्लियामेन्टके सदस्योंकी संख्यासे भाग देने पर जो संख्या आए, उसे पार्लियामेन्टके सदस्योंके मतोंका विशिष्ट मूल्य मान लेना चाहिए। जब १९५२ में राष्ट्रपतिका चुनाव हुआ, उस समय पार्लियामेन्टके प्रत्येक सदस्यके मतका विशिष्ट मूल्य ४९४, १९५७में ४९६, १९६२में ४९३ तथा १९६७में ५७६ निश्चित किया गया था। राष्ट्रपतिके लिए अबतक हुए चार चुनावोंमें प्रतिस्पर्धियोंके नाम और उन्हें प्राप्त मतोंका मूल्य निम्नलिखित है :

प्रतिस्पर्धीका नाम		कुल प्राप्त मतोंका विशिष्ट मूल्य
	१९५२	
श्री राजेन्द्रप्रसाद		५,०७,४००
श्री खुशालदास तलकचन्द शाह		९२,८२७
श्री एल० जी० थट्टे		२,६७२
श्री हरिराम चौधरी		१,९५४
श्री के० के० चटर्जी		५३३
	१९५७	
श्री राजेन्द्रप्रसाद		४,५९,६९८
श्री नागेन्द्र नारायणदास		२,०००
श्री हरिराम चौधरी		१,४९८
	१९६२	
श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन्		५,५३,०६७
श्री हरिराम चौधरी		६,३४१
श्री यमुनाप्रसाद त्रिशुलिया		३,५३७
	१९६७	
श्री जाकिर हुसैन		४,७१,२४४
श्री कोका सुब्बाराव		३,६३,९७१
श्री खूबीराम		१,३६९
श्री स्वामी सत्यभक्त		७५०
श्री ब्रह्मदेव		२३२
श्री एस० जी० भामुरकर		२२२
श्री के० के० चटर्जी		१२५
श्री के० के० सिंह		१२५

इसके अलावा नौ प्रतिस्पर्धियोंको एक भी मत नहीं मिला था। इस पर भी वे इतने उच्च पदके लिए प्रतिस्पर्धामें मुक्त रूपमें उतर सके, यह भी प्रजातंत्रकी ही बलिहारी है!

७ : संघकी कार्यकारिणी

इकाई राज्य रूपी मालाके मेरुमणिके समान संघ सरकारके तीन अंग हैं: कार्यकारिणी, संसद् (पार्लियामेन्ट) और सर्वोच्च न्यायालय। भारतके द्वारा संसदीय पद्धति स्वीकृत होने पर पार्लियामेन्टकी सत्ता सर्वोपरि मानी जाती है और उसके अधीन रह कर कार्यकारिणी संघका प्रशासन चलाती है। कार्यकारिणीकी वास्तविक सत्ता मंत्रिमण्डलको सौंप दी गई है और यह मंत्रि-मण्डल लोकसभाके प्रति उत्तरदायी रह कर काम करता है। संसदीय पद्धतिके प्रजातंत्रमें मंत्रियोंके पदकी कोई निश्चित अवधि तय नहीं की जाती और संसदमें राजनीतिक पक्षोंके बलाबलके अनुसार उसमें सतत हेरफेर होनेके कारण कार्यकारिणी-सत्ताके अधिक स्थिर केन्द्र पर राष्ट्रप्रमुखकी जरूरत पड़ती है। हमारे देशमें राष्ट्रपति और उनकी अनुपस्थितिमें उपराष्ट्रपति इस पदको सम्हालते हैं। इस प्रकार हमारे कार्यकारिणी-तंत्रमें राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और मंत्रिमण्डलका समावेश होता है। भारतके द्वारा गणतंत्रात्मक और प्रजातंत्रात्मक पद्धति स्वीकृत होनेके कारण इनमेंसे किसी भी स्थान पर आनुवंशिक अथवा नियुक्तिके आधार पर सत्ता नहीं सौंपी जा सकती।

संघप्रमुख (राष्ट्रपति)

सर्वप्रथम हम राष्ट्रपतिके चुनाव-प्रकारको देखेंगे। संघ राज्यके अध्यक्षके रूपमें कार्य करनेवाले राष्ट्रपतिका चुनाव प्रति पांचवें वर्ष किया जाता है। कमसे कम ३५ वर्षकी आयु और लोकसभाके सदस्य होनेकी योग्यता रखनेवाला कोई भी नागरिक राष्ट्रपतिके चुनावमें खड़ा हो सकता है। अल्पमत वाले पक्षोंको लाभ देनेके लिए और राष्ट्रपतिका चुनाव केवल मतबहुमतसे नहीं, किन्तु वास्तविक बहुमतसे हो; इस हेतुसे यह चुनाव सादी बहुमतीके आधार पर न होकर आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation) के अनुसार किया जाता है। यह चुनाव परोक्ष रूपसे होनेके कारण सामान्य मतदाताओंको इसमें मत नहीं देना होता। इसमें पार्लियामेन्ट और राज्योंकी विधान-सभाओंके लिए चुने हुए प्रतिनिधि ही मतदान कर सकते हैं। ऐसे संघ प्रदेशोंमें जहां विधानसभाएं नहीं हैं, वहां विशेष मतदाता मण्डल चुन लिया जाता है।

विशेषतः पार्लियामेन्टमें थोड़ा-सा बहुमत रखनेवाला पक्ष स्वेच्छासे राष्ट्रपतिका चुनाव नहीं कर सकता, समवायतंत्रके प्रमुखके चुनावमें राज्योंकी आवाजको भी स्थान मिल सके और उस-संघके प्रमुखका स्थान विशेषरूपसे तटस्थ और पार्लियामेन्टकी दलगत राजनीतिसे अलिप्त रहे—

इस प्रकारके अनेक हेतुओं या उद्देश्योंको पूरा करनेके लिए मतदातामण्डलकी व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्थामें दो कठिनाइयाँ हैं। पहली तो यह है कि विविध राज्योंके विधानसभा-सदस्योंकी संख्या और उनकी आबादीके अनुपातमें बहुत बड़ा अन्तर होनेसे केवल सभासदस्योंकी संख्याके अनुसार अगर मताधिकार दिया जाय तो बड़ी आबादी वाले प्रदेशोंके साथ अन्याय होता है। दूसरी बात यह है कि विविध प्रदेशोंका प्रतिनिधित्व करनेवाली विधानसभाओंके सदस्योंकी संख्या समग्र देशका प्रतिनिधित्व करने वाली पार्लियामेन्टके सदस्योंकी अपेक्षा लगभग चार-पांच गुनी है। और अगर संख्याके बल पर ही मताधिकार दिया जाय तो इस सर्वोच्च चुनावमें पार्लियामेन्टका महत्त्व बहुत कम हो जाता है। इन दोनों कठिनाइयोंको टालनेके लिए प्रत्येक विधानसभाके सदस्योंके मतोंका मूल्य समान रखने और विधानसभाओं और पार्लियामेन्टके बीच संतुलन बनाए रखनेकी दृष्टिसे संविधानमें अत्यन्त विचारपूर्वक व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपतिके चुनावमें दिए गए प्रत्येक मतका विशिष्ट मूल्य निश्चित किया जाता है--उसकी समान कीमत नहीं मानी जाती; परन्तु निश्चित किए हुए मूल्यके अनुसार अलग-अलग मानी जाती है। राष्ट्रपतिके चुनावमें मतदाताओंकी संख्या लगभग चार हजार होती है, फिर भी उनके मतों का मूल्य लगभग छ:से आठ लाख माना जाता है।

परिणामों पर दृष्टिपात करनेसे पता चलेगा कि पहले तीन चुनावोंमें पार्लियामेन्ट और राज्योंकी विधानसभाओंमें कांग्रेस द्वारा प्राप्त संख्याबलके कारण अन्य किसी भी दल या स्वतंत्र प्रतिस्पर्धीकी जीतकी तिलमात्र आशा नहीं रखी जा सकती थी। दूसरे दलोंके या अपक्ष (निर्दलीय) प्रतिस्पर्धी खड़े हुए थे, लेकिन उनका केवल औपचारिक महत्त्व ही था। इन तीनों चुनावोंमें कोई खास स्पर्धा भी नहीं हुई थी। इन तीनों अवसरों पर कांग्रेसके उम्मीदवारकी विजय निश्चित होनेके कारण वास्तविक खींचतान कांग्रेसके उम्मीदवारको पसन्द करते समय होती थी।

भारतके अन्तिम गवर्नर जनरल श्रीराजगोपालाचारी, जब १९५०में नया संविधान अमलमें आया, अस्थायी पद लेना चाहते थे; जिससे १९५२के चुनावके समय उनका दावा दृढ़तापूर्वक पेश किया जा सके। श्रीराजेन्द्रप्रसादके वैचारिक विरोधी पं०नेहरू भी उस समय राजाजीके समर्थक थे। पर राजाजीने पाकिस्तानकी माँगको सबसे पहले स्वीकार किया था और वे १९४२के आंदोलनमें अलग रहे थे--ये दोनों बातें कांग्रेसके बहुतसे नेताओंको चुभती थीं। अतः संविधानसभाके अध्यक्षको सबसे पहला राष्ट्रपति मान लेनेका अमेरिकाके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण स्वीकार कर लिया गया। १९५२में चर्चाके लिए अवकाश ही नहीं रहा था। १९५७में चुनावके समय राष्ट्रपतिके पदके लिए पसंदकी प्रक्रिया चल ही रही थी कि पं० नेहरूने डा० राधाकृष्णन्‌को वचन दे दिया कि उन्हें ही पसंद किया जायगा। परन्तु श्रीराजेन्द्रप्रसादने पद पर बने रहनेकी इच्छा प्रकट की और कांग्रेसकी कार्य-कारिणीके बहुतसे सदस्योंने उसे समर्थन दिया। पं० नेहरू नाराज़ हुए। छोटा-सा संकट उत्पन्न हुआ। पर इस प्रकार वचन देनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं था, इसका पता चलते ही नेहरू शान्त हो गए और डा० राधाकृष्णन्‌को छोड़ दिया गया। इस तरहका समाचार पहुँचानेका काम मौलाना आज़ादके सिर पर आ पड़ा। इस निर्णयसे डा० राधाकृष्णन् बहुत नाराज़ हुए और ऐसा लगा कि संभवतः वे दिल्ली ही छोड़ देंगे, परंतु अंततः वे शान्त हुए और उपराष्ट्रपतिके रूपमें चलते रहे। १९६०में राष्ट्रपतिके

स्थान और सत्ताविषयक श्री राजेन्द्रप्रसादजी द्वारा उठाई गई चर्चाके कारण इस मान्यताको प्रोत्साहन मिला था कि १९६२के चुनावमें वे पुन: राष्ट्रपति पदके प्रत्याशी होंगे। इस धारणाका बहुत विरोध हुआ और अप्रैल १९६१में संसद सदस्य श्री भूपेश गुप्ताने संविधानमें संशोधन करनेका प्रस्ताव पेश किया। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पदके लिए दोसे अधिक बार प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। इस प्रस्तावका विरोध करते हुए भी पं० नेहरूने इस प्रकारकी संवैधानिक प्रणाली-का समर्थन किया था। अमेरिकाके संविधानमें हालमें ही यह सुधार किया गया है। पर भारतके राष्ट्र-पति-पद और अमेरिकाके राष्ट्रपति-पदमें मूलभूत अन्तर होनेके कारण यह तुलना उचित नहीं कही जा सकती। यों श्री राजेन्द्रप्रसादजीने निवृत्त होनेकी इच्छा व्यक्त की; अत: १९६२में अपना उम्मीदवार तय करनेका काम कांग्रेसके लिए सरल हो गया और बिना किसी ऊहापोह या संघर्षके डॉ० राधाकृष्णन् पसंद कर लिए गए।

राष्ट्रपतिका चुनाव : १९६७

राष्ट्रपतिके चुनावमें संसत्सदस्योंके कुल मतोंका मूल्य ४,३०,८८८ था, जबकि राज्योंकी विधानसभाओंके मतोंका मूल्य ४,३०,८५१ था।

राज्य	एक मतका मूल्य	डॉ० जाकिर हुसैन	श्री सुब्बाराव	कांग्रेसी सदस्य संख्या
नागालैंड	८	४०(३२०)	—	०
गुजरात	१२३	९६(११८०८)	७१(८७३३)	९२
मद्रास	१४४	५४(७७७६)	१६९(२४३३६)	४९
आंध्र	१२५	१५०(१८७५०)	१३२(१६५००)	१६५
हरियाणा	९४	३६(३३८४)	४३(४०४२)	—
उड़ीसा	१२५	२९(३६२५)	१०५(१३१२५)	२९
आसाम	९४	८४(७८९६)	३७(३४७८)	७२
जम्मू व काश्मीर	५९	६२(३६५८)	९(५३१)	६०
पंजाब	१०७	५५(५८८५)	४३(४६०१)	४३
महाराष्ट्र	१४६	२०८(३०३६८)	६२(९०५२)	२०२
उत्तर प्रदेश	१७४	२१०(३६५४०)	२०९(३६३६६)	१७७
केरल	१२७	३०(३८१०)	८१(१०२८७)	९
मैसूर	१०९	१३३(१४४९७)	८१(८८२९)	१२६
बिहार	१४६	१४१(२०५८६)	१७२(२५११२)	१२८
राजस्थान	११०	९५(१०४५०)	८३(९१३०)	८८
पश्चिम बंगाल	१२५	१३७(१७१२५)	११८(१४७५०)	१२७
मध्य प्रदेश	१०९	१३०(१४१७०)	१२५(१३६२५)	१६६
केन्द्र शासित	५७६	४४३(२५५१६८)	२३८(१३७०८८)	४२३

विधानसभाके कुल ३,४०० स्थानोंमेंसे कांग्रेसने लगभग १,८०० स्थानों पर अधिकार कर लिया था। लोकसभामें उसका स्पष्ट बहुमत था और राज्यसभामें पूर्ववत् स्थिति रहनेके कारण कांग्रेसके प्रत्याशीका चुन कर आ जाना असंभव न था। परन्तु कांग्रेसको विरोधी दलोंका उतना डर नहीं था, जितना आन्तरिक विग्रहका। परिणामतः राष्ट्रपति पदके लिए प्रत्याशी ढूंढ़नेके लिए लम्बी और बेतुकी बातें चलीं। जिस प्रत्याशीके लिए सभी दल सहमत हों, उसे ढूंढ़नेके लिए प्रधानमंत्रीने विरोधी दलोंके साथ भी चर्चाएँ कीं। डॉ० राधाकृष्णन्‌को राष्ट्रपति पद पर बनाए रखने अथवा डॉ० जाकिर हुसैनको प्रत्याशीके रूपमें चुननेके मामले पर कांग्रेस दलके नेताओंमें आपसी मतभेद नजर आता था। अन्ततः प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधीका आग्रह स्वीकृत हुआ। डॉ० राधाकृष्णन् निवृत्त हुए और डॉ० जाकिर हुसैनको प्रत्याशीके रूपमें चुन लिया गया। कांग्रेसके समक्ष अपना बल प्रदर्शित करनेके लिए उत्सुक विरोधी दलोंने संयुक्त रूपसे सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीश श्री कोका सुब्बारावका समर्थन किया। जिस रूपमें परिणामके आंकड़े बताते हैं, उस रूपमें अच्छी-खासी स्पर्धा हुई। जीतनेकी कोई आशा न होने पर भी अन्य १५ प्रत्याशियोंने चुनावमें भाग लिया। उनमेंसे छः प्रत्याशियोंको कुछ गिने-चुने मत मिले भी, पर नौ प्रत्याशियोंके हिस्सेमें तो केवल शून्य ही आया। इस प्रकारके निरर्थक प्रत्याशी अनावश्यक रूपसे चुनावके परिणामको विकृत न करें, अतः किसी प्रकारका प्रबन्ध होना आवश्यक है। इसका उल्लेख चुनाव-आयोग द्वारा अपनी रिपोर्टमें बारबार किया जा चुका है।

राष्ट्रपतिके चुनावकी उलझनोंको संक्षेपमें जान लेनेके बाद महत्वपूर्ण राजनीतिक पहलुओं पर विचार अपेक्षित है। राष्ट्रपतिका चुनाव दल या दलोंके समर्थनसे होनेके कारण और राष्ट्रपति दोबारा भी चुनावमें खड़ा हो सकता है, इस कारण राष्ट्रपति दलगत राजनीतिसे अलिप्त रहेगा या रह सकता है, इस प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखी जा सकती। अगर वह मुख्य राजनीतिक दल या दलोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं रख पाया तो यह बिल्कुल अपने पंख काट लेनेके समान होगा। डॉ० राधाकृष्णन् इसके उदाहरण हैं। प्रदेशोंमें विभिन्न दलोंका प्रभाव होने पर राष्ट्रपतिके चुनावमें खड़े होने वाले प्रत्याशीकी स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है और उसे राजनीतिक दलोंके साथ विचित्र प्रकारकी सौदेबाज़ी करनी पड़ती है; जिसका प्रमाण १९५६के पूर्व फ्रांसके अनुभवसे मिलता है। इस तरहकी सौदेबाज़ी तटस्थ या अच्छे लोग नहीं कर पाते; अतः भारतमें अगर एक प्रबल दल-प्रथाके स्थान पर अनेक दुर्बल पक्षोंकी बहुदलप्रथाका विकास हो तो राष्ट्रपतिका स्थान अत्यन्त निम्न स्तर पर आ जायगा और यह भय व्यक्त करना अनुचित न होगा कि वह अत्यन्त निचले स्तरके राजनीतिज्ञोंके हाथका खिलौना मात्र बन जायगा।

दूसरी बातका भी परीक्षण कर लिया जाना चाहिए। राष्ट्रपतिके चुनावके लिए सम्प्रति स्वीकृत पद्धतिके कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है कि चुनाव कार्यमें उत्तर भारतके अधिकांश राज्योंके हाथोंमें मुख्य चाभी आ जाती है। उनके समर्थनके बिना कोई भी प्रत्याशी चुना ही नहीं जा सकता। अखिल भारतीय स्तर पर काम करनेवाले दलोंका प्रभाव कम होने पर और भाषावाद, सम्प्रदायवाद तथा प्रादेशिक भावनाएँ आजकी अपेक्षा अधिक प्रबल होने पर अ-हिन्दीभाषा-

भाषियों और दक्षिण भारतवासियोंके लिए राष्ट्रपति बनना लगभग असंभव हो जायगा। कारण कि भारतके चार हिन्दी-भाषी राज्यों—बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेशके हाथोंमें आवश्यक मतशक्तिका लगभग आधा भाग केन्द्रित हो गया है। राष्ट्रपतिके चुनावमें प्रादेशिक और साम्प्रदायिक भावनाएँ जो भूमिका अदा करती हैं, उसका अनुभव १९६७में हो गया है: यह बात दूसरी है कि उसका प्रदर्शन कांग्रेस दलके अनुशासन और विरोधी दलोंकी दृढ़ताके कारण कम हुआ हो। परन्तु छोटे और कम अनुशासित दलोंका प्रभाव बढ़ने पर राष्ट्रपतिके चुनावके लिए निश्चित पद्धतिके कारण प्रादेशिक और साम्प्रदायिक असंतोषका पनपना संभव बना ही रहता है।

राष्ट्रपतिके पदानुकूल उन्हें प्रतिमास दस हजार रुपए वेतन दिया जाता है। यद्यपि यह वेतन पूरा-पूरा नहीं लिया जाता; फिर भी यात्रा, सरकारी मेहमानोंके स्वागत तथा अन्य अनेक प्रकारके कामोंके लिए उन्हें दिए जाने वाले कुल भत्ते की रकम लगभग तीन-साढ़े तीन लाख रुपए होती है। इसके अतिरिक्त उनसे मिलने आनेवाले और मेहमानोंका सत्कार करनेके लिए नौकरोंकी एक बड़ी फौज भी रखनी पड़ती है। राष्ट्रपति और उनकी इस फौज पर आने वाले भारी खर्चमें प्रतिवर्ष वृद्धि होती जाती है। १९६२-६३में यह रकम साढ़े चौबीस लाख रुपएके करीब थी, जो १९६५-६६में साढ़े उन्तीस लाख हो गई। १९६८-६९के आयव्ययकमें राष्ट्रपतिके लिए व्यय की जानेवाली रकम सैंतीस लाख चौंतीस हजार रुपए अनुमानित की गई है। अगर हम इसकी तुलना अपनेसे अधिक समृद्ध देशोंके साथ करें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह अत्यधिक खर्च है। अमेरिका जैसे समृद्ध देशमें विश्व-राजनीतिका पूरा बोझ वहन करनेवाले राष्ट्रपतिको आठ लाख रुपए वेतन और चार लाख रुपए अन्य खर्चोंके लिए दिए जाते हैं। उन्हें साढ़े तीन लाख रुपए तक यात्रा-व्यय तथा मेहमानोंकी आवभगत करनेके लिए भत्ता मिलता है। फ्रांसके राष्ट्रपतिको सन् १९६५में २०४० लाख फ्रांक दिए गए थे और जापानके सम्राटको लगभग पैंसठ लाख येनकी राशि दी गई थी।

अंग्रेज वायसरायके समयमें स्थापित प्रणालियाँ गरीब देशके प्रजातांत्रिक नेताओंके लिए अशोभनीय माने जाने पर भी अब तक उनमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं किया गया, यह शोचनीय है। इतने शाही ठाटसे रहनेवाले हमारे राष्ट्रपति जब सादगी, मितव्ययता और आत्मत्यागकी प्रजासे मांग करते हैं; तब यह समझना बड़ा मुश्किल है कि प्रजा पर उनका किस प्रकारका नैतिक प्रभाव होगा। राष्ट्रपतिके साथ चिपकी ये वैभवपूर्ण प्रणालियाँ आजके युगके अनुरूप नहीं हैं और कुछ तो इतनी छोटी या तुच्छ हैं कि हास्यास्पद लगती हैं।

सबसे अधिक गंभीर, बहुचर्चित और दूरगामी परिणाम उत्पन्न करनेवाला विषय राष्ट्रपतिकी संवैधानिक और वास्तविक सत्ताका है। संविधानके बननेसे लेकर अब तक यह चर्चा उग्रसे उग्रतर होती गयी है। संविधानके अनुसार राष्ट्रपतिको दी गई सत्ताओंकी सूची काफी लम्बी है। सामान्य परिस्थितिमें और संकटकालमें राष्ट्रपतिके हाथोंमें बेहद सत्ताएँ सौंप दी गई हैं। वह सेनाका प्रमुख और प्रशासनिक तंत्रका सर्वोच्च अधिकारी है। उसकी सत्ताएँ सेना, प्रशासन, विधान, न्यायालय,

चुनाव आदिके काम और कर्मचारीतंत्र आदि राज्यके सभी क्षेत्रोंको आवृत्त कर लेती हैं। सेनाके अंग उनके प्रति वफादार रहनेकी शपथ लेते हैं और उनके आदेशका पालन करते हैं। प्रशासनिक तंत्रके सभी कर्मचारियोंकी नियुक्ति और विमुक्ति राष्ट्रपति अथवा उनके द्वारा नियुक्त कोई व्यक्ति कर सकता है। वह प्रधानमंत्रीको नियुक्त करता है और उसकी सलाहके अनुसार अन्य मंत्रियोंकी नियुक्ति करता है तथा उनके बीच कार्य-क्षेत्रोंका निर्णय करता है। मंत्रिमण्डल उसकी प्रसन्नता तक ही कुर्सीका उपभोग कर सकता है। पार्लियामेन्टकी बैठक बुलाने, उसे स्थगित या रद्द करने तथा लोकसभाको जब चाहे भंग करनेका उन्हें अधिकार है। बहुतसे कानून उनकी पूर्व-अनुमतिके बिना पार्लियामेन्टमें प्रस्तुत नहीं किए जा सकते और सभी कानून उनके हस्ताक्षर करने पर ही अमलमें लाए जा सकते हैं। वे किसी भी कानूनको अस्वीकार कर सकते हैं और पार्लियामेन्टको पुनर्विचारके लिए भेज सकते हैं। यह बात दूसरी है कि उनके द्वारा अस्वीकृत कानून अगर संसद द्वारा दो-तिहाई बहुमतसे पारित कर दिया जाय तो राष्ट्रपतिको उस पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पार्लियामेन्टको संदेश भेज सकता है और यथाशीघ्र उस पर विचार करनेके लिए पार्लियामेन्ट बाध्य है। पार्लियामेन्टकी प्रत्येक बैठकके आरम्भमें या जब उसकी इच्छा हो, वह भाषण कर सकता है। अनुमानित आयव्ययक तैयार करवाकर पार्लियामेन्टके समक्ष प्रस्तुत करानेका उसका दायित्व है। सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीशके साथ सलाह कर वह सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयोंमें न्यायाधीशोंकी नियुक्ति करता है। वह अपराधियोंको क्षमा प्रदान कर सकता है; उनकी सज़ामें कमी करने अथवा सज़ाके प्रकार बदलनेका उसे अधिकार है। गवर्नरकी रिपोर्टको स्वीकार कर अथवा स्व-निर्णयके अनुसार वह राज्योंका प्रबन्ध स्वयं सम्हाल सकता है। बाह्य आक्रमण होने पर, अन्तर्विद्रोह फूट पड़ने पर अथवा आर्थिक संकट उत्पन्न होने पर वह संकटावस्थाकी घोषणा कर सकता है और संघीयतंत्र तथा प्रजातंत्र दोनोंको ताकमें रखकर एकचक्री राज्यके तानाशाहके रूपमें वह प्रशासन चला सकता है।

राष्ट्रपतिकी सत्ताओंकी सूची अभी और लम्बी बनाई जा सकती है; क्योंकि संघ सरकारका कोई भी काम ऐसा नहीं है, जिसमें किसी न किसी स्थान पर और किसी न किसी प्रकारसे राष्ट्रपति अपनी भूमिका अदा न करता हो।

इन सत्ताओंको कुछ लोग केवल आभासी मानते हैं। इन लोगोंके अनुसार राष्ट्रपति स्वयं इस प्रकारकी सत्ताओंका उपयोग नहीं कर सकता। राष्ट्रपतिके नाम पर मंत्रिमण्डल ही इन सत्ताओंका उपयोग करता है। राष्ट्रपतिके कामोंमें सलाह और सहायता देनेके लिए ही मंत्रिमण्डल होता है और यह मंत्रिमण्डल लोकसभाके प्रति उत्तरदायी होगा, यह कह कर संविधानने राष्ट्रपतिकी सभी सत्ताओंको उसके हाथोंसे छीन लिया है। इस प्रकार देखनेसे राष्ट्रपतिका स्थान बड़ा ऐश्वर्यपूर्ण होने पर भी सत्ताविहीन हो गया है। परन्तु दूसरे कितने ही विद्वान् इसके विपरीत मान्यता रखते हैं। उनकी दलील यह है कि ऐसी कोई धारा संविधानमें नहीं, जिससे राष्ट्रपति मंत्रिमण्डलकी सलाह माननेके लिए विवश हो; इतना ही नहीं, इस प्रकारकी धारा संविधानमें सम्मिलित करनेकी

प्रार्थनाको संविधान सभाने अस्वीकार कर दिया था। प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने यदाकदा इस प्रश्नको उठा कर इस चर्चाको प्रोत्साहन दिया था। 'इण्डियन प्रेसिडेन्सी' नामक पुस्तकमें यह सिद्ध करनेके लिए कि राष्ट्रपति स्वतंत्र रूपसे सत्ताओंका उपभोग कर सकता है, श्री मुंशीने केवल संविधानको ही महत्त्व देनेका अनुरोध किया है : "सम्प्रति राष्ट्रपति व्यवहारमें चाहे सत्ताका उपभोग करता हो या न करता हो; परन्तु राष्ट्रपतिका स्थान और सत्ताओंकी छानबीन संविधानकी धाराओंके आधार पर ही होनी चाहिए और राजनीतिक प्रणालियाँ या परिस्थितियाँ कानूनी तौर पर दी गई सत्ताओंको सीमित व दूषित नहीं कर सकती।" इसके विपरीत समर्थ अंग्रेज विद्वान् मेटलैण्डने 'कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंग्लैण्ड'में बतलाया है कि "इस प्रश्नका केवल कानूनकी दृष्टिसे अवगाहन करना.....अपेक्षाकृत अधिक तात्त्विक और युक्तिसंगत माना जायगा और इससे संवैधानिक मामलोंमें बहुत बार जिस प्रकार हो जाता है उसी प्रकार तथ्योंकी दृष्टिसे असत्य भी माना जायगा।"

श्री मुंशीके इस कथनमें बहुत कुछ सत्य भी है कि "संविधानसभा राष्ट्रपतिको केवल शोभाका महादेव बनाना नहीं चाहती थी और इसीलिए उसने उनके हाथोंमें कुछ विशिष्ट सत्ताएँ भी सौंप दी है।" संविधान सभाके कितने ही सदस्योंने इस प्रकारका मत प्रदर्शित किया था। परन्तु संविधानका मसौदा तैयार करनेवाली समितिके अध्यक्ष डा० अम्बेदकरने तथा श्री ए० कृष्णस्वामी अय्यरने संविधान-सभामें बारबार यह बात स्पष्ट की थी कि "राष्ट्रपतिको सौंपी गई सत्ताओंका व्यक्तिगत रूपसे उपयोग करनेकी छूट नहीं है और संविधानमें जहाँ-जहाँ 'राष्ट्रपति' शब्दका प्रयोग किया गया है; वहाँ 'मंत्रि-मण्डलकी सलाहके अनुसार राष्ट्रपति'का ही अर्थ अभिप्रेत है।" "राष्ट्रपति राष्ट्रका सर्वोपरि है पर शासक नहीं और प्रशासनिक कार्योंमें उसका काम महज शोभामें वृद्धि करना है।"—ऐसा कह कर तो डा० अम्बेदकरने ऐसी सचोट तुलना भी की थी कि "भारतकी राजमुद्रा पर जिस प्रकार सारनाथके शिल्पके तीन सिंह दिखाई देते हैं; उसी प्रकार राष्ट्रपति भी चौथा सिंह है। यह ठीक है कि राजमुद्रा अंकित किए बिना कोई भी कानून लागू नहीं होता, पर इसीसे ये सिंह स्वयं शासन करनेमें शक्तिमान नहीं बन जाते।"

दोनों ओरके विद्वानोंके इस प्रकारके आपसी विरोधी कथनोंसे कोई हल नहीं निकला है, परन्तु इसके विपरीत चर्चाएँ उग्रतर बनी हैं। संविधानमें राष्ट्रपतिको विशिष्ट और विस्तृत सत्ताएँ सौंपी गई हैं और साथ-साथ बहुतसी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ भी सौंपी गई हैं। राष्ट्रपतिको संविधानकी रक्षाकी शपथ लेनी पड़ती है और अगर उसने असंवैधानिक कोई कदम उठाया तो संसदमें उस पर केस चला कर पदच्युत किया जा सकता है। दूसरी ओर अगर राष्ट्रपतिको ईमानदारीसे मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार चलना असंवैधानिक लगता हो तो वह उसकी सलाहके अनुसार चलना अस्वीकार कर सकता है। प्रधानमंत्रीके सिवाय राष्ट्रपतिको दूसरा कोई परामर्श कोई नहीं दे सकता। मंत्रिमण्डल द्वारा पार्लियामेंटका विसर्जन करा देनेकी सलाहके किसी अन्य नेताको सत्ता सौंपने अथवा लोकसभाको भंग करनेकी प्रधानमंत्रीकी सलाह माननेका निर्णय उसे स्वयं ही लेना पड़ता है। इसके अलावा, अगर राष्ट्रपतिको ऐसा लगता हो कि पार्लियामेंटके बहुमत प्राप्त करनेवाले मंत्रिमण्डलने और उसने यह कि स्वयं पार्लियामेंटने उसकाका विश्वास खो दिया है तो संसद या मंत्रिमण्डलको बर्खास्त कर देनेकी सत्ताका उपयोग मंत्रिमण्डलकी सलाहके तो

होनेसे रहा! ऐसे समयमें आखिरकार तो राष्ट्रपति, चूंकि जनताकी सेवा करनेकी शपथ लिए हुए होता है, मंत्रिमण्डलका कृत्य राष्ट्र या जनताके प्रति द्रोहपूर्ण दिखाई देने पर अथवा उसके द्वारा सनातन नैतिक मूल्योंका भंग हुआ मालूम पड़ने पर चुप नहीं बैठ सकता। इस प्रकारका मौन अपनी आत्मा और संविधानकी आत्माके साथ द्रोह करनेके समान ही माना जायगा।

इसके अलावा दूसरी कितनी ही उलझनें विचार करनेके योग्य हैं। उदाहरणार्थ, कितने ही मामलोंमें न्यायपालिकाकी सलाहके अनुसार, कितने ही मामलोंमें सेवा-आयोगकी सिफारिशोंके अनुसार और कितने ही मामलोंमें चुनाव-आयोगके निर्णयोंके अनुसार राष्ट्रपतिको व्यवहार करनेकी व्यवस्था संविधानमें दी गई है। इस प्रकारकी सलाह और मंत्रिमण्डलका मत अगर एक-दूसरेके विरुद्ध हो तो राष्ट्रपति किसकी सलाह मानें, यह संविधानमें स्पष्ट नहीं है। यों पिछले दो दशकोंकी परम्पराके अनुसार ऐसी सभी सलाहों पर विचार करनेके बाद मंत्रिमण्डल द्वारा दिया गया निर्णय राष्ट्रपतिका निर्णय माना जाता है। परिणामस्वरूप, न्यायाधीशोंकी नियुक्तिके सम्बन्धमें सदा सर्वोच्च न्यायाधीशकी सिफारिशोंको मान नहीं दिया जाता। फलतः न्यायपालिकामें नियुक्ति-पद्धति विषयक, दुनियाके तमाम राष्ट्रोंके लिए एक प्रदेय बन सकनेकी क्षमता रखनेवाली अनोखी और सुंदर व्यवस्था संविधानमें होने पर भी जिस परम्पराका पालन किया जाता है, उससे यह संवैधानिक व्यवस्था मृतप्राय बन कर रह गयी है।

व्यावहारिक बात पर अगर विचार करें तो पिछले दो दशकोंके बीच राष्ट्रपतियोंने––विशेषतः डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने––अपनी सत्ताओंका स्वतंत्र रूपसे उपयोग करने, विविध प्रशासकीय विभागोंके मंत्रियों तथा अधिकारियोंके साथ सीधे सम्पर्क रखने और राजनीतिसे अलिप्त क्षेत्रोंके अधिकारियोंकी नियुक्तियाँ अपनी इच्छानुसार करनेका जब-जब प्रयास किया, तब-तब केन्द्र सरकारने अटॉर्नी जनरलकी सलाह ली है। ऐसी सलाह हमेशा यह रही है कि राष्ट्रपति किसी भी कामको स्वतंत्र रूपसे नहीं कर सकता; किसी भी सत्ताको मनमाने ढंगसे उपयोगमें नहीं ला सकता; चुनाव-आयोग अथवा सरकारी सेवा आयोगके सदस्योंकी नियुक्ति अपनी मर्जीके अनुसार नहीं कर सकता और मंत्रियोंकी अनुमतिके बिना सरकारी अधिकारियोंसे नहीं मिल सकता; क्योंकि प्रत्येक मामलेमें उन्हें मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार व्यवहार करना चाहिए।––इस प्रकारका मंतव्य आस्टिन पार्नरने 'इण्डियाज़ कांस्टिट्यूशन : कॉर्नर स्टोन ऑफ ए नेशन' नामक ग्रंथमें प्रकट किया है।

परन्तु इस प्रकारकी सलाहोंसे समस्याका हल नहीं मिला। जिस समय संविधान अमलमें आया, उसी समय डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने तो संसदको संदेश देने और कानून पर अनुमति देनेके मामलेमें मंत्रिमण्डलकी इच्छानुसार न चल कर अपनी इच्छानुसार चलनेकी इच्छाको अभिव्यक्त करते हुए एक पत्र––व्यक्तिगत पत्र––पंडित नेहरूको लिख भेजा था। उस समय पं० नेहरूने इस सम्बन्धमें श्री सीतलवाड और श्री कृष्णस्वामी अय्यरकी सलाह ली थी। इन दोनोंने एक ही अभिप्राय दिया : "श्री राजेन्द्रप्रसादजीका यह कदम संसदीय प्रजातंत्रके मूलमें कुठाराघातके समान है।" सच तो यह है कि अटॉर्नी जनरल तथा अन्य विद्वानोंके द्वारा प्रदर्शित मत भारतीय संविधानकी धाराओं पर आधारित न होकर संसदीय प्रजातंत्रकी इंग्लैण्डमें रूढ़ हुई प्रणालीके आधार पर था। हमारे देशकी

और इंग्लैण्डकी परिस्थितियोंमें अन्तर है। दोनों देश बहुतसे मामलोंमें एक-दूसरेसे भिन्न प्रणालियोंका अनुसरण करते हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि राष्ट्रपतिकी सत्ताओं और कार्योंके सम्बन्धमें ब्रिटेनकी रूढ़ियोंको ही हमें क्यों आधार बनाना चाहिए? १९६०में ऐसे एक प्रश्नको उपस्थित कर डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी ने 'इण्डियन ला इंस्टिट्यूट'के भवनके उद्घाटनके अवसर पर अपने भाषणमें राष्ट्रपतिकी संवैधानिक स्थितिके विषयमें सार्वजनिक चर्चाको प्रोत्साहन दिया था।

इस चर्चाका समग्रतः यह परिणाम हुआ और यह मत स्पष्ट और दृढ़ होता गया कि भारतका प्रजातंत्र संसदीय प्रकारका है और राष्ट्रपति, प्राप्त सत्ताओंका स्वतंत्र रूपसे उपयोग करनेका अधिकार नहीं रखता।

हमें यह तो ध्यानमें रखना ही चाहिए कि भारतके राष्ट्रपतिका पद केवल संवैधानिक खिलौना मात्र नहीं है। इस बातको सिद्ध करनेवाली कितनी सत्ताएँ और जिम्मेदारियाँ राष्ट्रपतिको सौंपी गई हैं, जिनमें मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार चलना राष्ट्रपतिके लिए सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, यह कल्पना करना ही कठिन है कि किस प्रकार राष्ट्रपति मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार पार्लियामेन्टको संदेश देने, किसी कानूनको सीमित रूपमें नकारने, मंत्रिमण्डलको बर्खास्त करने तथा प्रधानमंत्रीका चयन करनेकी अपनी सत्ताओंका उपयोग कर सकता है। प्रो० ग्लेडहिलने 'रिपब्लिक ऑफ इंडिया'में उल्लेख किया है : "मंत्रियोंकी सलाहके अनुसार चलनेकी जिम्मेदारी, मंत्रियोंको हटानेकी सत्ता और संविधानके प्रति वफादार रहनेका कर्तव्य—इन तीन मामलोंके बीच जोड़-तोड़ केवल परिस्थितियोंके अनुसार परम्परा और रूढ़ियों द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है।"

श्री ग्लेडहिल द्वारा प्रदर्शित इस भीतिसे डरनेका कोई कारण नहीं है कि अगर भारतका राष्ट्रपति अपनी इच्छासे सभी सत्ताओंका उपयोग करने लगेगा तो संकटकी स्थितिकी घोषणा कर और पार्लियामेन्टको बर्खास्त कर तानाशाह बन जायगा। आखिरकार तो किसी भी प्रजातंत्रका सामर्थ्य संविधानके शब्दोंके आधार पर न होकर प्रजाकी शक्ति पर आवृत होता है, परिपुष्ट होता है। यदि यह शक्ति न हो तो चाहे कितना ही सुन्दर संविधान हो प्रजातन्त्र टिक नहीं सकता, क्योंकि जीवनी शक्ति-विहीन रोगीको कोई सर्वोत्तम औषधि भी लम्बे समय तक जीवित रखनेमें असमर्थ होती है।

सम्प्रति संकटकालीन सत्ता मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार राष्ट्रपति प्रयोगमें लाता है। परन्तु आपद्कालीन स्थितिकी घोषणा करनेकी आखिरी सत्ता तो राष्ट्रपतिके हाथमें है और आपत्कालकी घोषणा होनेके बाद तो उनके हाथोंमें बहुत ज्यादा सत्ताएँ आ जाती हैं। इसे देखने पर यह लगता है कि अगर प्रजा पूर्णतः जाग्रत और संगठित न हो तो प्रजातंत्रके नष्ट होनेकी संभावना भी बनी रहती है। कुछ मामलोंमें राष्ट्रपतिको अपनी इच्छानुसार चलना ही पड़ता है। अगर मंत्रिमण्डलकी सलाहके अनुसार चलनेसे संविधानका भंग होता हो, मंत्रिमण्डलने पार्लियामेन्टका विश्वास खो दिया हो और इसका विचार राष्ट्रपतिको ही रखना हो तथा मंत्रिमण्डलका अस्तित्व इतना अधिक अस्थिर हो गया हो कि उसे नष्टप्राय ही मानना पड़े; तो भारतके राष्ट्रपतिका बुद्धि-कौशल इसीमें है कि वह अपनी इच्छाके अनुसार सत्ताका उपयोग करे। उदाहरणार्थ १९५४में

संसद् द्वारा पारित पेप्सु राज्यका आय-व्ययक असंवैधानिक होनेके कारण डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने उस पर हस्ताक्षर करनेसे इंकार कर दिया था और संसद्को इस कडुए घूंटको जैसे-तैसे गले उतारना पड़ा था। इस प्रकार, संवैधानिक सत्ताओंके उपयोगको लेकर राष्ट्रपति और मंत्रिमण्डलके बीच संघर्ष होनेकी संभावना निहित ही है। फिर भी, सामान्यतः भारतके राष्ट्रपतिका स्थान अन्य संसदीय राष्ट्रोंके अध्यक्ष—इंग्लैण्डके राजा या रूसके राष्ट्रपतिके समान होता जा रहा है। लोकसभामें जब तक किसी एक दलका बहुमत रहता है, तब तक इसमें किसी खास हेरफेरकी संभावना नहीं है। किन्तु लोकसभाके सदस्योंका विभिन्न राजनीतिक समूहोंमें बंटवारा हो जाने पर और किसी भी एक दलका स्थिर बहुमत न होने पर योग्य एवं कुशल राष्ट्रपति देशकी राजनीतिमें सक्रिय भाग अदा कर सकता है, इस प्रकारकी व्यवस्था हमारे संविधानमें है।

१९६७में राष्ट्रपति पदके प्रत्याशी श्री कोका सुब्बारावने राष्ट्रपतिकी संवैधानिक सत्ताओंका उल्लेख करते हुए अपना स्पष्ट मत प्रकट किया था कि चुने जाने पर वे इसका उपयोग करेंगे। अगर उनकी जीत हुई होती तो यह छोटे-छोटे राजनीतिक दलोंकी जीत होती; और लोकसभामें बहुमत रखनेवाले कांग्रेस दल और उनके बीचकी टकराहटको टालना असंभव हो गया होता और इस प्रकारकी टकराहट संसदीय प्रणालीके लिये घातक सिद्ध हुई होती। यों, यह नहीं कहा जा सकता कि जो परिस्थितियां १९६७में उत्पन्न नहीं हुई, वे भविष्यमें भी उत्पन्न नहीं होंगी। अतः अब समय आ गया है कि संसदीय प्रणालीको टिकाए रखनेके लिए संविधानमें इस धाराको जोड़ दिया जाना चाहिए कि राष्ट्रपतिकी सत्ताएं आभासी हैं। यूरोपके अनेक राज्योंमें इस प्रकारकी धारा संविधानमें रखी गई है।

राष्ट्रपतिके हाथोंमें उक्त प्रकारकी सत्ता अगर न भी रहे, तो भी आसपास जो हो रहा है, उससे परिचित रहने और उससे सम्बन्धित सभी जानकारी प्राप्त करने तथा आवश्यक कागज-पत्रोंको देख जानेकी सत्ता या अधिकार तो उसका है ही। मन्त्रिमण्डलके निर्णय और उसके कारणोंको जाननेकी राष्ट्रपतिकी इच्छाको संतुष्ट करनेके लिए प्रधानमंत्री बाध्य है। इस प्रकारका आग्रह राष्ट्रपति कर सकता है कि किसी मंत्रीके द्वारा अपने विभागसे सम्बद्ध लिए गए निर्णयकी छानबीन मंत्रिमण्डलकी बैठकमें होनी चाहिए। मंत्रिमण्डलके कामोंमें सहायता करनेका दायित्व राष्ट्रपतिका है। मंत्रिमण्डलसे अगर भूल हो गई हो तो उसकी टीका करने, भूल होना संभव हो तो चेतावनी देने और चर्चास्पद बातोंमें अपनी राय प्रकट करनेका उसे अधिकार है। प्रतिभासम्पन्न राजनीतिज्ञोंके लिए अपनी सत्ता स्थापित करनेमें इससे अधिक सहूलियतोंकी जरूरत नहीं होती। यह मानना कठिन है कि पार्लियामेन्ट और विधान सभाओंमें बैठने वाले राजनीतिज्ञोंका समर्थन प्राप्त कर राष्ट्रपति-पदपर बैठने वाले व्यक्तिका देशकी राजनीतिमें कोई स्थान या प्रभाव ही न हो। पार्लियामेन्ट मंत्रिमण्डलकी सत्ताका उद्‌गम स्थान है। उससे सम्पृक्त राष्ट्रपतिकी उपेक्षा करना किसी भी प्रधानमंत्री या मंत्रिमण्डलके लिए संभव नहीं। इस प्रकारकी अविधिपूर्ण सत्ताका प्रयोग डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने बारबार किया था। उन्होंने हिन्दुओंके विवाहमें तलाक प्रथाको दाखिल करनेवाले हिन्दू कोड बिलका संवैधानिक दृष्टिसे उग्र विरोध किया था। उन्होंने यह दलील दी थी कि कामचलाऊ पार्लियामेन्टको ऐसे मूलगामी परिवर्तन करनेका कोई अधिकार नहीं है। कांग्रेसके रूढ़ि-

राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रबाबूका पंडित नेहरूके नाम पत्र

⊙ श्री राजेन्द्रबाबू द्वारा दिनांक १५-९-५१को लिखित पंडित नेहरूके नाम पत्रमें हिन्दूकोड बिल सम्बन्धी चर्चासे प्रस्तुत :

"मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि इस प्रकारका आमूल परिवर्तन करनेकी सत्ता वर्तमान संसदके पास नहीं है. . .मेरे कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वर्तमान संसद संविधान बनानेके खास काममें बनाई गई है और उसे संविधानके अनुसार नये चुनाव होने पर नयी संसदके अस्तित्वमें आने तक ही आगे काम चलानेकी जिम्मेदारी उठानी है।

. . .इस प्रकारके बिलको जनताके सामने पेश कर उसकी सम्मति प्राप्त करनेके पहले मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इतनी अधिक जल्दबाजी क्यों की जा रही है। इस बिलमें सूचित क्रान्तिकारी परिवर्तन जनताके सामने पेश नहीं किए गए हैं और न हमने इन प्रश्नोंकी गुणवत्ता पर जनताको अपना अभिमत देनेका अवकाश ही दिया है

⊙ दिनांक १८-९-५१को श्री राजेन्द्रबाबूने पंडित जवाहरलाल नेहरूके पत्रके उत्तरमें जो पत्र लिखा था, उससे उद्धृत :

. . .यह संसद एक निश्चित हेतुके लिए रची गई है और उसके द्वारा बनाए गए संविधानके अनुसार वयस्क मताधिकारके आधार पर आम चुनाव हो चुकने पर नयी संसदके आने तक रखवाली करनेवाली संसदके रूपमें उसे काम करना है।

वादी विचारधारा वाले सदस्योंको इस बातका पता चलने पर बल मिला। यदि अगर इस प्रस्तावके लिए आग्रह करेंगे तो कांग्रेस दलमें बहुत बड़ा विग्रह खड़ा हो जायगा, इसका पता चलने ही अन्ततः पं० नेहरूने इस प्रस्तावको थोड़े समयके लिए स्थगित भी कर दिया था। भूस्वामित्वकी सर्वोच्च सीमा बांधनेसे सम्बद्ध और अनाजके व्यापारके सरकारीकरणके मामलेमें डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने मंत्रि-मण्डलको व्यक्तिगत पत्र लिखकर इन नीतियोंके प्रति अपना विरोध व्यक्त किया था और इस प्रकार मंत्रिमण्डलमें और बाहर भी इन नीतियोंके विरोधियोंके हाथ मजबूत किए थे। १९६०में द्विभाषी बम्बई राज्यकी स्थापनाके बाद उन्होंने इस प्रदेशकी यात्रा की थी और महाराष्ट्र सरने इस व्यवस्थाका विरोध होनेके कारण, वह अधिक समय तक टिक नहीं सकेगा, इसकी सूचना मंत्रिमण्डलको सबसे पहले उन्होंने ही दी थी। डॉ० राधाकृष्णनने तो भारत सरकारकी प्रशासनिक कमियों और भ्रष्टाचार-का परोक्ष रूपसे बारबार मात्र उल्लेख ही नहीं किया था, अपितु १९६३के गणतंत्र दिवस पर उनके द्वारा दिया गया भाषण मंत्रिमण्डलकी स्पष्ट और सार्वजनिक निंदाके समान माना जा सकता है।

संक्षेपमें, यद्यपि भारतका राष्ट्रपति-पद सत्ताका केन्द्र स्थान नहीं है, फिर भी नितान्त सत्ता-शून्य और गौरवहीन भी नहीं है। राजनीतिके निर्माणमें और उसके अमलमें शक्तिशाली राष्ट्रपति महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

उप-राष्ट्रपति

आइए, अब उप-राष्ट्रपतिके पद पर विचार करें। उसके कामों और उसके स्थानके विषयमें अपने यहां कोई विशेष जटिलता और विवाद नहीं है।

राष्ट्रपति हमेशा अपना काम नियमित रूपसे नहीं निभा सकता। उसके बीमार होने, लम्बे समय तक प्रवास पर जाने, व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक कारणोंसे त्यागपत्र देने, उसके पदमुक्त किए जाने या उसकी मृत्यु होनेकी स्थितिमें और राष्ट्रपतिका पद कामचलाऊ या लम्बे समयके लिए खाली पड़े रहनेकी संभावनाका विचार करके संविधानमें उप-राष्ट्रपति-पदकी व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपतिका स्थान पूरी तरहसे खाली होनेकी स्थितिमें छः मासके भीतर पुनः चुनाव करना पड़ता है। परन्तु राष्ट्रपतिका स्थान तुरन्त और कामचलाऊ रूपमें भरनेके लिए संविधानमें उप-राष्ट्रपतिका पद रखा गया है।

उपराष्ट्रपतिका चुनाव पार्लियामेन्टके सदस्योंकी आनुपातिक प्रथाके अनुसार किया जाता है। १९५२ और १९५७में डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् दोनों ही बार निर्विरोध रूपमें उप-राष्ट्रपति चुने गए। १९६२में डॉ० जाकिर हुसैनको ५६८ तथा उनके प्रतिद्वंद्वी श्री सामन्तसिंहको १४ मत मिले थे। १९६७में श्री वी० वी० गिरिको ४८३ और श्री हबीबको २९३ मत मिले थे। आजतक पार्लियामेन्टके दोनों सदनोंमें कांग्रेसके बहुमतके कारण इस दलके प्रत्याशीको जीतनेमें कोई आशंका नहीं रहती थी। १९६७-के चुनावके समय लोकसभामें कांग्रेसके अल्पमतमें होने पर भी राज्यसभाकी यथावत् स्थिति रहनेके कारण कांग्रेसके प्रत्याशी श्री गिरिको बहुमत प्राप्त हो गया था।

इसके बाद राज्यसभाके आंशिक चुनावोंमें कांग्रेस दलके सदस्योंकी संख्याका कम होना संभव है। अतः १९७२के चुनावमें राजनीतिक दलोंकी आजकी स्थिति यदि यथावत् बनी रही तो भी राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पदके लिए बहुमत वाले दलके प्रत्याशीके चुने जानेमें थोड़ी-बहुत मुश्किलका सामना करना संभव है।

उप-राष्ट्रपति सामान्यतः राज्यसभाके अध्यक्षके रूपमें काम करता है और राज्यसभा द्वारा उसकी विमुक्तिके लिए पारित प्रस्तावको अगर लोकसभाका अनुमोदन प्राप्त हो जाय तो उसे पदमुक्त भी किया जा सकता है। उपराष्ट्रपतिके रूपमें उसे कोई वेतन या भत्ता नहीं दिया जाता, परन्तु राज्यसभाके अध्यक्षके रूपमें प्रति मास ५५०० रु० दिए जाते हैं। राष्ट्रपति प्रवास पर हो अथवा बीमार हो तो उपराष्ट्रपति जितने समय तक उसका पद सम्हालता है, उतने समय तक वह राष्ट्रपतिको दिए जाने वाले वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाओंके पानेका अधिकारी होता है।

भारतके उपराष्ट्रपतिका पद और उसके कार्य अमेरिकाके उपराष्ट्रपतिके स्थानके साथ बहुत साम्य रखते हैं। अतः जिस प्रकार अमेरिकामें कहा जाता है, उसी प्रकार हम भी अपने उप-राष्ट्रपतिको fossil——कब्रका मुर्दा—कह सकते हैं। अमेरिकी उपराष्ट्रपति टामस मार्शलका यह कथन कि "मैं तो लकवेका रोगी जैसा हूँ। मेरे आसपास जो कुछ घटित होता है, उसे मैं जानता तो हूँ; पर स्वयं कुछ नहीं कर सकता।"——भारतके उपराष्ट्रपति पर भी लागू किया जा सकता है। पर इन दोनोंके बीचमें जो एक महत्वपूर्ण अन्तर है, उसे भी ध्यानमें रखना चाहिए। मरण, रुग्णावस्था, त्यागपत्र अथवा पदमुक्ति अथवा ऐसे ही किसी कारणसे जब राष्ट्रपतिका पद खाली होता है; तब अमेरिकाका उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति बन जाता है और भूतपूर्व राष्ट्रपतिके सत्रकी समाप्ति तक वह राष्ट्रपतिकी सत्ताओंका उपभोग कर सकता है। शून्यमेंसे वह अचानक शासक बन जाता है, क्योंकि अमेरिकाके राष्ट्रपतिपदके लिए मध्यावधि चुनावकी व्यवस्था नहीं है। हमारे यहाँ उपराष्ट्रपति

मात्र कामचलाऊ समयके लिए ही राष्ट्रपतिका काम सम्हालता है। राष्ट्रपतिका स्थान हमेशाके लिए खाली होने पर नए सिरेसे चुनाव करना पड़ता है। राष्ट्रपतिकी कुर्सी खाली करानेके लिए अमेरिकाके दो उपराष्ट्रपतियों पर षड्यंत्र करनेका आरोप लगाया गया था। हमारे यहाँ इस प्रकारके षड्यंत्रके लिए कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि उपराष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति ही रहेगा।

प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल

सत्ताके वास्तविक केन्द्ररूप मंत्रिमण्डलके विषयमें पहली नजर डालते ही आश्चर्य होता है कि भारतके संविधानमें उसका मात्र सरसरी तौर पर उल्लेख किया गया है। राष्ट्रपतिको अपना दायित्व निभानेमें सलाह देने और सहायता करनेके लिए मंत्रिमण्डल रखा गया है; राष्ट्रपति प्रधानमंत्री-को मनोनीत करेगा और उसकी सलाहके अनुसार अन्य मंत्रियोंकी नियुक्ति करेगा, उनके बीच कामका बँटवारा करेगा और ये मंत्री राष्ट्रपतिकी जबतक इच्छा होगी, तबतक कुर्सी पर बने रहेंगे; परन्तु मंत्रिमण्डल सामूहिक और व्यक्तिगत रूपसे राष्ट्रपतिके प्रति उत्तरदायी न होकर लोकसभाके प्रति उत्तरदायी होगा। इसके अलावा संविधानमें मंत्रिमण्डलके विषयमें कोई उल्लेख नहीं है और उसकी सत्ता, उसके दायित्वों तथा महत्वका थोड़ा-सा भी दर्शन संविधानमें नहीं होता। वस्तुतः यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। यह तो संसदीय पद्धतिका विशिष्ट लक्षण है; क्योंकि जितने अनुपातमें मंत्रिमण्डलकी सत्ताएं होंगी, उतने ही अनुपातमें संसदकी सत्ताएँ सीमित हो जायेंगी। युरोपीय देशोंके बहुतसे संसदीय संविधानोंमें यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपतिके आदेश पर प्रधानमंत्रीके हस्ताक्षर होने जरूरी है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रपति इस प्रकार स्वेच्छासे अपनी सत्ताका उपयोग नहीं कर सकता। अगर राष्ट्रपति और पार्लियामेन्टके बीचके संघर्षका पूर्ण निराकरण करना हो तो अपने यहाँ भी इसी प्रकारकी संविधान सम्बन्धी व्यवस्था किए बिना काम नहीं चल सकता।

मंत्रिमण्डलकी रचना, स्वरूप और उसके प्रभावका दारोमदार प्रधानमंत्री पर निर्भर करता है। प्रधानमंत्रीका चयन करनेका एकमात्र अधिकार राष्ट्रपतिका है, परन्तु लोकसभामें अबतक कांग्रेसका बहुमत रहनेके कारण प्रधानमंत्रीका चयन करने में अपने व्यक्तिगत सत्ताओंके उपयोग करनेका अवसर राष्ट्रपतिको अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। कांग्रेस दल अपने नेताके रूपमें जिसे पसंद करे उसे ही प्रधानमंत्री बननेका निमंत्रण दिया जाता रहा है। श्री नन्दाजीने दो बार कामचलाऊ रूपमें प्रधानमंत्रीका पद सम्हाला था। इसे अगर छोड़ दिया जाय तो पिछले दो दशकोंमें केन्द्र सरकारमें नेहरू, शास्त्री और इन्दिरा गांधी—इन तीन नेताओंने प्रधानमंत्री-पदको सुशोभित किया है। इन तीनों नेताओंके चयनके समय और अन्तिम नेताके मनोनयनके समय तो दो बार कांग्रेसके वरिष्ठ नेताओंमें अच्छी-खासी खींचतान रही। जब भारतको आजादी मिली उस समय कांग्रेसका जो भी अध्यक्ष हो, उसे प्रधानमंत्री पदके लिए आमंत्रण मिलना निश्चित था; अतः कांग्रेस अध्यक्ष पदके लिए पंडित नेहरू और सरदार पटेल दोनों उम्मीदवार थे। पंडितजीकी अपेक्षा सरदार पटेल उम्र में बड़े थे, उनकी प्रशासनिक कुशलता परिपक्व थी और कांग्रेस दलके नेताओंमें उनको समर्थन देनेवालोंकी संख्या काफी बड़ी थी; फिर भी गांधीजीने इस पदके लिए नेहरूजीका चयन किया

राज्योंका प्रबन्ध और रखवाली करनेवाली केन्द्र सरकारके सदस्य : १५ अगस्त, १९४७

नाम		विभाग
पंडित जवाहरलाल नेहरू	:	प्रधानमंत्री, विदेश नीति, कॉमनवेल्थ-संबंध तथा वैज्ञानिक शोध
सरदार वल्लभभाई पटेल	:	गृह-विभाग, देसीराज्य, सूचना और आकाशवाणी
मौलाना अबुल कलाम आज़ाद	:	शिक्षा
डॉ० राजेन्द्रप्रसाद	:	कृषि और खाद्य
श्री जॉन मथाई	:	रेलवे और यातायात
सरदार बलदेवसिंह	:	सुरक्षा
श्री जगजीवनराम	:	श्रम
श्री सी० एच० भाभा	:	व्यापार
श्री रफी अहमद किदवई	:	संदेश-व्यवहार
डॉ० राजकुमारी अमृतकौर	:	स्वास्थ्य
डॉ० बी० आर० अम्बेदकर	:	विधि
श्री आर० के० षण्मुखम् चेट्टी	:	वित्त
डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी	:	उद्योग और रसद
श्री एन० वी० गाडगिल	:	निर्माण, खनिज और विद्युत

और सरदार पटेलसे हट जानेकी विनती की। गांधीजीके इस चयनके कारणोंकी घोषणा तो नहीं हुई है, फिर भी तत्सम्बन्धी बहुतसी अटकलें लगाई जाती रही हैं। पंडित नेहरूका व्यक्तित्व और आम जनता पर उनके अधिकारको इसके कारणोंमें गिनाया जाता रहा है। यह भी माना जाता है कि उस समय समाजवादी युवकों तथा उद्दामवादियोंके साथ सरदार पटेलका मनमुटाव था और यह लगता था कि अगर ये लोग एक साथ कांग्रेससे निकल जायेंगे और अपने साथ पं० नेहरूको भी लेते जायेंगे तो कांग्रेसमें भयंकर विग्रह उपस्थित हो जायगा। इसके विपरीत, पं० नेहरूके चयनसे यह धारणा रखी गई थी कि ये बल रुके रहेंगे। इससे भी अधिक स्वीकार्य कारण तो यह लगता है कि १९४७में एक ऐसे आदमीकी जरूरत थी जो अल्पसंख्यक—मुसलमानोंके मनमें विश्वास पैदा कर सके। सरदारने अल्पसंख्यकोंका इस प्रकार विश्वास प्राप्त नहीं किया था। अत: गांधीजीके प्रभावके कारण कांग्रेस दलके नेताओंमें अल्पसंख्यकोंका समर्थन रखनेवाले व्यक्तिका नेताके रूपमें चयन किया गया। पं० नेहरूके चरित्र-लेखक श्री माइकेल ब्रेशरने 'नेहरू : ए पालिटिकल बायोग्राफी' में इस बातका उल्लेख किया है कि यह चयन सरदार पटेलके मनमें अन्त तक खटकता रहा। यह बात दूसरी है कि पार्लियामेन्ट और मंत्रिमण्डलमें भी सरदारका वर्चस्व अबाधित रहा था। कांग्रेस समाजवादी वर्गको कांग्रेसमेंसे निकल जाना पड़ा था, और उद्दामवादी राजनीति और योजनाकी दिशामें कोई कदम उठाया नहीं जा सका। १९५०के कांग्रेसके नासिक अधिवेशनमें पं० नेहरू और श्री रफी अहमद किदवईके बहुत प्रयत्नोंके बावजूद भी आचार्य कृपलानीको पराजित कर सरदार पटेलके समर्थनसे श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन कांग्रेसके अध्यक्षके रूपमें चुन लिए गए। यह सरदार पटेलके प्रभावका

अमिट प्रमाण है। 'इण्डिया विन्स फ्रीडम'में मौलाना आजादने सरदारके विरोधमें जो कटु और कहीं-कहीं अशोभनीय टीकाएँ की है, उनसे परोक्ष रूपमें उनके वर्चस्वकी साक्षी ही मिलती है।

मन्त्रिमण्डलकी रचना होनेके बाद सरदार और पण्डितजीके बीचमें मतभेद बढ़ते ही गए और यह कहा जाता है कि छोटे-मोटे अनेक प्रसंगों पर उनमें घर्षण हुआ करता था। यह भी संभव है कि दोनोंके क्षुद्र अनुयायियोंने व्यक्तिगत स्वार्थ पूरे करनेके लिए इन बातोंको फैलानेमें अति-शयोक्तिसे काम लिया हो, पर स्वयं गांधीजीने भी इन अफवाहोंका सबके सामने उल्लेख किया था। गांधीजीने इन दोनो नेताओंको साथ रहनेकी सलाह अपनी अन्तिम सांस रहने तक दी थी। गांधीजीकी हत्याके बाद इन दोनों नेताओंके बीच यह गाँठ बहुत अंशोंमें अधिक मजबूत होती गई। सरदार और पण्डितजी दोनों महानुभाव थे, अतः इन मतभेदोंको भली प्रकार पचा गए।

कांग्रेस संसदीय दलके नेता तथा प्रधानमंत्रीके रूपमें पं० नेहरू १८ वर्षो तक काम करते रहे। पं० नेहरू १९५४के बाद बारबार यह घोषणा करने लगे थे कि उन्हें पढ़ने या विचार करनेका समय नहीं मिलता, स्वयं रूढ़ियोंमें फँसते जानेका अनुभव कर रहे है तथा देश और उसकी परिस्थि-तिको केवल सामान्य नागरिककी दृष्टिसे विचार करना चाहते है। दो-तीन बार तो उन्होंने अस्थाई निवृत्ति लेनेका विचार भी प्रकट किया और मौलाना आजादके अवसानके बाद तो उन्होंने अपनी इच्छाको लिखित रूपमें राष्ट्रपतिके पास भेजा भी था। परन्तु नेहरूके साथी उन्हें क्षणभरके लिए भी छोड़नेको तैयार नही थे। १९५८में जब इस प्रकारकी चर्चा चल रही थी, तब श्री मिश्रने पं० नेहरूको लक्ष्यकर कहा था, "आपको आजीवन सख्त मजदूरीकी सजा दी गई है और मृत्यु पर्यन्त तक आप उसमेंसे छूट नही सकते।"

जब उम्र और कामके बोझके बढ़नेके कारण पंडित नेहरूका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा तब उनके उत्तराधिकारीको लेकर अनेक प्रकारकी अटकलें लगाई जाने लगीं। पत्रकारों विशेषतः विदेशी पत्रकारोंने इस प्रश्नको इस रूपमें पेश किया मानो वह देशका प्राणप्रश्न हो। यह अनुचित अपेक्षा भी बारबार व्यक्त की गई कि प० नेहरू स्वय अपने उत्तराधिकारीका मनोनयन कर दें। प्रजातन्त्रके नेताओंको अपने उत्तराधिकारी पसद करनेका कोई अधिकार नही होता, यह पण्डित नेहरू पूर्णतः समझते थे। इसीलिए नेहरू बारबार कहा करते थे, "भारतकी जनता मेरी उत्तरा-धिकारिणी है।" ."भारतके लोग नए नेताको आसानीसे ढूंढ़ लेंगे।" "भारतकी जनतामें अपने नेताको ढूंढ़ लेनेकी योग्यता है।"

इतना समझनेकी चाणक्य दृष्टिका प० नेहरूमें अभाव नही था कि कोई भी स्वाधीन अपने उत्तराधिकारीका अन्तिम चयन घोषित नही करता; क्योंकि लोग उदीयमान सूर्यको ही पूजते हैं और इस प्रकारकी घोषणा करनेके बाद अपना खुदका ही प्रभाव घटने लगता है। इस कारण अनेक नेता अलग-अलग रूपमें आशा-तन्तुओंको टटोल रहे थे। यद्यपि सरदार पटेलकी मृत्युके बाद उपप्रधानमंत्रीका पद समाप्त कर दिया गया था और मौलाना आजाद और पण्डित पन्तकी मृत्युके बाद पार्लियामेण्टमें कांग्रेसके उपनेता पदका महत्त्व भी नष्ट कर दिया गया था, फिर भी दूसरी तरफ पण्डितजीने कांग्रेस पक्षके सभी वर्गोंके प्रति भावना व्यक्त कर और सभी अग्रगण्य नेताओंको

अपने मंत्रिमण्डलमें प्रसंगानुकूल समावेश कर दलमें संतुलन बनाए रखनेवाले तत्त्वके रूपमें सभीका समर्थन प्राप्त किया था। कामराज योजनाको अपनी इच्छाके अनुसार अमलमें लानेका अवसर मिलते ही प्रधानमंत्री पदके अगले प्रत्याशियों—मोरारजी देसाई, लालवहादुर शास्त्री, जगजीवन-राम तथा पाटिलको एक साथ ही अलग कर उत्तराधिकारीके प्रश्नसे पं० नेहरूने मानों एक-वारगी ही हाथ धो डाले। फिर भी श्री मोरारजी देसाईके प्रति उनकी नाराजगी गुप्त नहीं रह पाई थी और श्री शास्त्रीको मुक्त करनेकी उनकी अनिच्छा स्पष्ट दिखाई देती थी। श्री वेंकटरामनने अपने 'केविनेट गवर्नमेन्ट इन इंडिया' नामक पुस्तकमें इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्री माइकेल व्रेशरने दिल्लीमें फैल रहीं इन अफवाहोंका भी उल्लेख किया है कि पं० नेहरू इन सभी नेताओंको एक साथ अलग कर श्रीमती इन्दिरा गांधीके लिए मार्ग उन्मुक्त कर देना चाहते थे। परन्तु इस कथनकी सत्यता सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता और वास्तवमें ऐसा हुआ दिखाई भी नहीं देता। वल्कि हुआ यह कि जब लकवेने उन्हें शक्तिहीन कर दिया, तव अपने सहायकके रूपमें श्री शास्त्रीका चयन कर पं० नेहरूने अपनी व्यक्तिगत इच्छाका थोड़ा-वहुत परिचय दे दिया था।

पं० नेहरूके निधनके वाद नए नेताका चुनाव सर्वसम्मतिसे करनेकी वात सभी नेताओंने तुरन्त स्वीकार कर ली। कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराजको यह ढूंढ़नेका काम सौंप दिया गया कि सर्व-सम्मति किस नेताके पक्षमें है। केवल संसदीय कांग्रेसी सदस्यों तक ही क्षेत्रसीमा न स्वीकार कर श्री कामराजने राज्योंके नेताओंसे भी वातचीत की और अन्ततः प्रधानमंत्री-पदकी इच्छा रखनेवाले तथा कांग्रेसी संसद-सदस्योंका वहुमत रखनेवाले श्री मोरारजी देसाईको एक तरफ निकाल दिया गया और श्री लालवहादुर शास्त्रीको सर्वसम्मतिसे नेता चुन लिया गया। अनेक नेताओंमें यह धारणा उत्पन्न हुई कि श्री कामराज, श्री संजीव रेड्डी, श्री निजलिंगप्पा, श्री अतुल्य घोप तथा श्री पाटिलसे वने सिंडिकेटके नामसे परिचित समूहने इस चुनावमें महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया था। परन्तु अभी तक इस मामलेमें परोक्ष या प्रत्यक्ष कोई भी प्रमाण सामने नहीं आया है। साथ ही कुछ वातें तो स्पष्ट और सीधे रूपमें इसके विरुद्ध जाती हैं। श्री मोरारजीका इस समूहकी शक्ति और अस्तित्वसे सर्वथा अपरिचित होना संभव नहीं है। यह आश्चर्यजनक ही माना जायगा कि अपने विरुद्ध तैयार हुई सिंडिकेटके मुख्य सूत्रधार श्री कामराजके हाथोंमें सर्वसम्मत नेता ढूंढ़नेका काम सौंपनेके लिए श्री मोरारजी स्वीकृति दे दें। सिंडिकेटकी शक्तिके विषयमें दोनों प्रत्याशियोंने एक सा ही अभिप्राय दिया है। श्री माइकेल व्रेशरके साथ हुई भेंटमें श्री शास्त्रीजीने विवेकपूर्ण दृढ़ताके साथ वड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहा था: "अगर सिंडिकेटके नेताओंकी मदद न भी मिलती तो भी स्पर्धामें मैं चुन लिया गया होता, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है।" सर्वसम्मत नेता ढूंढ़ लेनेकी पद्धतिका जिस रूपमें उपयोग किया गया, उसे 'कपट' कहने पर भी श्री देसाईकी यह मान्यता थी कि अगर श्री शास्त्रीजीने सिंडिकेटका मान वढ़ाया न होता तो इन नेताओंसे कुछ भी न हुआ होता। सिंडिकेटके अस्तित्वके विषयमें अथवा उसके देसाई-विरोधी दृष्टिकोणके विषयमें कोई शंका नहीं है; परन्तु उसका प्रभाव कितनी मात्रामें निर्णायक रहा है, यह वात चर्चास्पद ही मानी जायगी।

नए नेताके चयन करनेकी पद्धतिसे सम्बद्ध मतभेद होने पर भी चुने हुए व्यक्तिकी योग्यता आदिके विषयमें किसीके मनमें शंका प्रकट नहीं हुई। श्री लालवहादुर शास्त्री और श्री मोरारजी देसाई

दोनों ही नये हुए नेता थे और राज्यप्रबन्ध का पर्याप्त अनुभव रखते थे। श्री शास्त्रीजी कांग्रेसमें बहुत पहले सम्मिलित हुए थे और केन्द्र सरकारमें भी श्री मोरारजीसे पहले सम्मिलित हुए थे। वैसे कांग्रेस संस्थाके कामोंमें शास्त्रीजी अधिक रस और अनुभव रखते थे। समाधानवृत्ति और अपने विनम्र व्यवहारसे विरोधियोंको जीत लेनेवाला व्यक्तित्व रखनेवाले श्री शास्त्रीजीमें आत्मबल या दृढ़ताकी कमी नहीं थी, जिसका परिचय उनके सभी साथियोंको था। उनकी निष्ठा और सेवाभावना प्रसिद्ध थी और उनकी निर्धनता उनकी प्रामाणिकताका अचूक और हृदयस्पर्शी प्रमाण थी।

श्री शास्त्रीका असामयिक निधन होते ही दलके नेतृत्वका सवाल फिर मुखर हो उठा। श्री मोरारजी देसाईने अपनी प्रत्याशिता स्पष्ट रूपसे और सबसे पहले घोषित की। उम्र, अनुभव और प्रशासनिक कुशलतामें श्री मोरारजी देसाईके समान प्रतिद्वंद्वी ढूंढनेका काम उनके विरोधियोंके लिए भी मुश्किल हो गया था। सर्वानुमति स्थापित करनेके लिए कांग्रेसप्रमुखको सत्ता सौंप दी गई। इन कामसे अगर उसे असफलता मिले तो चुनाव द्वारा नए नेता को पसंद करनेकी बात तय हुई और अस्थायी प्रधान-मंत्री श्री नन्दाको वर्ष भरके लिए चालू रखकर १९६७के चुनावके बाद नेताकी अन्तिम पसन्दगी करनेके मतप्रवाहको श्री पाटिलने सार्वजनिक रूपसे समर्थन दिया। कांग्रेस कार्यकारिणीके प्रस्तावका शाब्दिक नहीं तो भावात्मक अर्थ संग कर श्री कामराजने राज्यके मुख्यमंत्रियोंके साथ मशवरा कर श्रीमती गांधीको मनोनीत किया। कितने ही राज्योंके मुख्यमंत्रियोंने अपने-अपने प्रदेशोंकी ओरसे संसदकी संसद सदस्योंकी बैठकें बुलाई। केरलके गवर्नर पद पर आसीन श्री अजितप्रसाद जैनने अपनी पदकी तटस्थताको किनारे रख, श्रीमती इन्दिरा गांधीका प्रचार करना शुरू कर दिया। श्री जगजीवनराम अन्त तक अनिश्चित स्थितिमें रहे और आखिरमें श्रीमती इन्दिरा गांधीके पक्षमें आ बैठे। लेकिन श्री मोरारजी देसाईने चुनावसे हटना स्वीकार न किया और कांग्रेस दलके नेताका चुनाव करनेके लिए दो दशकोंमें पहली बार ही चुनाव करना पड़ा और श्रीमती इन्दिरा गांधी ३५९ मतोंसे निर्वाचित हुई और श्री मोरारजी देसाईको मात्र १८३ मत प्राप्त हुए। इस चुनावसे सम्बद्ध जिन विवरणों मन्तव्यों और अफवाहोंका संग्रह श्री माइकेल ब्रेशरने किया है, उनके आधार पर नेताओंकी असली पसंद, मनोनयनके लिए सिद्धान्तोंकी अनिश्चितता और सौदेबाज़ीको ही जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

चौथे आम चुनावके बाद नेताके चुनावका प्रश्न पुनः उपस्थित हुआ था। सामान्यतः एक बार चुने हुए नेताको विशेष कारणोंके अभावमें हटाया नहीं जा सकता था; फिर भी श्री देसाई अपनी प्रत्याशिता उपस्थित करेंगे, इस घोषणाने खलबली मचा दी थी। श्रीमती इन्दिरा गांधीके कथित समर्थक नेताओंमेंसे बहुतोंने परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूपसे चुनावोंमें चोट खाई थी और कांग्रेस दलको बहुत नुकसान सहना पड़ा था। प्रधानमंत्री पदका चुनाव न करना पड़े, इस आशयसे सभी नेताओंने एकदिल होकर प्रयत्न किया। अन्ततः श्री देसाईको उप-प्रधानमंत्री पद तथा महत्त्वपूर्ण विभाग देनेका वचन देकर स्पर्धाको टाल दिया गया।

पं० नेहरू और श्री शास्त्रीका मनोनयन मुख्यतः उनके व्यक्तित्वके आधार पर किया गया था। श्रीमती गांधीके मनोनयनमें उनको पसंद करनेकी अपेक्षा श्री मोरारजीको टालनेकी बात अधिक प्रबल पर पड़ी। परन्तु श्री देसाई अपने अनुभव, प्रशासनिक कुशलता और दृढ़ताके अनुपातमें दलके वरिष्ठ नेताओंमें लोकप्रिय नहीं हो सके। आर्थिक सुधारोंके प्रति उनका रूढ़िवादी दृष्टिकोण इसके लिए

जिम्मेदार मान लिया गया है। किन्तु कांग्रेसके वरिष्ठ नेता वहुत अधिक उद्दामवादी नहीं कहे जा सकते। रूक्षता, स्पष्टवादिता, प्रामाणिकताका अत्यन्त आग्रह और प्रशासनिक दृढ़ता जैसे उनके गुण ही उनके लिए इस स्पर्धामें, संभव है, बाधा वन गए हों।

श्रीमती गांधी दूसरे नेताओंके समर्थनसे चुनी हुई होनेके कारण आरम्भमें उन पर उन नेताओंका प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देता था और अधिक अनुभवी नेता उनकी आज्ञाकी अवज्ञा करते हुए दिखाई देते थे। दल तथा जनतामें लोकप्रियता बनानेके लिए और अपनी शक्तियोंका परिचय देनेके लिए उनके पास अभी अच्छा-खासा लम्वा समय है और पद पर आसीन होनेके कारण व्यक्तित्वका निर्माण होनेके अनेक उदाहरण अपने देश तथा दूसरे देशोंकी राजनीतिमें मिल जाते हैं। जैसाकि ऊपर वताया जा चुका है, दलका नेता निर्विरोध चुना जाय, इस प्रकारकी प्रणालीके विरुद्ध दो वार चुनौती दिए जानेके कारण नई पार्लियामेन्टमें नेताके मनोनयनका प्रश्न नए सिरेसे उपस्थित करनेकी परम्परा वन गई है। कांग्रेस दलका सुदृढ़ अनुशासन और स्पष्ट वहुमत जितने अनुपातमें कम होते जायेंगे, उतनी ही मात्रामें दलको नष्ट करनेवाली यह संभावना, इसमें-संदेह नहीं, विशेष रूपमें वलवान होती जायगी।

अन्य मंत्रियोंको चुनने और उनके वीच कामोंका वँटवारा करनेका सम्पूर्ण अधिकार प्रधान-मंत्रीका होता है। मंत्रियोंकी संख्या, रचना और कार्यवाहीके सम्वन्धमें संविधानमें किसी प्रकारका कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु पिछले वीस वर्षोंमें मंत्रियोंकी संख्यामें सतत वृद्धि होती रही है। समान स्तरके चौदह मंत्रियोंसे आरम्भ हुए मंत्रिमण्डलमें आज अलग-अलग तीन स्तरोंके पचास-साठ मंत्रियोंका समावेश है (१९६७के चुनावोंके वाद रचित श्रीमती गांधीके मंत्रिमण्डलमें ५५ मंत्री थे)। संख्याकी वात अगर जाने भी दें तो भी प्रजातंत्रकी दृष्टिसे एक गंभीर वात तो यह है कि सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल लोकसभाके प्रति सामूहिक रूपसे जिम्मेदार होने पर भी सभी मंत्रियोंकी वैठक कभी वुलाई नहीं जाती और सभी मंत्री साथ वैठकर अथवा परस्पर चर्चा कर कोई निर्णय नहीं लेते। मंत्रिमण्डलकी ओरसे और उनके नाम पर निर्णय लेनेकी सत्ता मंत्रिमण्डलमें उच्च स्तरके पंद्रह-वीस अग्रगण्य नेताओंसे निर्मित केविनेटको प्राप्त है। उसके द्वारा किए गए निर्णय समस्त मंत्रिमण्डलके निर्णय माने जाते हैं और अपने व्यक्तिगत मतमतान्तरोंको एक ओर रख कर सभी मंत्रियोंको उन्हें स्वीकार करना पड़ता है और सार्वजनिक रूपमें उन्हें समर्थन भी देना पड़ता है।

मंत्रिमण्डलमें प्रधानमंत्री स्वाभाविक रूपमें सर्वोच्च है। अन्य मंत्रियोंका महत्त्व निर्धारित करनेके लिए उनके क्रमांक निश्चित कर दिए जाते हैं। इन स्थानोंका आधार विभागके महत्त्वानुसार नहीं होता। दूसरे नम्वर पर आसीन सरदार पटेल गृह-विभाग सम्हालते थे। उनके अवसानके वाद शिक्षामंत्री मौलाना आज़ादको यह स्थान मिला। गृहमंत्री पंतके वाद दूसरे नम्वर पर स्थित श्री मोरारजी देसाई वित्तमंत्रालय सम्हालते थे। परन्तु वित्तमंत्री शचिन चौधरीका नवां नम्वर था। श्री लालवहादुर शास्त्री जव गृहविभाग सम्हालते थे, तव उनका पाँचवाँ नम्वर था। श्रीमती इन्दिरा गांधीके पहले श्रम विभागके मंत्री श्री जगजीवनरामका तीसरा नम्वर था; परन्तु १९६७के चुनावके वादके मंत्रिमण्डलमें उनका स्थान पाँचवाँ है। इस स्थानांकका आधार मंत्रिपदके भाग-काल पर भी निर्भर नहीं करता।

पंडित पंत और श्री मोरारजी देसाई जब मंत्रिमण्डलमें लिए गए, उस समय श्री जगजीवनराम और श्री अशोक सेन जैसे पुराने सदस्योंकी अपेक्षा उनका स्थानांक ऊंचा रखा गया था। विभागका महत्त्व, व्यक्तिकी प्रतिष्ठा और अन्य नेताओंके स्थान इत्यादिकी अनेकविध गणनाके अनुसार प्रधानमंत्री यह क्रमांक निश्चित करता है। फिर भी श्री लालवहादुर शास्त्रीके मंत्रिमण्डलमें सम्मिलित होनेके लिए श्री मोरारजी देसाईने दूसरे नम्बरका आग्रह रखा था और जैसाकि सुविदित है, उस स्थानके न मिलने पर वे अलग ही रहे थे। विशेष उल्लेखनीय वात तो यह है कि क्रमांक विषयक झगड़ेको मिटानेके लिए श्रीमती इन्दिरा गांधीने मंत्रियोंके नाम अकारादि क्रमसे रखनेके निर्णयकी घोषणा कर उस पर अमल भी किया, किन्तु वादमें इस मामलेमें उन्हें भी झुकना पड़ा और क्रमांक पद्धति पुनः शुरू करनी पड़ी है।

विभाग-विभाजनकी अपने यहां निर्धारित एक प्रणाली अतिशय हानिकारक है। समस्त मंत्रिमण्डलका काम सम्हालनेवाले, उसका संकलन करनेवाले और उसकी देखरेख रखनेवाले प्रधान-मंत्रीको किसी भी महत्त्वपूर्ण विभागके परम्परागत कामको सम्हालनेका वोझ नहीं उठाना चाहिए। विदेश-विभाग जैसे महत्त्वपूर्ण और एकाग्रताकी अपेक्षा रखनेवाले विभागको पं० नेहरूने स्वयं सम्हालकर अपने वोझको इतना अधिक वढ़ा लिया कि 'वॉयस ऑफ अमेरिका'के साथ अनुबन्धके समय और हंगरीके विद्रोहके समय, जैसाकि स्पष्ट भी हुआ, महत्त्वपूर्ण मामलों पर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सका था। इस मामलेमें श्री शास्त्रीजीकी की गई व्यवस्था अधिक उचित और उपयोगी थी। श्रीमती गांधीने आरम्भमें तो इसका अनुकरण किया, पर श्री चागला द्वारा त्यागपत्र देनेके वाद उन्होंने पुनः नेहरु-पद्धतिको अपना लिया, जो उचित नहीं थी। प्रशासनिक कार्योंमें नष्ट होनेवाला प्रधानमंत्रीका समय राजनीतिके निर्माणमें लगना चाहिए।

विभागोंको सम्हालने वाले मंत्रियोंके अतिरिक्त केविनेटमें कई वार अनुभवी और तेजस्वी व्यक्तियोंको विना विभागके मंत्रीके रूपमें रख लिया जाता है। श्री राजगोपालाचारी, श्री गोपालस्वामी आयंगर, श्री कृष्ण मेनन, पं० पंत और श्री कृष्णमाचारी आदि लोगोंने थोड़े-थोड़े समयके लिए इस रूपमें काम किया था। आम प्रशासनिक झंझटोंसे मुक्त रहकर राजनीतिके विशाल फलकके सम्वन्धमें विचार-विमर्श करनेवाले नेताओंको केविनेटमें रखनेकी इस प्रणालीका जितना लाभ हमें लेना चाहिए था, वह न ले सके। सम्प्रति यह भासित होता है कि हमारे यहां जिस किसी विना विभागके मंत्रीकी नियुक्ति होती है, वह उसके ज्ञान या अनुभवका लाभ लेनेके लिए नहीं, अपितु केविनेटमें मात्र प्रवेशके लिए, नम्बर लगानेके हेतुसे होती है। ऐसे नेताको शीघ्रातिशीघ्र कोई विभाग दे दिया जाता है और वह स्वयं भी विभागका मंत्री वननेके लिए इतना अधिक आतुर होता है कि कभी-कभी तो उसके लिए विभागकी रचना करनी पड़ती है। श्री कृष्णमाचारी दूसरी वार जव मंत्रिमण्डलमें शामिल हुए तो उन्हें आर्थिक और संरक्षण-कार्यके संयोजनका काम सौंपा गया था। उस समय उन्होंने स्वयं इस वातको स्वीकार किया था कि उनको सौंपे जानेवाले कामका कोई विशेष ज्ञान उन्हें नहीं था। समग्रतः सरकारी कार्यालयोंमें प्रशासनिक कामोंकी मात्रा इतनी अधिक होती है और काम इतने

महत्त्वपूर्ण होते हैं कि काम या कार्यपद्धतिकी उचितानुचितता पर विचार करनेकी या उसका अध्ययन करनेका अवकाश भी मंत्रियोंको शायद ही मिलता हो। पुराने समयसे चली आ रहीं अनेक अनुचित रीति-रस्में, अनेक समितियाँ और विभाग जिस रूपमें प्रशासनिक तंत्रमें आज भी मौजूद हैं, उसका यही मुख्य कारण है।

केविनेट स्तरके मंत्रियोंके अतिरिक्त मंत्रिमण्डलमें वारहसे पंद्रह तक राज्यमंत्री रखे जाते हैं। इनमेंसे कितने ही मंत्री, अपेक्षाकृत कम महत्त्वके विभाग सम्हालते हैं, पर अधिकांशतः राज्य-मंत्रियोंको अधिक महत्त्वके विभाग सौंपे जाते हैं या अधिक प्रवृत्तिशील मंत्रालयमें किसी निश्चित विभागकी जिम्मेदारी सौंपी जाती है। इस प्रकारके एक विभागमें दो राज्यमंत्री भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मंत्रिमण्डलमें १५-२० उपमंत्रियोंका समावेश भी किया जाता है। इस व्यवस्थाका मूल हेतु यह है कि युवक और महत्वाकांक्षी नेता अधिक अनुभवी और वयोवृद्ध केविनेट-मंत्रियोंको सहायतारूप सिद्ध हों और उनके अधीन रह कर वे प्रशिक्षित भी हों। यह हेतु पूर्ण रूपसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कितनी ही वार अतिशय वड़ी उम्रवाले नेता भी उपमंत्रियोंके पद पर नियुक्त किये जाते हैं।

इतना ही नहीं कि मंत्रियोंको सौंपे गए विभागोंमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जाता है, वल्कि विभागोंकी पुनर्रचना करनेकी प्रक्रिया पिछले दो दशकोंसे सतत चली आ रही है; जो बुद्धिगम्य स्तर पर हुई प्रतीत नहीं होती। साथ ही, यह कहना भी मुश्किल है कि विभागोंमें किस स्तर पर परिवर्तन होता है। "ये परिवर्तन बुद्धिपरक सुदृढ़ विचारणाके परिणामस्वरूप नहीं किए जाते हैं"—का उल्लेख करते हुए श्री चन्दाने 'इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेशन' नामक ग्रंथमें कहा है कि "पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्तियोंको ध्यानमें रखकर किए जाने वाले परिवर्तनोंकी प्रशासनिक तंत्रकी कार्यक्षमता अथवा स्थिरता पर किस प्रकारका प्रभाव पड़ेगा; इसका ख्याल नहीं रखा जाता।" इस विपयके विस्तृत उदाहरण देकर उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि वारवार हो रहे इन परिवर्तनोंके कारण इस मामलेमें अस्पष्टता उत्पन्न हो जाती है कि कौनसा काम किसके सत्ता-क्षेत्रमें है; परिणामतः कामोंमें विलम्व और गड़वड़ होती है और अलग-अलग विभागोंके वीच चल रही खींचतानको प्रोत्साहन मिलता है। कई वार इस प्रकारके परिवर्तन यांत्रिक उछल-कूद मात्र होते हैं। १९५१में खाद्य और कृषि मंत्रालयोंको एक कर दिया गया, १९५६में उन्हें पुनः अलग कर दिया गया; १९५७में फिर जोड़ दिया गया। १९५६में वाणिज्य और उद्योगोंके विभागको अलग कर उसे वाणिज्य और उपभोगके उद्योग और भारी उद्योग—इस प्रकारके दो विभाग वना दिए गए और पंडित पंतको गृहमंत्रालयके साथ भारी उद्योगोंका मंत्रालय सौंपा गया। श्री मोरारजी देसाईके मंत्रिमण्डलमें सम्मिलित होनेसे दोनों विभाग उन्हें सौंप दिए गए। १९५७में दोनोंको जोड़कर पुनः एक विभाग वना दिया गया। निर्माण कार्य, विधान कार्य, संभरण विभाग तथा इस्पात, खनिज और पेट्रोलियम जैसे विभागोंमें इस प्रकारके अनेक परिवर्तन होते ही रहे हैं। उसके पीछे किसी स्पष्ट या दृढ़ विचारसरणीका वोध नहीं होता।

इस प्रकार बेढंगे तरीकेसे किए गए परिवर्तनोंके कारण विभागोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रजाजनोंको पर्याप्त कष्ट सहन करना पड़ता है और काममें हुए विलम्बकी तो कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती है। भारतके प्रशासनिक तंत्रकी पूर्णरूपसे छानबीन करनेके लिए श्री शास्त्रीजीने एक प्रशासनिक सुधार आयोगकी नियुक्ति की थी, जिससे यह अपेक्षा की जा रही है कि वह इन प्रश्नोंका उचित और कोई स्थायी हल सुझायेगा।

मंत्रिमण्डलकी ओरसे निर्णय लेनेका अधिकार भोगने वाली केबिनेट मंत्रिमण्डलकी आत्मा है। उसकी कार्यवाही गुप्त रखी जाती है और इस गोपनीयताको सदाके लिए बनाए रखनेकी शपथ प्रत्येक मंत्रीको लेनी पड़ती है। इस प्रकारकी परम्परा मानी जाती है कि केबिनेटकी बैठक कमसे कम प्रति सप्ताह एक बार तो होनी ही चाहिए। किसी एक ही विभागसे सम्बद्ध चर्चा सामान्य रूपसे नहीं की जाती। सरकारकी नीतिमें हेरफेर करनेवाले प्रश्न अथवा एक विभागसे अधिक विभागोंको आवृत करनेवाले प्रश्नोंकी चर्चा विधिपूर्वक और अविधिपूर्वक की जाती है। इस प्रकारका प्रयास किया जाता है कि निर्णय बहुमतसे न लिए जाकर सर्वसम्मतिसे लिए जायें। कूट प्रश्नोंकी विस्तृत और गहरी छानबीन करनेके लिए केबिनेटमें स्थायी और अस्थायी समितियाँ बनाई गई हैं। १९६६में केबिनेटमें दस स्थायी और तीन अस्थायी समितियाँ थीं। इन समितियोंमें सामान्यत: दोसे चार सदस्य होते हैं और प्रधानमंत्री लगभग सभी समितियोंमें अध्यक्षके रूपमें काम करता है। ये समितियाँ बहुधा अपना विवरण केबिनेटके सामने प्रस्तुत करती हैं और बादमें उन पर अन्तिम निर्णय लिया जाता है। अनेक बार तो अन्तिम निर्णय लेनेकी सत्ता भी समितियोंको सौंप दी जाती है। जब ऐसा होता है तब केबिनेटके नाम पर लिए गए निर्णयोंकी जानकारी केबिनेटके मंत्रियोंको भी नहीं होती। भाषाके आधार पर राज्य रचनाके समय बम्बईका अलग एक राज्य बनानेका निर्णय केबिनेटने नहीं लिया था और इस मामलेमें स्वयं दिलचस्पी रखने पर भी केबिनेटके सदस्योंके रूपमें इस बातकी खबर तक भी न मिलने पर उस समयके वित्त-मंत्री श्री देशमुखने १९५६में त्यागपत्र दे दिया था। इसका स्पष्ट उत्तर देनेके बदले, श्री देशमुखकी बात सच नहीं है, यह कह कर पं० नेहरूने इस बातको टालनेका प्रयत्न किया था, क्योंकि उत्तर देनेसे केबिनेटकी गुप्त कार्यपद्धतिको आम जनताके सामने रखना पड़ता। १९६१के दिसम्बर मासमें भारतने गोवा पर जो सैनिक कार्यवाही की, उसके तीन-चार दिन पहले बम्बईकी एक आमसभामें श्री मोरारजी देसाईने बलपूर्वक कहा था कि गोवामें शस्त्रबलका उपयोग नहीं होगा। लेफ्टीनेन्ट जनरल कौलके 'दि अनटोल्ड स्टोरी' नामक ग्रंथसे स्पष्ट पता चलता है कि गोवामें बलप्रयोग करनेका निर्णय बहुत समय पहले ही ले लिया गया था और श्री मोरारजीको इसकी कोई जानकारी ही न थी। १९६४के अन्तमें श्री शास्त्री, श्री नन्दा, श्री कृष्णमाचारी, श्रीमती इन्दिरा गांधी, श्री चाह्वाण और श्री सुब्रह्मण्यम्की बनी हुई 'संकट समिति' केबिनेटकी भी केबिनेट बन गई थी—इस प्रकारका उल्लेख प्रा० मोरिस जॉन्सने 'एशियन सर्वे' (फरवरी, १९६५)में किया है।

इस तरह, मंत्रिमण्डलके निर्णय मंत्रिमण्डल नहीं करता, कितनी ही बार केबिनेट भी नहीं करती, अपितु केबिनेटकी समिति करती है। इस प्रकारके निर्णय लेनेमें गैरसरकारी संस्थाएँ और व्यक्ति भी कई बार महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। भाषावार राज्य-रचनाके सम्बन्धमें अनेक निर्णय

और हाल हीमें पंजाबी सूबेसे सम्बद्ध निर्णय कांग्रेसकी कार्यकारिणीके विस्तृत आदेशानुसार लिया गया है। उसी प्रकार, इस कारण कि आर्थिक मामलोंमें योजना-आयोगको दिए गए स्थान और शक्तिके कारण केबिनेट और वित्त मंत्रालयका स्थान गौण हो जाता है, श्री जॉन मथाईने त्यागपत्र दे दिया था, जो सुविदित ही है। किन्तु इन मामलोंमें सबसे अधिक विचित्र मामला उड़ीसाके तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री विजयानन्द पटनायकका है। १९६२के चीनी आक्रमणके बाद श्री पटनायकको केबिनेटके विशेष सलाहकारके रूपमें स्थान दिया गया और विदेश विभागके कार्यालयमें उन्हें स्थान भी दिया गया था। एक व्यक्ति एक राज्यका मुख्यमंत्री-पद सम्हालनेके साथ-साथ केन्द्र सरकारमें भी स्थान प्राप्त करे, इस पर पार्लियामेन्टमें की गई चर्चाओंका पंडित नेहरू कोई उत्तर नहीं दे सके थे। बादमें तो सुरक्षा सम्बन्धी गुप्त सूचनाएँ प्रकट कर दिए जानेके कारण इन अनुपयोगी प्रयोगोंका अन्त हुआ और श्री पटनायकको पद-मुक्त कर दिया गया।

मंत्रियोंको पसंद करनेकी प्रधानमंत्रीकी सत्ता कानूनके अनुसार असीम होने पर भी उसका पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सका है। अपनी व्यक्तिगत विचारधारा तथा रुचिके अनुसार काम करनेवाले साथियोंको पसंद करनेका प्रधानमंत्रीका इरादा होने पर भी अनेक इधर-उधरके आपसी विरोधी स्तरोंके कारण मंत्रियोंके मनोनयनका काम अत्यन्त कठिन हो जाता है। दलके सभी वर्गों तथा विचारधाराओंको प्रस्तुत कर सकनेवाले लोगोंको तथा विविध प्रदेशोंको प्रतिनिधित्व देना पड़ता है; कुछ लोगोंको छोड़ा नहीं जा सकता, कुछकी शक्ति, कुछकी भक्ति और कुछकी सौदेबाज़ी उन्हें मंत्रिमण्डलमें स्थान दिलवा ही देती है। इन सभी कारणोंसे असंतोष पैदा हुए बिना नहीं रहता। साथ ही, पदोंकी अपेक्षा प्रत्याशियोंकी संख्या बहुत अधिक होती है और प्रत्येक नेता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना चाहता है।

पार्लियामेन्टमें कांग्रेसका जब प्रबल बहुमत था, उस समय भी अन्य दलोंके या निर्दलीय किन्तु विख्यात नेताओंको मंत्रिमण्डलमें लेने और उन्हें महत्त्वपूर्ण पद देनेकी स्तुत्य परम्परा पं० नेहरूने आरम्भकालमें डाली थी और उनके अनुयायियोंने उसे यथासंभव जारी भी रखा। श्री जॉन मथाई, श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी, डा० अम्बेदकर, श्री देशमुख, श्री चागला जैसे विद्वानोंका लाभ लिया गया था। १९५३-५४में समाजवादी पक्षके महामंत्री श्री जयप्रकाश नारायणके साथ लम्बी बातचीतमें पंडित नेहरूने राष्ट्रके निर्माण कार्यमें समाजवादी साथियोंके सहयोगकी मांग की थी और केन्द्र सरकार और प्रान्तीय सरकारोंमें उनके समावेशका प्रस्ताव पेश किया था। उस समय कांग्रेस दलको समाजवादी दलके सहयोगकी ज़रा भी आवश्यकता न थी, बल्कि वार्त्ताके समय दोनों दलोंमें इसका विरोध हुआ। कांग्रेसके अनेक नेता अनावश्यक रूपसे सत्ता त्यागनेके लिए तैयार न थे। दूसरी तरफ, समाजवादियोंको कांग्रेस जैसी विशाल और सुदृढ़ संस्थाके साथ सहयोग देनेके प्रयत्नमें उनके स्वयं लोप हो जानेका भय था। यह दूसरी बात है कि श्री जयप्रकाशजी द्वारा चौदह शर्तोंकी स्वीकृतिका आग्रह बनाए रखनेके कारण यह वार्त्ता भंग हो गई थी। इससे यह स्पष्ट पता चल जाता है कि देशके सभी शक्तिशाली और प्रगतिशील तत्त्वोंका सहयोग प्राप्त करनेकी पं० नेहरूकी इच्छा कितनी प्रबल थी। अगर इस प्रकारका सर्वदलीय सहयोग प्राप्त किया जा सका होता तो हमारे यहांकी दल-पद्धतिका विकास कुछ दूसरेही ढंगसे हुआ होता। यद्यपि

पं० नेहरूका यह आरम्भकालीन प्रयोग असफल रहा है, फिर भी सर्वदलीय मंत्रिमण्डलकी धारणा स्वीकार कर लेनेके लिए श्री राजाजी जैसे अनेक नेता बराबर अनुरोध करते रहे हैं। १९६७के बाद अलग-अलग राज्योंमें कमज़ोर दलोंकी संविद सरकारें स्थापित हुई हैं, उनकी अपेक्षा यह प्रयोग मूलभूत रूपसे अलग है, इसे ध्यानमें रखना चाहिए।

मंत्रिमण्डलसे मंत्रियोंके अलग हो जानेके अनेक कारण हैं। सरदार पटेल, मौलाना आज़ाद, पं० पंत और पं० नेहरू जैसे अनेक नेताओंने तो आमरण राज्यधुरीका बोझ वहन किया था; किन्तु अनेक मंत्रियोंको चुनावमें पराजित हो जाने अथवा अन्य कारणोंसे त्यागपत्र देना पड़ा था। राजनीतिक और प्रशासनिक मतभेदोंके कारण श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी, श्री के० सी० नियोगी, श्री जॉन मथाई, श्री महावीर त्यागी, श्री चागला और श्री गिरि जैसे नेता पदोंको छोड़ गए थे। अपने व्यवहारके सम्बन्धमें आलोचना सुनकर श्री षण्मुखम् चेट्टीने त्यागपत्र दे दिया था। श्री कैलाशनाथ काटजूको मध्यप्रदेशकी डांवांडोल स्थितिको सुधारनेके लिए मुक्त कर दिया गया था। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उनसे परामर्श न किए जानेके कारण श्री देशमुखने त्यागपत्र दे दिया था; डॉ० अम्बेदकरने, यों तो त्यागपत्रमें बहुतसे कारण दिए हैं, फिर भी महत्त्वपूर्ण विभाग न मिलने पर उनकी अप्रसन्नता प्रकट होती हुई स्पष्ट दिखाई देती है। दूसरी बार विवाह करनेकी शीघ्रताने श्री गाडगिलको हटा दिए जानेके मामलेमें, कहा जाता है, महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। मूंदडा प्रकरणकी वैधानिक जिम्मेदारी वित्तमंत्रीके मत्थे होनेकी घोषणा जांच-आयोग द्वारा किए जाने पर श्री कृष्णमाचारीको त्यागपत्र देना पड़ा। दूसरी बार जब वे मंत्रिमण्डलमें सम्मिलित हुए, उस समय उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपोंमें सत्यता है या नहीं, इसका निर्णय करनेका काम न्यायाधीशको सौंपे जानेका प्रस्ताव श्री शास्त्रीजी द्वारा प्रस्तुत किए जानेकी स्थितिमें उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। दो बार त्यागपत्र देनेवाले मंत्रियोंमें वे अकेले ही हैं। श्री केशवदेव मालवीयके विरुद्ध लगाए गए आरोप लगभग सिद्ध हो जानेके कारण उन्हें हट जाना पड़ा। चीनी आक्रमणके बाद श्री कृष्ण मेननके विरुद्ध पार्लियामेन्टके सदस्योंमें उग्र रोष होनेके कारण प्रधानमंत्रीकी स्पष्ट अनिच्छा होने पर भी उन्हें हट जाना पड़ा था। इस प्रकार मंत्रियोंकी पसंद और उन्हें हटा देनेकी प्रधानमंत्रीकी अबाधित सत्ता होने पर भी उसे परिस्थिति और दलीय-विरोधके सामने झुकना पड़ा था। कामराज-योजनाका आधार लेकर पं० नेहरूने सभी गणमान्य नेताओंको मंत्रिमण्डलसे विदा दे दी थी। श्री नन्दासे गृह विभाग ले लेनेके प्रयासमें असफल होनेके बाद श्रीमती गांधीने दिल्लीमें हुए आन्दोलनोंको निमित्त बना कर उन्हें रवाना कर दिया। पर श्री मनुभाई शाह और श्री शचीन चौधरीको उस समय नहीं हटाया जा सका। अन्ततः नए चुनावोंने उन्हें पदमुक्त किया। इस प्रकार मंत्रिमण्डलमें शामिल होने और उससे हटनेमें अनेक परिबल और परिस्थितियां अपना-अपना भाग अदा करती हैं; फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डलके निर्माण तथा उसकी कार्यवाहियोंमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

केन्द्रीय मंत्रिमण्डलके सदस्योंके त्यागपत्र

क्रम	तिथि	नाम	विभाग	त्यागपत्रके कारण
१	१५-८-४८	श्री षणमुखम् चेट्टी	वित्त	व्यापारके क्षेत्रमें मित्रोंके प्रति पक्षपात-का आरोप।
२	मई १९५०	श्री जॉन मथाई	वित्त	प्लानिंग कमीशनमें रखे जानेके कारण।
३	३०-८-५४	श्री वी० वी० गिरि	श्रम	१९५४के बैंक एवार्डको यथातथ्य स्वीकार करनेके विरुद्ध केबिनेटके निर्णयसे।
४	२४-७-५६	श्री सी० डी० देशमुख	वित्त	बम्बईको महाराष्ट्रमें रखकर गुजरातको अलग राज्य बनानेके विषयमें।
५	२५-११-५६	श्री लालबहादुर शास्त्री	रेल	अरियालुर ट्रेन दुर्घटनाके कारण।
६	१३-२-५८	श्री टी० टी० कृष्णमाचारी	वित्त	मूंदड़ा प्रकरणसे सम्बद्ध चागला आयोगकी रिपोर्टसे।
७	२३-८-५९	श्री अजितप्रसाद जैन	खाद्य व कृषि	प्लानिंग कमीशन द्वारा केबिनेट या मंत्रिमण्डलकी जानकारीके बिना लिए गए निर्णयके कारण।
८	नवम्बर, ६२	श्री वी० के० कृष्णमेनन	सुरक्षा	चीनी आक्रमण, चीनके प्रति उनकी नीतिके कारण कांग्रेस-कार्यकारिणीके दबावसे।
९	२६-६-६३	श्री हाफिज़ मुहम्मद इब्राहिम	—	उपचुनावोंमें हारनेके कारण।
१०	२६-६-६३	श्री के० डी० मालवीय	—	भ्रष्टाचारके आरोपमें।
११	१८-७-६३	श्री के० सी० रेड्डी	—	अस्वस्थताके कारण।
१२	२४-८-६३ प्रधानमंत्री तथा कांग्रेसाध्यक्ष द्वारा स्वीकृत २९-८-६३	श्री मोरारजी देसाई	वित्त	कामराज योजनामें।
१३	२९-८-६३	श्री एस० के० पाटिल	खाद्य व कृषि	कामराज योजनामें।
१४	२९-८-६३	श्री लालबहादुर शास्त्री	गृह	कामराज योजनामें।
१५	२९-८-६३	श्री जगजीवनराम	संदेश-प्रसारण	कामराज योजनामें।
१६	२९-८-६३	श्री बी० गोपाल रेड्डी	सूचना	कामराज योजनामें।
१७	२९-८-६३	श्री के० एल० श्रीमाली	शिक्षा	कामराज योजनामें।
१८	३१-१२-६५	श्री टी० टी० कृष्णमाचारी	वित्त	पुत्रको लाभ पहुंचानेके लिए पदका दुरुपयोग करनेके आरोपमें।
१९	१९-१-६६	श्री महावीर त्यागी	—	ताशकंद समझौतेके विरोधमें।
२०	९-११-६६	श्री गुलज़ारीलाल नंदा	गृह	गो-रक्षा आन्दोलन और दिल्लीके आन्दोलनोंके कारण।
२१	५-९-६७	श्री एम० सी० चागला	विदेश	अंग्रेजी-भाषाके आग्रहमें।
२२	२७-४-६८	श्री चन्ना रेड्डी	इस्पात तथा खनिज	आंध्रप्रदेश विधानसभाके चुनावमें अनुचित रीतियोंसे सम्बद्ध हाईकोर्टके निर्णयसे।
२३	२२-८-६८	श्री अशोक मेहता	पेट्रोलियम और रसायन	चेकास्लोवाकियाके प्रकरणमें सरकारके विरोधमें।

संवैधानिक असाम्प्रदायिकता

धारा १४ : भारतकी सीमाओंके भीतर राज्य किसी भी व्यक्तिके लिए कानूनके मामलेमें समानताका अथवा कानूनके द्वारा समान रक्षणको अस्वीकार नही कर सकता।

धारा १५ : (१) राज्य किसी भी नागरिकके साथ धर्म, जाति (रेस), उपजाति (कास्ट) तथा लिंग (सेक्स), जन्म-स्थान अथवा इनमेंसे किसी भी एकको लेकर भेदभावका व्यवहार नहीं करेगा।

धारा २५ : प्रत्येक व्यक्तिकी अन्तरात्माका धार्मिक स्वातंत्र्य।

धारा २५ : धर्मके मामलेमें सामूहिक स्वतंत्रता।

धारा २८ : (१) सम्पूर्णतः राज्य सहायता पर चलने वाली किसी भी संस्थामें धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकेगी।

धारा ४४ : सम्पूर्ण भारतमें सर्वत्र सभी नागरिकोंके लिए समान नागरिक-नियमोंको राज्य अमलमें लानेका प्रयास करेगा।

अस्पृश्यता अपराध

धारा १७ : किसी भी स्वरूपकी अस्पृश्यताका व्यवहार प्रतिवन्धित है। धारा ३५का अनुसरण कर पालियामेन्टने १९५५-के अस्पृश्यता (निवारण) कानूनके अनुसार इसे दण्डनीय अपराध माना है।

(१) किसी भी आदमीके अस्पताल, दवाखाने, शिक्षा संस्थाओं जैसी किन्हीं भी सार्वजनिक संस्थाओंमें प्रवेशको रोकना दण्डनीय अपराध है।

(२) सार्वजनिक पूजा-स्थानों पर किसी भी आदमीको पूजा करने तथा प्रार्थना करनेसे रोकना दण्डनीय अपराध है।

(३) किसी भी दुकान, सार्वजनिक रेस्तराँ, होटल अथवा सार्वजनिक मनोरंजनके स्थानों अथवा जलाशयों, नलों, रास्तों, श्मशान आदि प्रकारके स्थलोंमें प्रवेश करने पर किसीके लिए भी रोकटोकका काम दण्डनीय अपराध है।

मूलभूत अधिकारोंकी रक्षा

"मूलभूत अधिकार इस प्रकार गेरन्टीड होने चाहिएँ कि जिससे किसी भी परिस्थितिमें उन्हें वापिस न लिया जा सके।"

—पण्डित नेहरू

	१९५१ आवादी	कुल आवादीका प्रतिशत	१९६१ आवादी	कुल आवादी-का प्रतिशत
अनुसूचित जातियाँ (हरिजन)	५,५३,२७,०२१	१५.३२	६,४५,११,३१३	१४.६४
अनुसूचित जन जातियाँ	२,२५,२५,४७७	६.२३	२,९८,८३,४७६	६.८०

*अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जन-जातियाँ, पिछड़ी हुई जातियाँ—ये संज्ञाएँ अस्पष्ट हैं; परन्तु इन्हें जो विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं, उनमें विधानसभाओंमें सुरक्षित सीटें, केन्द्र तथा राज्य सरकारोंकी सरकारी नौकरियोंमें और पदों पर भरती करनेसे सम्वद्ध संविधानमें विशेष सुविधाएँ दी गई हैं।

एक उच्चाधिकार प्राप्त आयोग द्वारा इन विशेष सुविधाओंको सन् १९७५से समाप्त करनेका सुझाव दिया गया है।

*जून १९६६में श्री बी० एन० लोकुरकी अध्यक्षतामें नियुक्त समितिकी संस्तुतिके अनुसार नौ नयी उपजातियों और १९ नयी जनजातियोंको समाविष्ट कर लिया गया तथा १७१ उपजातियों और १३१ जनजातियोंको सम्वद्ध राज्योंमें उनका अस्तित्व ही न होनेके कारण निरस्त कर दिया गया।

*प्रथम योजनाके अन्तर्गत व्यय : रु० १५ करोड़ रुपए

चौथी योजनामें अनुमानित व्यय : रु० १८० करोड़ रुपए

अनुसूचित जातियां

केन्द्र सरकार मंत्री, उपमंत्री	राज्य सरकार पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी	केन्द्रमें पदासीन (चार कक्षा) १-१-१९६६
३	२३ (राजस्थानको छोड़कर)	३६+३७४+ ९९,०१७+२,११,०७३

अनुसूचित जन-जातियां

१	१५	१०६+८०+ १२,५३६+४०,११३

पिछड़ी जातियां (राज्यसूचीके अनुसार)

*[हिन्दू समाजमें निम्न श्रेणीके माने गए वर्ग तथा आर्थिक गणना]

वर्ग	आवादी
९३०	११ करोड़ ५० लाख

सुप्रीम कोर्टके निर्णयानुसार केन्द्रने मात्र आर्थिक स्तरको ही स्वीकार किया है, अभी सभी राज्योंने स्वीकार नहीं किया है।

अखिल भारतीय सेवाएं

(१-१-१९६७)

	अनु० जाति	अनु० जन-जाति	इतर
आई० सी० एस० / आई० ए० एस०	१२८	४५	२,१८६
आई० पी० एल० / आई० पी०	७२	२२	१,२४८
आई० एफ० एस० / (ए)	१७	५	३६६
,, ,, ,, / (बी)	८७	१६	२,३६१

(१) साढे बारह प्रतिशत मुक्त प्रतिस्पर्धा (अनुसूचित जाति, अनु० जनजाति आदिके लिए)।

(२) १६२/३ प्रतिशत अनुसूचित जातियोंके लिए सुरक्षित।

(३) ५ प्रतिशत अनुसूचित जनजातियोंके लिए सुरक्षित।

●

बैक्वर्ड क्लासिज़ कमीशन

(सन् १९५३से १९५५ तक)

(श्री काका कालेलकरकी अध्यक्षतामें)

*आयोगने अपने विवरणमें बताया कि सामाजिक ऊँच-नीचताकी क्रमिक श्रेणीकी नींवमें वर्ण है, जो पिछड़ेपनकी मात्रा तय करती है। इस जानकारीके कारण आयोगने २.३९९ अतिरिक्त जातियोंकी वृद्धि की और उन्हें पिछड़ा हुआ मानकर 'अनुसूचित जातियों व जनजातियोंको दी जा रही सहायताके स्तर पर इन्हें लाभ देनेकी संस्तुति की।

*आयोगके अध्यक्ष श्री काका कालेलकरने इस विवरणको राष्ट्रपतिको भेजते समय लिखे पत्रमें स्पष्ट किया कि वे आयोगके मूलभूत निष्कर्षके साथ सहमत नहीं हैं। उन्होंने लिखा कि, "मैं आयोगके भीतर प्रवर्तित मतको नहीं रोक सका और अन्तमें अनिच्छासे यह निर्णय किया कि जिनके साथ मैंने जातिके आधार पर उपाय ढूंढ़नेमें आरम्भसे अन्ततक सहयोग किया; उस बहुमतके साथ मुझे रहना चाहिए। जबकि यह विवरण अन्तिम स्वरूप ग्रहण कर रहा था, उस समय मैंने नए सिरेसे सोचना आरम्भ किया और मुझे लगा कि जातिके आधारके अलावा या दूसरे अन्य आधारों पर पिछड़ेपनका सवाल हल किया जा सकता है।" श्री काका साहबको लगा कि आयोग द्वारा स्वीकृत सम्पूर्ण आधार 'प्रजातंत्रकी आत्माके लिए घातक' था। क्योंकि प्रजातंत्रमें परिवार या जाति नहीं, अपितु व्यक्ति आधारभूत घटक होता है। अतः उन्होंने इस प्रकारकी संस्तुति की कि जिस परिवारकी वार्षिक आय ८०० रुपएसे कम हो, उसे जाति-पाँतिकी पंचायतमें बिना पड़े, पिछड़ा मानकर राज्य-सहायताका अधिकारी निश्चित कर शैक्षिक तथा आर्थिक सहायता दी जाय...सरकारी नौकरियोंमें पिछड़ी हुई जातियोंके लिए विशेष सुरक्षित स्थानोंको रखनेकी आयोगकी संस्तुतिका भी श्री काका कालेलकरने विरोध किया।

अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जन-जातियाँ

(३१-३-१९६७के दिन प्रतिनिधित्व)

प्रदेश	लोकसभामें			विधान सभाओंमें		
	कुल स्थान	अनु० जाति	अनु० जन-जाति	कुल स्थान	अनु० जाति	अनु० जन-जाति
आंध्र प्रदेश	४०	६	२	२८५	४०	११
असम	१३	१	२	१२०	८	१०+१५ स्वायत्त जिले
बिहार	५३	७	५	३१८	४५	२९
गुजरात	२४	२	३	१६८	११	२२
हरियाणा	९	२	—	८१	१५	—
जम्मू-काश्मीर	६	—	—	५३	६	—
केरल	१९	२	—	१३३	११	२
मध्य प्रदेश	३७	५	८	२९६	३९	६१
मद्रास	३९	७	—	२३४	४२	२
महाराष्ट्र	४५	३	३	२६९	१५	१६
मैसूर	२७	४	—	२१४	२९	२
नागालैण्ड	१	—	—	४६	—	—
उड़ीसा	२०	३	५	१४०	२२	३४
पंजाब	१३	३	—	१०४	२३	—
राजस्थान	२३	४	३	१८४	३१	२१
उत्तर प्रदेश	८५	१८	—	४२५	६९	—
पश्चिमी बंगाल	४०	८	२	२८०	५५	१६
अंदमान निकोबार	१	—	—	—	—	—
दादरा हवेली	१	—	१	—	—	—
चण्डीगढ़	१	—	—	—	—	—
दिल्ली	७	१	—	—	१४	३
गोवा-दीव-दमण	२	—	—	३०	—	—
हिमाचल प्रदेश	६	१	—	६०	१४	३
लक्क-दीव	१	—	१	—	—	—
मणिपुर	२	—	१	२९	—	९
पांडिचेरी	१	—	—	३०	५	—
त्रिपुरा	२	—	१	३०	३	९
मनोनीत	२	—	—	—	—	—
कुल	५२०	७७	३७	३५२९	४९७	२६५

८ : संसदका स्वरूप

संघ सरकारकी सत्ताके केन्द्र बिन्दुके समान और भारतीय प्रजातंत्रके प्रतीक और प्रहरीके समान संसद (पार्लियामेन्ट) दो सदनोंवाली है अर्थात् लोकसभा और राज्यसभाके रूपमें दो स्वायत्त सभाएं हैं, जिसमें राज्यसभाकी सत्ता प्रायः समकक्ष होते हुए भी कुछ मामलोंमें निम्न प्रकारकी रखी गई है। सदस्योंकी संख्या, सत्ता और प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे राज्यसभाकी अपेक्षा लोकसभाका स्थान उच्च है। फिर भी यह ध्यानमें रखना चाहिए कि हमारी राज्यसभा इंग्लैण्डके हाउस आफ लॉर्ड्सकी तरह बिल्कुल सत्ताविहीन नहीं है। अनेक मामलोंमें राज्यसभा जिस अधिकारका उपभोग करती है, वह लोकसभाको भी नहीं दिया गया है। इसके विपरीत अमेरिकाके समवायी तंत्रमें राज्योंकी प्रतिनिधिसभाके रूपमें सेनेटको जो विस्तृत सत्ताक्षेत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त है, वह भारतकी राज्यसभाको नहीं है। इंग्लैण्ड और अमेरिकाकी संसदमें दो सदन होने पर भी वस्तुतः एक सदन ही है। अतः इंग्लैण्डमें लॉर्ड्स सभाका और अमेरिकामें प्रतिनिधिसभाका कुछ भी महत्व नहीं है। इन देशोंमें महत्वपूर्ण सभी निर्णय संसदके एक ही सदनमें लिए जाते हैं। भारतमें हमेशा इस प्रकार नहीं होता, अतः अपनी संसद वास्तवमें द्विगृही है।

लोकसभा

लोकसभाके सदस्योंकी अधिकतम संख्या संविधानके अनुसार ५०० निश्चित की गई थी और उसमें अब परिवर्तन कर ५२५ कर दी गई है। इनमेंसे ५०० सदस्य इकाई-राज्योंके और २५ सदस्य केन्द्र शासित प्रदेशोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। एंग्लो इंडियन समाजका अगर कोई प्रतिनिधि चुना ही न गया हो तो इसके दो सदस्योंको मनोनीत करनेका अधिकार राष्ट्रपतिको है। पिछड़े हुए वर्गों और आदिवासियोंको उचित प्रतिनिधित्व दिलानेके आशयसे कुछ सीटें सुरक्षित रखी गई हैं। चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित कुछ सीटोंके लिए मात्र इस वर्गके लोग ही चुनावमें खड़े होनेके लिए नामांकनपत्र भर सकते हैं।

लेकिन इस वर्गके लोग नवर्ग सीटोंके लिए भी प्रत्याशी हो सकते हैं और चुने जाने पर वे उस प्रदेशका प्रतिनिधित्व भी कर सकते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि उक्त संख्या तो न्यूनतम है और यह असंभव नहीं कि उक्त संख्यासे अधिक संख्यामें पिछड़े वर्ग या आदिवासी वर्गके लोग लोकसभामें स्थान प्राप्त किए हुए हों। संविधानके अमलके आरम्भिक दस वर्षोंके लिए यह व्यवस्था की गई थी, अर्थात् १९६० तक यह चालू रखनेकी बात निश्चित हुई थी; परन्तु अब यह अवधि दूसरे दस वर्षोंतक (१९७० तक) बढ़ा दी गई है। कोई व्यक्ति या समूह सामान्यतः मिले हुए अधिकारको

छोड़ना नहीं चाहता या छोड़नेके लिए तैयार नहीं होता। फिर भी जब इन सुरक्षित सीटोंके लिए अवधि बढ़ानेकी बात शुरू हुई, उस समय बहुधा पिछड़े हुए वर्गोंके प्रवक्ताके रूपमें काम करनेवाले रिपब्लिकन दलने उसका विरोध किया था। इसका कारण यह है कि इस प्रकारकी विशेष व्यवस्था करनेसे इन वर्गोंको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ प्रतीत होता। कितनी ही बार तो लोकसभामें भोले और अज्ञान आदमी पहुँच जाते हैं। सन् १९५२के चुनावमें बस्तर प्रदेशके प्रतिनिधिके रूपमें चुने गए अपढ़ और भोले मुचाकी कोसाका उदाहरण जितना हास्यास्पद है, उतना ही करुण भी है। उसके नामपर उसका 'सेक्रेटरी' ही भत्ता और सभी लाभ लेता रहा था।

सबसे बड़ी खराबी तो यह है कि इन सुरक्षित स्थानोंके कारण पिछड़े हुए वर्गोंमें सम्प्रदायवादकी भावनाका पोषण ही हुआ है। इस वर्गको संतुष्ट रखनेमें राजनीतिक दलोंको लाभ होनेके कारण उनके मामलोंकी चर्चा बड़े जोर-शोरसे की जाती है; परन्तु उससे उनकी आर्थिक अथवा सामाजिक अवस्थामें कोई बड़ा परिवर्तन हुआ नहीं कहा जा सकता। ये वर्ग अपेक्षित मात्रामें संगठित नहीं हैं और अपने सुरक्षित स्थानोंके आशयका पूरा-पूरा तत्व नहीं निकाल पा सके हैं।

पच्चीस वर्षकी आयुका कोई भी नागरिक लोकसभाका सदस्य हो सकता है; पर पहली तीन लोकसभाओंके विश्लेषणके आधार पर कहा जाय तो लोकसभाके सदस्योंकी औसत आयु ४५-४६ वर्षकी है और उसमें साठ प्रतिशतके लगभग सदस्य ४०से ६० वर्षके बीचकी आयुके होते हैं। अगर व्यावसायिक दृष्टिसे देखें तो ८०-८५ प्रतिशत सदस्य कृषि, व्यापार-उद्योग, वकालत और समाजसेवाके क्षेत्रोंसे आये हुए हैं। खेतीवाड़ीके साथ संयुक्त सदस्योंकी संख्या क्रमशः बढ़ती रही है। तीसरी लोकसभामें उनकी संख्या लगभग २२ प्रतिशत थी। देशकी कुल आबादीके ६० प्रतिशतसे अधिक लोग खेतीवाड़ी पर निर्वाह करते हैं; जिसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह प्रतिनिधित्व कम है। वकालतके धंधेसे संयुक्त सदस्योंकी संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई है, फिर भी आबादीके अनुपातमें वह अभी भी अधिक है। लेकिन हमारी लोकसभामें सबसे अधिक विचित्र व्यवसायी वर्ग समाज-सेवकोंका है। पहली लोकसभामें १६ प्रतिशत, दूसरी लोकसभामें २७ प्रतिशत और तीसरी लोकसभामें २९ प्रतिशत सदस्योंने अपने धंधेका परिचय समाज सेवकोंके रूपमें दिया है। विश्वकी अन्य किसी भी संसदमें ऐसा दिखाई नहीं देता। यह भी मानना कठिन है कि इतनी अधिक संख्यामें लोग 'समाजसेवा' पर निर्वाह करते हों। वास्तवमें देखें तो पता चलेगा कि इस वर्गमें भांति-भांतिके लोगोंका समावेश हुआ है। श्री सुरिन्दर सूरिके कथनानुसार 'बहुतसे समाजसेवक बिना परिश्रमकी आयका उपभोग करते हैं। विरोधपक्षके समाजसेवक पूरे समयके राजनीतिक कार्यकर्त्ता होते हैं, जबकि कांग्रेस दलमें इस वर्गके अधिकांश लोग निठल्ले वर्गके होते हैं।' यह उल्लेख श्री सुरिन्दर सूरिने 'सेमिनार' (फरवरी '६५)के अंकमें किया है।

शिक्षाकी दृष्टिसे देखें तो लोकसभाके लगभग ६० प्रतिशत सदस्य विश्वविद्यालयोंकी स्नातक कक्षा तक या उससे अधिक उच्च कक्षा तक पढ़े हुए होते हैं; जबकि १५-२० प्रतिशत

लोग हाईस्कूल तक ही शिक्षा प्राप्त होते हैं। अपने मतदाताओंमेंसे लगभग ८० प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं। इस बातको ध्यानमें रखने पर लोकसभामें शिक्षाका यह अनुपात वास्तवमें अच्छा कहा जा सकता है। अगर हमारे विश्वविद्यालयोंका स्तर विदेशके विश्वविद्यालयोंके समान ऊँचा हो, तो हमारी लोकसभा शायद संसारकी सबसे शिक्षित धारासभा मानी गई होती।

संविधानमें राज्यसभाके लिए सदस्योंकी अधिकतम संख्या २५० है। १९६८में २२६ चुने हुए और १२ मनोनीत सदस्य, जो कुल मिलाकर २३८ सदस्य थे। राज्यसभाके सदस्योंका चुनाव राज्योंकी विधानसभाके सदस्य करते हैं और प्रत्येक राज्य कितने सदस्य चुनेगा, उसकी सूची संविधानमें दी गई है। यह संख्या अधिकांशतः आबादीके अनुपातमें निश्चित की जाती है। फिर भी छोटी और कम आबादी वाले राज्योंके लिए भी प्रतिनिधित्वकी व्यवस्था की गई है। उत्तर प्रदेश जैसा बड़ा राज्य ३४ सदस्य चुन कर भेजता है और नागालैंड जैसे छोटे राज्यका भी एक प्रतिनिधि राज्यसभामें बैठता है। समवाय संघमें सभी राज्योंका स्तर समान है और इससे छोटे-बड़े दोनोंको

भारतीय राजनीतिमें वर्ग-प्रभाव

(लोकसभाके सदस्योंका व्यवसायके आधार पर वर्गीकरण)

व्यवसाय	लोकसभा			
	पहली	दूसरी	तीसरी	चौथी
१. वकील	३५.६	३०.३	२४.५	१७.७
२. किसान	२२.४	२९.१	२७.४	२८.०
३. व्यापारी—उद्योगपति	१२.०	१०.२	१०.३	९.७
४. सिविल व सेना-सेवा	३.७	४.०	०.९	४.४
५. डाक्टर	४.९	३.५	३.०	३.०
६. शिक्षक	९.९	११.३	५.८	५.६
७. पत्रकार—लेखक	१०.४	१०.२	५.८	६.२
८. राजा	१.१	१.४	२.१	२.०
९. राजनीतिक सामाजिक कार्यकर्त्ता	—	—	१८.८	२१.६
१०. इंजीनियर	—	—	०.९	०.६
११. औद्योगिक कामदार	—	—	०.२	०.६
१२. धर्मगुरु	—	—	०.२	०.८

(गृह मंत्रालय : भारत सरकार : *The Nature and Character of Representation in the Democratic System* (Mineo pp. 47-48)

समान प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए, इस धारणाके अनुसार अमेरिका और स्विट्ज़रलैण्डमें ऊपरकी धारासभाओंमें सभी इकाई-राज्योंके प्रतिनिधियोंकी संख्या समान ही रखी जाती है। परिणामतः अमेरिकाके राजनीतिज्ञ यह शिकायत करते हुए मिलते हैं कि इस प्रणालीके कारण बड़े राज्योंके विशाल जनसमूहको कम प्रतिनिधित्व मिलता है। जबकि रूसके आभासी समवायतंत्रमें इसके विपरीत छोटे और कम आबादीवाले पिछड़े हुए प्रदेशोंको अधिक मात्रामें प्रतिनिधित्व दिया जाता है। यह पद्धति अधिक उदार दिखाई देने पर भी प्रजातांत्रिक रचनामें शायद संभव नहीं हो सकती। रूसमें इसका दुरुपयोग हो रहे होनेकी संभावना भी है। हमने केनेडा और आस्ट्रेलियाका अनुकरण किया है और आबादीके अनुसार ऊपरकी सभामें सीटोंका बँटवारा किया है। इस प्रकारकी व्यवस्थासे छोटे राज्योंकी आवाज दब जाती है।

परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपमें सभी चुनावोंमें सबसे बड़ा दोष यह होता है कि समाजके बहुतसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति इसमें उतरनेके लिए तैयार नहीं होते; परिणामतः समाजको उनकी शक्तियोंका लाभ नहीं मिलता। इस प्रकारके व्यक्तियोंको ऊपरी सदनमें मनोनीत करनेकी आयरलैण्ड द्वारा स्थापित प्रणालीका हमने अनुकरण किया है। यद्यपि ऐसा करनेसे प्रजातंत्रकी रूढ़ि प्रथाका भंग होता है और शासन करनेवाले दलके हाथों उसका दुरुपयोग होना भी संभव है, तो भी अन्यथाकी स्थितिमें राजनीतिमें प्रवेश न करनेवाले समर्थ व्यक्तियोंका लाभ उठानेके लिए यह खतरा भी मोल लेना चाहिए। भारतके राष्ट्रपतिको राज्यसभामें १२ व्यक्तियोंको मनोनीत करनेका अधिकार है। साहित्य, विज्ञान, कला-कारीगरी अथवा समाजसेवाके क्षेत्रसे उन व्यक्तियोंको; जो अपने क्षेत्रमें विशिष्टता-प्राप्त हों, लोकसभामें नियुक्त करना चाहिए। संविधानका यही आदेश है। अगर राज्यसभामें अब तक मनोनीत सदस्योंकी सूची देखें, तो उनमेंसे बहुतसे प्रथम स्तरके न होकर द्वितीय श्रेणीके ही सदस्य हैं। श्री चन्दा द्वारा 'फेडरेलिज्म इन इंडिया'में उल्लेखानुसार "अब तक की गई पसंदोंमें राजनीतिक पूर्वाग्रह ही देखनेको मिलता है और सांस्कृतिक प्रतिनिधियोंको हमेशा ही मनोनीत नहीं किया जाता।"

राज्य सभा

राज्यसभाके सदस्योंका चुनाव राज्य विधानसभाओंके सदस्य करते हैं। अल्पसंख्यक वर्गों और समूहोंको उचित प्रतिनिधित्व मिलता रहे, अतः यह चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्वकी पद्धतिके आधार पर किए जाते हैं। परन्तु चुनावमें भाग लेनेवाले सदस्योंके अपने-अपने राजनीतिक दलोंके अनुशासनमें बंधे होनेके कारण और विधानसभाके सदस्योंके सादे बहुमतकी पद्धतिके अनुसार चुनाव होनेसे अल्पमतका तो पहलेसे ही सफाया हो जाता है। इन दोनों कारणोंसे संविधानकी अपेक्षाके बिल्कुल उल्टा ही परिणाम आता है। छोटे दलों या निर्दलीय उम्मीदवारोंके लिए लोकसभामें चुनकर आना बड़ा कठिन होने पर भी कभी-कभी वे अपनी योग्यता, जन-सेवा या प्रादेशिक संगठनके बल पर चुन लिए जाते हैं। किन्तु राज्यसभामें ऐसा कुछ भी होना संभव नहीं है। दूसरे ढंगसे कहना चाहें तो अल्पसंख्यक दल या वर्गोंके प्रतिनिधित्वके लिए की गई व्यवस्था निरर्थक ही सिद्ध हुई है। राज्यकी विधानसभाओंके सदस्यों द्वारा अपने-अपने राजनीतिक दलोंका आदेश सामान्यतः

पालन किए जानेके कारण राज्यसभाकी सीटें राजनीतिक नेताओंकी जेबोंमें पड़ी रहती हैं। सौदेबाजी करनेके लिए, चुनावमें पराजित अथवा जनतामें लोकप्रिय न हो; ऐसे नेताके लिए संसदमें जगह करनेके लिए इन सीटोंका उपयोग होता है। राजनीतिक दलोंके बीच इन सीटोंसे सम्बद्ध होकर चलनेवाली सौदेबाजीका विवरण कभी भी बाहर नहीं आता और इसका पता तभी चलता है, जब उसमें किसी प्रकारकी कोई कठिनाई उपस्थित हो जाती है। १९६८की राज्यसभाके चुनावोंमें गुजरातकी स्वतंत्र पार्टीमें इस प्रकारकी सौदेबाजीसे उत्पन्न संकटका उदाहरण देखने लायक है।

समग्रत: देखने पर अग्रगण्य नेताओंके राज्यसभामें यदाकदा आते रहनेसे सामान्यत: प्रथम श्रेणीके नेता उसके सदस्य बनना स्वीकार नहीं करते। प्रो० के० वी० राव द्वारा 'पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी इन इंडिया' नामक ग्रंथमें की गई यह भविष्यवाणी कि "संसदकी सभा कम योग्यतावाली और पक्षपातपूर्ण बन जायगी" सही सिद्ध हुई। इसका उल्लेख करते हुए प्रो० मोरिस जॉन्सने 'गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया'में इस सभाकी तीन उपयोगिताएँ बताई हैं: "कितने ही राजनीतिक पदोंका बँटवारा किया जा सकता है (इसकी मांग भी होती है), चर्चाके लिए कितनी ही सहूलियतें प्रदान करती है (कभी उसकी आवश्यकता दिखाई देती है) और विधान सम्बन्धी कामकाजकी समयसारणी निश्चित करते समय इससे सहायता मिलती है। राज्यसभाके सदस्योंमें प्रतिवर्ष परिवर्तन होते रहनेके कारण उसका आंशिक स्वरूप बदलता रहता है। लोकसभाके स्वरूपको लेकर जो विश्लेषण किया गया है, वह राज्यसभाके लिए उपलब्ध नहीं है।

प्रजातंत्रके रूढ़ि सिद्धान्तोंके अनुसार परोक्ष रूपसे चुनी गई सभा प्रत्यक्ष रूपसे निर्वाचित सभाकी अपेक्षा निम्न श्रेणीकी मानी जाती है और इसी कारण राज्यसभाकी सत्ता लोकसभाकी सत्ताकी अपेक्षा निम्न स्तरकी रखी गई है। विशेषत: आनुमानिक आयव्ययक पर, वित्तीय प्रस्तावों पर और मंत्रिमण्डलको भंग करनेकी उसकी कोई सत्ता नहीं है। इसके विपरीत इस सभाको राज्योंकी प्रतिनिधि सभा मानकर इसके हाथोंमें अनेक ऐसी सत्ताएँ भी दे दी गई हैं, जो लोकसभाके हाथोंमें नहीं हैं। पहले फेडरेशनके प्रकरणमें जिस प्रकारका उल्लेख किया जा चुका है, उसके अनुसार इकाई राज्योंके सत्ताक्षेत्रकी सूचीमेंसे किसी मामलेको केन्द्र सरकारको सौंपनेका निर्णय केवल राज्यसभा ही कर सकती है। अगर कुछ अपवादोंको छोड़ दें तो राज्यसभाने लोकसभाके अनुयायीके रूपमें काम किया है और कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं की है। प्रो० रावका यह कथन थोड़ा कटु होते हुए भी सत्य है कि "यह सभा....उसके निर्माताओंकी अपेक्षाके अनुसार अथवा प्रजातंत्रमें—विशेषत: संसदीय प्रजातंत्रमें—हम जैसा चाहते हैं, वैसी नहीं बन सकी। यह पुराने नेताओंका सम्मेलन नहीं है, अथवा यह देशके किसी अविकृत हितोंका प्रतिनिधित्व नहीं करती; उसके हाथमें बहुत-सी सत्ताएँ हैं, जो इसे नहीं दी जानी चाहिए थीं।" एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि हमारे देशमें प्रवर्तित विशिष्ट दल-पद्धतिके कारण राज्यसभाके स्वरूपका सही विकास अभी हो नहीं सका है। १९६८में एकपक्षीय-प्रभाव-पद्धति कुछ अंशोंमें टूटी है। १९७०के राज्य-सभाके चुनावोंमें इसका असर पड़ेगा। इस तरहसे राज्यसभाके वास्तविक स्वरूपका विकास होने पर ही भारतीय राजनीति—विशेष रूपसे समवायी सम्बन्धों—के विकास-क्षेत्रमें राज्यसभा बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।

संसदकी बैठक बुलानेका आदेश केवल राष्ट्रपति दे सकता है। अमेरिका और फ्रांसके संविधानमें यह व्यवस्था की गई है कि या तो नियत किए हुए समय पर संसदकी बैठक स्वयं होती है या सदस्योंकी मांग पर संसदकी बैठक बुलानी ही पड़ती है। संसदकी स्वायत्ततामें वृद्धि करनेवाली यह व्यवस्था अपने यहाँ नहीं है। परिणामतः राष्ट्रपति किसी भी समय पर संसदकी बैठक बुलानेमें विलम्ब कर सकता है, जो प्रजातंत्रके लिए खतरा भी बन सकता है। लोकसभाको चाहे जब भंग कर देने तथा नए चुनाव आयोजित करनेकी सत्ता केवल मंत्रिमण्डलको सौंपी गई है। किन्तु अधिकाधिक पांच वर्षमें लोकसभाका विसर्जन करना पड़ता है। अगर आपत्कालीन स्थितिकी घोषणा हुई हो तो लोकसभाको अपनी सत्र-मर्यादा एक वर्षके लिए बढ़ानेका अधिकार हैं। यद्यपि ऐसा कभी हुआ नहीं, परन्तु १९६७में इस अधिकारका उपयोग कर चुनाव देरसे कराए जानेकी आशंका की जा रही थी। राज्यसभा स्थायी होनेके कारण उसे भंग नहीं किया जा सकता। उसके एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष मुक्त होते रहते हैं, अतः सदस्यका कार्यकाल छः वर्षका होता है। प्रति वर्ष संसदकी कमसे कम दो बैठकें बुलानी पड़ती हैं; लेकिन अब सामान्यतः तीन बैठकें बुलानेकी परम्परा बनती जा रही है। संसदकी बैठक वर्ष भरमें लगभग १७०-१८० दिनों तक चलती है। संसद-सदस्य अगर सरकारी कामकाजमें रुचि लेना चाहते हों तो उन्हें बहुत-सी पूर्व तैयारी करनी पड़ती है, लोकसम्पर्क बनाए रखना पड़ता है तथा अलग-अलग समितियोंमें काम करने और उसकी रिपोर्टोंको देख जानेमें अच्छाखासा समय व्यय करना पड़ता है। अतः संसद-सदस्यों पर कामका बोझ बना ही रहता है और यह बोझ सतत बढ़ता ही जाता है।

संसद-सदस्योंको वेतन तथा भत्ता देनेकी प्रजातांत्रिक परम्परा हमने आरम्भसे ही स्वीकार कर ली है। प्रत्येक सदस्यको ५०० रुपए मासिक वेतन दिया जाता है और सत्रावधिमें जितने दिन उनकी उपस्थिति हो, उतने दिनका प्रतिदिन ३१ रुपएके हिसाबसे भत्ता दिया जाता है। १९६९-७० में संसद-सदस्योंको दिए जानेवाले वेतन और भत्तेकी रकम पर रु० ३२०००+५०,९७००० नियत की गई है। यों यह अंक बड़ा दिखाई देता है, परन्तु कामके बोझको देखते हुए यह राशि अधिक नहीं मानी जा सकती। १९६८में उपस्थित किए गए प्रस्तावोंके अनुसार संसद-सदस्योंके वेतन तथा अन्य आर्थिक लाभों और सुविधाओंमें वृद्धि करनेका प्रयास किया जा रहा है। इनमेंसे अनेक मांगोंके गुणदोषोंकी चर्चामें बिना उतरे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि बहुतसे सदस्योंके लिए—विशेषतः आर्थिक दृष्टिसे कमजोर उद्दामवादी पक्षोंके सदस्यों, पिछड़े हुए वर्गों तथा आदिवासियोंके प्रतिनिधियोंके लिए—उचित वेतन और भत्तेकी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ इस प्रकारकी सुविधाएँ अपेक्षित मात्रामें प्रदान नहीं की जातीं, वहाँ राजनीतिमें पूंजीवादी वर्गका वर्चस्व बढ़ जाता है; अतः लम्बे समयके अनुभवके बाद यूरोपके प्रजातांत्रिक देशोंने इस प्रणालीको अपनाया है।

संसद-सदस्य होनेके लिए किसी विशिष्ट योग्यताकी जरूरत नहीं होती। लोकसभाके लिए २५ वर्ष और राज्यसभाके लिए ३० वर्षकी आयुका कोई भी नागरिक सदस्य हो सकता है। वह अपराधी और पागल नहीं होना चाहिए, संघ सरकारकी किसी नौकरीमें नहीं होना चाहिए

और संघ सरकारके साथ उसका व्यक्तिगत या संस्थाके संचालकके रूपमें आर्थिक सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। फिर भी राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रियों तथा राज्योंकी धारासभाओं, नगरपालिकाओं, जिला परिषदों या ग्राम पंचायतके अध्यक्षों व सभासदोंको सरकारी कोषसे पैसा मिलने पर भी, इस उद्देश्यके लिए उन्हें कर्मचारी नहीं माना जाता। संसत्सदस्यका समाजमें महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है, अतः उसे प्राप्त करनेके लिए उच्चवर्गके शिक्षित तथा धनी-मानी लोग पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं। १९६७में बम्बईके एक उपचुनावमें १७ प्रत्याशी मैदानमें उतरे थे! पिछले चार चुनाव-परिणामोंका विश्लेषण करनेसे पता चलता है कि लगभग पचास प्रतिशत संसद-सदस्य फिर चुनकर नहीं आते। यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक है। सदस्यताका सातत्य टूट जानेसे संसदको उनके अनुभवका लाभ नहीं मिलता और राजनीतिक क्रियाकलाप अतिशय अनिश्चित और खतरनाक धंधा बन जाता है; परिणामतः बहुत-से योग्य व्यक्ति उसमें जानेसे संकोच करते हैं तो दूसरी ओर, चुने हुए सदस्योंको भविष्यकी कोई गारन्टी न होनेके कारण हाथमें आए हुए इन पांच वर्षोंमें वे यथासंभव अधिक-से-अधिक आर्थिक व राजनीतिक लाभ ले लेनेकी चेष्टा करते हैं।

लगभग आधे सदस्य फिर दुबारा चुन कर नहीं आते; इसमें लोगोंके राजनीतिक मत-परिवर्त्तनके अलावा दो अन्य कारण हो सकते हैं। एक तो यह हो सकता है कि प्रतिनिधिगण अपने व्यक्तिगत और संस्थागत हितोंके साधनमें इतने अधिक डूब जाते हैं कि अपने मतदाताओंके साथ सम्पर्क बनाए रखनेके लिए अपेक्षित चिन्ता, समय और शक्ति नहीं लगा सकते। प्रजातंत्रके अनुभवके अभावमें मतदाता भी अपेक्षाकृत अधिक आशा रखता है और इस प्रकारकी अव्यावहारिक मांग भी प्रस्तुत करता है कि सदस्योंको अपने मतदाताओंके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध बनाए रखना चाहिए। दूसरा कारण यह हो सकता है कि राजनीतिक पक्ष और जनताके तेजोद्वेषी, सत्तालोलुप और असंतुष्ट लोग चुने हुए नेताके सामने उनके दोष और विरोधका उग्र वातावरण तैयार कर देते हैं; अतः बहुतसे लोगोंके लिए दुबारा चुनकर आना कठिन हो जाता है। कारण चाहे जो हो, पर संसद-सदस्योंमें बारम्बार अधिक मात्रामें होनेवाले परिवर्तनसे निष्ठावान् और अनुभवी नेताओंका अभाव-सा हो गया है; यह प्रजातंत्रके विकासके लिए अवरोधक है।

सामान्यतः संसदके दोनों सदन स्वतंत्र रूपसे अपना-अपना काम करते हैं; परन्तु उनके बीच न हल हो सकनेवाले मतभेदके उत्पन्न होने पर संविधानमें दोनों सदनोंकी संयुक्त बैठक बुलानेकी व्यवस्था रखी गई है। दहेज प्रतिबन्धक धारा विषयक उत्पन्न मतभेदको हल करनेके लिए १९६१में इस प्रकारकी संयुक्त बैठक पहली ही बार बुलाई गई थी। दोनों सदनोंमें एक ही दलका बहुमत होने पर भी उसके सदस्योंके बीच तीन-चार बार संघर्षके प्रसंग उपस्थित हो गए थे। भविष्यमें कभी दोनों सदनोंमें अलग-अलग राजनीतिक दलोंका बहुमत होने पर तो इस संघर्षका अधिक उग्र हो जाना संभव है।

इस आशयसे कि संसद अपना काम पूरी तरहसे अंजाम दे सके, उसे बाहरके—पुलिस और न्यायतंत्र आदिके—सभी अंकुशोंसे मुक्त रखा गया है। परन्तु सभाका कामकाज व्यवस्थित

रूपसे चलानेके लिए तथा सदस्योंकी वाणी और व्यवहार पर अंकुश रखनेके लिए दोनों सदन अपनी-अपनी कार्यवाहीके नियम स्वयं ही बना लेते हैं। सभाओंके अध्यक्ष इन नियमोंका पालन कराते रहते हैं। लोकसभाका प्रमुख या अध्यक्ष स्पीकर कहा जाता है और इसका चुनाव पाँच वर्षके लिए किया जाता है। भारतके उपराष्ट्रपति राज्यसभाकी अध्यक्षता करते हैं। दोनों अपनी-अपनी सभाके अधिष्ठाता और रखवाले माने जाते हैं। शासनसे संबंधित प्रश्न पूछनेके लिए, कानूनी मुद्दे उठानेके लिए, किसी विषय पर प्रस्ताव प्रस्तुत करनेके लिए अथवा सभागृहका किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर ध्यान आकर्षित करनेके लिए सभाध्यक्षकी अनुमति लेनी पड़ती है। उसके द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम माना जाता है और उसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती। अनुचित व्यवहार या भाषा-प्रयोग पर सभाध्यक्ष सदस्यको टोक सकता है, सदनसे बाहर निकाल सकता है और सदस्योंका समर्थन मिलने पर कम या अधिक समयके लिए उसे निलम्बित भी कर सकता है तो दूसरी ओर सदस्योंको पूरी जानकारी प्राप्त करने, अपने विचारोंको निर्भय होकर व्यक्त करनेका पूरा अवसर देने और अनुचित रीतिसे परेशान और निरोधके विरुद्ध उन्हें रक्षण मिले, यह देखनेका दायित्व सभाध्यक्षका है।

इस प्रकार संसद और कार्यकारिणीके बीच ये सभाध्यक्ष कड़ीके रूपमें हैं; परन्तु राज्यसभाके अध्यक्ष और स्पीकर—इन दोनोंमेंसे स्पीकरका पद और उसकी सत्ता अधिक उच्च मानी गई है। संसदकी व्यवस्था और चर्चा—दोनों पर उसका अंकुश है; क्योंकि किसी भी तंत्रकी—यहाँ तक कि संसदकी भी—स्वच्छन्दता प्रजातंत्रके लिए घातक है।

स्पीकर अपनी सत्ताओंका उचित उपयोग करे, पक्षपातसे परे रहे, सभी सदस्योंके साथ समान भावसे व्यवहार करे और राजनीतिक अखाड़ेबाज़ीसे मुक्त रहे, इस आशयसे अंग्रेजी स्पीकर-पदकी परम्पराके आधार पर रचित आदर्श हमारे यहाँ सार्वत्रिक रूपसे स्वीकृत होने पर भी उसके लिए आवश्यक व्यवस्था पर अमल नहीं होता। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्डमें स्पीकरको चुनाव नहीं लड़ना पड़ता। कोई भी पक्ष उसके विरुद्ध अपना प्रत्याशी खड़ा नहीं करता। १९३६में मजदूर दलने इस परम्पराको तोड़कर अपना प्रत्याशी खड़ा किया। स्पीकर द्वारा बिल्कुल चुनाव-प्रचार न किए जाने पर भी मतदाताओंने मजदूर दलको भयंकर चोट दी। इंग्लैण्डमें निर्विरोध चुने जानेके प्रति आश्वस्त होकर स्पीकर राजनीतिक दलोंके साथ अपना सम्बन्ध छोड़ देता है और उसे प्रचारकी जरूरत न रहनेके कारण चर्चास्पद प्रश्नोंके विषयमें वह हमेशा चुप रहता है। और तो और, आमसभामें अन्य दलका बहुमत होने पर भी पुराना स्पीकर बनाए रखा जाता है। हमारे यहाँ राजनीतिक दल इस प्रकारकी प्रणाली स्थापित नहीं होने देते। उदाहरणार्थ, बम्बईकी विधान-सभाके स्पीकर श्री सीलमने अपने दलसे टिकटकी प्रार्थना की, परन्तु कांग्रेस समितिने उनके स्थान पर दूसरे प्रत्याशीको चुना। इस प्रकारकी अनिश्चितता होने पर तथा चुनाव लड़नेकी स्थिति उत्पन्न होने पर स्पीकरोंको राजनीतिक दलोंके साथ सम्बन्ध रखना जरूरी हो जाता है। लोक-सभाके पहले दो स्पीकर—श्री मावलंकर और श्री अनन्तशयनम् आयंगर—कांग्रेस के सदस्यके रूपमें बने रहे थे। श्री हुकुमसिंहने भी अन्तिम दिन तक कांग्रेससे सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया था। श्री संजीव रेड्डीने स्पीकर पद पर आते ही कांग्रेस दलसे त्यागपत्र दे दिया था और दलके अधिवेशनमें उपस्थित होनेके लिए मिले निमंत्रणको भी अस्वीकृत कर दिया था। पंजाबी सूबे जैसे

विवादास्पद प्रश्नके लिए नियुक्त समितिका अध्यक्षपद (स्पीकरके रूपमें बने रहकर भी) स्वीकार कर श्री हुकुमसिंहने अपने पदके गौरवको घटाया ही था। स्पीकर पदसे निवृत्त होने पर श्री अनन्तशयनम् आयंगर तथा श्री हुकुमसिंहको राज्यपालके रूपमें नियुक्त करनेका सरकारी निर्णय दूसरे स्पीकरोंको ललचानेवाला माना जा सकता है। अतः स्पीकरके रूपमें कार्य करते समय उसकी निष्पक्षताके सम्बन्धमें शंका उत्पन्न करनेवाला होनेसे राज्यपालके पदके सम्बन्धमें निर्णय अनुचित ही माना जायगा। इंग्लैण्डमें निवृत्त होनेके बाद स्पीकरको किसी प्रकारका पद नहीं दिया जाता। १९५४में स्पीकर श्री मावलंकरके विरुद्ध विरोधीदलों द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव इस बातको स्पष्ट करता है कि उनकी तटस्थताको लेकर विरोधीदलोंमें उनके प्रति विश्वास न था।

स्पीकरके पदसे सम्बद्ध ब्रिटिश आदर्शोंसे हम अभी तक बहुत दूर हैं। पर हमें यह याद रखना चाहिए कि इंग्लैण्डमें भी लम्बे समय तक—१८०६ तक—स्पीकर पदकी यह परम्परा स्थापित नहीं हुई थी और अमेरिकाका स्पीकर राजनीतिमें जितना दखल देता है, उतना तो अपने यहाँका स्पीकर भी नहीं करता। अगर संसदीय प्रजातंत्रके गौरवकी सुरक्षा करनी हो तो जो सभी दलोंका आदर प्राप्त कर पाये, ऐसे तटस्थ स्पीकरके अभावमें हमारा काम चलनेवाला नहीं है। अगर स्पीकर ही पक्षपाती बन जाय तो संसदीय व्यवस्था कितनी सीमा तक समाप्त हो जायगी, इसका उदाहरण सन् १९६८में बंगाल और पंजाबके स्पीकरोंने उपस्थित कर दिया है।

संसद मुक्त और कार्यक्षम हो, उसके सदस्योंकी सुरक्षा और पदका महत्व बना रहे, इस आशयसे इन सदस्योंको कितने ही विशेषाधिकार दिए गए हैं। इन विशेषाधिकारोंको स्पष्ट करनेवाला नियम अभी तक भारतमें नहीं बन पाया है। जब तक इस प्रकारके नियम न बन जायँ, तब तक इंग्लैण्डकी आमसभाके सदस्य जिन विशेषाधिकारोंका उपभोग करते हैं; वे सब अधिकार संसदके सदस्य भोगेंगे। उक्त बात संविधानमें निश्चित कर दी गई है। इस स्थितिमें परम्परा और रीति-रिवाजों पर आवृत आमसभाके विशेषाधिकारोंकी निश्चित व्याख्या और सीमा कोई नहीं जानता। यह दूसरी बात है कि अब कुछ व्यवस्थाएं और नियम स्पष्ट हो गए हैं। सभागृहोंमें जो कुछ बोला या किया जाता है, उसके लिए सदस्य किसी बाहरके व्यक्तिके प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। संसद देशका चौराहा होनेके कारण सभा द्वारा स्वीकृत सीमाओंमें रहकर सदस्योंको स्वेच्छया बोलने और करनेकी छूट रहती है। मानहानिका कानून सदनमें लागू नहीं होता। जब पार्लियामेन्टकी बैठक चलती हो, उस समय दीवानीके आरोपमें किसी सदस्यकी गिरफ्तारी नहीं की जा सकती। सभाके भवनमें रहनेके समय तक किसी भी सदस्यको किसी भी कारण बंदी नहीं बनाया जा सकता। फौजदारीके आरोपमें अगर किसी सदस्यको पकड़ा ही जाय तो उसकी सूचना तुरन्त और निश्चित विवरणके साथ अध्यक्षको देनी पड़ती है। सरकारसे सम्पूर्ण और सही जानकारी प्राप्त करनेका सदस्योंको अधिकार है। उन्हें गलत रास्ते पर नहीं ले जाया जा सकता। उनके उद्देश्यके सम्बन्धमें शंका नहीं उठाई जा सकती। उनके द्वारा कही गई बात विकृत रूपमें प्रकाशित नहीं की जा सकती। उन्हें धमकी या रिश्वत नहीं दी जा सकती। किसीके द्वारा भी ऐसा कोई कार्य नहीं किया जा सकता, जिससे उनकी मानहानि हो या उन्हें हास्यास्पद स्थितिमें आ जाना पड़े। सदस्योंके विशेषाधिकार भंग करनेवाले व्यक्तिको बंदी बनाने और उसे नजरबन्द करनेका अधिकार संसदको सौंपा गया है।

ये विशेपाधिकार ज़रूरी और उपयोगी हैं और उनका वारम्वार पूरा उपयोग किया गया है। दोनों सदनोंकी विशेपाधिकार समितियोंके द्वारा अधिकार-भंगकी जाँचके यदाकदा प्रस्तुत विवरणसे यह पता चल सकता है कि किसी भी व्यक्ति या संस्था द्वारा उनके अधिकारोंका भंग न हो, इसकी पूरी-पूरी जागरूकता सभी सदस्य रखते हैं। वम्वईके वुलियन एक्सचेन्जसे पैसा ले लेने वाले और इस प्रकार संसदके गौरवको नष्ट करनेवाले संसद-सदस्य श्री मुद्गलको लोकसभासे निकाल दिया गया था; १९६६में वस्तर प्रसंगके विषय पर लोकसभाकी चर्चाके वीच तीन सदस्यों द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोणके फलस्वरूप, जनता उनसे वदला लेगी, इस प्रकारका तार तीनों सदस्योंको भेजनेके परिणामस्वरूप श्रमिक नेता श्री जार्ज फर्नान्डिसको क्षमा माँगनी पड़ी थी। १९६१में श्री कृपलानीजीका मज़ाक उड़ानेके कारण 'व्लिट्ज'के सम्पादक श्री करंजियाको लोकसभामें वुला कर उनकी भर्त्सना की गई थी। संसद-सदस्य सरकारी कर्मचारियोंकी निराधार वदनामी करते हैं, ऐसा एक पत्र पं० नेहरूको लिखनेके आरोपमें नेहरूके रहस्यमंत्री श्री जॉन मथाईको क्षमा माँगनी पड़ी थी। पत्रोंके सम्पादकों, सरकारी अधिकारियों, मंत्रियों और अन्य अनेक व्यक्तियोंके विरुद्ध इस विशेषाधिकार समितिने अनेक वार जाँच की है।

इंग्लैण्ड और भारतकी संवैधानिक स्थितिमें निहित मूलभूत अन्तरके कारण यह प्रश्न थोड़ा उलझन भरा वन जाता है। इंग्लैण्डमें सार्वभौम सत्ता प्राप्त पार्लियामेन्ट जो कुछ कहती या करती है, वह नियम वन जाता है और लिखित संविधानका अभाव होनेके कारण नागरिकोंके मूलभूत अधिकार उसकी सत्ताको सीमित नहीं करते। हमारे देशमें संसद सर्वोपरि न होकर संविधान सर्वोपरि है और संसदका सत्ताक्षेत्र उसे दी गई सत्ताओं तक ही सीमित है। संसदको ऐसा कोई भी नियम वनानेका अधिकार नहीं है, जो नागरिकोंके मूलभूत अधिकारोंको भंग करने वाला हो। इतना ही नहीं, परन्तु १९६७के आरम्भमें सर्वोच्च न्यायालयने ऐसा फैसला दिया है कि जिनसे मूलभूत अधिकारों पर आघात होता हो, ऐसे संवैधानिक सुधार करनेका भी संसदको अधिकार नहीं है।

ऐसे विवादास्पद प्रश्न अगर एक तरफ रख भी दें और संविधानमें परिवर्त्तन किए विना संसद नागरिकोंके मूलभूत अधिकारोंको छीननेका कोई कदम भी उठाए तो अदालत उसे रद्द कर सकती है। परन्तु दूसरी तरफ, संसदके विशेषाधिकारोंसे अगर नागरिकोंके मूलभूत अधिकारों—नागरिकोंके व्यक्ति-स्वातंत्र्य और वाणी-स्वातंत्र्य—को चोट पहुँचती हो; तो कितनी कठिन समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। कितनी ही वार संसद-सदस्य थोड़ी कटु और तीखी आलोचनासे उवल पड़ते हैं और विशेषाधिकारका प्रश्न उठाना चाहते हैं। परन्तु सार्वभौम सत्ता उनके हाथमें न होकर प्रजाके हाथमें है; उनके कार्यों पर उन्हें टोकनेका और जनताके वीच उनके कार्योंकी आलोचना करनेका अधिकार नागरिकों—विशेपतः पत्रकारोंको—होना चाहिए। इस वातको संसद-सदस्य भूल गए हैं।

प्रजातंत्रमें किसी भी व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्थाको अपने हित या प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए विशेपाधिकार नहीं दिए जा सकते। इंग्लैण्डकी आमसभा द्वारा राजतंत्रके विरुद्ध लम्वे समय तक चलाई गई लड़ाईकी अवधिमें राजाके एकाधिकारकी सत्ताके विरुद्ध वचाव करनेके लिए उत्पन्न ये विशेपाधिकार, प्रजातंत्रकी स्थापनाके वाद, इंग्लैण्डमें भी कम होते जा रहे हैं और नए विशेपाधिकारोंका निर्माण रुक गया है। ठीक इसके विपरीत भारतमें संसदके विशेपाधिकारोंसे अखवारोंकी स्वतंत्रता पर

बहुत बड़ा आघात हुआ है और बहुतसे पत्रकारोंको व्यक्तिगत रूपसे बहुत कुछ सहन करना पड़ा है। भारतीय पत्रकारोंको अंग्रेजी शासनमें टीका करनेकी जितनी छूट मिलती थी, उतनी अब नहीं मिलती। पत्रकार मण्डलकी यह शिकायत अगर सच है तो यह चिन्ताजनक है। अमेरिकन सिनेटर श्री मेकार्थी जैसा जड़ और जनूनी सदस्य अगर अपनी संसदमें हो तो ? श्री मेकार्थीको सार्वजनिक जीवनसे निकाल फेंकनेके लिए, अमेरिकाके पत्रों द्वारा शुरू किया अभियान अपने यहाँ चलाना असंभव हो जाय। पत्रकारोंने इस विशेषाधिकारके सामने उग्र ऊहापोह किया है। १९५४में प्रस्तुत किए गए विवरणमें समाचार-पत्र-आयोगने कहा है कि "संसद प्रामाणिक रूपमें की गई टीकाओंके प्रति भी अपेक्षाकृत अधिक जागरूक है और अनुचित रूपसे नाराज़ हो जाती है।" ब्रिटेनकी आमसभाके अधिकारोंका भोग सिद्ध करनेवाली धारा कामचलाऊ है और उसमें या उसके अन्तर्गत की गई अपेक्षाके अनुसार विशेषाधिकारकी सीमा निश्चित करनेवाला कानून संसदको बना देना चाहिए। यह माँग बार-बार उठाई जाती रही है, पर संसदने इस दिशामें कुछ नहीं किया है और न करनेकी इच्छा ही दिखाई देती है।

संसद संविधानसे ऊपर नहीं हो सकती और जनताके संवैधानिक स्वातंत्र्य पर आघात करने वाले अगर संसदके विशेषाधिकारोंकी व्याख्या की गई तो न्यायपालिका ऐसे नियमको उड़ा देगी, शायद इसी "भयसे संसद अपनी सत्ताओं, विशेषाधिकारों और विमुक्तियोंकी व्याख्या करने वाला नियम नहीं बनाती।" १९५८में चलाए गए सर्चलाइट केसमें सर्वोच्च न्यायालयने इस प्रकारका मत प्रदर्शित किया था। अभी तक विशेषाधिकारके नियमोंमें अस्पष्टता होनेके कारण न्यायालय कुछ नहीं कर पाते और संसदकी जोहुकुमीके अलावा नागरिकोंके पास कोई विकल्प नहीं है। १९६०के ब्लिट्ज़के मामलेमें सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीश श्री दासके कथनानुसार "ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी नागरिकोंके अनुचित व्यवहारके कारण नहीं; परन्तु सदस्योंके बहुमतके वैरभावयुक्त अथवा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोणके कारण उत्पन्न संसदके प्रकोपसे नागरिकोंका रक्षण करनेवाला कोई अदालती उपाय नहीं है।"

विशेषाधिकार विषयक कानून बनानेमें आनाकानी कर आमसभाके अधिकारोंको प्राप्त अस्थायी स्वीकृतिको संसद स्थायी बना देना चाहती है। इस प्रकारकी आशंका भी सर्वोच्च न्यायालयने व्यक्त की है।

१९५९में राज्योंकी विधानसभाओं और लोकसभाके स्पीकरोंका सम्मेलन राजकोटमें हुआ था। विशेषाधिकार विषयक चर्चामें बोलते हुए स्पीकर श्री मावलंकरने कहा था कि "इस प्रकारका कानून आवश्यक नहीं है और इससे जनता अथवा पत्रकारोंको कोई लाभ नहीं होगा।" विशेषाधिकारोंकी समीक्षा करनेके लिए १९६४में दिल्लीमें आयोजित एक परिसंवाद गोष्ठीमें बोलते हुए श्री कृष्णमूर्ति रावने कहा था कि "संसदके अधिकार सुरक्षित रहने चाहिएं; क्योंकि अगर संसद आज़ाद नहीं होगी तो वह किसीकी आज़ादीको सुरक्षित नहीं रख सकती।"

इस विषयमें दो मत नहीं हो सकते कि संसदका स्वातंत्र्य बना रहना चाहिए; परन्तु उससे नागरिकोंके मूलभूत अधिकारों पर अनुचित बन्धन भी नहीं लगने चाहिए।

इकाई-राज्योंकी विधानसभाओंके सदस्योंको भी संसदके समान ही अधिकार दिए गए हैं और उनके अनुचित उपयोगके अनेक उदाहरण उल्लिखित हैं। ऐसे अवसरों पर नागरिकोंका रक्षण

करनेमें प्रयत्नशील न्यायपालिकाके साथ भी विधान-सभाओंका टकराव हुआ है। सन् १९६४में उत्तर प्रदेशकी विधान-सभा द्वारा श्री केशवसिंहके विरुद्ध जारी वारन्टके विरुद्ध दाखिल अर्जीको हाईकोर्टकी लखनऊ बेंचने स्वीकार कर लिया और उसके निष्पादनको स्थगित कर दिया। इस पर विधानसभाने न्यायाधीश और बचाव-पक्षके वकीलों पर सम्मन निकाले। इन्हें गैरकानूनी घोषित करके सभी न्यायाधीशोंने एकमतसे रद्द कर दिया। अन्ततः केन्द्र सरकारने बीचमें पड़कर सर्वोच्च न्यायालयका अभिप्राय माँगा। दोनों पक्षोंकी बातें सुनकर सर्वोच्च न्यायालयने विधानसभाका कदम पूर्णतः गलत बताया। सामान्य नागरिकके लिए सही मामलोंमें भी न्याय पानेका काम अत्यन्त खर्चीला और दुष्कर होनेके कारणोंको अगर ध्यानमें रखा जाय तो विशेषाधिकारका बन्धनहीन उपयोग विकसनशील प्रजातंत्रके लिए बहुत खतरनाक माना जायगा। "इंग्लैण्डमें जो संसदीय अधिकार प्रजातंत्रके कवच बने थे, वे भारतमें तानाशाहीके साधन बन सकते हैं।"—प्रो० रावकी यह चेतावनी ध्यानमें रखने योग्य है। इस विशेषाधिकारका उपयोग केवल बाहरके व्यक्तियोंके विरुद्ध ही नहीं होता, वरन् संसदके सदस्योंके—विशेषतः मंत्रियोंके—विरुद्ध भी होता है और किया जा सकता है। १९६५-६६में केन्द्र सरकारके मंत्रियोंके विरुद्ध अनेक बार विशेषाधिकार भंग करनेके प्रस्ताव संसदमें प्रस्तुत किए गए थे और मंत्रियों पर यह आक्षेप लगाया गया था कि वे लोकसभाको गलत जानकारी देते हैं, गलत रास्ते पर ले जाते हैं या लोकसभाका अधिवेशन होते रहने पर भी राजनीति-विषयक महत्वपूर्ण घोषणा संसदके बाहर कर देते हैं।

संसद या विधानसभाके विशेषाधिकारोंको बिल्कुल रद्द करना तो संभव नहीं है और न वांछनीय ही है। विचार-स्वातंत्र्य, धौंस-धमकी तथा रिश्वतसे मुक्ति, सरकारी नज़रबन्दीकी अस्वीकृति आदि अनेक प्रकारके अधिकारोंकी संसदको कार्यक्षम बनानेके लिए जरूरत है। परन्तु संसदके विशेषाधिकारों और जनताके मूलभूत अधिकारोंके बीच अच्छे संबंध स्थापित करनेकी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ तो इतना ही स्पष्ट करना पर्याप्त है।

संसदीय प्रणालीके अनुसार भारतकी संसद भी मुख्यतः तीन काम करती है: (१) संसद कानून बनाती है और सरकारी वित्तके आय-व्यय पर अंकुश रखती है, (२) प्रशासनिक तंत्र पर नज़र रखती है और लोगों द्वारा सहे जा रहे अन्यायों, कठिनाइयों तथा लोगोंकी अपेक्षाओं पर प्रकाश डालती है तथा (३) राजनीतिकी प्रसंगानुकूल समीक्षा कर सरकारी नीतिका निर्माण करती है। हमारी संसदमें इंग्लैण्डकी पालियामेन्टकी कार्य-पद्धति तथा उसके नियमादि स्वीकार कर लिए गए हैं। कुछ बातोंमें सुधार भी किए गए हैं। पालियामेन्टके कुल समयका चौथाई भाग कानून बनानेके काममें निकल जाता है और लगभग इतना ही समय आय-व्ययक पर चर्चा और तत्सम्बन्धी प्रशासनिक तंत्रकी छानबीन करनेमें निकल जाता है। प्रश्नोत्तरों, प्रस्तावों और दरख्वास्तोंकी चर्चामें समयका लगभग एक-चौथाई भाग निकल जाता है और शेष चौथाई भाग राजनीतिकी चर्चामें तथा सभाके अन्य आनुषंगिक कार्योंमें व्यतीत हो जाता है।

कार्य करने और संसदकी कार्यवाहीमें भाग लेनेका समान अधिकार होनेके कारण सैद्धान्तिक रूपमें कोई सदस्य सभाके समयका उपयोग कर सकता है; पर व्यवहारमें इस प्रकार नहीं होता।

पाँच वर्षकी सत्रावधिमें कामके लिए प्रयुक्त कुल घण्टोंको जोड़कर सदस्योंके बीच समान भागसे बाँट दिया जाय तो लोकसभाके प्रत्येक सदस्यके हिस्सेमें डेढ़ घण्टेसे कुछ कम समय ही आता है। राज्य सभाके सदस्योंको लगभग दुगुना समय मिलता है। परन्तु संसद्के अधिकांश सदस्य सक्रिय रूपसे भाग नहीं लेते; अतः अधिक क्रियाशील और शक्तिशाली सदस्य इस समयका अधिक उपयोग कर पाते हैं। दूसरे, लोकसभाकी कार्यवाहीके विषयमें प्राप्त आँकड़ों पर नज़र डालनेसे पता चलता है कि १९५७से १९६२के पाँच वर्षोंके बीच लगभग १०४ सदस्योंने संसदमें पूर्ण मौन ही रखा था। प्रा० मोरिस जॉन्सने उल्लेख किया है कि "मंत्रियोंके अतिरिक्त लगभग ६०-७० सदस्य ही सक्रिय रूपसे कार्य करते मालूम होते हैं।" अर्थात् संसदके लगभग २० प्रतिशत सदस्य ही सतत प्रवृत्तिशील रहते हैं। इंग्लैण्डकी पार्लियामेन्ट तथा अन्य देशोंकी विधानसभाओंमें भी लगभग इस प्रकारकी ही परिस्थिति होती है। अगर प्रत्येक सदस्य अपने भागमें आए समयका उपयोग करनेका आग्रह करे तो संसदका व्यवस्थातंत्र टूटे बिना नहीं रहेगा और विचार-विनिमय होना रुक-सा जायगा। वास्तवमें, लगभग ८० प्रतिशत निष्क्रिय सदस्योंके सहयोगसे ही विश्वकी प्रजातांत्रिक धारासभाएँ सरलतासे और सक्षम रूपसे काम कर रही हैं!

सदनकी उपस्थिति-पंजिकामें हस्ताक्षर करनेके बाद पूरे समय तक वे सभामें अनुपस्थित ही नहीं, वरन् जो कोरम—उपस्थितिका न्यूनतम अंक—निश्चित किया गया है; उसे पूरा करनेकी भी कभी-कभी समस्या उपस्थित हो जाती है। इंग्लैण्डकी कॉमन सभामें तो यह मान कर कि सभी सदस्य उपस्थित नहीं रहेंगे, सबके बैठनेकी व्यवस्था भी नहीं की जाती। किसी महत्वपूर्ण प्रसंग पर जब सब सदस्य उपस्थित होते हैं तो उनमेंसे एक-तिहाई सदस्योंको खड़ा ही रहना पड़ता है। उपस्थिति देनेके बाद सदस्य अलग-अलग कार्यालयोंमें, समितियोंके कमरोंमें काम करने या उपहारगृहोंमें चले जाते हैं अथवा आराम करते हैं। संसदका रोजमर्राका काम इतना नीरस होता है कि वहाँ बैठे-बैठे सदस्योंको मीठी नींदका झोंका आ जाता है और वे भरपूर एक नींद ले लेते हैं।

संसदकी बैठक प्रतिदिन प्रश्नोत्तरीसे आरम्भ होती है। प्रश्नोत्तरी एक घण्टे तक चलती है। चाहे जिस विभागसे सम्बद्ध चाहे जितने प्रश्न पूछनेका अधिकार सदस्यको रहता है; परन्तु प्रश्न अपमानजनक, व्यंग या आधारहीन, काल्पनिक या सुझावपूर्ण न होने चाहिए। प्रश्नोंका उद्देश्य केवल जानकारी प्राप्त करना होनेके कारण उसमें राजनीतिकी विशद् चर्चा नहीं हो सकती। ये प्रश्न पहलेसे ही भेज देने होते हैं। सूचनाके अभावमें या सार्वजनिक हानि होनेकी संभावनाके आधार पर मंत्री किसी भी प्रश्नका उत्तर देना टाल सकता है; परन्तु बारबार जवाब देना टालते रहनेवाला मंत्री संसदकी शुभेच्छा खो देता है और उसे अन्य कार्योंमें अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पाता। ये प्रश्न और उनके उत्तर पहलेसे मुद्रित कर निश्चित किए हुए दिन सदस्योंमें बाँट दिए जाते हैं। महत्वपूर्ण प्रश्नोंको तारक चिह्नित प्रश्न कहा जाता है और वस्तुतः ये प्रश्न संसदमें पूछे जाते हैं। सदस्य मुद्रित प्रश्न पढ़ जाता है और मंत्री मुद्रित उत्तर पढ़ कर सुना देता है; फिर भी उस प्रश्नसे सम्बद्ध कोई भी पूरक प्रश्न किसी भी सदस्य द्वारा पूछा जा सकता है और इस प्रकार अनिर्धारित सवाल-जवाबोंकी महफिल जम जाती है। सदस्य और मंत्री इन अवसरों पर अपनी

धाक जमा सकते हैं; क्योंकि पूरक प्रश्नोत्तरीके समय दोनों पक्ष पूर्व तैयारी किये हुए नहीं होते हैं। समयानुकूल, स्वस्थ और सहज विनोद, मर्मभेदी कटाक्ष और अचानक किए जाने वाले प्रश्नोंका उत्तर देनेकी क्षमता आदिके मामलोंमें सदस्य और मंत्रीकी पूरी परख हो जाती है। प्रश्नोत्तरी-काल संसदमें सबसे अधिक रसप्रद समय होता है; क्योंकि उस समय शिकारका साहस और कुश्तीके दांवपेंच एक साथ ही देखनेको मिल जाते हैं। बैठकके शुरू होते ही प्रतिदिन लगभग सौ प्रश्न पूछे जाते हैं, जिसमें २०-३० प्रश्न तो तारक चिह्न वाले होते हैं और इस प्रकारके प्रत्येक प्रश्न पर सामान्यतः दो-तीन पूरक प्रश्न पूछे जाते हैं। वरिष्ठ सदस्य सामान्यतः प्रश्न नहीं करते; परन्तु बादमें पूरक प्रश्नोंके समय हमेशा मैदानमें उतर आते हैं। अनेक बार तो इस प्रकारके प्रश्नोंसे अत्यन्त महत्वपूर्ण रहस्य फूट निकलते हैं। श्री फीरोज गांधी द्वारा पूछे गए सवालके जबावमेंसे ही हरिदास मूँदड़ाके क्रियाकलाप प्रकाशमें आए, जो सर्वविदित हैं। चीनके अतिक्रमणसे सम्बद्ध आरम्भमें भारत सरकार द्वारा की गई ढाँकाढाँकी श्री अटलबिहारी वाजपेयीके प्रश्नोंसे ही लोगोंकी नज़रोंमें चढ़ी।

प्रश्नोत्तरी-पद्धति हमने इंग्लैण्डकी अपनाई है, पर उसमें कुछ महत्वपूर्ण बातें भी जोड़ दी गई हैं। इंग्लैण्डमें सवाल-जबाबों पर चर्चा नहीं की जा सकती; अतः संसद सरकारकी भूलों पर टिप्पणी नहीं दे सकती। इन प्रश्नों पर चर्चा (interpelliation) करनेकी पद्धति फ्रान्सने शुरू की, जो देशके लिए अत्यन्त खतरनाक सिद्ध हुई और परिणामस्वरूप अनेक मंत्रि-मण्डल उखड़ गए। हमारी संसदने इन दोनोंके बीचका एक मध्यम मार्ग ढूंढ निकाला है। सवाल-जबाबसे निष्पन्न होने वाले किसी भी मामलेकी चर्चाके लिए शामको आधे घण्टेका समय निश्चित है और उस समय किसी भी प्रकारके प्रस्तावको पेश किए बिना केवल चर्चा की जाती है। मंत्रि-मण्डल पर किसी भी प्रकारका खतरा न होनेके कारण उन्मुक्त और हल्के वातावरणमें होनेवाली यह चर्चा दोनों ही पक्षोंके लिए उपयोगी सिद्ध होती है। यह व्यवस्था भारतकी मौलिक शोध है और संसदीय प्रजातंत्रके विकासमें एक महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रश्नोत्तर-काल समाप्त होनेके बाद और सभाकी कार्यवाही शुरू होनेके पहले कोई भी सदस्य सभा-स्थगनका प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है। सार्वजनिक हितोंको स्पर्श करनेवाला गंभीर प्रश्न अचानक उपस्थित होनेके कारण सभाके कार्यक्रमको स्थगित कर पहले इस प्रश्न पर चर्चा होनी चाहिए; इस प्रकारकी प्रार्थना करते समय सदस्य एक छोटा-सा भाषण भी दे सकता है। इन प्रार्थनाओं या प्रस्तावोंमें विशेषतः यह ध्वनि होती है कि इस प्रश्न पर सरकार ध्यान देनेमें असफल हुई है या उसके संचालनमें असफल हुई है। प्रशासनिक तंत्रकी असफलता, असावधानी या निर्दयताकी ओर सदन और जनताका ध्यान आकृष्ट करनेके लिए सभा-स्थगनके प्रस्तावका उपयोग होनेके कारण सरकार सामान्यतः इसका विरोध करती है। थोड़ी-सी चर्चाके बाद प्रस्तावको स्वीकारने या अस्वीकारनेके लिए मत लिया जाता है। संसदीय सरकारका सदनमें बहुमत होनेके कारण प्रस्ताव पराजित हो जाता है। इस प्रकारके प्रस्तावको उपस्थित करनेके पूर्व सभाध्यक्षकी अनुमति लेनी पड़ती है और उसे आश्वस्त करना पड़ता है कि प्रस्तुत की जानेवाली बात गंभीर है, तत्काल विचारणाकी अपेक्षा रखती है तथा सार्वजनिक हितमें है।

संसदका काम निश्चित कार्यक्रमके अनुसार चलते रहना अत्यन्त आवश्यक होनेके कारण सामान्यत: इस प्रकारकी अनुमति नहीं दी जाती और अनुमति मिलने पर भी सरकारका बहुमत होनेके कारण प्रस्ताव प्राय: विचारार्थ स्वीकृत नहीं होता। १९५२-५४की अवधिमें अध्यक्षने ऐसा एक भी प्रस्ताव उपस्थित करनेकी अनुमति नहीं दी थी; परन्तु बादमें इसमें थोड़ी छूट दे दी गई है। पहली लोकसभामें अध्यक्षने सभा-स्थगनके १९२ प्रस्तावोंमेंसे केवल दो पर चर्चा करनेकी अनुमति दी थी। १९५७-६२के पांच वर्षोमें लोकसभामें सभा-स्थगनके १,२६२ प्रस्तावोंमेंसे ५०२ प्रस्तावोंको सभामें पेश किया गया और मात्र तीन पर ही चर्चा हो सकी थी।

यह तथ्य प्रजातांत्रिक दृष्टिसे खटकनेवाला है। परन्तु इससे भी अधिक खटकनेवाली बात तो यह रही है कि सभा-स्थगनके लिए प्रस्तुत प्रस्ताव गंभीर घटनाओंके संदर्भमें पेश न किए जाकर मामूली बातोंके आधार पर किए जाते रहे हैं। पिछले तीन-चार वर्षोसे तो अध्यक्ष द्वारा अस्वीकार किए जाने पर भी प्रस्ताव पेश करनेके लिए और उसकी अस्वीकृतिके सामने विरोध प्रकट करनेके लिए शोरशराबा और धाँधली आदिका सहारा लेकर अनुशासन भंग करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। परिणामत: अनुशासन भंग करनेके कारण सजा देने अथवा धाँधली करनेके बहुतसे मामले इसी कारण होते हैं और इन अशोभनीय कृत्योंके कारण संसदका बहुमूल्य समय बरबाद होता है।

इंग्लैण्डमें इस प्रकारका प्रस्ताव वर्षमें एकाध बार ही पेश किया जाता है और यह उल्लेख्य है कि पिछले ६०-७० वर्षोमें इस प्रकारके एक भी प्रस्ताव पर चर्चा करनेकी सभा द्वारा स्वीकृति नहीं मिली।

सरकारी नीतिका विश्लेषण करनेवाले, उसका अनुमोदन करनेवाले अथवा उसमें परिवर्तन करनेवाले प्रस्ताव संसदमें यदाकदा उपस्थित होते रहते हैं और अधिकांशत: ये सरकार द्वारा ही पेश किए जाते हैं। किसी विभाग या मंत्रीकी कड़ी आलोचना करने या उसका बचाव करनेका यह प्रसंग होता है। सरकारके प्रति अविश्वासका प्रस्ताव केवल लोकसभामें ही उपस्थित किया जा सकता है; क्योंकि मंत्रिमण्डल राज्यसभाके प्रति उत्तरदायी न होकर केवल लोकसभाके प्रति उत्तरदायी होता है। आरम्भमें इस प्रकारका दोषारोपण शायद ही कभी किया जाता था, पर पं० नेहरूके अवसानके बाद अविश्वासका प्रस्ताव संसदके हर अधिवेशनमें पेश किया जाता है, लेकिन कांग्रेसके बहुमतके कारण आजतक इस प्रकारका प्रस्ताव कभी पारित नहीं हो सका।

कानूनका निर्माण करना संसदका मुख्य काम है। प्रति वर्ष ६०-७० कानून बनाए जाते हैं। प्रत्येक सदस्यको कानून बनानेके लिए प्रस्ताव पेश करनेका अधिकार होते हुए भी यह काम इतना कठिन होता है कि शायद ही कोई सदस्य इस अधिकारका उपयोग करता हो। १९५७-६२की अवधिमें लोकसभा द्वारा पारित २९७ कानूनोंमेंसे केवल दो कानून गैर-सरकारी थे। इस तरह सभी कानूनोंके प्रस्ताव सरकारकी ओरसे प्रस्तुत किए जाते हैं। उसकी आलोचना और विश्लेषण करने तथा उसमें संशोधन रखनेका काम संसदका है। प्रत्येक प्रस्ताव पर बहुतसे संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं और उनमेंसे कभी-कभी एक-आध संशोधन स्वीकृत भी हो जाता है।

प्रतिवर्ष संसदके सामने रेलवे विभागका तथा सामान्य आय-व्ययक अलग-अलग पेश किए जाते हैं। इस रस्मके कारण किसी प्रकारका कोई तात्विक या व्यावहारिक लाभ होता हुआ दिखाई

नहीं देता, परन्तु लम्बे समयसे स्थापित इस रूढ़िमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हुआ। आय-व्ययक पर बहुत लम्बी चर्चा की जाती है और अलग-अलग विभागोंके लिए प्रस्तावित राशिमें कुछ सौ रुपयोंकी मामूलीसी प्रतीकात्मक कटौती सुझाकर सम्बद्ध विभागकी विस्तृत चर्चा की जाती है। अधिकांश सदस्यों और मंत्रियोंके अर्थनीतिमें निष्णात न होनेके कारण आय-व्ययककी चर्चामें आर्थिक पक्षकी अपेक्षा प्रशासनिक और राजनीतिक प्रश्नोंकी चर्चा तथा नीति-रीतिका विश्लेषण अधिक होता है।

संसदके सामने आनेवाले विविध प्रश्न, समस्याएँ और प्रस्ताव सदस्योंकी समझमें आ सकें; वे उनका अध्ययन कर सकें और उन्हें हल करनेके लिए जल्दी निर्णय लिए जा सकें; इस आशयसे दोनों सदनोंमें अलग-अलग समितियोंकी रचना की जाती हैं। प्रत्येक सदनकी समिति स्वतंत्र होती है; परन्तु कुछ महत्वपूर्ण समितियोंमें दोनों सदनोंके सदस्य साथ बैठकर काम करते हैं। कुछ समितियोंका निर्माण किसी विशेष समस्याके लिए ही होता है। विशिष्ट प्रस्ताव तथा प्रश्नोंमें रुचि लेनेवाले या उसके जानकार सदस्योंकी इस प्रकार कामचलाऊ समिति सदनको अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर स्वतः विसर्जित हो जाती है। कुछ समितियाँ स्थायी कही जाती हैं और उनको जो काम सौंपा जाता है, उसे वह एक वर्षकी सत्र-सीमा तक करती जाती है। इन सभी समितियोंमें संसदकी लेखाजोखा समिति अपने आश्चर्यजनक विवरणोंके कारण सबसे अधिक प्रसिद्ध हो गई है। बाईस सदस्योंकी बनी इस समितिमें लोकसभाके पंद्रह और राज्यसभाके सात चुने हुए सदस्योंका समावेश होता है। १९६७के बाद इसका अध्यक्षपद विरोधपक्षके नेताओंको सौंपा जाना निश्चित हुआ। सरकारी लेखेकी पुस्तकोंकी विस्तृत जाँच कर ऑडिटर जनरल द्वारा दी गई रिपोर्टके आधार पर यह समिति काम करती है। अप-व्यय, भ्रष्टाचार या अनुचित रीतियोंका होना जहाँ भी पाया जाय; वहाँ पूरी जाँच की जाती है और सम्बद्ध अधिकारियोंके निर्णयोंकी जाँच भी की जाती है। इस जाँचके परिणाम विस्तार सहित संसदमें रिपोर्टके रूपमें पेश किए जाते हैं। भ्रष्टाचार और अव्यवस्थाके बहुत मामले अब तक इस समितिने उद्घाटित किए हैं। मंत्री और अधिकारी इस समितिसे थर्राते हैं और उसके सामने उपस्थित होनेका आदेश मिलते ही घबरा उठते हैं। यद्यपि इस समितिका कार्यकाल एक ही वर्षका होता है; परन्तु उसके सदस्य बारबार चुने जानेके कारण अपने लम्बे अनुभवसे कमज़ोर या गलत बातोंको तुरन्त पकड़ लेनेकी घ्राणशक्ति प्राप्त कर लेते हैं। सेनाके लिए खरीदी गई जीपगाड़ियोंके घोटालेसे लेकर मेसर्स अमीचन्द प्यारेलाल कम्पनीके साथ सरकारी अधिकारियोंके अनुचित सम्बन्धोंको उद्घाटित करनेके अनेक विवरण प्रस्तुत करने वाली यह समिति प्रजाकी रखवाली करनेवाली संसदके लिए सतत जाग्रत जासूसकी तरह काम करती है।

संसदके सदस्य कानूनके अनुसार सभी प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होने पर भी अपने-अपने राजनीतिक दलोंके अनुशासन रूपी बन्धनोंको स्वेच्छया स्वीकार किए हुए हैं। दल कमजोर या छोटा हो अथवा अनुशासनका बन्धन ढीला हो तो संसदका काम अत्यन्त अव्यवस्थित बन जाता है और प्रजाके हितोंकी देखभाल करनेका काम संसद अच्छे ढंगसे कर नहीं सकती। फ्रान्स तथा अमेरिकाकी राजनीतिके ये अनुभव हैं। दलगततासे जन्म लेने वाले अनिष्टोंकी अपेक्षा अनुशासन हीनतासे उत्पन्न दोष कई गुना अधिक भयंकर होते हैं। दलीय अनुशासन संसत्सदस्योंकी स्वतंत्रता

पर अंकुश रखता है और साथ ही अनेक प्रकारके राजनीतिक प्रलोभनोंमें उनकी रक्षा भी करता है। निर्दलीय सदस्योंको अगर अलग कर दिया जाय तो ९० प्रतिशतसे अधिक सदस्य हमेशा एक या दूसरे दलके अनुशासनमें बंधे होते हैं।

संसदके दोनों सदनोंमें प्रवर्तित दलीय-स्थिति संसदके कामों पर और उसकी कार्यक्षमता पर गहरा असर डालती है। लोकसभामें अब तक मौजूद दलीय-स्थिति परिशिष्टमें दी गई है। उस पर नज़र डालनेसे पता चलेगा कि दोनों सदनोंमें कांग्रेसका स्पष्ट बहुमत रहा है; इतना ही नहीं, परन्तु यह बहुत पुष्ट है। दूसरी ओर, जिन्हें हम राष्ट्रीय दल कहते हैं, उनकी व्यक्तिगत सदस्य-संख्या बहुत कम है और छोटे-छोटे दलोंके और निर्दलीय सदस्योंके समान बिखरे तत्वोंका बल कांग्रेसके बाद दूसरे नम्बर पर आता है।

लोकसभाकी अपेक्षा राज्यसभामें निर्बल और छोटे दलोंका प्रतिनिधित्व बहुत कम है। अल्पसंख्यक दलोंको उचित मात्रामें प्रतिनिधित्व दिलाते रहनेके लिए एक विषेश पद्धतिसे राज्य-सभाके चुनाव किए जाने और उसके मतदाता-मण्डलका विशिष्ट स्वरूप होनेके कारण यह उद्देश्य फलीभूत नहीं होता; यह हम पहले कह आए हैं। इसलिए राजनीतिक दलोंके द्वारा प्राप्त आम जनताके समर्थनका आभास राज्यसभाके आधार पर न लगा कर लोकसभामें मौजूदा दलगत स्थितिके आधार पर लगाना चाहिए। १९६७के चुनावोंके बाद कांग्रेस दलके बहुमतकी मात्रा अच्छी-खासी कम हुई है और संगठित विरोधी-दलोंमें वृद्धि हुई है। परन्तु कांग्रेस दलमें अनुशासन भंग हो जायगा और केन्द्र सरकारकी गद्दी कांग्रेसको छोड़ देनी पड़ेगी, इस प्रकारकी विरोधी दलोंकी—विशेषतः स्वतंत्र और समाजवादी दलोंकी—इच्छाएँ निकट भविष्यमें फलीभूत होती दिखाई नहीं देतीं। विरोधी दल बहुसंख्यक होने पर भी उनके सदस्योंकी संख्या बहुत कम है; इतना ही नहीं, अपितु पर-स्पर अविश्वास और मतभेदोंके कारण वे लम्बे समय तक एक समूह बना कर कांग्रेस पक्षके सामने वैकल्पिक दलका निर्माण नहीं कर सकते। अगर साम्यवादी और जनसंघको बहुत अंशमें अपवाद मान लें तो शेष विरोधी दलोंमें अनुशासन व संगठनका अच्छा-खासा अभाव दिखाई देता है। संस्था और अनुशासनके अतिरिक्त अनुभव, व्यवस्थातंत्र और प्रतिष्ठाके स्तर पर कांग्रेस दल शेष सभी दलोंसे अधिक उच्च है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शासक दलको विरोध पक्षका भय रखनेकी जरूरत नहीं रहती। उनके प्रति समाधानवृत्ति दिखानेके लिए अपेक्षित दबाव नहीं पड़ता। दल कम या अधिक मात्रामें एक-दूसरेके साथ समान शक्तिवाले हों तो विरोध पक्षके विचारों और सुझावों पर ध्यानसे विचार करने और लगभग सर्वसम्मत नीति बनानेके लिए सर-कार विवश हो जायगी या फिर अपनी नीतिके समर्थनमें उसे पुष्ट व सटीक प्रमाण उपस्थित करने पड़ेंगे। क्योंकि प्रजातंत्र बहुमतका शासन न होकर सर्वसम्मत राजनीतिका समाधानपूर्वक हो रहा अमल है। अगर दलोंका बल समान हो, विभिन्न दलोंको शासनतंत्रका अनुभव हो या भविष्यमें मिलनेकी संभावना हो तो विरोधी दल भी अशक्य या अपनी व्यर्थकी माँगोंको उपस्थित करनेमें संकोच करेंगे।

अब तक प्रवर्तित परिस्थितिने शासक पक्षको लापरवाह और विरोधपक्षको गैर-जिम्मेदार बना दिया है। विरोध पक्ष द्वारा प्रस्तुत की गई सत्य बातों और उचित दलीलों पर पूरा ध्यान देनेके बदले सरकार बहुमतके जोरसे अपने सभी निर्णय मनवा लेती है; विरोधी दल इसके विप-

रीत दलीलों और वास्तविकताओं पर आधार रखनेके बजाय शासक पक्षको परेशान करने और सस्ती लोकप्रियता अर्जित करनेके लिए शोर-शराबा, अनुशासन और नियमोंका भंग, मनगढ़ंत तथा झूठे आरोपों जैसे मार्गोंका सहारा लेते हैं। शासक पक्ष और विरोध पक्ष—दोनोंके इस प्रकारके अनुचित व्यवहारके कारण संसदीय प्रणालीकी ओर जनताके मनमें अरुचि उत्पन्न होती जा रही है। अहमदाबादमें १९६७में आयोजित राजनीतिशास्त्रियोंकी परिषद्में अध्यक्ष पदसे भाषण करते हुए सुश्री आलु बहन दस्तूरने कहा था : "सरकारको उखाड़ फेंकनेके बदले स्वयं संसदीय प्रजातंत्रको ही उखाड़ फेंका जा रहा है। संसदकी कार्यवाहीमें जो अनुशासन, गति, गांभीर्य और प्रतिष्ठा होनी चाहिए, वह तेजीसे अदृश्य होती जा रही है। समाचारपत्र भी इस प्रकारके प्रसंगोंका आकर्षक वर्णन करते हैं और ऐसा व्यवहार करनेवाले सदस्योंकी भर्त्सना करनेके बदले उनकी प्रशंसा करते हैं और अनुभवहीन जनता भी उनका वीर नायककी भाँति आदर-मान करती है। यह मनोवृत्ति संसदीय प्रजातंत्रकी कब्र ही खोद डालेगी।"

जब हमारे यहाँ संसद नहीं थी, उस समय श्री गोखले, श्री फीरोज़शाह महेता और श्री श्रीनिवास शास्त्री जैसे अध्ययनशील, तर्कवेत्ता, मध्यममार्गीय विचारधारा वाले और संसद-सदस्य बननेकी पूरी योग्यता रखनेवाले समाधानवादी नेता हमारे देशकी राजनीतिमें अग्रगण्य थे। आज जबकि हमारे यहाँ संसद है, तब संसद-सदस्य बननेके योग्य नेता भी अपेक्षित मात्रामें उपलब्ध नहीं हैं और यह भारतीय राजनीतिके वर्तमान इतिहासकी बहुत बड़ी विडम्बना है।

हमारे यहाँके कमज़ोर, अनुभवहीन और विभाजित विरोध पक्षकी कमी एक दूसरे ढंगसे पूरी हो रही है। कांग्रेस दलके अनेक सदस्य आवश्यकता पड़ने पर सरकारकी कड़ी आलोचना करते हैं। सरकारकी भूलों और दूषणोंका पर्दाफाश करते हैं। विरोध पक्षसे जो अपेक्षा की जा सकती है, उसे कांग्रेस दलके ही अनेक लोग पूरा करते रहे हैं। केवल मत देनेके समय वे सरकारके विरुद्ध मत नहीं देते। फिर भी एक ही दलके हाथमें इतना बड़ा बहुमत केन्द्रित हो जानेके कारण हमारा संसदीय प्रजातंत्र केवल बहुमतके आधार पर चलनेवाला प्रजातंत्र बनकर रह गया है, जो एक बड़ा सत्य है। ऐसे प्रजातंत्रके महत्वपूर्ण इकाई-तत्वोंका हमारे यहाँ बहुधा अभाव है, जो परस्पर समाधानवृत्ति और विचार-विनिमयके द्वारा लगभग एक सर्वसम्मत राजनीतिका निर्माण कर सकें। प्रशासनिक तंत्र संसदसे कुछ भी प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं रखता और न उसे किसी प्रकारकी महत्वपूर्ण सहायता ही मिलती है। संसदमें राजनीतिक दलोंका बल अधिक संतुलित होने पर और अलग-अलग दलोंके हाथोंमें सत्ताका हस्तांतरण होना संभव होगा, तब हमारे देशमें संसदीय प्रजातंत्रका स्वरूप अधिक पुष्ट रूपमें प्रकट होगा।

फिर भी जिस रूपमें अब है, उस रूपमें भी संसद प्रजातंत्रकी संरक्षक बनी रही है; इसमें कोई संदेह नहीं है। परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे करोड़ों लोग संसदकी कार्यवाही अत्यन्त रुचिके साथ देखते हैं। संसद भवनमें जो कुछ घटित होता है, वह समाचारपत्रोंके कंधों पर चढ़कर घर-घर पहुँच जाता है और लोगोंमें राजनीतिक चेतना और दिलचस्पी पैदा करता है। लोगोंके द्वारा भेजे गए प्रतिनिधियोंके सामने सरकारी तंत्रको बारबार झुकना पड़ा है और बड़े-बड़े नेता भी संसदसे थर्राते हैं—भारतके संसदीय प्रजातंत्रका द्योतक है यह प्रत्यक्ष तत्वज्ञान!

चुनावका बृहत् आयोजन

वर्ष	कुल मतदाता (लाखमें)	कुल मतदान (लाखमें)	मतदान केन्द्र	कर्मचारी (लाखमें)	मतपेटी (लाखमें)	मुद्रित मतपत्र (करोड़में)	लोकसभाकी कुल सीटें	प्रत्याशी	विधान सभाकी कुल सीटें	प्रत्याशी
१९५२	१७३२	८८६ (५१%)	२,२४,०००	९	२५.८४	६२	४९४	१८६४	३२८३	१५,३१०
१९५७	१९९५	१२०५ (६०%)	२,००,०००	१०	२८.७५	५०	४९४	१५१९	३१०२	१०,८८५
१९६२	२१६४	११५२ (५३%)	२,३८,०३१	१२	११.८०	४२	४९४	१९८३	३१९५	१२,७६४
१९६७	२५०७	१४५९ (६१%)	२,६०,०००	१३.५	१३	५०	५२३	२३६९	३५६३	१६,५०३

९ : चुनाव-तंत्र और प्रजातांत्रिक प्रक्रिया

केन्द्रीय संसद और इकाई-राज्योंकी विधानसभाओंके सदस्य जिस सत्ता और प्रतिष्ठाका उपभोग करते हैं, वह व्यक्तिगत रूपमें न करके प्रजाके प्रतिनिधियोंके रूपमें करते हैं। संविधान द्वारा जनताको सार्वभौमत्व मिलने पर भी आधुनिक प्रजातंत्र प्रतिनिधिका परोक्षतंत्र होनेके कारण नागरिक स्वयं राज्य नहीं कर सकते। प्रजातंत्रीय राज्योंमें चुनाव जनताके राजनीतिक अधिकारका प्रतीक है और शासनसत्ताका उद्भव स्थान है। प्रजातंत्रके अस्तित्वकी कसौटी उसके संविधान या उसकी संसदके आधार पर न होकर उसके चुनावके स्वरूप पर निर्भर करती है। प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों-के विश्वमें सभी स्थानों पर स्वीकृत होनेके कारण यह भी होना संभव है कि कितने ही राज्योंमें तानाशाही भी संवैधानिक आँचल और संसदीय तंत्र-व्यवस्थाको स्वीकार कर ले। परन्तु चुनावकी प्रक्रियाका विश्लेषण करनेसे प्रजातंत्रके प्रकार और उसके अनुपातकी परख हुए बिना नहीं रहती। प्रजातंत्रीय राज्योंमें सबसे अधिक बड़े और आर्थिक, शैक्षिक तथा अनुभवके क्षेत्रमें अत्यन्त पिछड़े हुए भारतने स्वातंत्र्योत्तर कालमें नियमित और निष्पक्ष चुनाव आयोजित कर अपनी व्यवस्था-शक्तिका और प्रजातंत्रीय प्रवृत्तिका विश्वके सामने आश्चर्यजनक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। प्रजातंत्रके विकासके लिए आवश्यक दिखाई देनेवाली या मानी जानेवाली पूर्वशर्तों—अच्छा जीवन-स्तर, समानताके आधार पर रचित समाज, राष्ट्रीय एकात्मता और अपेक्षित अक्षर-ज्ञानकी भारतमें नितान्त कमी है; इसीलिए तो भारतकी चुनाव-प्रक्रिया सामान्य पर्यवेक्षकोंके लिए आश्चर्यजनक और उसके विद्वानोंके लिए रहस्यमय समस्याके समान है। यह प्रक्रिया इतनी अधिक व्यापक है कि अत्यन्त सरल विधान उस पर लागू नहीं हो सकते। श्री रिचर्ड पार्क 'पैसेफिक अफेयर्स' (जून १९६२) में लिखते हैं कि "भारतके चुनावोंके विषयमें अत्यन्त सीधेसादे कथन प्रस्तुत करनेमें या स्वीकारनेमें बौद्धिक प्रामाणिकताका अभाव या शुद्ध अज्ञान समाहित है।" चुनाव यदाकदा आयोजित किए जाते हैं और उसमें बहुतसे सवाल जुड़े हुए हैं। उसके प्रत्येक पहलूका सर्वाङ्गीण पृथक्करण करना संभव नहीं है। अतः चुनावकी तंत्र-व्यवस्था और उसमें व्यक्त राजनीतिक प्रक्रियाका मूल्यांकन करनेवाले कथनोंकी अपेक्षा वास्त-विकता कई गुनी जटिल है, जिसे सतत ध्यानमें रखना चाहिए।

अंग्रेजी शासनकालके अन्तर्गत १९०९के बाद भारतकी जनताको चुनावोंका अनुभव होने लगा था। यह चुनाव सत्ता-प्राप्तिका साधन न होकर सरकारी नीतिके प्रति जनताके समर्थनको मापनेके लिए थर्मामीटरके समान था और उसमें धन और शिक्षणकी दृष्टिसे अत्यन्त उच्च माने जानेवाले वर्गोंके मुट्ठीभर लोगोंको ही मताधिकार दिया गया था। क्योंकि ये चुनाव केवल ब्रिटिश शासित प्रदेशमें ही आयोजित किए जाते थे, देसी राज्योंमें नहीं। इस प्रकार

पहलेके चुनाव, उसके प्रकार, मताधिकार और चुनाव-क्षेत्रोंकी विस्तारकी दृष्टिसे अबके चुनावोंसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण यह कहना अनुचित नहीं है कि भारतकी जनताको आज़ादीके पूर्व चुनावोंका कुछ भी अनुभव नहीं था।

अशिक्षित, अनुभवहीन, रूढ़िग्रस्त, पिछड़े हुए तथा विभिन्न वाड़ोंमें विभाजित भारतमें सब लोगोंको मताधिकार देनेमें निहित खतरोंके प्रति बहुतसे नेताओंने सरकारका ध्यान आकृष्ट किया था और परोक्ष चुनाव-पद्धतिका समर्थन किया था। सीधे चुनावके कारण बड़ी संख्यामें मतदाताओं और प्रतिनिधियोंके बीच सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता; अपढ़ मतदाताओंको बहकाकर या लालच देकर मत ले लिए जायेंगे; साम्प्रदायिक तथा धार्मिक पूर्वाग्रहोंको उत्तेजित किया जायगा; धन-बलके आधार पर मतोंका क्रय-विक्रय किया जायगा; नासमझ मतदाताओंको डरानेके लिए बल-प्रयोग किया जायगा और भारतके चुनाव प्रजातांत्रिक प्रक्रियाका केवल मज़ाक बन कर रह जायेंगे—ऐसा सब कुछ संविधान-सभामें कहा गया था और आज भी बराबर कहा जा रहा है। इस प्रकारके अभिमतके समर्थनमें प्रस्तुत किए जाने योग्य अनुभवोंका हमारे यहाँ अभाव नहीं है और श्री जयप्रकाश नारायणजी जैसे अनेक विचारकोंने सबसे निचली कक्षाको छोड़कर सभी स्थानोंके लिए परोक्ष चुनावकी हिमायत की है। १९वीं सदीमें प्रजातंत्रके आरम्भकालमें विश्वके बहुतसे देशोंमें परोक्ष चुनाव-प्रणालीको आजमाया जा चुका था। प्रजातंत्रके भयंकर ज्वारसे परेशानीका अनुभव करनेवाले अनेक यूरोपीय और अमेरिकन विचारकोंने परोक्ष चुनावोंका उत्साहपूर्वक अनुरोध किया था। परन्तु अनुभवने बताया कि इस प्रकारके चुनाव भ्रष्टाचार और दायित्वहीनताको प्रोत्साहन देते हैं और जनताकी अपेक्षाओं और संवैधानिक कदमोंके बीच बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। इस प्रकारके अनुभवोंके बाद अन्य कोई स्वीकार्य विकल्प न होनेके कारण भारतने अपनी सामान्य जनतामें और उसकी साहसिक समझदारीमें श्रद्धा रखकर वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धतिको अपनाया और एक उत्तम दृष्टान्त प्रस्तुत किया। जिन अधिकारोंको प्राप्त करनेमें इंग्लैण्डकी प्रजाको सात सौ वर्ष लगे, यूरोपको दो सौ वर्ष लगे (स्विटज़रलैण्ड तो आज तक भी उस दशा तक नहीं पहुंचा है), अमेरिकाको पचहत्तर वर्ष लगे थे और जिसके लिए सभी देशोंके दलित वर्गोंने और स्त्रीजातिने लम्बे समय तक संघर्ष किया था; उन अधिकारोंको भारतकी जनताने एक साथ ही स्वयमेव प्राप्त कर लिया है। शायद इसी कारण जनता अब तक इस अधिकारके महत्वको पूरी तरहसे समझ नहीं सकी है। आरम्भमें अनेक लोगोंके मनमें शंकाएं हुआ करती थीं; परन्तु चुनावोंके उत्कृष्ट आयोजन, जनताका उत्साह और अनुशासनबद्ध शान्त स्वभाव, मतदानकी पूर्ण गोपनीयता और मत-गणनामें निश्चिततापूर्वक तटस्थता, उचित शिकायतोंकी जांचके लिए आवश्यक व्यवस्था और सम्पूर्ण प्रचार-स्वातंत्र्य वाले गत चार आम-चुनावोंके अनुभवके आधार पर हम गौरव अनुभव करते हुए यह दावा कर सकते हैं कि यह श्रद्धा अगर पूरी तौरसे नहीं तो अधिकांश रूपमें तो फलवती हुई ही है।

चुनाव-कार्यसे सम्बद्ध सभी सत्ताएँ और दायित्व सरकारी तंत्रके हाथोंमें न सौंपे जाकर राज-नीतिक प्रतिस्पर्धासे अलिप्त रखे गए चुनाव-आयोगको सौंपे गए हैं। चुनावसे सम्बद्ध इस प्रकारकी अनन्य व्यवस्था कर भारतने प्रजातांत्रिक व्यवस्थातंत्रके विकासमें अपना विशिष्ट योगदान किया

है। अन्य सभी देशोंमें चुनावका संचालन सरकारी तंत्रके हाथोंमें होनेके कारण उसका सीधा या परोक्ष प्रभाव कम या अधिक मात्रामें पड़े बिना नहीं रहता। अमेरिकामें मतदाताओंका—विशेषतः हब्शियोंका—नाम ही नहीं लिखा जाता और चुनाव क्षेत्रोंकी सीमाओंमें गड़बड़ कर चुनावके परिणामोंको विकृत किया जाता है। यूरोपके अनेक देशोंमें मतदानकी गोपनीयता पूरी तरह सुरक्षित नहीं रहती। मतदाताओंको धौंस-धमकी देना, गलत नाम पर मत दे देना और चुनाव-अधिकारियों-को अपनी ओर मिला लेनेकी घटनाएँ आज भी अनेक प्रजातांत्रिक देशोंमें होती हुई दिखाई देती हैं।

भारत जैसे विस्तृत और वैविध्यपूर्ण देशके हजारों और लाखों मतदान-केन्द्रोंमें कुछ भी गलत नहीं होता, यह तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु इस प्रकारकी विकृतियाँ बड़े पैमाने पर होती हुई दिखाई नहीं देतीं। इसका यही कारण है कि हमारे यहाँ चुनाव-कार्यके लिए स्वतंत्र और स्वायत्त चुनाव-आयोगकी स्थापना की गई है। इस आयोगके सदस्योंकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। परन्तु वेतन, पद और सुरक्षाके मामलेमें उसका स्थान सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशोंके बराबर माना जानेके कारण यह आयोग कार्यकारिणी और संसदसे निरपेक्ष रह कर कार्य करता है। मतदाताओंकी सूची तैयार करने, चुनाव-क्षेत्रोंकी सीमाओंको निश्चित करनेके कामसे लेकर चुनावकी व्यवस्था और उसके परिणाम तक घोषित करनेके सभी काम करनेकी सत्ता उसे सौंप दी गई है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्र-पतिका चुनाव, राज्यसभा, लोकसभा और राज्योंकी विधानसभाओं और विधानपरिषदोंके लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे किए जाने वाले सभी चुनावोंकी व्यवस्था इस आयोगको सौंपी गई है। अभी तक इस चुनाव-आयोगके लिए एक ही अधिकारी—चुनाव कमिश्नरकी नियुक्ति की जाती थी। परन्तु हाल हीमें एक सहायक भी नियुक्त हुआ है। चुनाव कमिश्नरकी अनुमतिसे प्रत्येक राज्यमें एक प्रादेशिक अधिकारी नियुक्त किया गया है। चुनाव-कार्यके लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना केन्द्र तथा राज्य सरकारोंका संवैधानिक दायित्व माना गया है। राष्ट्रव्यापी चुनावोंके बाद कभी-कभी मध्यावधि चुनाव भी होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त अलग-अलग कारणोंसे रिक्त हुए स्थानोंके लिए यदाकदा उपचुनाव भी होते रहते हैं। मतदाताओंकी सूचीमें संशोधन करने, चुनाव-क्षेत्रोंकी सीमा निर्धारित करने, चुनावोंके लिए आवश्यक साधन-सामग्रीकी व्यवस्था करने, प्रत्याशियों द्वारा प्रस्तुत चुनाव-खर्चकी जाँच करने और चुनावका विस्तृत विवरण तैयार करने आदिके काम सतत चलते ही रहते हैं; अतः चुनाव-आयोगका कार्यालय हमेशा व्यस्त रहता है।

भारतमें मतदाताओंकी संख्या बहुत अधिक है और उसमें बहुत तेजीसे वृद्धि होती जा रही है। १९५२के पहले आम-चुनावमें मतदाताओंकी संख्या १७ करोड़ थी, जो बढ़कर १९५७में १९ करोड़ हो गई। १९६२के चुनावके समय २१ करोड़ १३ लाख मतदाता थे और १९६७में यह संख्या २५ करोड़से ऊपर पहुँच गई। संविधानके तैयार होनेसे पहले ही सरकारी अधिकारी मतदाताओंकी सूची बनाने लगे थे। प्रजातंत्रसे अपरिचित और नौकरशाहीसे त्रस्त अनेक नागरिकोंने—विशेषतः स्त्रियोंने सरकारी रजिस्टरोंमें अपना नाम लिखानेमें आनाकानी की और लगभग ४० लाख महिलाओंने अपना व्यक्तिगत नाम लिखवानेके बदले 'मगनकी मां' या 'छगनकी लड़की'के रूपमें अपने नाम दर्ज करवाए। प्रत्येक मतदाताका व्यक्तिगत नाम लिखनेका आग्रह चुनाव-आयोगकी ओरसे जब किया गया, तब २८

GIVE US FOOD
BRING DOWN PRICES
REMOVE CORRUPTION

"I AM SURE THE COUNTRY IS BEHIND US" — P.M.

मतदाता पढ़ नहीं सकते तो क्या ? कार्टून तो समझ ही सकते हैं ।

—चुनाव कार्टून : शंकर्स वीकली और ब्लिट्ज के सौजन्य से

चुनाव पोस्टर
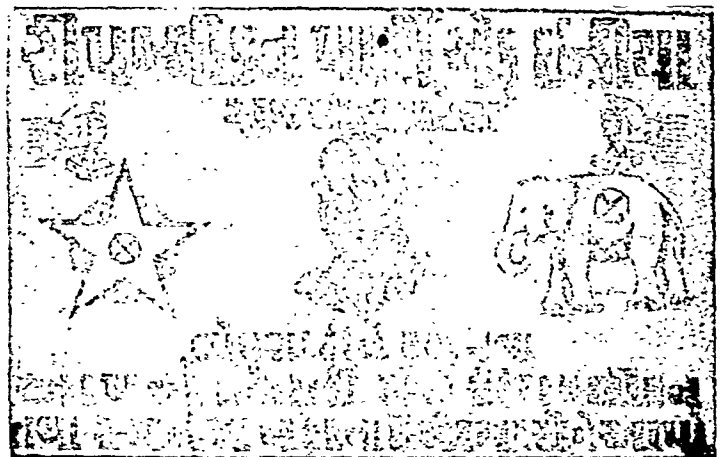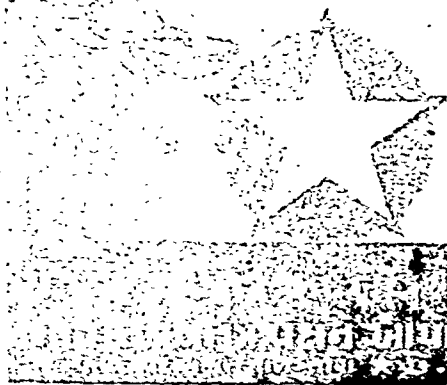
मतदान
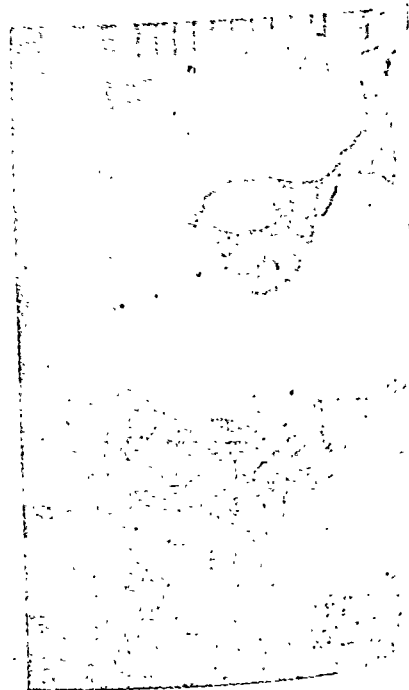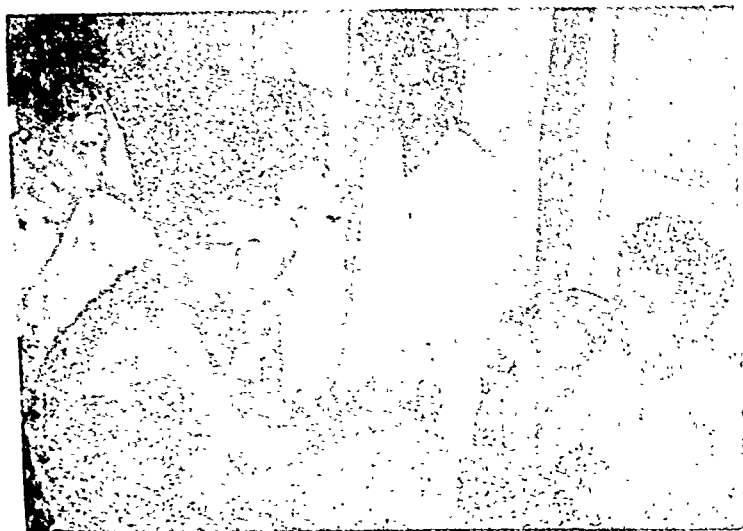
लाख महिलाओंने अपना नाम बतानेके बदले अपना मताधिकार ही छोड़ दिया। यह अज्ञानसूचक संकोच तेज़ीसे दूर होता जा रहा है। इन सूचियोंमें प्रति पाँचवें वर्ष सुधार किया जाता था; परन्तु अब बढ़ती हुई राजनैतिक अस्थिरताके कारण इन सूचियोंमें प्रतिवर्ष सुधार किया जाना निश्चित किया गया है। २१ वर्षकी आयु प्राप्त और छः महीनेसे एक ही स्थान पर रहने वाले मतदाताओंके नाम लिखने और जो मर गए हैं या स्थानान्तरण कर गए हैं, उनके नाम काट देनेका मुख्य काम इस चुनाव-आयोगको करना पड़ता है। ये सूचियाँ पूर्णतः सच्ची और सही नहीं होतीं। स्वयं चुनाव-आयोगने ही अपने विवरणमें इन सूचियोंमें रह गई अनेक भूलोंकी ओर निर्देश किया है। मतदाता सूचियोंमें अनेक गलत नाम होते है और बहुतसे व्यक्तियोंके नाम रह जाते हैं, जिसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। मतदाताओं तथा राजनीतिक दलोंकी उपेक्षा और आलस्यके कारण और सरकारी अधि-कारियोंकी कार्यक्षमताके अभावके कारण उत्पन्न इन कमियों पर ध्यान न दें तो विशिष्ट हेतुओंको पूरा करनेके लिए जानबूझ कर मतदाताओंकी सूचियोंमें नाम लिखनेके काममें अनुचित रीतियाँ अपनाई जानेकी कोई शिकायत अभी तक सुननेमें नहीं आयी है। मतदाता-सूचियोंकी कमियाँ राजनीतिक खींचतानका परिणाम न होकर प्रशासनिक शिथिलताका परिणाम है। इस प्रकारकी कमियाँ सभी देशोंमें—सुविकसित देशोंमें—भी दिखाई देती हैं।

चुनाव देशव्यापी स्तर पर आयोजित होने पर भी देशव्यापी स्तर पर लड़े नहीं जाते। मतदाताओंको अपने-अपने चुनाव-क्षेत्रमेंसे प्रतिनिधिका चुनाव करना होता है। राज्य या संघके किसी भी क्षेत्रमें रजिस्टर्ड मतदाता राज्य या संघके अन्य क्षेत्रकी सीटके लिए प्रत्याशी तो हो सकता है; परन्तु अन्य क्षेत्रमें वह मतदाता नहीं बन सकता। चुनाव-क्षेत्रकी सीमाओंको निश्चित करनेका काम हर दसवें वर्ष जन-गणनाका काम पूरा होनेके बाद किया जाता है। चुनाव-आयोग इस कामको करनेके लिए एक सीमा-निर्धारण समिति (Delimitation Committee) नियुक्त करता है, जिसका अध्यक्ष अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है। इस समितिकी सहायता करनेके लिए संसदका अध्यक्ष सम्बद्ध क्षेत्रोंके विधानसभा-सदस्योंसे गठित सलाहकार मण्डल नियुक्त करता है। ये मण्डल अपने-अपने क्षेत्रों तक ही सीमित रह कर अपना काम करते हैं। चुनाव-क्षेत्र निश्चित करनेकी अधिसूचना जारी की जाती है और उस पर आपत्तियाँ प्रस्तुत करनेके लिए समय दिया जाता है। इन आपत्तियों पर विचारके समय सलाहकार समितिके सदस्य चर्चामें भाग ले सकते हैं, लेकिन अंतिम निर्णय देनेका अधिकार तो सीमा-निर्धारण-समितिको ही है। इसको अन्तिम रूप देनेके बाद संसदके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और उसकी अनुमति मिलने पर अन्तिम निर्णय लिया गया मान लिया जाता है। चुनाव-क्षेत्र यथासंभव समान आबादी वाले होने चाहिए, लोकसभाके चुनाव-क्षेत्र एकसे अधिक राज्योंमें बँटे नहीं होने चाहिए और राज्योंकी विधानसभाके चुनाव-क्षेत्र लोकसभाके चुनाव-क्षेत्रोंमें पूरी तरहसे समाविष्ट होने चाहिए। ये कुछ नियम हैं, जिन्हें संसदने निश्चित कर दिया है। स्वातंत्र्योत्तर कालमें हो रहे सतत प्रादेशिक परिवर्त्तनोंके कारण सीमा-निर्धारण-समितिका काम बहुत कठिन हो गया है।

चुनाव-क्षेत्रकी सीमा निर्धारण करनेका काम अत्यन्त महत्वपूर्ण है और प्रजातांत्रिक देशोंमें इस काममें अनेक प्रकारकी अनुचित रीतियोंका प्रयोग किया जाता है। कुटिल राजनीतिमें प्रवीण राज-

नीतिज्ञ चुनाव-क्षेत्रोंको छोटा-वड़ा या एक विचित्र-सा आकार देकर चुनावके परिणामों पर मनोनुकूल प्रभाव डाल सकते हैं। अपने विरोधियोंका वहुमत कमसे कम संख्यावाले चुनाव-क्षेत्रमें ठंघा पड़ा रहे और अपने समर्थकोंका वहुमत अधिकाधिक मात्रामें चुनाव-क्षेत्रमें फैला रहे; इस प्रकारकी व्यवस्था करनेकी कलामें अमेरिकाके राजनीतिज्ञ विश्व-विख्यात हैं। मेसेच्युसेट्सके गवर्नर श्री जेरीने १८१२के चुनावके समय चुनाव-क्षेत्रोंकी व्यवस्था इस प्रकार की थी कि ५१,७७६ मत प्राप्त करने वाले विरोधी दलको ११ सीटें ही मिली थीं, जबकि उनके दलको ५०,१६४ मत मिलने पर भी २९ सीटें प्राप्त हुई थीं। उसकी इस सिद्धिके कारण विकृतीकरणकी इस कलाको 'जेरीमेन्डरिंग' नाम दिया गया था। प्रत्येक देशमें इसका कम या अधिक मात्रामें उपयोग किया जाता है; परन्तु हमारे यहाँ चुनाव-क्षेत्रकी सीमा निर्धारण करनेके लिए कुछ नियम वनाए गए हैं और यह काम एक तटस्थ समितिको सौंपा गया है, अतः हमारे यहाँ इस कौशलका बड़े पैमाने पर उपयोग होना संभव नहीं है।

मतदाताओंकी संख्याकी तुलनामें हमारे यहाँकी लोकसभा और विधानसभाएँ वहुत छोटी कही जायेंगी। सवा पाँच करोड़की आवादी वाले इंग्लैण्ड जैसे छोटे-से देशमें आमसभाके सदस्योंकी संख्या ६३० है; १८ करोड़की आवादी वाले अमेरिकाकी प्रतिनिधि सभाके सदस्योंकी संख्या ४३५ है; जवकि पचपन करोड़की आवादी वाले भारतकी लोकसभामें केवल ५२९ सदस्य बैठते हैं। मतदाताओंकी संख्या अत्यन्त अधिक और प्रतिनिधियोंकी संख्या अत्यन्त सीमित होनेके कारण हमारे चुनाव-क्षेत्रोंके विशाल विस्तारका परिचय प्राप्त करने, मतदाताओंसे मिलने या उनके साथ निश्चिन्त भावसे विचार-विमर्श करनेका काम लगभग असंभव हो जाता है। अतः अधिकांशः प्रत्याशियोंको अपने मत-दाताओंसे वात करनेकी अपेक्षा भाषण ही देना पड़ता है। उनकी समस्याओं और आवश्यकताओंको समझनेके लिए प्रत्यक्ष नहीं; वल्कि परोक्ष साधनों पर आश्रित रहना पड़ता है और निश्चित तथा व्यावहारिक वातें करनेके वजाय सिद्धान्तोंकी गोल-मोल वातें ही करनी पड़ती हैं। मतदाताओं और प्रत्याशीके वीच सीधा सम्वन्ध स्थापित होनेके बदले बिखरे व दूरके अखबारी सम्वन्ध ही रह जाते हैं। अन्ततः विशाल समुदायका नेतृत्व टिकाए रखनेके लिए नेताओंको मतदाताओंकी वुद्धि जागृत करनेके वदले उनके आवेशोंको स्पर्श करना पड़ता है। भारतीय राजनीतिमें क्षेत्रीयता जो प्रवल वनती जा रही है और चुनावके परिणामोंमें जो असंतुलन दिखाई दे रहा है, उनके अनेक कारणोंमेंसे मता-धिकार प्राप्त आम जनता और उसके नेताओंके बीच असंतोषजनक सम्वन्ध भी एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है।

मतदाताओंकी विपुलता और अज्ञानके कारण प्रतिनिधिका मनोनयन करनेके लिए वड़ी मात्रामें सड़ी-गली और दोषयुक्त प्रणालीका हमें आश्रय लेना पड़ता है। इस नियमके कारण कि सवसे अधिक मत प्राप्त करनेवाला प्रत्याशी विजयी माना जाता है—विशेषतः जब कि प्रत्याशियोंकी संख्या वहुत वड़ी होती है—वड़े विचित्र परिणाम आते हैं। पहले तीन चुनावोंमें ४५ प्रतिशत मत प्राप्त कांग्रेसने संसदकी ७५ प्रतिशत सीटें जीतीं और १९६७के चुनावमें ४१ प्रतिशत मत प्राप्त कर ५५ प्रतिशत सीटें जीतीं। १९६२के चुनावमें पंजाव राज्यके तोशाम क्षेत्रसे कुल मतदानके छठे भागसे भी कम मत प्राप्त कर जमानत खो देने वाले श्री जगन्नाथ दूसरे सभी प्रत्याशियोंकी अपेक्षा अधिक मत प्राप्त कर 'वहुमत'के आधार पर चुन लिए गए। यह उदाहरण संभवतः सारे संसारमें इस प्रणालीका सवसे विचित्र नमूना माना जायगा।

इस पद्धतिका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह किसी भी प्रकारके अल्पमतके लिए घातक है और बहुमत समूहके लिए लाभप्रद है। वैचारिक अथवा संगठनके आधार पर गठित राजनीतिक दल किसी भी समय बहुमतका समर्थन प्राप्त कर इस पद्धतिका लाभ भी पानेकी आशा रख सकता है। किन्तु वर्ण, धर्म, कौम या भाषाके आधार पर गठित स्थायी अल्पमत वालोंके लिए यह पद्धति हमेशा हानिप्रद होनेके कारण और प्रजातंत्र विषयक मूलभूत गलतफहमी होनेके कारण प्रजातंत्र परसे उनकी श्रद्धा डिग जाती है। हमारे देशमें ऐसे अनेक स्थायी अल्पमत हैं, जिनके आधार पर अनेक राज-नीतिक दलोंका भी निर्माण हुआ है। जब तक भारतमें भावात्मक एकता स्थापित नहीं होती, तब तक संभव है, उन्हें यह प्रणाली हानिप्रद दिखाई दे। विश्वके बहुतसे प्रगतिशील प्रजातांत्रिक देशों-ने—इंग्लैण्ड और अमेरिकाके अलावा सभी देशोंने—इस पद्धतिको त्याग दिया है। चुनावके लिए अत्यधिक अद्यतन और संतोषप्रद पद्धति अपनानेके लिए श्री मीनू मसानी जैसे नेता लम्बे समयसे किसी प्रमाणपुष्ट चुनाव-पद्धतिका जोरदार अनुरोध कर रहे हैं। तात्विक दृष्टिसे उनकी माँग पूर्णतः उचित है; परन्तु उसे स्वीकार करनेमें एक व्यावहारिक कठिनाई है। इस प्रकारकी किसी भी प्रथाको अमलमें लानेके लिए तीन-चार प्रतिनिधियोंके चुनाव-योग्य चुनाव-क्षेत्रोंकी स्थापना करनी पड़ेगी। इतने बड़े चुनाव-क्षेत्र बनाए जाने पर मतदाताओं और प्रतिनिधियोंके बीच जो कुछ भी क्षीण सम्पर्क है, वह भी सम्पूर्णतः नष्ट हो जायगा और जो खर्च चुनावका इस समय होता है, उससे तीन-चार गुना अधिक होनेसे राजनीति केवल धनी वर्गकी ही चीज हो जायगी; अतः वर्तमान पद्धति असंतोषजनक होने पर भी उसे जारी रखनेके अलावा कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं।

अंग्रेजी शासनकालमें भारतमें आंशिक प्रजातंत्रका प्रचलन हुआ ही था कि तुरन्त ही अल्प-संख्यक वर्गको हुए नुकसानने उग्र रूप धारण कर लिया था और देशके सबसे बड़े अल्पसंख्यक वर्गने—मुसलमानोंने—केवल हिन्दुओंके हाथमें सम्पूर्ण शासन-सत्ता आ जानेका भय व्यक्त किया था। अल्पसंख्यकोंको स्वतः उचित प्रतिनिधित्व मिलता रहे, इस आशयसे अगर अद्यतन चुनाव-पद्धतिको अपनाया गया होता तो साम्प्रदायिक प्रश्न शायद शान्तिसे हल हो गया होता। परन्तु अंग्रेज शासकोंकी उपेक्षा व स्वार्थ-बुद्धि तथा भारतीय नेताओंके अज्ञानके कारण इस हेतुके लिए साम्प्रदायिक मता-धिकारकी पद्धति अपनाई गई। इस उपायने तो रोगके साथ रोगीको ही खत्म कर दिया और साम्प्रदायिक मताधिकार द्वारा भड़काई गई अग्निमें भारतका राजनीतिक ऐक्य जल कर खाक हो गया। विभाजनका अतिशय कटु अनुभव अभी ताजा होनेके कारण नेता या कोई दल साम्प्रदायिक मताधिकार चालू करनेकी माँग नहीं कर सकता। परन्तु दूसरे अल्पसंख्यक—विशेषतः हरिजन, आदिवासियोंके समान पिछड़ी और दलित जातियोंके लिए अलग प्रतिनिधित्व स्वीकार किए बिना काम नहीं चलने वाला था; क्योंकि अन्यथा राजनीतिक क्षेत्रमें भय था कि उनकी आवाज सुनाई देनी बन्द हो जायगी। अतः इन सम्प्रदाय और जातियोंके लिए लोकसभा तथा राज्योंकी विधान-सभाओंमें कुछ सीटें सुरक्षित रखी गई हैं। ऐंग्लो-इंडियन जातिका अगर कोई भी प्रतिनिधि चुना न जाय तो अधिकाधिक दो सदस्योंको मनोनीत करनेका अधिकार राष्ट्रपतिको दिया गया है। यद्यपि सुरक्षित सीटोंकी व्यवस्था प्रजातांत्रिक चुनाव-पद्धतिके तत्वोंके विरुद्ध है; तथापि अपने

समाजमें जब तक विविध इकाइयाँ एक-दूसरेके साथ समरस नहीं हो जातीं, तब तक किसी भी प्रकार यह अनुचित व्यवस्था बनाये रखनी पड़ेगी।

भारतमें गुप्त मतदान आरम्भ करनेमें सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि ८० प्रतिशतसे अधिक मतदाता निरक्षर होनेके कारण वे स्वयं प्रत्याशियोंके नाम नहीं पढ़ सकते थे। इस कठिनाईका निवारण करनेके लिए भारतने एक युक्ति अपनाई, जिसे अब एशिया और अफ्रीकाके अनेक देशोंने स्वीकार कर लिया है और जिसके कारण अधिकांशत: निरक्षर आबादी वाले देशोंमें भी प्रजातंत्रके विकसित होनेका मार्ग प्रशस्त हो गया है। यह युक्ति है: प्रत्याशीको पहचाननेके लिए एक चिह्न निश्चित कर देना। दूसरा कोई भी प्रत्याशी इस चिह्नका उपयोग नहीं कर सकता। चुनाव-आयोगने जिन राजनीतिक दलोंको मान्यता दी है, उनके सबके चिह्न सुरक्षित कर दिये हैं और किसी भी चुनाव-क्षेत्र में इस दलके प्रत्याशीके न होने पर भी अन्य दल या प्रत्याशीको उस चिह्नके उपयोग करनेकी छूट नहीं दी जा सकती। चिह्नोंको पसंद करनेकी एक शर्त यह है कि वह सामाजिक अथवा धार्मिक भावनाओंके साथ संयुक्त नहीं होना चाहिए; यथा—द्वितीयाका चांद, ईसाका वधस्तम्भ, स्वस्तिक, नाग, मंदिर, मस्जिद आदि धर्मस्थानोंको छोड़ दिया गया है। दो बैलोंकी जोड़ी, झोंपड़ी, वृक्ष, तारा, दीपक, हाथी, हँसिया, ऊंट, तराजू, साइकिल, घड़ी, घोड़ा आदि चिह्नोंको स्वीकृति दे दी गई है।

इस पर भी प्रत्याशियोंके नाम और उनके चिह्नोंको धारण करनेवाले मतपत्रोंमें उचित स्थान पर क्रासका चिह्न लगाकर अपनी पसंदको दिखाने जैसा सरल काम अपढ़ और अनुभवहीन मतदाता नहीं कर सकेंगे, इस भयसे पहले आम-चुनावके समय प्रत्येक मतदाताको कोरा मतपत्र दिया गया था। प्रत्येक मतदान केन्द्र पर प्रत्येक प्रत्याशीके चिह्नवाली मतपेटियाँ रखी गई थीं और मतदाताको अन्दर जाकर अपनी पसंदके अनुसार प्रत्याशीके निशानवाली पेटीमें मतपत्र डाल देना होता था। यह व्यवस्था मतदाताओंके लिए अत्यन्त सरल होने पर भी प्रशासनिक दृष्टिसे अत्यन्त जटिल और खर्चीली थी। साथ ही कोरा मतपत्र पेटीमें डालनेके बदले किसी भी मतदाता द्वारा उसका बाहर ले जाया जाना संभव था और ऐसा हुआ भी। अब यह पद्धति बदल दी गई है। मतपत्र पर सभी प्रत्याशियोंके नाम और चिह्न छाप दिए जाते हैं और उसके सामने मतदाताको रबर स्टेम्पसे छोटा क्रास मार कर चुनाव-अधिकारीके सामने ही मतपत्रको पेटीमें डाल देना होता है। यह नयी पद्धति कम खर्चीली, अधिक सरल और काफी तेज है; इतना ही नहीं, अपितु मतपत्र बाहर ले जाकर झूठे मतोंके लिए उसके विक्रयकी संभावना भी इसके द्वारा समाप्त कर दी गई।

चुनावमें सरकारी पैसेका अपव्यय होता है, इस प्रकारकी आलोचना उचित नहीं है। पहले चुनावमें सरकारको १७ करोड़ रुपए खर्च करने पड़े; क्योंकि मतसूचियाँ नए सिरे से बनानी थीं और बड़ी संख्यामें मतपेटियोंको क्रय करना पड़ा था। यही रकम दूसरे चुनावमें कम होकर केवल सात करोड़ रह गई। मतदाताओंकी बड़ी संख्या और चुनाव-कार्यकी विशालताको देखते हुए चुनाव पर प्रति नागरिक प्रति पांच वर्ष पर होनेवाला पाँच पैसोंका खर्च अधिक नहीं कहा जा सकता।

देशकी आवादी, विस्तार और अनेक असुविधाओंके कारण चुनावकी व्यवस्था कितने विशाल स्तर पर करनी पड़ती है, उसका अनुमान चुनाव-कोष्ठकोंमें दिए गए विवरणोंसे लग जायगा।

इतनी जवरदस्त और अनेकरूपी व्यवस्थाकी अपेक्षा रखनेवाला सामान्य चुनाव जव पहली वार आयोजित हुआ, उस समय नागरिकोंके मनमें आशंका और अश्रद्धा, भय और उत्साहका द्वंद्व उठ खड़ा हुआ था। चुनावमें भारतकी जनता द्वारा दिखाया गया अद्‌भुत अनुशासन, समझदारी और उत्साहने संसार भरके राजनीतिक पर्यवेक्षकोंको मुग्ध कर दिया था और अविकसित समाजमें प्रजातंत्रकी स्थापना जैसे असंभव दिखाई देनेवाले कार्यको भारतने सहज कर दिखाया। मतदाताओंका उत्साह (मतदान प्रतिशत) १९६२में थोड़ा कम दिखाई देता था; परन्तु १९६७में पुनः उसमें वृद्धि हुई है। हमारे मतदानका जो अनुपात है, वह अव अन्य प्रजातंत्रोंकी तुलनामें किसी प्रकार कम नहीं है। वेलजियम, हालैण्ड आदि कितने ही यूरोपीय प्रजातांत्रिक देशोंमें मतदाताओंकी उपेक्षा इतनी सीमा तक व्यापक हो गई है कि वहाँ मतदान अनिवार्य कर देना पड़ा है।

राजनीतिक प्रक्रिया

इतने विशाल और जटिल व्यवस्थातंत्रके चौखटेमें चुनावकी राजनीतिक प्रक्रिया चलती है। इन मतदाताओंको जाग्रत करने, उन्हें मतदान केन्द्रों तक ले जाने और अपने पक्षमें मतपत्रका प्रयोग करानेमें राजनीतिक दल, प्रत्याशी तथा नेतागण प्रचार-आन्दोलनके विविध नुस्खे आजमाते हैं। प्रत्येक दल अपना एक घोषणापत्र (Manifesto) प्रकाशित करता है, जिसमें दलके द्वारा किए कार्य, अपने सिद्धान्त और विशेषतः निकट भविष्यमें किए जानेवाले कार्योंको पेश किया जाता है। विभिन्न दलोंकी वैचारिक भूमिका समझनेके लिए यह एक श्रेष्ठ साधन है। फिर भी चुनाव-प्रक्रिया पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि अन्य देशोंकी भाँति हमारे यहाँ भी लगभग सभी मतदाता, अधिकांश प्रत्याशी तथा दलके नेता शायद ही कभी इस घोषणापत्रको पढ़ते हैं। भारतमें लगभग पचास प्रतिशत प्रत्याशियोंका घोषणापत्र जैसा कुछ भी नहीं होता। चुनावमें लिखित प्रचारका ज्वार आ जाता है। प्रत्याशियोंका परिचय देनेवाली पत्रिकाएं वितरित होतीं हैं। विरोधी दलों और प्रत्याशियोंकी सतथ्य आलोचनाएँ और कार्टून छापे जाते हैं। दलके आकर्षक प्रचार-नारे, प्रत्याशियोंको मत देनेकी प्रार्थनाएँ और विरोधियोंकी पोल खोलनेवाले नारे, पोस्टर व पताकाएँ स्थान-स्थान पर लगाए जाते हैं। दीवारों, रास्तों पर चारों ओर अलग-अलग रंगों और साधनोंसे लिखे हुए नाम और निशान ही दिखाई देते हैं। समाचार या सार्वजनिक सूचनाके रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त करनेके लिए समाचारपत्रोंका भरपूर उपयोग किया जाता है। इस प्रकारका लिखित प्रचार-आन्दोलन अधिकांश नगरों और कस्वों तक ही सीमित रहता है। इसका कारण यह है कि दूर-दूर गांवोंमें ऐसे प्रचारको पहुँचाना मुश्किल है और निरक्षर लोगोंकी वहुलताके कारण वह सफल भी नहीं हो पाता। समग्रतः लिखित प्रचारका उपयोग हमारे यहाँ कम ही है और प्रत्याशियों तथा राजनीतिक दलोंको दृश्य-श्रव्य साधनों पर अधिक आश्रित रहना पड़ता है। जुलूस निकालने पड़ते हैं, लाउडस्पीकरोंसे लैस मोटरगाड़ियाँ सतत नारे लगा कर वातावरणको गरम कर देती हैं और कुछ दिन तक तो मतदाताओंकी नींद ही हराम कर देतीं हैं। अपने नेता और सिद्धांतोंकी प्रशंसामें लिखे गए गीतोंके रिकार्डोंका उपयोग कांग्रेस वहुत वड़े पैमाने पर

करती है। फिल्मों और सिने-कलाकारोंका उपयोग दक्षिण भारतमें—विशेषतः तमिलनाडुमें बड़े पैमाने पर किया जाता है और वम्वई जैसे महानगरोंमें सभाएं जमानेके लिए इन साधनोंका खूब उपयोग होता है। इन सभी साधनोंमें सबसे सस्ता और अच्छा साधन वक्ता है। छोटी-वड़ी सभाओंमें अलग-अलग स्तरके नेताओंके भाषण आयोजित किए जाते हैं और सुननेके लिए मतदाता भी अच्छी-खासी संख्यामें उपस्थित रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्याशी तथा उसके कार्यकर्ता मतदाताओंसे मिलते हैं और उनके साथ वातचीत करते हैं। भाषणों और वातचीतमें प्रमुख प्रश्नों पर वहस, विरोधियोंके दावोंका खण्डन तथा नए प्रलोभन, सिफारिशें और भ्रान्तियोंका प्रयोग भी किया जाता है और यह सही है कि लोग उससे प्रेरित भी होते हैं। वम्वईके मतदाताओंमें पानीकी तंगीके प्रश्नको लेकर स्वयं जोरदार वकालत और आन्दोलन करनेका आश्वासन देनेके कारण १९६७में एक प्रत्याशी संसदके चुनावमें जीत गया था। छोटेसे क्षेत्र या समूह पर जिसका सिक्का वैठा हुआ हो या वैठा हुआ माना गया हो, उसे जीत लेनेके लिए भली-बुरी सभी प्रकारकी पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं और इस प्रकारके अवसरका लाभ लेकर आर्थिक लाभ प्राप्त कर लेनेवालोंका एक विलक्षण वर्ग ही हमारे यहाँ उत्पन्न हो गया है।

इस प्रकार अपने देशमें अधिकांशतः चुनाव-प्रचार स्थल और कालके अनुसार चलता है। उसके स्तर विभिन्न प्रकारके होते हैं, अतः इस आन्दोलनके स्तरका समग्रतः विश्लेषण करना वहुत मुश्किल काम है; परन्तु यह स्तर काफी हल्का है, इसमें किसीको सन्देह नहीं है। शराव, पैसा, दवाव, असत्यता, धौंस-धमकी और प्रलोभनोंका उपयोग खूब होता है और यह सर्वविदित है। वम्वई नगरकी विशाल सभाओंमें अश्लील गालियोंका मुक्त प्रयोग होते हुए तो लेखकने स्वयं ही देखा है। श्री के० डी० मालवीयने 'दि डेंजर आफ राइट रिएक्शन इन इंडिया' नामक ग्रंथमें लिखा है कि जनसंघने इस प्रकारका प्रचार किया था कि "अशोक होटल गौमांसके शौकीन पं० नेहरूको सुविधा प्रदान करनेके लिए दिल्लीमें वनाया गया है।" डा० दस्तूरने 'कृपलानी वर्सेस मेनन'में लिखा है कि १९६२के चुनावमें 'कृपलानी सुअरका वच्चा है' के नारे लगाए गए थे। पत्थरवाज़ी, आक्रोष भरे आन्दोलन, धमकी तथा जिसमें किसीकी मृत्यु नहीं होती, इस प्रकारके आमरण अनशन चुनाव-प्रचारमें उन्मादके तत्वको वेग देते हैं। फिर भी सभी जगह ऐसा ही होता है, यह भी मान लेनेका कोई कारण नहीं है। वहुत कम मात्रामें ही सही, पर प्रमुख प्रश्नों पर वहस होती है, प्रत्याशी और दलोंकी समीक्षा की जाती है और कभी-कभी प्रत्याशियोंको एक ही साथ मंच पर एकत्र कर चर्चा भी की जाती है। चुनावमें अगर कभी झूठ, धाँधली और भ्रष्टाचार दिखाई दे जाय तो क्रुद्ध होनेकी जरूरत नहीं है।

शान्तिसे, संतुलन रखकर, लाभालाभ या पूर्वाग्रहसे दूर रह कर मतदाताओंको सार्वजनिक प्रश्नोंकी वुद्धिमत्तापूर्वक छानवीन करना और धर्म मानकर योग्य प्रत्याशीके पक्षमें मतदान करनेका अधिकार सवके द्वारा स्वीकारा जाने पर भी विश्वके किसी भी प्रजातंत्रमें सम्पूर्णतः ऐसा नहीं होता। उत्तेजक, अव्यवस्थित और कान फोड़ देनेवाले वातावरणमें ही प्रजातंत्रके नागरिक अपने प्रतिनिधियोंका चुनाव करते हैं। यूरोपकी तुलनामें हमारे यहांके चुनावोंमें अधिक धाँधली होती है, पर अमेरिका जैसी धाँधली, मारपीट और सौदेवाज़ी तो हमें भी पीछे छोड़ चली है।

चुनाव-आयोग द्वारा की गई सिफारिशोंके अनुसार लाउडस्पीकरसे लैस मोटरों और जुलूसों पर यदि प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तो मतदाताओंको इस धाँधलीसे मुक्ति मिल जायगी और प्रत्याशियोंके खर्चमें कमी हो जायगी। तंगदिलीके कम होने और लोगोंको शान्तिसे विचार करनेका मौका मिले, इस आशयसे मतदान आरम्भ होनेके चौबीस घण्टे पूर्व प्रचार बन्द करवा दिया जाता है। मतदान केन्द्रके आस-पास किसी भी प्रकारके प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, जिससे क्षेत्रीयताके कारण मतदाताओंको किसी भी प्रकारकी असुविधा न हो।

जिस प्रकार मतदाताओंने चुनावोंमें उत्साहसे भाग लिया है, उसी प्रकार प्रत्याशी भी चुनाव-युद्धमें उत्साहपूर्वक उतरे हैं। पहले आम चुनावमें १७२३५, दूसरेमें ११६९६, तीसरेमें १४६३१ तथा चौथेमें १८०५१ प्रत्याशी खड़े हुए थे। इनमेंसे तीसरे भागके प्रत्याशी अपनेको निर्दलीय मानते थे और लगभग इतनी ही संख्यामें स्थानीय वर्गो व छोटे-छोटे दलोंके प्रतिनिधि प्रत्याशी थे। अधिकांश मतदाताओंने अपना मत संगठित व्यवस्थातंत्र, स्थिर राजनीति और देशव्यापी मनोवृत्ति रखनेवाले राजनीतिक दलोंको ही दिया था और यह दृष्टिकोण पुष्ट ही होता गया। १९५२में निर्दलीय और छोटे-छोटे समूहोंके प्रतिनिधियोंको जितने मत मिले थे, उनमें १९६७में लगभग दस प्रतिशतसे अधिककी कमी हुई है। इतना ही नहीं, अपितु यह कमी सतत एक रूपमें होती रही है; फिर भी उनको जितने मत प्राप्त होते हैं, उतने मत किसी भी गैरकांग्रेसी दलको नहीं मिलते। निर्बल और छोटे दलोंकी विपुलता और निर्दलीय प्रत्याशियोंकी बड़ी संख्या भारतीय प्रजातंत्रके लिए अत्यधिक चिन्ताका विषय माना जाना चाहिए। समग्रत: देखने पर भारतमें एक सीटके लिए चार-पांच प्रत्याशी होते हैं और बहुतसे स्थानों पर तो छ:, आठ या दस प्रत्याशी भी खड़े होते हैं। १९६२के चुनावमें उत्तर प्रदेशमें एक चुनावक्षेत्रमें तो एक सीटके लिए २६ प्रत्याशी खड़े होनेका भी उदाहरण मिलता है। अनेक दलों और निर्दलीय प्रत्याशियोंकी इस भीड़में मतदाताओं द्वारा दिया गया फैसला विकृत हो जाता है। श्री अशोक मेहता और श्री चेस्टर बालसने इन तत्वोंको अराजक तत्वोंके रूपमें वर्णित किया है और इस प्रकारका मत भी प्रदर्शित किया है कि प्रजातंत्रके बाल्यकालमें होनेके कारण ऐसे तत्व अधिक मात्रामें दिखाई देते हैं।

सर्वोदयी विचारकोंने निर्दलीय चुनावों और सर्वसम्मत प्रत्याशियोंकी अवधारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने जनतासे दलके आधार पर नहीं, अपितु व्यक्तिके अपने गुण-दोषोंके आधार पर चुनाव करनेका अनुरोध किया है। परन्तु हमारा या अन्य देशोंका अनुभव इससे बिल्कुल भिन्न है। चुनावमें प्रत्याशियोंके व्यक्तिगत गुण-दोषोंकी तुलना करना लगभग असंभव है और अगर यह असंभव न भी हो, तो भी चुनावमें शासकोंका चुनाव होनेके कारण यह हमेशा संभव नहीं हो सकता कि प्रत्येक अच्छा व्यक्ति अच्छा शासक भी होगा। शासक अगर सज्जन है तो बहुत ही अच्छा। इसके अतिरिक्त निर्दलीय व्यक्तिगत प्रतिनिधियोंके पास कोई निश्चित सर्वमान्य कार्यक्रम नहीं होता और दलीय अनुशासनसे मुक्त प्रतिनिधि किस समय क्या करेंगे, यह कहना असम्भव है। प्राचीनकालके यूनानी (ग्रीक) और मध्यकालीन यूरोपके प्रजातंत्रोंमें राजनीतिक दल नहीं थे। आजकी तुलनामें उक्त प्रजातंत्र अधिक भ्रष्ट और कम कार्यक्षमता वाले थे। इतिहास इस बातका साक्षी है। प्रमुख प्रश्न तो दलगत

दोषोंको दूर करनेका है। दलविहीन प्रजातंत्रके प्रयोगोंमें एक या दूसरे स्वरूपमें तानाशाहीका भय बना ही रहता है।

प्रत्याशियोंकी बढ़ती हुई संख्याको कम करनेके लिए प्रत्येक प्रत्याशीसे कुछ धनराशि (लोक सभाके लिए ५०० रु० और विधानसभाके लिए २५० रुपए) जमानतके रूपमें ली जाती है और कुल मतदानके छठे भागसे भी कम मत प्राप्त करनेवाले प्रत्याशीकी जमानत जब्त कर ली जाती है। फिर भी अपने बलाबलका पूरा अनुमान लगाए बिना ही बहुतसे लोग चुनावमें खड़े होनेका दुस्साहस भी करते हैं। लगभग आधे प्रत्याशियोंकी जमानतें ज़ब्त हो जाती हैं। १९६२में चुनाव-युद्धमें उतरनेवाले १४,६१५ प्रत्याशियोंमेंसे ७,१९३ प्रत्याशियोंने अपनी जमानतें ज़ब्त करवा दी थीं और सरकारी खजानेको १७ लाख ५६ हजार रुपएका लाभ पहुँचाया था। इनमेंसे अधिकांश प्रत्याशी निर्दलीय (३४५३) या छोटे दलोंके प्रतिनिधि (१२९३) थे। संगठित दलोंमें जमानत जब्त करानेमें जनसंघका सबसे पहला नम्बर (८४०) था। साथ ही स्वतंत्र पार्टी (६२१) और प्रजा समाजवादी दल (५९७) भी उससे बहुत पीछे नहीं थे। इस स्थितिको टालनेके लिए चुनाव-आयोगने अपने तीसरे विवरणमें जमानतकी राशिको तीन गुना बढ़ा देनेकी संस्तुति की है।

साधनसम्पन्न प्रत्याशी केवल अपने पैसेके बल पर चुनाव न ज़ीत जायँ, इस आशयसे प्रत्याशीके द्वारा चुनावमें किए जानेवाले खर्चकी एक सीमा बांध दी गई है। संसदकी लोकसभाका प्रत्याशी २५,००० रु० तक खर्च कर सकता है। विधानसभाके लिए अलग-अलग राज्योंमें यह राशि ६००० से ९००० तककी निश्चित कर दी गई है। गुजरात और महाराष्ट्रमें प्रत्याशी ८,००० रु० तक खर्च कर सकते हैं। इससे अधिक खर्च किया जाना सिद्ध होने पर भ्रष्टाचार माना जाता है और इस प्रकार विजयी हुए प्रत्याशीको स्थान खाली करना पड़ता है। चुनाव-क्षेत्र और जनसंख्याकी तुलनामें निश्चित की गई उक्त राशि जितनी हास्यास्पद कही जाय, उतनी ही कम है। मतदाताओंसे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए लाखों मतदाताओंको एक-एक पोस्टकार्ड लिखा जाना भी इस राशिमें संभव नहीं है और इतने कम खर्चमें चुनाव जीतकर आना शायद ही कुछ व्यक्तियोंके लिए संभव हो।

अनुभवी पर्यवेक्षकोंका अनुमान ऐसा है कि संसदमें चुन कर आनेवाले सदस्यका लगभग ४से ५ लाख रुपया खर्च होता है, जबकि विधानसभाके लिए यह राशि चालीससे पचास हजारकी अनुमानित की गई है। कुछ मामलोंमें तो संसदकी सीटके लिए आठ-दस लाख रुपए तक व्यय किए जानेका अनुमान है और विधानसभाकी सीटके लिए लाखेक रुपएका।

यह सब ग़ैरकानूनी होने पर भी व्ययसे सम्बद्ध नियमोंमें इतने छिद्र रख दिए गए हैं कि व्ययका नियम निरा ढोंग ही बन गया है। व्ययसे सम्बद्ध यह नियम केवल प्रत्याशी या उसके मुख्य एजेण्ट पर लागू होता है। राजनीतिक दल, प्रत्याशीके मित्र और साथी चाहे जितनी राशि व्यय कर सकते हैं। साथ ही, इस व्ययके लिए समयावधि निश्चित की जाती है। प्रत्याशिता अन्तिम रूपसे स्वीकृत होनेके पहले और चुनाव-परिणाम घोषित होनेके बाद प्रत्याशी मनमानी राशि व्यय कर सकता है और चुनावका कर्ज चुका सकता है। इस प्रकारके व्यय पर किसीको आपत्ति नहीं

होती। इस प्रकारका नियम बना कर संसदने अप्रामाणिकताको प्रोत्साहन दिया है। संसद और विधानसभाके सभी सदस्योंकी प्रवृत्तियोंका श्रीगणेश ही इस तरहकी राजनीतिक असत्यतासे होता है। प्रत्येक सफल प्रत्याशीको चुनाव हो जानेके छः महीनेके अन्दर चुनावमें किए व्ययका हिसाब चुनाव-आयोगके पास भेज देना पड़ता है। प्रत्येक प्रत्याशी यह जानता है कि उसका यह हिसाब वास्तविक नहीं है और चुनाव-आयोग भी यह जानता है, अतः ऐसे बनावटी हिसाबोंकी जांचमें होनेवाले समय और शक्तिके अपव्ययकी ओर चुनाव-आयोगने अपनी प्रत्येक रिपोर्टमें इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

चुनावके खर्चके विषयमें एक दूसरी बात भी विचार कर लेनी चाहिए। कुल मिलाकर एक चुनावमें प्रत्याशियोंकी ओरसे लगभग तीससे चालीस करोड़ तक रुपया व्यय किया जाता है। इतनी बड़ी राशि अनियमित रूपमें धनिक वर्गसे प्राप्त होनेके कारण राजनीतिक दलों और उनके चुने हुए सदस्योंको कमोबेश मात्रामें धनिक वर्गके अधीन रहना ही पड़ता है। चुनावका यह बेशुमार खर्च और परिणामतः धनिक वर्गका दासत्व हमारे प्रजातंत्रके लिए अत्यन्त उलझा हुआ और कभी न हल होनेवाला प्रश्न है और यह सभीके लिए गंभीर चिन्ताका विषय है। प्रजातांत्रिक देशोंमें जनताके कल्याण कार्योंके प्रति जो उपेक्षा दिखाई देती है, वह इसी ला-इलाज समस्याका परिणाम है।

धुआँधार चुनाव-प्रचार, करोड़ों रुपएका अबाधित खर्च और सत्ता-प्राप्तिके लिए किए गए अनियमिततापूर्ण संघर्षका जनता पर क्या असर होता है, मतदाता अपना निर्णय किस प्रकार करते हैं और किस आधार पर मतदान करते हैं; इस विषयमें विद्वानोंके बीच तीव्र मतभेद रहा है। अनेक लोग इस तरहका विचार व्यक्त करते हैं कि हमारे देशमें प्रजातंत्र केवल आभासी है। इनके अनुसार लोग विवेकपूर्वक मत नहीं देते, अशिक्षित और अज्ञानी लोगोंको अनायास ही मतदानका अधिकार प्राप्त हो जानेके कारण वे उसका मूल्य ही नहीं समझते हैं और मतोंका दुरुपयोग करते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि लोग खान-पान, मद्य-मांस या थोड़े-से पैसोंके बदलेमें अपना मतदान करते हैं। यह भी कहा जाता है कि सत्ताधीशों, सूदखोरों, व्यापारियों, जमींदारों, अराजक तत्वों, भूतपूर्व राजाओं, धनी किसानों और समाज या जातिके गणमान्य व्यक्तियोंके दबावमें आकर लोग मतदान करते हैं। विविध विचारोंके पोषक ये विद्वान अपने-अपने मतको सही सिद्ध करनेके लिए चुनाव-प्रचार आन्दोलन, मतदानके आँकड़े और चुने हुए प्रत्याशीकी आर्थिक-सामाजिक स्थितिका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इस विश्लेषणकी प्रक्रिया अत्यन्त जटिल और अव्यक्त होनेके कारण इस विषयमें कोई भी निश्चित कथन प्रस्तुत करना कठिन है। यह भी संभव है कि अलग-अलग स्थानों पर और अलग-अलग स्थितियोंमें पृथक्-पृथक् विचार और शक्तियाँ असर डालती हों। हम यह निश्चित रूपसे नहीं जान सकते कि किस विचारके आधार पर मतदाताने मतदानका अन्तिम निर्णय किया है। गैर-राजनीतिक शक्तियाँ—आर्थिक-सामाजिक दबाव, भय, लालच—सभी क्षेत्रोंमें अंशतः और कुछ क्षेत्रोंमें काफी बड़े रूपमें कैसी भूमिका अदा करते होंगे, हमें पता नहीं है। सुविकसित प्रजातंत्रोंमें भी इस प्रकार होता है, इसका ज्ञान हमें है। भाषा, धर्म, समाज और आर्थिक लाभालाभसे मतदाता परिचालित न होते हों,

इस प्रकारकी आदर्श स्थिति दुर्भाग्यसे किसी भी मानव-समाजने अभी तक प्राप्त नहीं की है। यह संभव है कि निरक्षर और अनुभवहीन लोग मताधिकारका पूरा राजनीतिक मूल्य न समझते हों, परन्तु अमुक पेटीमें मतपत्र डालनेके लिए या मतपत्रमें अमुक स्थान पर निशान लगानेके लिए ऊँचे स्तरके लोग हमारी खुशामद करते हैं; हमारे घर आकर मिन्नतें करते हैं; हम पर सिफारिशें पहुँचाते हैं; व्यक्तिगत लाभ करा देते हैं या करा देनेका वचन देते हैं; हमारे क्षेत्रमें कुंए, तालाव, पुल, रास्ते आदिकी जो भी असुविधाएँ हैं, उन्हें दूर करवानेका प्रयत्न करते हैं आदि बातें समझनेके लिए अक्षर-ज्ञान या सिद्धान्त-चर्चाकी कोई आवश्यकता नहीं होती। लोग निरक्षर हैं पर बुद्धिहीन नहीं हैं। प्रजातंत्रकी सैद्धान्तिक समस्याओं—विदेशी सम्वन्ध, अर्थनीति, प्रशासनिक तंत्र और सामाजिक संघटनके अटपटे प्रश्न-विषयक अथवा उनके दूरगामी परिणामोंकी उन्हें कुछ भी जानकारी नहीं होती। तद्विषयक लोगोंके अतिरिक्त अन्य शिक्षित लोग—डाक्टरों, इंजीनियरों, व्यापारियों, लेखकोंमें भी वहुत कम लोग इस प्रकारकी जानकारी रखते हैं। प्रजातंत्र तद्विषयक विद्वानोंका नहीं, अपितु आम जनताका तंत्र है और आम आदमी अपनी सामान्य मुश्किलोंसे परिचित होता है। अपने गाँव या क्षेत्रके कौन लोग किसकी तरफदारी करते हैं, इसे वे सरलतासे जान सकते हैं। वे समर्थन देनेवाले लोगोंके चरित्र तथा व्यवहार और अगर वे प्रत्याशीको जानते हों तो उसके रहन-सहन, वेशभूषा और भूतकालकी प्रवृत्तियोंसे उसकी विश्वसनीयताको परखनेका प्रयत्न करते हैं। अपनेको सलाह देने आनेवाले नेताओंकी गुणवत्ताके स्तरको भी शायद वे ध्यानमें रखते होंगे। भारतकी 'अज्ञान, जड़ या रूढ़िग्रस्त' जनताके विषयमें अपनी धारणा वना लेनेके पूर्व यह याद रखना चाहिए कि "भारतके गाँवोंके लोग दुनियाके मामलोंकी चर्चा करनेके लिए जव किसी पेड़के नीचे चौपाल पर जमा होते हैं, उस समय अपने गाँवका हित और कल्याण किस वातमें निहित है, यह जाननेके लिए वे एक-दूसरेके सहायक हो सकते हैं।"—ऐसा उल्लेख श्री होरेस अलेक्ज़ैण्डरने अपने ग्रंथ 'डायलेमाज़ आफ डेमोक्रेटिक पालिटिक्स इन इंडिया'में किया है। पत्रकार अथवा नेताओंके अभिप्रायोंकी तोता-रटन्त करनेवाले अर्धदग्ध शिक्षित वर्गकी अपेक्षा ऐसे अशिक्षित लोगोंका निर्णय व्यावहारिक गुणवत्ताकी दृष्टिसे हमेशा नीचा ही होगा, यह मान लेनेका कोई कारण नहीं है। इसके विपरीत, अगर चारों चुनावोंका पूर्ण रूपसे विश्लेषण करें तो यह कहे विना नहीं रहा जा सकता कि सामान्य मतदाताने अत्यन्त विलक्षण समझदारी प्रदर्शित की है।

अधिकांश लोग केवल अपने-आप निर्णय नहीं कर लेते, अपितु जिसे वे अपना विश्वसनीय व्यक्ति मानते हैं, उसके विचारोंके अनुसार ही चलते हैं। इस प्रकारके विश्वसनीय व्यक्ति सभी स्थानों और समयों पर एक समान या एक वर्गके नहीं होते और लोग सरकारी अधिकारियोंके कथनानुसार, कर्जदाता महाजनके मतानुसार, भूतपूर्व राजाओं या जागीरदारोंके आदेशानुसार मत देते हैं या फिर धन अथवा खान-पानके वदलेमें मत डालते हैं। यों यह कथन, सभी जगह सही नहीं होता। फिर भी लोग अभी तक सरकारी अधिकारियोंसे घवराते हैं और उनकी वातोंमें 'हाँ जी, हाँ' करते हैं; पर सदियोंसे त्रस्त करनेवाले और रिश्वत द्वारा शोषण करनेवाले नौकरशाहोंके प्रति उनके मनमें घृणा और अविश्वास भरा हुआ होता है। इसके अतिरिक्त यह भी सही है कि सभी अधिकारी एक ही दल या वर्गके समर्थक नहीं होते; अतः नौकरशाहीका प्रभाव एक समान नहीं

होता। मतदानकी गोपनीयतासे आश्वस्त होनेके बाद लोग नौकरशाहीके दवावसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि लोग उन्हें माई-बाप कहने पर भी उन्हें वैसा नहीं मानते। अगर लोग सरकारी अधिकारियोंका कहना मानते होते अथवा अधिकारी हमेशा ही राजनीतिक नेताओंकी तरफदारी करते होते तो इतने सारे मंत्रियों या नेताओंको वारवार जिस पराजयका सामना करना पड़ता है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रा० वेईलेने 'पॉलिटिक्स एण्ड सोसायटी इन इंडिया'में लिखा है कि लोग सरकारी अधिकारी, जागीरदार, प्रतिष्ठित नेता या कर्ज देनेवाले महाजनकी सलाहके अनुसार नहीं चलते हैं। इन सवके प्रति लोगोंमें वहुत अधिक सहानुभूति होगी, यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। वैसे भी इस वर्गके अनेक व्यक्ति निर्दलीय प्रत्याशीके रूपमें खड़े होते हैं और वुरी तरह पराजित होते हैं। इस प्रकारके व्यक्तियोंका प्रभाव सीमित क्षेत्रमें ही क्रियाशील रहता है, अतः विस्तृत क्षेत्रमें होनेवाले चुनावोंके परिणामों पर इसका कितना प्रभाव पड़ता होगा, यह अनुमान लगाना कठिन है। तीसरे और चौथे चुनावों परिणामोंने यह स्पष्ट कर दिया है कि राजस्थान, सौराष्ट्र, उड़ीसा, मध्यप्रदेश जैसे शैक्षिक और आर्थिक दृष्टिसे पिछड़े हुए प्रदेशोंमें भूतपूर्व राजाओं और जमींदारोंका अभी भी वोलवाला है। यह विचारणीय है कि इस वर्चस्वमें आदरकी मात्रा कितनी है और भयकी मात्रा कितनी है। क्योंकि नगरोंमें अपराधी तत्व जो स्थान रखते हैं, लगभग वही स्थान ग्रामीण क्षेत्रोंमें यह वर्ग और इसके एजेण्ट रखते हैं।

इन आरोपोंमें कि धन देकर मत खरीदे जाते हैं, परोक्षतः कुछ सत्य है। यद्यपि धनराशिके अभावमें चुनाव नहीं जीते जा सकते, तथापि केवल पैसेके वल पर भी चुनावोंमें विजय नहीं मिल सकती। मतदाताओंकी संख्या इतनी अधिक होती है कि अगर आवश्यक मत कमसे कम मूल्य पर भी खरीदे जायँ, तो भी खर्च वेहद वढ़ जाता है; इस पर भी पैसा लेनेवाला व्यक्ति या वर्ग उसे ही मत देगा, इसका विश्वास न होनेके कारण प्रत्याशी यों ही पैसा देनेके लिए तैयार नहीं होता। चुनाव पर असर डालने जितनी मात्रामें पैसेका लेन-देन सभी प्रत्याशी और दल करते हैं। यह भी कहा जाता है कि चुनावके समय मतदाताके नाम पर जो पैसा दिया जाता है, वह पैसा मतदाताओंको मिलता ही नहीं। प्रत्येक प्रत्याशीके आसपास उसके कार्यकर्ताओंका एक झुण्ड जमा रहता है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकारके लोग अलग-अलग हेतुओंसे जुड़े होते हैं। अनुभवहीन और अधीर प्रत्याशीसे लोग पैसा निकलवा ले जाते हैं। चुनावके समय झुण्डके झुण्ड निकलनेवाले जुलूसों और उनकी सभा-समारोहोंकी आड़में चालाक कार्यकर्ता पैसा मार ले जाते हैं—इस प्रकारका उल्लेख प्रा० सिसिकरने अपने ग्रंथ 'वोटिंग वीहेवियर इन इंडिया'में तथा प्रा० रजनी कोठारीने 'इंडियन वोटिंग वीहेवियर'में किया है। परन्तु इस प्रकार पैसा देनेमें अन्ततः लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होती है, यह वात उनके विवरणों से स्पष्ट होती है। अमेरिकाकी भाँति अपने यहाँ भी चुनाव-कार्यकर्ताओंको परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे कुछ-न-कुछ पैसा देना ही पड़ता है, क्योंकि पैसेके वल पर काम करनेवाला एक वर्ग हमारे यहाँ भी खड़ा हो गया है। पैसेके लेन-देनकी वातको प्रा० वेईलेने 'पोलिटिकल एण्ड सोशियल चेन्ज इन ओरिसा'में 'छायाके साथ कुश्ती' (Shodow boxing) के रूपमें वर्णित किया है: "वचन दिये जाते हैं और लोग सिर हिलाते भी हैं; परन्तु दोनों पक्ष जानते हैं कि इसमें लेन-देन कुछ नहीं होगा।" यों चुनावके ठीक समय मतदाताओंको रिझानेके लिए रास्तोंकी मरम्मत, सफाई, पुल वनवाने आदिमें दलीय और प्रभावशाली प्रत्याशी अच्छी-

खासी मात्रामें सरकारी पैसा खर्च करवा देता है और पिछड़े हुए क्षेत्रको इस तरह खर्च किए गए पैसेका अचानक ही पूरा-पूरा लाभ भी मिल जाता है।

भाषा, धर्म, सम्प्रदाय या जातीयताका चुनाव पर होनेवाले प्रभावकी बात पर विचार करते समय यह ध्यानमें रखना चाहिए कि ये शक्तियाँ अत्यन्त प्रबल हैं और अत्यन्त सूक्ष्म रीतिसे काम करती हैं। भाषा और धर्म विश्वमें सभी जगहों पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यूरोपके बहुभाषी राज्योंमें और अमेरिकामें भी भाषा-विषयक संज्ञानताका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता और एक सम्प्रदायके लोग अधिकांशतः दूसरे सम्प्रदायके प्रत्याशीको मत नहीं देते। हमारे यहाँ भाषागत आवेश अतिशय जोरदार है और विशेषतः बड़े-बड़े बहुभाषी नगरोंमें उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अपने धर्म या सम्प्रदायके प्रति लोगोंमें सहज झुकाव होने पर भी कभी-कभी ऐसा दिखाई देता है कि मतदाता किसी अन्य धर्मावलम्बी या सम्प्रदायके प्रत्याशीको मत देते हैं; पर धार्मिक जुनूनको उत्तेजित करनेवाले प्रसंगों या प्रचारका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जातिको लेकर सभी भारतीय या विदेशी विद्वान् यह मत प्रदर्शित करते हैं कि भारतीय समाज जातिबद्ध होनेके कारण सामान्यतः जनता जातिके नेताओंके मतानुसार और यथासंभव जाति-बंधुओंको ही अपना मत देती है। इस बातको सत्य सिद्ध करनेके लिए बहुत-से प्रमाण दिए जाते हैं। चुनाव-प्रक्रियासे सम्बद्ध अनेक प्रसिद्ध ग्रंथोंमें ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि चुनाव, दल या प्रत्याशियोंके बीचमें नहीं, पर क्षेत्र विशेषकी मुख्य अथवा महत्वकी जातियों—गुजरातमें पटेलों क्षत्रियों और बनियों; महाराष्ट्रमें मराठा और ब्राह्मणों; मैसूरमें लिंगायतों और ओक्कालिगों; केरलमें एलवा, नायर और ईसाइयों; मद्रासमें ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों; आंध्रमें कम्मा और रेड्डियों; बिहारमें राजपूतों, भूमिहरों और कायस्थों; पंजाबमें अकालियों और हिन्दुओं; राजस्थानमें क्षत्रियों और अन्य जातियों—के बीचका युद्ध है। ये विचार पूर्णतः स्वीकार कर लेने योग्य नहीं हैं। जाति-संस्था अभी नष्ट नहीं हुई है; अतः ऐसी प्रबल सामाजिक संघटनाका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी जातिके प्रत्याशीकी ओर मतदाता ममत्व दिखाते ही हैं। साथ ही यह वास्तविकता भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि हमारे यहाँकी जातियाँ अनेक उपजातियों और वाड़ोंमें विभक्त होकर वे सब अलग-अलग क्षेत्रोंमें फैली हुई हैं। इन जातियोंमें बहुत-से झगड़े और आपसी कलह होते ही रहते हैं। जातिके परिबलसे सम्बद्ध अनेक बातें कही गई हैं; परन्तु जातिका संख्याबल और चुनावमें मिलनेवाली विजयके बीच अविनाभावि सीधा और स्पष्ट संबंध जोड़ देनेवाला एक भी उदाहरण किसी भी पर्यवेक्षक द्वारा अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। श्री मीनू मसानी, श्री पीलू मोदी और श्री होमी दाजी जैसे नेता जिस क्षेत्रसे चुनकर आए हैं, वहाँ उनके जातिबन्धुओंकी संख्या नहींके बराबर है। जातियोंके स्थिर होने पर भी चुनाव-परिणाम इधर-उधर झोंके खाता दिखाई देता है। जातिके बलाबलका माप निकालना बहुत कठिन कार्य है और जातिके स्तर पर जो विश्लेषण प्रस्तुत किए जाते हैं, उनका पृथक्करणीय और प्रत्ययात्मक ढाँचा बहुत दोषपूर्ण है, इसका दर्शन सहज ही कराया जा सकता है।

समग्रतः देखने पर, यह कहा जा सकता है कि चुनावके परिणामों पर परोक्ष और तीखा प्रभाव डालनेवाले परिबलोंका माप निकालनेमें एक मूलभूत समस्या यह है कि हमारे यहाँ अब

तक आयोजित सभी चुनाव आम जनताके लिए उद्देश्यहीन पटेबाजीके समान ही बने रहे हैं। सभी राजनीतिक दल महत्वपूर्ण प्रश्नों—आयोजन, समाजवाद, तटस्थ विदेशनीति, गरीबी दूर करने और हर स्तर पर भ्रष्टाचार तथा प्रशासनिक शिथिलताको समाप्त करनेकी आवश्यकता—के विषयमें सहमति रखते हैं। फिर भी इन प्रश्नोंके आधार पर लोगोंमें जागृति लानेवाला लोकशिक्षणकार्य आरम्भ करनेके लिए कोई भी दल तैयार नहीं होता। परिणामतः स्पष्ट और समझमें आनेवाले विकल्पोंके अभावमें मतदाता क्षुद्र और विचित्र शक्तियोंके वशीभूत होकर व्यवहार करते हैं।

राजनीतिक प्रक्रियाके रूपमें चुनावका रहस्य दिखानेके लिए गत चार आम-चुनावोंके परिणामोंके आंकड़ोंके आधार पर चार कोष्टक परिशिष्टमें दिए गए हैं। पहले कोष्टकमें प्रत्याशियोंकी दलानुसार संख्या बताई गई है और वह दल और व्यक्तियोंके उत्साह और अपेक्षाका दर्शन कराती है। चुनावोंमें विभिन्न दलोंको प्राप्त मत और प्रतिशत दिखाने वाले दूसरे कोष्टकमें दलोंकी लोकप्रियता तथा उनके राजनीतिक बलाबलमें आ रहे परिवर्तनको देखा जा सकता है। तीसरे कोष्टकमें संसद और विधानसभाओंमें दलोंको प्राप्त सीटोंकी संख्या बताई गई है, जिससे राजनीतिमें उनके प्रभावका अलग-अलग माप निकाला जा सकता है। विभिन्न दलोंमें जमानत जब्त करानेवाले प्रत्याशियोंकी संख्या और प्रतिशत उस दलकी दुर्बलताकी निशानी है।

राजनीति केवल आंकड़ोंका ही खेल नहीं है; परन्तु इन कोष्टकों पर नज़र डालनेसे कितने ही दिलचस्प परिणाम निकाले जा सकते हैं। हमारे यहाँ चुनावमें खड़े होनेवालोंकी संख्या काफी बड़ी होती है और इसमें आधेसे अधिक प्रत्याशी थोड़ा-सा भी राजनीतिक मूल्य या महत्व नहीं रखते हैं। 'इंडियन कांस्टीट्यूशन' नामक ग्रंथमें श्री ऑस्टिनके कथनानुसार "ये लोग अन्यमनस्कताके दौरेमें—in a fit of absent mindedness राजनीतिमें आ पड़े हैं। उनकी आकांक्षाएँ अत्यन्त ऊँची, अनुभव अत्यल्प और साधन बहुत ही सीमित होते हैं। ऐसे तत्व भारतीय राजनीतिकी निराशा और पागलपनकी सीमा (brustrated and lunatic fringe) ही दर्शाते हैं और प्रजातंत्रके विकासके लिए इनका अस्तित्व अत्यन्त हानिकारक है। हमारी दल-पद्धति अभी विकसित हो रही है और अगर उसका उचित विकास न हुआ और आजके शंभुमेलेके समान दलोंका विघटन होकर सुदृढ़ दल खड़े न हुए तो भारतीय प्रजातंत्रमें अराजकता और निराशाकी मात्रा बढ़ती ही जायगी और उसी अनुपातमें ऐसे प्रत्याशियोंकी संख्या भी बढ़ती जायेगी। इसका कारण यह है कि संगठित और शक्तिशाली दलोंके अभावमें चुनावके समय छोटे समूहकी अथवा अपनी स्वयंकी लोकप्रियताके आधार पर चुनकर आ जानेकी कल्पना करके अनेक लोग गणितीय भूल कर बैठते हैं। हमारी चुनाव-पद्धति साधारण बहुमत पद्धति होनेके कारण उसमें परिवर्तन करना आवश्यक है। परन्तु दल-पद्धतिके भली प्रकार स्थापित होनेके पूर्व अगर यह परिवर्तन किया गया तो इन तत्वोंको इससे प्रोत्साहन मिले बिना नहीं रहेगा। भारतीय मतदाता ऐसे प्रत्याशियोंको तनिक भी प्रोत्साहन नहीं देते। इनमेंसे बहुत-से लोग हार जाते हैं और बहुत बुरी तरह हारते हैं—यह हम पहले ही देख आए हैं। इनकी संख्या तीसरे आमचुनावमें कम थी; परन्तु चौथे चुनावके समय ऐसे प्रत्याशियोंकी संख्यामें अत्यधिक वृद्धि हुई है और यह अस्वस्थताका द्योतक है। अतः इन तत्वोंको समाप्त करना आवश्यक है; क्योंकि जिन दलों या व्यक्तियोंका चुनकर आना बिल्कुल संभव न हो, ऐसे झुण्डके झुण्ड प्रत्याशियों पर मतदाताओंके बीससे पच्चीस

प्रतिशत तक मत व्यर्थ ही चले जाते हैं। ये मत अगर अखिल भारतीय स्तर पर काम करनेवाले दलोंको प्राप्त हों तो उनकी शक्ति और उत्साहमें वृद्धि हो और उनके वैकल्पिक कार्यक्रमका पता भी जनताको चलता रह सकता है। प्रत्याशीके जमानतकी रकममें अगर पर्याप्त वृद्धि कर दी जाय तो भी कुछ अन्तर आयेगा। कुछ लोग इस तरहका सुझाव भी देते हैं कि सरकारको मान्य राजनीतिक दलोंकी स्वीकृतिके विना किसी भी अन्य प्रत्याशीके खड़े होने पर प्रतिवन्ध लगा देना चाहिए। परन्तु इस औषधिकी प्रक्रिया मूल रोगसे भी अधिक भयंकर है और इससे स्वयं प्रजातंत्रके अस्तित्वके लिए ही खतरा उत्पन्न हो जायगा। सन् १९१९के वाद जर्मनीमें ऐसा ही एक प्रयोग किया गया था और उसके परिणाम वहुत ही भयंकर आए थे।

दूसरे, प्रजातांत्रिक देशोंमें—विशेषत: विकासशील देशोंमें—सत्तामें आनेवाले दलके लिए अपनी लोकप्रियताको वनाए रखना और संगठनको सुदृढ़ रखना वहुत कठिन काम है। विकास कार्योंकी तमाम मुश्किलों और उनकी मंद गतिके कारण समाजके सभी वर्गोंको और विशेषत: पिछड़े हुए वर्गोंको वहुत कुछ सहन करना पड़ता है और शोर मचानेवाले लोगोंको इससे वोलनेका अवसर मिल जाता है। साथ ही, सत्ता-प्राप्ति स्वयं ही दलमें विघटन और भ्रष्टाचार उत्पन्न करती है; परन्तु दो दशकों तक सतत और सर्वत्र सत्ताका उपभोग करते रहने पर भी कांग्रेस दलको मिल रहे समर्थनकी मात्रामें वहुत अन्तर नहीं आया है। सन् १९५७में कांग्रेसको लोकसभाके चुनावमें लगभग ४७ प्रतिशत मत मिले थे और सन् १९६७में ४१ प्रतिशत मत मिले। सन् १९६७का वर्ष शासन करनेवालोंके लिए सवसे खराव वर्ष था। अकाल, आर्थिक गिरावट और आन्तरिक कलहसे लोग त्रस्त हो गए थे, फिर भी शासकदलके समर्थकोंकी संख्यामें वहुत वड़ा अन्तर नहीं आया, जो आश्चर्यजनक तो है ही, साथ ही इस आशंकाको जन्म देनेवाला भी है कि राजनीतिक दृष्टिसे लोग जाग्रत भी हैं या नहीं। समर्थकोंका यह स्थिर प्रतिशत कांग्रेसकी संगठन शक्ति और विरोधी दलोंकी निर्वलता ही वताता है। इस दावेमें कोई सचाई नहीं है कि कांग्रेस दल उखड़ चुका है; क्योंकि अन्य कोई भी राजनीतिक दल इसके चौथाई मत भी प्राप्त नहीं कर सका है। फिर भी चुनावोंके परिणाम यह तो वताते ही हैं कि कांग्रेसकी लोकप्रियतामें धीमी, किन्तु स्पष्ट कमी होती गई है। सन् १९६७में चार-पाँच प्रतिशतके लगभग प्लवमान (floating) मतोंकी स्थिति पहली ही वार दिखाई देती है। सुविकसित प्रजातंत्रोंमें भी ऐसा ही होता है और प्लवमान मतोंकी मात्रा दो या तीन प्रतिशतसे अधिक नहीं होती। परन्तु समान शक्ति रखनेवाले राजनीतिक दलोंके कारण वहां इन मतोंका प्लवन निर्णायक परिणाम उत्पन्न करता है। दूसरे रूपमें कहें तो चुनावके परिणाम यह सिद्ध करते हैं कि भारतमें प्रजातंत्रकी नींव तो तैयार है, पर उस पर निर्माण करनेमें शिक्षित वर्ग असफल सिद्ध हुआ है। अन्य प्रजातंत्रोंकी भाँति हमारे यहाँ भी मतदाता अपनी पसंद दर्शानेवाला हो गया है, जो इस वातका प्रमाण है कि हमारे यहाँ प्रजातंत्रकी जड़ें जमती जा रही हैं। चिन्ताकी वात केवल इतनी ही है कि शासकदलकी तुलनामें अन्य देशव्यापी दल अत्यन्त दुर्वल हैं और वे अपनी शक्ति और ऐक्य स्थिर नहीं रख पाते। जनसंघको अगर अपवाद मान लें तो सभी दल आन्तरिक झगड़ोंमें ही अपनेको नष्ट करते जा रहे हैं। पहले चुनावमें १६ प्रतिशत पानेवाला प्रजा-समाजवादी दल तेज़ीसे अवनति प्राप्त कर सन् १९६७में केवल ३·०८ प्रतिशत मत ही प्राप्त कर सका है। साम्यवादी दल, जो

तीन प्रतिशतसे बढ़कर दस प्रतिशत तक पहुँच गया था, वह १९६७में पुनः पाँच प्रतिशत पर आ गया है। स्वतंत्र पार्टीकी शक्ति तेजीसे बढ़ी है; परन्तु उसका स्वरूप अभी बन ही रहा है, अतः उसके विषयमें अभी कुछ भी कहना असामयिक माना जायगा। आन्तरिक संगठनकी दृष्टिसे जनसंघ सबसे अधिक सुदृढ़ रहा है और सत्रह वर्ष तक उसने अपने अनुशासन और दलीय एकताको सदा बनाए रखा है। उसकी शक्तिमें इकसमान वृद्धि हो रही है; परन्तु उसके विकासकी गति भेद बहुत है। पहले चुनावमें ३ प्रतिशतसे आरम्भ कर आज लगभग ९ प्रतिशत तक वह पहुँच चुका है। कांग्रेसके विकल्पमें काम कर सकनेकी स्थितिमें पहुँच पानेके लिए उसे अभी बहुत लम्बी मंज़िल तय करनी है। साम्यवादियोंमें उत्पन्न विग्रहको प्रजातंत्रके विकासकी दृष्टिसे स्वागत योग्य मानें, तो भी प्रजातंत्रमें श्रद्धा रखनेवाले समाजवादियों और स्वतंत्र पार्टीके आन्तरिक कलह अत्यन्त शोचनीय हैं। निर्दलीय प्रत्याशियों और छोटे समूहोंके पक्षमें प्रतिशत ३२से घटकर २१ तक आ गया है। परन्तु फिर भी आज किसी भी अन्य राजनीतिक दलकी अपेक्षा उनका दोगुना प्रभाव है। कांग्रेस दलके विकल्पमें काम कर सकनेवाला दल निर्विवाद रूपसे विकसित न होनेके कारण जनताके लिए या तो कांग्रेसको या फिर आँख बन्दकर इनमेंसे किसी एकको पसंद करना ही शेष रह जाता है। सन् १९६७के चुनावके बाद प्रादेशिक स्तर पर जनताको प्राप्त अनुभव इस बातका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

कांग्रेस और साम्यवादी दलके अलावा किसी अन्य दलको अपनी लोकप्रियताका पूरा लेखा-जोखा मिलता दिखाई नहीं देता, कारण कि शक्तिके अनुपातमें उनके प्रत्याशियोंकी संख्या बहुत अधिक होती है। चुनावमें हार-जीतका अनुमान लगाना बहुत कठिन होने पर भी इस प्रकारके प्रत्याशी बहुत अधिक संख्यामें और अत्यन्त दयनीय स्थितिमें हारते हैं; इस बातको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस मामलेमें सबसे विचित्र दृष्टिकोण जनसंघका है। उसके अनेक प्रत्याशियों द्वारा जमानतें जब्त कराये जाने पर भी वह प्रत्येक चुनावमें अपने प्रत्याशियोंकी संख्यामें सतत वृद्धि करता जाता है। यह दल या तो अपने कार्यकर्ताओंके असीम उत्साहको सम्हाल नहीं पाता या फिर मिल सकनेवाले सभी मतोंका संचय कर प्रमुख स्थान बनाए रखनेकी नीति पर अमल कर रहा है। यह सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात है कि आर्थिक व्ययकी चिन्ता उसे नहीं करनी पड़ती।

संघीय स्तर पर कांग्रेसका बहुमत कम होता जा रहा है; परन्तु वह अभी तक टिकी रही है। पहले तीन चुनावोंकी तुलनामें सन् १९६७में प्रादेशिक स्तर पर कांग्रेसकी पकड़ पर्याप्त मात्रामें शिथिल हुई है। आंध्र, महाराष्ट्र, मैसूर, गुजरात, असम और काश्मीरमें कांग्रेसका स्पष्ट बहुमत होनेके कारण वहां स्थिर शासन स्थापित हो सका है। मद्रास, केरल और उड़ीसामें कांग्रेस पराजित हुई और वहाँ उसके विकल्प रूपमें अन्य दल या दलोंका स्थिर शासन स्थापित हुआ। अन्य राज्योंमें कांग्रेस संख्याबलमें सबसे बड़ा दल होने पर भी चुनावके परिणाम तथा चुनावके बाद आन्तरिक कलहके कारण कांग्रेसने अपना स्पष्ट बहुमत खो दिया है और अलग-अलग दलोंकी सरकारें स्थापित हुई हैं। स्पष्ट रूपसे यदि कोई भयंकर कठिनाई सामने न भी हो तो भी संयुक्त विधायक दलोंकी सरकारें लम्बे समय तक चल नहीं सकतीं। सत्ताकी खींचतान, स्वार्थपूर्ण पक्षपात और कार्यक्रम विषयक मतभेद संविद सरकारोंको थोड़े ही समयमें तोड़ डालते हैं। यूरोपके कितने ही छोटे देशोंमें इस प्रकारकी सरकारें काम करती हैं; परन्तु हमारे यहाँकी और

उनकी राजनीतिक परिस्थितियाँ विल्कुल भिन्न होनेके कारण ऐसे शासनतंत्रोंकी अपेक्षा यहाँ नहीं की जा सकती।

चुनाव-परिणामोंकी राज्योंके अनुसार समीक्षा करनेसे पता चलता है कि कांग्रेसका स्थान लेनेकी क्षमतावाला अन्य कोई दल अभी तक दिखाई नहीं देता। चुनाव-आयोग द्वारा स्वीकृत नए नियमके अनुसार अन्य किसी भी दलको सभी राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशोंमें मान्यता नहीं मिली है। अपने आपको राष्ट्रीय कहलानेवाले दल भी वस्तुतः तो स्थानीय दल ही हैं। अखिल भारतीय स्तर पर अपनी शक्ति वढ़ानेके वदले वे अपने-अपने स्थानीय गढ़ोंमें ही शक्ति-संचय करनेमें प्रयत्नशील हैं। साम्यवादी और स्वतंत्र पार्टीके अनुभवोंसे यह सिद्ध होता है कि उक्त तरकीव काफी कामयाव हुई है और उससे न केवल राज्योंकी विधानसभाओंमें ही, अपितु संसदमें भी अधिक स्थान प्राप्त किए जा सकते हैं। इस पद्धतिको न अपनानेके कारण प्रजा-समाजवादी दलको बहुत अधिक हानि सहन करनी पड़ी है। इस प्रकारका विचार बहुत ही घातक है, क्योंकि अगर विभिन्न दल अलग-अलग दलोंके साथ संयुक्त हो जायँ तो राजनीतिक वैमनस्यकी तीव्रताके साथ-साथ प्रादेशिक भावनाएँ भी फैलती जायँगी। राज्योंमें अलग-अलग दलोंके झण्डोंके नीचे स्थिर शासनतंत्र स्थापित किए जा सकते हैं; परन्तु इससे केन्द्र सरकारकी स्थिरता और समन्वय शक्ति पर बहुत बड़ा आघात होगा और (neked physicael force) प्रदेशोंको संकलित रखनेवाली एकमात्र कड़ी वन जायगी। अगर प्रादेशिक हितोंका प्रश्न उग्र वन जायेगा तो अमेरिकन राज्योंके इस अनुभवको नहीं भूलना चाहिए कि संघके विभाजनकी प्रक्रिया भी आरम्भ हो जायगी। अगर राष्ट्रव्यापी दल खड़े नहीं होंगे तो चुनावकी प्रक्रिया राजनीतिक विघटन को वेग देनेकी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी।

इस संदर्भमें लोकमतके ध्रुवीकरणका प्रश्न महत्वपूर्ण वन जाता है। ध्रुवीकरणके विषयमें वहुत-सी चर्चाएँ होती हैं और अलग-अलग मत प्रस्तुत किए जाते हैं। रूढ़िग्रस्त (दक्षिणपंथी) और प्रगतिशील (वामपंथी) दलोंके वीच लोकमत वँटता जा रहा है या नहीं, इसकी चर्चा करनेमें दो वड़ी कठिनाइयाँ हैं। पहले तो यह सिद्ध ही नहीं होता कि मतदाता विवेकपूर्वक और दलके सिद्धांतोंको भली प्रकार समझकर मत देते हैं। दूसरे, यह कहना भी कठिन है कि अधिकांश राजनीतिक दलोंको दोनोंमेंसे किस श्रेणीमें रखा जाय। सामाजिक दृष्टिसे पुरातनपंथी जनसंघ आर्थिक मामलोंमें उग्रपंथी है। आर्थिक क्षेत्रमें रूढ़िग्रस्त माना जाने पर भी स्वतंत्र दल सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर गतिशील माना जाना चाहिए। कांग्रेस दलके सिद्धान्त गतिशील हैं, पर व्यवहारमें वह ठहरा हुआ-सा दिखाई देता है। फिर भी अगर प्रचलित विभागोंको स्वीकार कर चुनावोंके परिणामों पर विचार करें तो पता चलेगा कि उद्दामवादी पक्षोंको प्राप्त मत १९से २१ प्रतिशत हो गए हैं; जवकि रूढ़िग्रस्त दलोंका वल ३ प्रतिशतसे बढ़कर १७ प्रतिशत हो गया है। इस पर भी पहले और अन्तिम चुनावकी तुलनामें कांग्रेसने मात्र पाँच प्रतिशत ही मत खोये हैं। दक्षिणपंथियों और वामपंथियोंको जो लाभ हुआ दिखाई देता है, वह छोटे दलों और निर्दलीय प्रत्याशियों द्वारा खोए ११ प्रतिशत मतोंसे ही हुआ है। इस प्रक्रियाको ध्रुवीकरणका नाम देना उचित नहीं। अराजक तत्व साफ होते जा रहे हैं और संगठित (जनसंघ) और साधन-सम्पन्न (स्वतंत्र पार्टी) दलोंको लाभ मिल रहा है। इस प्रक्रियामें जनताका ध्रुवीकरण नहीं हो रहा है; वल्कि चुनावके अग्नितापमें दलोंकी संगठन-शक्तिकी कड़ी परीक्षा हो रही है, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा।
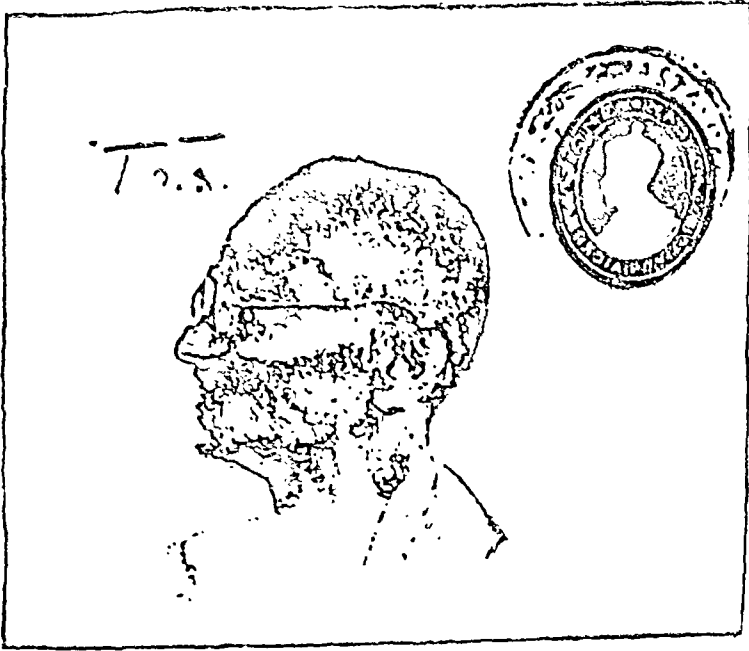
गांधीजीको पं० नेहरू द्वारा श्रद्धांजलि

'हमारी जिन्दगीसे दीप बुझ गया है...
सर्वत्र अन्धकार फैला चुका है...
प्रकाश बुझ गया है मैंने यह कहा,
पर मैं गलत था।
क्योंकि
इस देशमें जो प्रकाश प्रकट हुआ था
वह कोई साधारण प्रकाश न था।
वह प्रकाश दिखाए विना नहीं रहेगा।
और सारा विश्व उसे देख सकेगा,
और वह प्रकाश असंख्य हृदयोंको
शान्ति प्रदान करता रहेगा।'

[३०-१-१९४८ आकाशवाणी]

⊙

पं० नेहरूके प्रति गांधीजीकी श्रद्धा

"जब मैं नहीं हूँगा तब वह मेरी ही भाषा रटेगा।"

गैर-कांग्रेसी राज्य सरकारोंके मुख्य मंत्री

मद्रासमें द्रविड़ मुनेत्र कपड़मके नेता
श्री अन्नादुराई

केरलमें कम्युनिस्ट (मार्क्स०) दलके नेता
श्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद

पश्चिमी बंगालमें बंगला कांग्रेसके नेता
श्री अजय मुखर्जी

१० : राजनीतिक दल-पद्धति

राज्य और राजनीति मानव-समाजके समान ही प्राचीन होने पर भी उसका वाहन हर युगमें बदलता रहा है। आधुनिक युगमें राजनीतिका सबसे बड़ा वाहक परिबल राजनीतिक दल हैं; अतः किसी भी प्रजातांत्रिक देशमें प्रवर्तित राजनीतिक दलोंके बलाबल तथा उनके आपसी सम्बन्धोंको अगर समझा न जाय तो उस देशके संविधान या राजतंत्रका अध्ययन हमें परिस्थितिका वास्तविक चित्र नहीं प्रदान कर सकता। पिछले डेढ़-दो सौ वर्षोंमें ही जगत्के राजनीतिक दलोंके उद्भव और विकासका इतिहास समाविष्ट हो जाता है। अपेक्षाकृत नये कहे जा सकनेवाले इस परिबलकी गहराईसे मीमांसा करनेका काम अभी आरम्भिक अवस्थामें ही है। राजनीतिक दलोंकी उपयोगिता और उनमें निहित खतरों, आधुनिक राजनीतिमें और विशेषतः प्रजातांत्रिक राजनीतिमें उसका स्थान और उससे उत्पन्न परिणाम आदिके मामलोंमें अनेक मतभेद और चर्चाएँ बराबर चलती रही हैं।

दल-पद्धतिके आरम्भिक वर्षोंमें—आजसे केवल दो सौ वर्ष पूर्व—राजनीतिक दलोंको उपद्रव करनेवाले षड्यंत्रकारियोंकी टोलियोंके समान माना जाता था। परिणामतः शुद्ध और संतुलित राज्यतंत्रके इच्छुक और प्रामाणिक नेता इससे सर्वथा अलग रहनेका ही प्रयास करते थे। अमेरिकाके पहले राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटनने अपने विदाई-भाषणमें अपने राष्ट्रबन्धुओंको विशेष बल देकर इस प्रकारकी दलबन्दीसे दूर रहनेकी सलाह दी थी। उस कालके लेखकों और विचारकोंमें भी राजनीतिक दलोंके प्रति घृणा और संदेह प्रबल रूपमें दिखाई देते हैं।

आधुनिक राजनीतिमें प्रजातंत्रका ज्यों-ज्यों विकास होता गया; त्यों-त्यों जनता और शासनतंत्रके बीच शृंखलारूप बन सकनेवाले और प्रजातंत्रमें अनिवार्यतः प्रकट होने वाले मतभेदों और विग्रहोंको सीमामें रख सकने वाले दलीय-संगठनोंकी आवश्यकता समझमें आने लगी और राजनीतिक दलोंके विषयमें दृष्टिकोण भी बदलने लगा। दलीय-व्यवस्थाका निर्माण करने तथा सबसे पहले उसका बौद्धिक बचाव करनेका श्रेय इंग्लैण्डके नेताओंके हिस्सेमें आता है; परन्तु उसका वास्तविक और महत्वपूर्ण गंभीर अध्ययन इस समय सबसे विशाल पैमाने पर अमेरिका और फ्रांसमें हो रहा है। इन अध्ययनोंके परिणाम-स्वरूप दलके उद्भव-कारणों, उद्देश्यों, कार्यवाहियों और राजनीतिमें उसके महत्त्वपूर्ण स्थान विषयक धारणामें आमूल परिवर्तन हो रहा है। साथ ही इन अध्ययनोंसे लगभग यह सिद्ध हो गया है कि राजनीतिक दलोंके विषयमें जनतामें प्रचलित धारणाओंमें वास्तविकताकी अपेक्षा अनेक बार कल्पना और भावनाकी मात्रा अधिक होती है और दलके नेता इस

मामलेमें जनताका भ्रम दूर कर उन्हें सही वस्तुस्थितिसे परिचित करानेके बदले ऐसे भ्रमको पुष्ट करना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

राजनीतिक दलोंका व्यवस्थित और वास्तविक स्तर पर अध्ययन करनेवाले विद्वान् यह मत बनाए हुए हैं कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना और यथासंभव लम्बे समय तक उसको बनाए रखना सभी राजनीतिक दलोंका प्राथमिक और मूलभूत ध्येय होता है। प्रजातांत्रिक देशोंमें लोगोंको संतुष्ट किए बिना अथवा अन्ततः उनके कामोंको पूरा करनेका दावा किए बिना कोई भी व्यक्ति या संस्था लम्बे समय तक सत्ताका उपभोग नहीं कर सकती; परिणामतः नेता लोकसेवाकी वृत्ति अपनाते हैं अथवा उसका दिखावा करते हैं। समाजके एक अंगके रूपमें समाजमें हो रहे अन्यायों और अव्यवस्थाओंके कारणोंको समझ कर उसका उपाय सुझानेवाली स्पष्ट या अस्पष्ट विचारधारा तथा अच्छे-बुरे या सही-गलत सम्बन्धी व्यक्तिगत धारणाओं तथा श्रद्धा-अश्रद्धासे भी बहुत-से लोग परिचालित होते हैं। दलित या दुःखी लोगोंके लिए किए कल्याण कार्यों द्वारा आत्मसंतोष प्राप्त करने और लोकहितकी भावनासे प्रेरित हो उनसे संघर्ष करनेवाले अनेक आत्मत्यागी लोग हर समाजमें और हर कालमें होते रहे हैं। फिर भी, अधिकांशतः सामान्य राजनीतिज्ञोंमें लोगोंके लिए कल्याण-कार्य करने अथवा वैचारिक तत्वनिर्णयकी अपेक्षा सत्ता प्राप्त करनेमें विशेष रुचि होती है और प्रजातंत्रमें अकेले-अकेले काम करनेमें कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता; अतः वे राजनीतिक दलोंमें सम्मिलित होते हैं और उनमें बने रहते हैं।

सत्ताके प्रकार, स्वरूप और प्राप्ति-विषयक समस्याओंके सम्बन्धमें आधुनिक राज-नीति-विशारदोंमें उग्र विवाद चल रहा है। यह भी मान लेना ठीक नहीं है कि सेवाकी अपेक्षा सत्तामें रुचि रखनेवाले सभी राजनीतिज्ञ दंभी या दुर्जन हैं। प्रतिष्ठा और अर्थलाभके लिए सत्ताके पीछे दौड़नेवाले लोगोंकी संख्या बहुत बड़ी होने पर भी उदात्त आदर्शोंको अपनानेके साथ-साथ समाजके ऊटपटाँग प्रश्नोंको हल करने अथवा जनताकी कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए सत्ताका उपयोग करनेकी कमोबेश आकांक्षा बहुत-से महानुभाव रखते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिए विदेशी शासनके विरुद्ध जूझने वाले भारतके करोड़ों नागरिकोंके लिए आजसे पचीस-तीस वर्ष पूर्वकी राजनीति सत्ताका क्षेत्र न होकर तितिक्षाका क्षेत्र थी। राजनीतिमें आनेवाले स्वाभिमानी और तेजस्वी लोगोंको तत्काल लाभ होनेकी कुछ भी संभावना न थी, उन्हें तो केवल हानि और यातनाएँ ही भोगनी पड़ती थीं। अतः उस समय ऐसी परिस्थिति थी कि भावनाशील, त्यागी और निस्पृही लोग ही आन्दोलनोंमें टिके रह सकते थे। परिणामस्वरूप राजनीति पूर्णतः सेवाका क्षेत्र है; सादगी, त्याग और सेवा-भावना राजनीतिक नेताओंके अनिवार्य लक्षण हैं; यह धारणा हमारे यहाँ विशेष रूपसे दृढ़ हो गई। गांधीजीने राजनीतिमें मानव-मूल्यों और नीतिभावना (humanizing and moralising) का आदर्श स्वयं प्रस्तुत कर जनताके मनमें उसे गहरे उतार दिया था। ऐसी उच्च परम्पराके कारण राजनीतिक नेताओं और उनकी उदार मनोवृत्तिसे सम्बद्ध जो अपेक्षाएँ हमारी जनता रखने लगी है, उन्हें विश्वमें कोई भी दल या नेता संतुष्ट नहीं कर सकता।

सन् १९४७के बाद भारतकी राजनीति सत्ताकी राजनीति बन गई। सत्ता द्वारा

लाभ प्राप्त किया जा सकता है, इस संभावनाके उदय होनेसे अवसरवादियोंके झुण्डके झुण्ड इस क्षेत्रमें आ मिले। तितिक्षाकी परम्परासे अभ्यस्त और उसमें जैसे-तैसे टिके रहनेवाले कितने ही पुराने नेता भी इस 'नए रंग' में रंग गए। राजनीतिक संस्थाओंकी दुर्बलता, प्रशासनिक अक्षमता, मतदाताओंकी अनुभवहीनता और शासनकी कुर्सी पर आसीन; परन्तु अकुशल नेताओंके कारण इस प्रकारके लोग लाभमें भी रहे। स्वतंत्रता-आन्दोलनके प्रति उपेक्षा भाव रखनेवाले और समय पड़ने पर उसकी हँसी उड़ानेवाले अथवा उसका घोर विरोध करनेवाले लोगोंको भी कभी-कभी सबसे पहले सत्ताका लाभ हुआ है, यह बात विचित्र लगने पर भी सत्य है। गांधीजी जैसे लोकोत्तर नेताओं द्वारा स्थापित उच्च परम्पराओंकी अवगणना करने या सार्वजनिक रूपसे उसका विरोध करनेकी शक्ति या साहस इन नए नेताओंमें नहीं था। फलतः उनकी वाणी और व्यवहारके बीच बहुत बड़ा अन्तर दिखाई देने लगा और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। जनता द्वारा रखी गई अपेक्षाकृत अधिक अपेक्षाएँ और नए नेताओंका अधिक निचला स्तर—इन दोनोंके बीचके विशाल अन्तरके कारण राजनीतिक ढंगसे जाग्रत जनतामें नैराश्य और उदासीनताका वातावरण उत्पन्न हो गया है और हमारी दलीय-पद्धतिके निर्माणमें उसका दूरगामी प्रभाव पड़ने लगा है। राजनीतिक दलोंकी ओरसे हो रहे प्रचारमें लोग कितनी मात्रामें विश्वास रखते हैं और मतदाताओंका कितनी मात्रामें सिद्धान्तके आधार पर समर्थन प्राप्त किया जा सकता है; इस पर राजनीतिक दलोंके स्वरूप और बलाबलका बड़ा आधार निहित है। अगर लोगोंके मनमें निराशा और उदासीनता घर कर जाए और लोग राजनीतिसे निर्लिप्त हो जायँ तो यह मान लेना चाहिए कि प्रजातंत्रके उन्मूलनका वातावरण तैयार हो गया है। यद्यपि प्रजातंत्रमें राजनीतिक दलों और नेताओंके दूषणोंको लेकर प्रजाको सतत चौकसी करनी पड़ती है और आवश्यकता पड़ने पर अपनी मतशक्ति द्वारा शासन-सत्तामें परिवर्तन भी करना पड़ता है; तथापि जनताको भी अपनी अपेक्षाओंका स्तर वास्तविक धरातल पर रखना चाहिए। राजनीति और राजनीतिक दलोंमें कुछ दोष होते ही हैं और इन्हें दूर करनेका सतत प्रयास भी करना पड़ता है; फिर भी समाजकी सभी कठिनाइयों और दोषोंको शासन या राजनीतिक दलोंके मत्थे मढ़ना उचित नहीं है। विश्वके अन्य प्रजातांत्रिक देशोंके राजनीतिक नेताओं या दलोंकी तुलनामें हमारे देशमें राजनीतिक अकुशलता और भ्रष्टाचार बहुत अधिक मात्रामें है—यह मान लेनेका कोई कारण नहीं है। परम्परा और अनुभवोंकी दृष्टिसे देखें तो अन्य किसी भी प्रजातंत्रमें जो परिस्थितियाँ होती हैं, लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ हमारे यहाँ भी हैं—इसको ध्यानमें रखकर ही हमारे यहाँके राजनीतिक दलों और पद्धतियोंकी चर्चा होनी चाहिए।

हमारे देशमें अनेक दल और समूह हैं और यह अनुमान किया जाता है कि उनके बीच चुनाव करते समय जनता उलझनका अनुभव करती है। वस्तुतः यह कथन सत्यसे बहुत दूर है। पहले आमचुनावके समय राजनीतिक दलोंको स्वीकृति प्रदान करनेके लिए कोई निश्चित मानक न होनेके कारण चुनाव-आयोगने पर्याप्त उदारतासे स्वीकृति दे दी थी। अखिल भारतीय दलके रूपमें मात्र १४ दलोंको तथा प्रादेशिक स्तर पर केवल ५९ दलोंको स्वीकार किया गया था। तीन प्रतिशत मत-प्राप्तिके आधार पर चार दलोंको अखिल

भारतीय दलके रूपमें और १२ दलोंको प्रादेशिक दलोंके रूपमें स्वीकृत किया गया था। सात दलों द्वारा अखिल भारतीय और ४३ दलों द्वारा प्रादेशिक दलोंके रूपमें मान्यता प्राप्त करनेके लिए प्रस्तुत आवेदनोंको अस्वीकृत कर दिया गया। तीसरे आम-चुनावके समय स्वीकृतिकी पद्धति वदल दी गई और केवल कांग्रेसको ही सभी प्रदेशों और क्षेत्रोंमें दलके रूपमें स्वीकृति दी गई, जवकि अन्य सभी दल एक या अधिक प्रदेशोंके दलके रूपमें स्वीकार कर लिए गए थे। इस प्रकार कुल ३६ दलोंको स्वीकृतिका लाभ दिया गया था। और चौथे आमचुनावमें सभी छोटे-वड़े दलोंको मिलाकर ६०से ७० दल मैदानमें उतरे थे।

चौथे आम-चुनावके वाद राजनीतिकी परिवर्तित प्रकृतिके कारण वहुत-से नए दल अस्तित्वमें आए हैं। उनमेंसे कुछ तो पुराने दलोंमें हुए विग्रहके कारण उसीके अंश रूप हैं और कुछ दलोंके थोड़े-वहुत संयोजनसे उत्पन्न हुए हैं। ऐसे दल संगठन या वैचारिक तत्वकी दृष्टिसे अत्यन्त कमजोर होते हैं; अतः उनका लम्वे समय तक टिके रहना संभव नहीं। फिर भी अगर उनका समावेश कर लिया जाय तो भी अपने देशके विस्तार और वैविध्यको ध्यानमें रखनेसे हमारे यहाँ राजनीतिक दलोंकी संख्या वहुत कम ही मानी जायगी। वास्तविकता तो यह है कि विविध समूहों, हितों और भावनाओंकी प्रतिध्वनि पैदा कर सकनेवाले दलोंकी कमी है और उनके अभावमें अनेक व्यक्तियोंको निर्दलीय
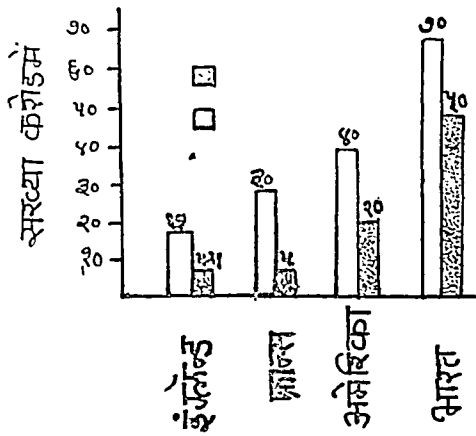
प्रत्याशीके रूपमें अकेले ही चुनावके मैदानमें उतरना पड़ता है। इंग्लैण्डके समान छोटे-से देशमें भी—जो एकात्मभावी हैं—चौदह दल हैं। हमारे यहाँकी अपेक्षा कम वैविध्यवाले देश अमेरिकामें लगभग चालीस दल हैं। अत्यधिक चर्चित फ्रांसमें राजनीतिक दलोंका सर्जन-विसर्जन हमेशा चलता ही रहता है, अतः वहाँ उनकी निश्चित संख्या वताना कठिन है। फिर भी, यह संख्या तीससे कम तो हो ही नहीं सकती।

हमारे देशके लगभग ६०-७० राजनीतिक दलोंमेंसे अधिकांश तो मौसमी दल हैं और चुनावका मौसम समाप्त होते ही, जिस तरह भादोंके महीनेमें भिण्डियाँ गायव हो जाती हैं, उसी तरह ये गायव हो जाते हैं। इनमेंसे वहुत-से दलोंके पास तो संगठन और साधनके नाम पर कुछ भी नहीं है और अगर उन्हें प्राप्त मतोंका हिसाव लगाया जाय तो मालूम हो जायगा कि उनके वलकी तुलनामें उनकी आवाज़का शोर वहुत अधिक होता है। आम-चुनावके वीच हजारों सीटोंकी हार-जीतकी लड़ाई लड़ी जाती है, उस समय वहुत-सी सीटें जीतनेकी वात अगर छोड़ भी दें तो भी सौसे अधिक प्रत्याशियोंको ढूंढ़कर खड़ा करनेकी शक्ति भी दससे अधिक दलोंमें नहीं है। इतना ही काफी नहीं है, किन्तु उनमेंसे ८०-९० प्रतिशत दल तो मात्र अस्तित्वके अलावा कुछ भी नहीं रखते। यह स्थिति कुछ अंशोंमें स्वतंत्रता-प्राप्तिके पूर्वका परिणाम है।

स्वातंत्र्य आन्दोलनका 'इंडियन नेशनल कांग्रेस'के मंच पर सूत्रपात हुआ और इन आन्दोलनोंके संचालनमें इस दलने मुख्य योगदान किया। परिणामतः उसका संगठन शक्तिशाली हुआ। देशके कोने-कोनेमें उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, अनेक शक्तिशाली तथा साधन-सम्पन्न लोग उसमें सम्मिलित हुए और जनताकी आवाज वुलंद करनेके लिए महत्वपूर्ण साधनके रूपमें इसने काम किया। स्वतंत्रता प्राप्त करनेका ध्येय मुख्य और तात्कालिक महत्वका होनेके कारण विभिन्न विचारधारा वाले देशभक्त भी कांग्रेसमें सम्मिलित हो वर्षों तक काम करते रहे, उसके एक सैनिक वने रहकर उसके कार्यक्रमोंके निर्माण और प्रचार-प्रसारमें अपना योग देते रहे। इस कारण कांग्रेसमें विचार-सरणीकी एकसूत्रता न रही और भावी समाजके स्वरूप और निर्माणके विषयमें विभिन्न विचारधाराके लोग एकजुट होकर स्वतंत्रताके एकमात्र लक्ष्यको प्राप्त करनेकी कोशिश करने लगे। इस प्रकार यह स्वतंत्रताका मंच वनी; पर साथ-ही-साथ, संगठनकी दृष्टिसे अतिशय व्यापक और सुदृढ़ दलके रूपमें उसका विकास हुआ और जनताकी भक्तिका एकमात्र भाजन वनी। फिर भी, मुसलमानोंमें इसका असर सीमित ही रहा और इस सम्प्रदायके सवसे महत्वपूर्ण प्रवक्ताके रूपमें मुस्लिम लीग सामने आई। कुछ दूसरे राजनीतिक दलोंके होने और प्रादेशिक क्षेत्रमें उनका कुछ महत्व होने पर भी राष्ट्रीय राजनीतिमें इन दो दलोंका ही विशेष महत्व रहा। विभाजनके कारण मुस्लिम लीगके वहुत-से नेता भारत छोड़कर पाकिस्तानको चले गए और केवल इतना ही नहीं, अपितु लीगकी आरम्भिक संकुचित साम्प्रदायिक भावनाओंके कारण उसके अनुयायी कहलानेमें भी वचे हुए लोगोंको खतरा दिखाई देता था; अतः कांग्रेस स्वतंत्र भारतका एकमेव दल वन गया।

भारतीय समाजके प्रत्येक क्षेत्रमें आमूल परिवर्तन करना आवश्यक था और इन परिवर्तनोंका नेतृत्व राज्यके प्रशासनतंत्र द्वारा नहीं; वल्कि समाज-सेवा द्वारा जनताका विश्वास प्राप्त कर लेनेवाली संस्था ही कर सकती है। इस मान्यताके आधार पर ही गांधीजीने सुझाव दिया था कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के वाद कांग्रेसका मिशन पूरा हो

> 'अगर कांग्रेसको देशमें एक शक्तिशाली और प्रभावशाली दलके रूपमें अब जीना हो तो उसे रचनाकार्यमें संलग्न लोगोंका मण्डल वनाना चाहिए...परन्तु मुझे लगता है कि इस कामकी आज पहलेसे अधिक आवश्यकता है।' (३ अगस्त १९४७) **—मो० क० गांधी**

गया है; अतः अव उसे राजनीतिक क्षेत्रसे हटकर समाज-सेवाके क्षेत्रमें अपनी शक्तियोंको लगाना चाहिए। हमारे नेताओंने इस सुझावको अव्यावहारिक और खतरनाक मानकर छोड़ दिया और कांग्रेस व्यवस्थित और सुदृढ़ राजनीतिक दलके रूपमें राजनीतिमें प्रविष्ट हुई। यह हमारा सौभाग्य ही है कि उसके परिणामस्वरूप स्थापित राजनीतिक स्थितिने प्रजातंत्रको टिकाए रखा है। लगभग इसी वीच स्वाधीनता-प्राप्त अनेक एशियाई देशोंमें परिस्थिति विल्कुल भिन्न थी। इन देशोंमें ऐसा कोई सुदृढ़ दल न होनेके कारण आज़ादीके वाद अनेक कमज़ोर दल उत्पन्न हुए. लेकिन प्रजातांत्रिक राजनीतिके झंझावातके सामने वे टिक ही नहीं पाए।

ऐतिहासिक परम्पराके अनुसार कांग्रेसमें भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ और ध्येय रखने वाले लोग होनेके कारण इस दलको यूरोपीय भाषामें 'दल' कहा ही नहीं जा सकता; परन्तु अमेरिकाके रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक जैसे मुख्य राजनीतिक दलोंका स्वरूप इससे बिल्कुल मिलता-जुलता है। इस प्रकारके दलोंमें एक साथ अनेक विचारोंको माननेवाले सदस्य होनेके कारण उसे सुव्यवस्थित ढंगसे जितना अनुशासनबद्ध करनेका प्रयत्न किया जाय, उतना ही उसमें विग्रहकी संभावना बढ़ जाती है। ऐसे दलोंको संगठनकी एकता अथवा अनुशासन—इन दोनोंमेंसे किसी एकका चुनाव करना पड़ता है। अमेरिकाके दोनों प्रमुख दलोंने एकता बनाए रखनेके लिए अनुशासनको बलिका बकरा बना दिया है। प्रचार-कार्य तथा सिनेटमें मत देते समय भी अमेरिकाके दल बँटे रहते हैं। अमेरिकामें यह अनुशासनहीनता असुविधाजनक होने पर भी वहाँ प्रजातंत्रका स्वरूप राष्ट्रपतिपरक होनेके कारण घातक सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अमेरिकामें चुनाव जीतनेके लिए दलकी एकता आवश्यक होने पर भी सत्ता बनाए रखनेके लिए अनुशासन आवश्यक नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि दलके सुदृढ़ समर्थनके आधार पर कार्यकारिणीकी स्थिरता अवलम्बित नहीं होती। हमारे यहाँ राष्ट्रपति-पद्धतिके स्थान पर संसदीय-पद्धतिके प्रजातंत्रको स्वीकार कर लेनेकी वजहसे संसत्सदस्योंकी अनुशासनहीनता सरकारी तंत्र तथा राजनीतिक—दोनोंके लिए ही घातक सिद्ध होती है। हमारे यहाँ एकताके अभावमें राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना और अनुशासनके अभावमें उसे टिकाए रखना असंभव है, अतः कांग्रेसने विविधता बनाए रखनेके साथ एकता और अनुशासन दोनोंकी स्थापनाका सतत प्रयास किया है। वैसे एकता और अनुशासनका संतुलन बनाए रखनेके कठिन प्रश्नका सामना करनेका काम जनसंघके अलावा अन्य सभी राजनीतिक दलोंके लिए एक विकट समस्या ही बन गया है और कांग्रेसके लिए तो यह प्रश्न सबसे अधिक उलझनेवाला सिद्ध हुआ है। दलीय अनुशासन स्थापित करनेमें अनेक बार नेता असफल हुए हैं। इससे दलमें फूट पैदा हुई है और नए दलोंकी स्थापना हुई है।

सन् १९४२के भारत छोड़ो आन्दोलनमें द्रोह करनेवाले साम्यवादियोंको सन् १९४५में कांग्रेससे निकाल बाहर किया गया था; तो दूसरी ओर, कांग्रेस रूढ़िवादियोंके हाथका खिलौना बन गई है, इस मान्यताके आधार पर समाजवादियोंने १९४८में इसे छोड़ दिया था। संगठनके प्रश्नको लेकर मतभेद तथा व्यक्तिगत मनमुटावके कारण आचार्य कृपालानी, श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष और श्रीप्रकाशम् जैसे गान्धीवादी इसमेंसे निकल गए तो दूसरी ओर, कांग्रेस द्वारा समाजवादी विचारधारा और कार्यक्रमको स्वीकार किए जाने पर श्री राजाजी व श्री रंगा जैसे नेताओंने सन् १९५९में स्वतंत्र पार्टीकी स्थापना की।

कांग्रेसको छोड़कर सभी राजनीतिक दल संगठनकी दृष्टिसे अत्यंत दुर्बल और बिखरे हुए हैं। आवश्यक साधनों व कर्मठ राष्ट्रीय नेताओंके अभावमें वे अमुक वर्गों या प्रदेशोंमें ही अपना स्थान जमा पाए हैं। कांग्रेस दल देशमें सबसे पुराना दल है और इतना ही नहीं, अपितु वह जनसंघको छोड़कर शेष सभी दलोंका जनक भी है; क्योंकि अन्य दलोंके बहुत-से संस्थापक भूतपूर्व कांग्रेस-जन ही हैं। विरोधी दलोंमें अनेक दल अपने दलको राष्ट्रीय दल स्वीकार कर लिए जानेका प्रयत्न कर रहे हैं; फिर भी चार चुनाव-परिणामोंके बाद अब यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि उनमेंसे कोई भी दल कांग्रेसके पास तक भी नहीं पहुँच पाया है।

संगठन, साधन और देशभक्त नेताओंकी बड़ी संख्या तथा सामर्थ्यकी दृष्टिसे कांग्रेस दल अन्य सभी दलोंसे बहुत अधिक ऊँचा होनेके कारण भारतमें विशिष्ट दल-पद्धति—एकदलीय प्रभाव पद्धति—का निर्माण हुआ और यह दल पद्धति अभी तक बराबर बनी हुई है। प्रारम्भिक बीस वर्षोंमें एक-दो राज्योंकी गैर-कांग्रेसी सरकारोंके अपवादको अगर छोड़ दें तो कांग्रेस दलने देशके सब प्रदेशोंमें और सभी स्तरों पर लगभग एकछत्र होकर राजनीतिक सत्ताका उपभोग किया है। अन्य दलोंका अस्तित्व होने पर भी किसी एक दल या दलोंके समूहका सत्ता प्राप्त कर पाना या निकट भविष्यमें सत्ता प्राप्त कर पानेकी अपेक्षा रखना भी संभव नहीं दिखाई देता था।

सन् १९६७के चुनावके बाद उक्त परिस्थितिमें थोड़ा परिवर्त्तन हुआ है। अनेक राज्योंमें कांग्रेस द्वारा अपना स्पष्ट बहुमत खो देनेके कारण विरोधी दलोंके सत्ता-स्थान पर बैठनेकी संभावना उत्पन्न हो गई। विचार, उद्देश्य या कार्यप्रणालीके भेदभावको त्याग कर विरोधी दलोंने इस अवसरको प्राप्त कर ही लिया और कांग्रेसकी आन्तरिक फूटके कारण उन्हें ऐसा करनेका भरपूर प्रोत्साहन भी मिला। इन दलोंने कांग्रेसके साथ साझा सरकार बनानेके बदले कांग्रेस विरोधी संयुक्त मोर्चे स्थापित करनेके आग्रहके कारण तथा केरल, आंध्र और पुराने अनुभवोंसे चेती कांग्रेस द्वारा अन्य दलोंके साथ न मिलनेकी नीति स्वीकृत किए जाने पर सात राज्योंमें विरोधी दलोंकी संयुक्त मोर्चा सरकारोंकी स्थापना हुई। इन परिवर्तनोंका महत्व दीर्घजीवी नहीं है; क्योंकि विकासशील देशोंकी तरह यहाँ भी केवल कांग्रेस द्वेष पर आवृत इन अवसरवादी व मिली-जुली साझा सरकारें लम्बे समय तक टिकी नहीं रह पातीं। परिणामतः हमारे देशकी एकदलीय प्रभाव पद्धतिमें कोई मूलभूत अन्तर नहीं आया। कांग्रेस दलकी शक्ति क्षीण होने पर भी दूसरे किसी दलका स्थान मजबूत नहीं बना है; इसके परिणामस्वरूप कोई भी दल कांग्रेसके विकल्प रूपमें काम करनेकी स्थितिमें नहीं है।

सन् १९६७में कांग्रेस दल द्वारा जीती गई सीटें अन्य सभी मुख्य दलोंको प्राप्त सीटोंके कुल योगकी अपेक्षा कई गुना अधिक हैं। परन्तु प्रादेशिक दल, छोटे-छोटे समूह और निर्दलीय सदस्योंके अस्तित्वके कारण कांग्रेससे बाहर जानेवाले लोगोंके लिए सत्ता-प्राप्तिकी संभावनाएँ प्रबल हो गई हैं। इस प्रलोभन और आन्तरिक फूटके कारण भविष्यमें कांग्रेसके और शक्तिहीन होनेकी संभावनाको नकारा नहीं जा सकता है। इस तरह अगर कांग्रेस दल छिन्न-भिन्न हो जाय, तभी अपने देशकी विशिष्ट दलीय-पद्धतिमें परिवर्तन होना संभव है। संक्षेपमें, अन्य दलोंके शक्तिशाली होने या कांग्रेस दलकी दुर्बलतासे एकदलीय पद्धतिका समाप्त होना संभव है। परन्तु अभी तक इनमेंसे एक भी विकल्प विकसित नहीं हुआ है।

यह एकदलीय प्रभाव पद्धति हमारे देशकी एक विशिष्टता है और राजनीतिके पण्डितों द्वारा तैयार अब तकके किसी भी चौखटेमें इसे बैठाना शक्य नहीं हुआ है। अनेक दलोंका अस्तित्व होते हुए भी हमारे यहाँ बहुदल-पद्धति (Multi-Party system) नहीं है। यूरोपके बहुतसे प्रजातांत्रिक देशोंमें बहुदल पद्धति प्रचलित है। कारण कि वहाँके अनेक दल बलाबलकी दृष्टिसे कम या अधिक मात्रामें लगभग समान ही होते हैं अथवा कोई भी दल अकेले शासन करनेमें समर्थ नहीं होता—सभी स्तरों पर सरकार बनानेके लिए समानधर्मी दलोंका समूह बनाना पड़ता है।

हमारे यहाँकी राजनीतिमें बहुदल-पद्धतिके अनिवार्य लक्षण दिखाई नहीं देते। कुछ देशोंमें बहुत-से दलोंमेंसे दो मुख्य दल एक-दूसरेके समकक्ष होते हैं और उनके ही बीच सत्ता-परिवर्तन होता रहता है; अतः यह कहा जा सकता है कि वहाँ द्विदलीय पद्धति है। ऐसा हमारे यहाँ नहीं है और साथ ही संसारके बहुत-से प्रजातांत्रिक देशोंमें भी नहीं है। इस प्रकारकी द्विपक्षीय पद्धतिके उत्कृष्ट उदाहरणके रूपमें इंग्लैण्ड और अमेरिकाका नाम लिया जा सकता है। वहाँ यह पद्धति लम्बे समय तक गतिशील राजनीतिक प्रक्रियाके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है और इस प्रक्रियाके बीच प्रजातंत्रकी मात्रा सीमित होनेके कारण द्विदलीय-पद्धतिको गति प्राप्त हुई है। इस पद्धतिके विकासमें सहायक होनेवाली चुनाव-पद्धति हमारे यहाँ स्वीकृत होने पर भी विरोधी दलोंकी संख्या अत्यन्त मर्यादित हो गई है। पर, हमारे यहाँ राजनीतिक प्रवाह अत्यन्त वेगवान होते हुए भी कोई एक समूह वैकल्पिक रूपमें अवतक खड़ा नहीं हो सका है।

एक ही दल लम्बे समय तक जब सभी क्षेत्रोंमें शासन करता है, तब वह अधिकांशतः तानाशाहीमें परिणत हो जाता है। उसके विपक्षमें दूसरा दल होता तो है; पर वह नाम-मात्रका ही विपक्षी दल होता है। उसके नेता जेलों या श्रम-छावनियोंमें पड़े सड़ते हैं। ऐसे देशमें निष्पक्ष चुनाव नहीं होते और सत्तामें परिवर्तन शान्तिपूर्वक नहीं हुआ करते।

यद्यपि हमारे यहाँ एक ही दलका प्रभाव सर्वत्र फैला हुआ है, फिर भी उक्त प्रकारकी परिस्थिति नहीं है। कानून और शांति भंग करनेके आरोपमें यदाकदा विरोधी दलके नेताओंको जेल जाना पड़ता है, लेकिन शेख अब्दुल्लाको अपवाद रूपमें छोड़कर अन्य किसी भी नेताको अपने राजनीतिक विचारोंके आधार पर लम्बे समय तक जेलमें नहीं रहना पड़ा है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि शासनकर्ताओंने सत्ताका दुरुपयोग कभी किया ही नहीं, परन्तु इसके उदाहरण कम ही हैं। चुनाव सदैव निष्पक्ष रहे हैं; वर्षोंतक दूसरा विकल्प न होनेके कारण अधिकतर कांग्रेस दलने ही शासन किया है; फिर भी किसी विपक्षी दलके सामने आनेमें या उसके द्वारा सत्ता प्राप्त करनेमें शासक दलकी ओरसे कोई विघ्न नहीं खड़े किए गए हैं।

इस तरह, कुल मिलाकर किसी भी वैचारिक चौखटेके अनुकूल न होनेके कारण हमारे देशकी दल-पद्धतिकी नई अवधारणाका ढाँचा खड़ा करने और उसके योग्य अभिधान ढूंढ़नेका पण्डित लोग प्रयास कर रहे हैं। प्रा० श्री मोरिस जॉन्सने भारतीय दल पद्धतिको प्रभुत्वशील दलीय-पद्धति (Dominant-party system) नाम दिया है। यह नाम वस्तुतः ठीक होने पर भी इसमें कुछ जोर-जबरदस्तीका अर्थ ध्वनित होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेसका प्रभाव शक्ति पर आधारित है। अगर ऐसा होता तो इस जोर-जबरदस्तीसे शासनकी लम्बी अवधिमें दलके अन्दर संग-ठनमें और शासनमें भी प्रजातंत्रका लोप हुए बिना नहीं रहता। कांग्रेसके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत कांग्रेसके प्रभावके कारण राष्ट्रको प्राप्त स्थिरता और देशके आर्थिक विकास-कार्य भारतको एशियाके एकमात्र प्रजातांत्रिक देशके रूपमें टिकाए रखनेमें सहायक ही सिद्ध हुए हैं।

प्रा० श्री रजनी कोठारीने इस मामलेमें एक मौलिक धारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने अंग्रेजीके 'इकोनोमिक वीकली' (३ जून, १९६१) पत्रमें लिखते हुए यह सुझाव दिया है कि सभी दल अपने-आपको राजनीतिक दल मानते हैं, फिर भी वे एक समान कार्य नहीं करते हैं। फलतः वास्तविक रूपमें उनके स्वरूप, उद्देश्य और महत्वमें मूलभूत अन्तर है। यदि

कांग्रेस दलका विश्लेषण किया जाय तो उसे सर्वसम्मति-साधक दल कहा जा सकता है। सभी प्रकारके वर्गों और विचारोंका प्रतिनिधित्व रखनेके लिए प्रयत्नशील कांग्रेस दलकी राजनीतिका निर्माण करनेके लिए उसमें निहित विविध वर्ग सर्वसम्मति स्थापित करनेका प्रयास करते रहते हैं। अन्य प्रजातांत्रिक देशोंमें विविध दल परस्पर विचारोंका आदान प्रदान कर समाजमें जो सर्वसम्मति स्थापित करते हैं, वह हमारे देशमें कांग्रेसके अन्दरकी चर्चाओं द्वारा स्थापित होती है। इस तरह, भारतके विरोधी दल राजनीतिक चर्चाओंमें प्रतिपक्षियोंके रूपमें काम नहीं करते; बल्कि कांग्रेसके अन्दर ही निहित 'प्रतिपक्षियों'के समर्थकोंके रूपमें काम करते हैं और ऐसी चर्चा वस्तुतः कांग्रेस दलके वर्गोंके बीच ही चलती है। कांग्रेसमें चल रही चर्चाके दरम्यान मनपसंद वर्गों पर अपना प्रभाव डालकर उसे कांग्रेसमें सुदृढ़ बनाकर उसके द्वारा अपने मन्तव्योंको कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कराना विरोधी दलोंका मुख्य हेतु होता है। "भारतके विरोधी दल एक विशिष्ट प्रकारकी भूमिका अदा करते हैं। कांग्रेसका विकल्प प्रदान करनेके बदले वे कांग्रेसके अन्दरके वर्गों पर प्रभाव डालकर कार्य कराते हैं। कांग्रेसजनोंकी ओरसे विरोध कराकर ही वे अपना विरोधकार्य पूरा करते हैं।" प्रा० श्री कोठारीके कथनानुसार "भारतमें केवल एक ही पक्ष है। विरोधी दल विरोधी अथवा वैकल्पिक पक्ष न होकर अमुक प्रकारकी नीतिका अनुसरण करनेके लिए कांग्रेसको विवश करनेमें प्रयत्नरत दाववर्ग (pressure-groups) या प्रचारवर्ग (lobbies) मात्र हैं।" प्रा० श्री कोठारीने 'एशियन सर्वे' (दिसम्बर '६४)में लिखते हुए स्पष्ट किया है कि "यह पद्धति स्पर्धायुक्त है, पर यह इस प्रकारकी स्पर्धा है कि जिसमें होड़में उतरे पक्ष असमान काम पूरा करते हैं। इसमें एक पक्ष सर्वसम्मति स्थापित करने वाला पक्ष है और दूसरे दल दाववर्ग हैं और ये पक्ष केवल किनारे पर रह कर ही काम करते हैं।" प्रा० श्री मोरिस जॉन्सने यह अवधारणा स्वीकृत कर ली है और भारतीय दल-पद्धतिका स्वरूप ठोस रूपमें प्रदर्शित करनेके लिए उनके द्वारा खींची गई आकृति अगले पृष्ठ २०६ पर प्रस्तुत की गई है।

यह परिस्थिति बहुत-कुछ अंशोंमें वास्तविक स्थितिका चित्रण होने पर भी अवधारणाके ढांचेके रूपमें उसे स्वीकार कर लेनेमें कुछ आपत्तियां हैं। प्रथम तो यह कि राजनीतिकी भाषामें हम जिन्हें 'प्रचारवर्ग' या 'दाववर्ग' कहते हैं, वे हमारे विरोधी दलोंकी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न वस्तु हैं। 'प्रचारवर्ग' कभी भी चुनावमें नहीं उतरते। सार्वजनिक प्रचार नहीं करते और राजनीतिक दायित्वको उठा लेनेकी तैयारी प्रदर्शित नहीं करते। ये अनिवार्य और लाक्षणिक चिह्न हमारे यहांके विरोधी दलोंपर लागू नहीं होते। दूसरे, जिस प्रकार विरोध पक्षकी कुछ धारणाएँ और विचार कांग्रेस पक्षने स्वीकार कर लिए हैं; उसी प्रकार कांग्रेस पक्षकी कुछ धारणाएँ और विचार विरोधी पक्षों द्वारा अपना लिए गए हैं। आयोजना और सैनिक गुटोंसे अलग रहनेकी नीति—ये दो उदाहरण इतने ज्वलन्त हैं कि बरबस आँखों को आकृष्ट कर लेते हैं। विचारों व नीतियोंका प्रवाह एकमार्गी होकर परस्पर आदान-प्रदानका रहा है। केवल कांग्रेस दल ही नहीं, बल्कि सभी राजनीतिक दल और वर्ग सदा ही मतभेदोंसे भरे रहते हैं और ऐसे मतभेदोंमेंसे सर्वसम्मत नीति बनानेकी मगज-पच्ची सभी नेताओंको करनी ही पड़ती है। सदस्य-संख्या, साधन और विस्तारकी दृष्टिसे कांग्रेस सबसे बड़ा दल है और इस कारण सर्वसम्मति स्थापित करना उसके लिए पर्याप्त कठिन और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और उसकी राजनीति भी अधिक व्यापक और

श्री मॉरिस जॉन्सकी आकृति
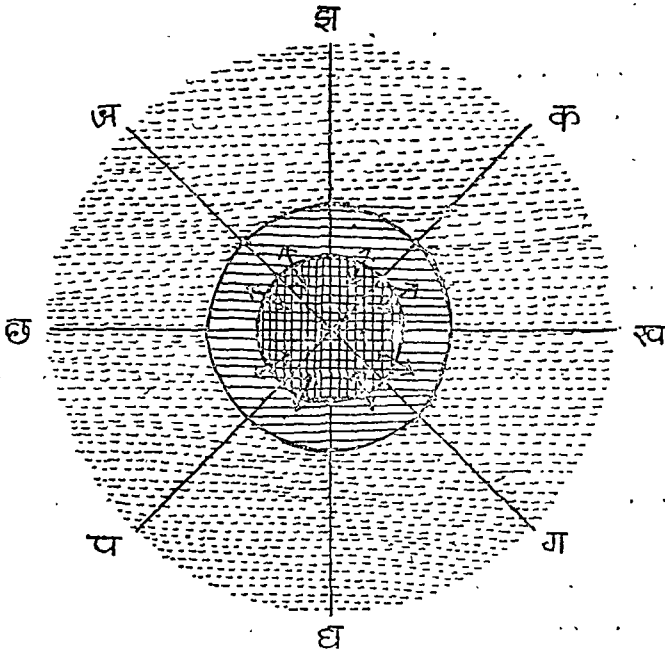
आकृति की स्पष्टता ···विन्दुवाला भाग=राजनीतिक जागृति और रुचि

— ठेढ़ी लाइनों वाला वर्तुल=गैर-कांग्रेसी दल

खड़ी और पड़ी रेखाओंवाला वर्तुल=कांग्रेस पक्ष

☐ मध्यविन्दु=कांग्रेसका वरिष्ठ नेतृत्व-मण्डल

रेखा क च : दक्षिण और वामपंथी विचारधाराओंको दर्शाती हैं।

रेखा ख छ : रूढ़ि और आधुनिकतावादियोंके विभागको दर्शाती हैं।

रेखा ग ज : प्रान्तीयता और राष्ट्रवादको दर्शाती हैं।

रेखा घ झ : सम्प्रदायवादी और धर्मनिरपेक्षतावादके विभागको दर्शाती हैं।

टीका : जनतामें इस प्रकारके एक दूसरेको आवृत्त कर लेनेवाले अनेक विभाग हैं; अन्य दलोंमें और कांग्रेस दलमें भी हैं और कांग्रेसके वरिष्ठ नेताओंमें भी हैं। गैर-कांग्रेसी दलोंके वीच परस्पर जितना अन्तर हैं, उसकी अपेक्षा किसी भी अन्य दल और कांग्रेसमें ऐसी विचारधारा रखनेवाले वर्गका अंतर कम है। जैसाकि यह ←→ चिह्न दर्शाता है, उस प्रकार कांग्रेसके वर्गों और राजनीतिक दलोंके वीच आदान-प्रदानकी प्रक्रिया सतत चलती ही रहती हैं; अतः ये दल प्रतिद्वंद्वी दल नहीं, अपितु उस पर असर डालनेवाले प्रयत्नशील प्रचारवर्ग या दाववर्ग ही (Lobbiesor pressure groups) हैं।

प्रभावशाली बन जाती हैं। परन्तु यह अन्तर तात्विक न होकर मात्रात्मक है। यह नहीं कहा जा सकता कि विरोधी दलोंका स्वरूप मूलभूत रूपसे या तत्वतः अनोखा है। विरोध पक्ष वैकल्पिक पक्ष नहीं हैं, क्योंकि विकल्प बननेके लिए अपेक्षित शक्ति उनमें नहीं है और कांग्रेसका महत्व उसकी शक्ति पर निर्भर है। यह वास्तविकता बहुत अंशों तक सत्य होते हुए भी, इसके आधार पर भारतीय दल-पद्धतिकी अवधारणा अथवा उसका अर्थ निश्चित करनेमें कुछ भी सहायता नहीं करती। यह अवधारणा भारतके विभिन्न राजनीतिक दलोंमेंसे कांग्रेस और विरोधी दलोंकी स्वरूपभिन्नताकी धारणा पर निर्मित की गई है और जहाँ तक स्वरूपभिन्नताके विषयमें हमें निश्चित विश्वास नहीं हो जाता, तब तक उसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

यहां इस मीमांसाकी गहराईमें न उतरकर हम श्री मायरोन वाइनरकी भाषामें कह सकते हैं कि "सुदृढ़ विरोधी दलका निर्माण आजके भारतका सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न है।" श्री आइवर जेनिंग्सने अपने एक लेखमें लिखा है कि "संविधान-निर्माणका सबसे कठिन काम—विरोधी दल या दलोंके निर्माणका काम—भारत अभी तक नहीं कर पाया है।" जब तक यह काम पूरा नहीं हो जाता, तब तक भारतका प्रजातंत्र पूर्ण हुआ नहीं कहा जायगा। अगर इस तथ्य पर ध्यान दें तो श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा पं० नेहरूसे एक सशक्त विरोधी दलके निर्माणमें सहायक होनेके लिए बार-बार किया गया अनुरोध महत्व-पूर्ण है। उसमें बहुत-से तथ्य समाविष्ट हैं। सुदृढ़ और संतुलित विरोधी दल या दलोंका अभाव भारतीय प्रजातंत्रके अस्तित्वके लिए बहुत बड़ा खतरा है। वयोवृद्ध नेता श्री राजाजीने एक बार कहा था: "हमारा प्रजातंत्र उस गधेके समान है, जिस पर दोनों ओरका वज़न एक ओर ही लाद दिया गया है।" इस परिस्थितिमें निराशा, भ्रष्टाचार और तानाशाहीके बीज छिपे हुए हैं। अत्यन्त लम्बे समय तक सत्ता भोगनेवाला दल उच्छृंखल और निरंकुश बन जाता है और सत्ताविहीन निर्बल विरोध पक्ष अनुत्तरदायी और निष्प्राण बन जाता है। कांग्रेस दलके लम्बे समय तक सतत शासनमें बने रहनेके दुष्परिणाम तो सुविदित हैं ही, साथ ही हताश और आक्रोशपूर्ण विरोधी दल स्वयं संसदमें और उसके बाहर भी जो लोकतंत्र-विरोधी और विध्वंसकारी मार्ग अपना कर अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करते हैं; वह भी किसीसे छिपा नहीं है।

यद्यपि यह दुष्परिणाम बहुत कुछ सीमित ही रहे हैं, फिर भी कांग्रेस दल द्वारा सत्ताका दुरुपयोग किए जाने और उसके अनुचित लाभ उठानेके कितने ही मामले प्रकाशमें आने पर भी अभी यह दल तानाशाह नहीं बना है। उधर निराश विरोधी दलोंने भी अभी तक पूरी तरह आशा छोड़ी नहीं है। इसके अनेक कारण दिए जा सकते हैं। भारतके सभी राजनीतिक दलोंका एक यह दूषण कि भारतका कोई भी दल पूर्णतः अनु-शासनबद्ध अथवा संगठित नहीं है, अन्य कारणोंसे कवच रूप सिद्ध हुआ है। प्रत्येक दलमें वर्तमान उग्र आन्तरिक फूटके कारण कोई भी नेता हमेशा अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता अथवा उसका लिया निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं माना जा सकता। व्यक्ति-पूजा भारतीय-समाजका लक्षण माना जाता है; परन्तु राजनीतिक क्षेत्रमें यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। ऐतिहासिक परम्परा, नेताओंकी संकुचित मनोवृत्ति और भाषा तथा प्रादेशिक खींचातानीके कारण हमारे देशमें वस्तुतः सामूहिक नेतृत्वका विकास लगभग सभी

दलोंमें हुआ है। प्रजातंत्रमें अपेक्षित जोड़तोड़ या सौदेबाज़ी विभिन्न दलोंके बीचके सम्बन्धों-की भाँति एक ही दलके आंतरिक संघर्षोंमें भी देखनेको मिल जाती है और इसीलिए दलोंके बीचकी झिकझिक जैसा ही—शायद उससे कुछ अधिक ही—महत्व दलोंके अन्दर चल रही स्पर्धाको देना पड़ता है। यह प्रक्रिया अगर सीमित रूपमें चलती रहे तो प्रजातंत्रके टिके रहनेमें कोई विशेष बाधा नहीं आएगी, ऐसी आशा की जा सकती है। यों भी भारतके विरोधी दल सत्ता प्राप्त करनेमें असफल होने पर भी अनेक बार अपना मनचाहा करा सके हैं। चुनावोंमें व्यापक समर्थन न मिलने पर भी समाजके जाग्रत और वाचाल वर्गोंकी ओरसे मिल रहा आदर उनकी निराशाकी भावनाको कुछेक अंशोंमें कम करता है। भाषावार राज्य-रचनाके समय, पड़ोसी राज्योंके साथके सम्बन्धोंमें तथा योजनाके प्रश्नको लेकर बहुत समयके बाद विरोधी दल अपनी बातें मनवा सके हैं और इस प्रकार प्रशासन चलानेका तो नहीं, पर देशकी राजनीतिके निर्माणमें भागीदार बननेका आनन्द वे प्राप्त कर सके हैं। आज़ादीके बाद कांग्रेसकी शासन सम्बन्धी कोई पूर्वनियोजित कल्पना या सर्वसम्मत नीति न होनेके कारणसे काम-चलाऊ राजनीतिका ही आश्रय लेना पड़ा है। इससे जहाँ कुछ लाभ हुए हैं, वहाँ हानियाँ भी कम नहीं हुई हैं। परन्तु दलीय राजनीतिके कारण इतना लाभ अवश्य हुआ है कि विकासशील राजनीतिक चौखटेमें अपने भी हिस्सेके गौरवका अनुभव करनेवाले विरोधी दल शासन-सत्तासे बहुत दूर रहने पर भी उनमें रोगग्रस्तताके कोई चिह्न दिखाई नहीं देते।

सन् १९६७के चुनावके बाद तो लगभग सभी विरोधी दलोंका एक या दूसरे स्थान पर राज्य स्तरपर प्रशासन चलानेका अनुभव भी प्राप्त हो गया है। यह बात दूसरी है कि यह अनुभव भी बहुत लम्बा या बहुत सुखद नहीं रहा है; फिर भी राज्य प्रशासनकी कितनी ही व्यावहारिक कठिनाइयोंका अनुभव उन्हें हुआ है और इसका प्रभाव उनके दृष्टिकोण पर अवश्य पड़ेगा, इस प्रकारकी आशा रखना अनुचित नहीं होगा।

यह तो सब स्वीकार करते हैं कि भारतकी यह दल-पद्धति अस्थायी है। यह जानना अभी कठिन है कि उसका भावी स्वरूप क्या होगा ? कांग्रेसके सामने कितने ही ध्येय होनेके बावजूद इन ध्येयोंको प्राप्त करनेके लिए कोई निश्चित मार्ग या सिद्धान्त अभी तक अमलमें नहीं लाया जा सका है। कांग्रेसके वरिष्ठ नेतागण सिद्धान्तों (Doctrines)की जड़तासे पर व्यावहारिकतामें रचे रहे हैं; जबकि बहुतसे विरोधी दल अनुपातत: विचारधारा या सिद्धान्तके आग्रही रहे हैं। भारत जैसे विशाल और वैविध्यपूर्ण देशमें यह संभव नहीं लगता कि ऐसे सिद्धान्तपरस्त दल समाजके सभी क्षेत्रोंमें अपना पग आगे बढ़ा पाएँगे। कारण यह है कि प्रादेशिक, भाषागत, धार्मिक तथा आर्थिक शक्तियोंकी खींचतानमें किसी सिद्धान्त विशेषके साथ चिपके रहना दलोंके लिए पुष्टिकारी नहीं है। समन्वयवादी और व्यावहारिक दल ही कांग्रेसका डटकर सामना कर सकता है। इस प्रकारके दलोंको खड़ा होनेमें बहुत समय लगता है; क्योंकि दलोंकी शक्तिका आधार सिद्धान्त न होकर उसका संगठन होता है। आज तो इस प्रकारके दलोंके सामने आनेके कोई चिह्न दिखाई नहीं देते। फिर भी दलीय राजनीतिके क्षेत्रमें हो रहे तेज़ और दूरगामी परिवर्तनोंके कारण आगे आनेवाले वर्ष भारतीय दलोंके अन्तिम स्वरूप-निर्माणके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ष होंगे, इसमें सन्देश नहीं है।

आइए, अब हम मुख्य राजनीतिक दलोंका सिंहावलोकन कर लें।
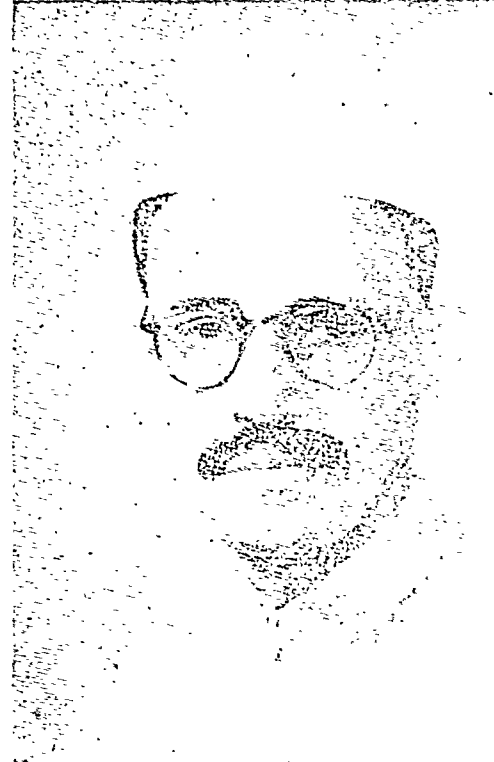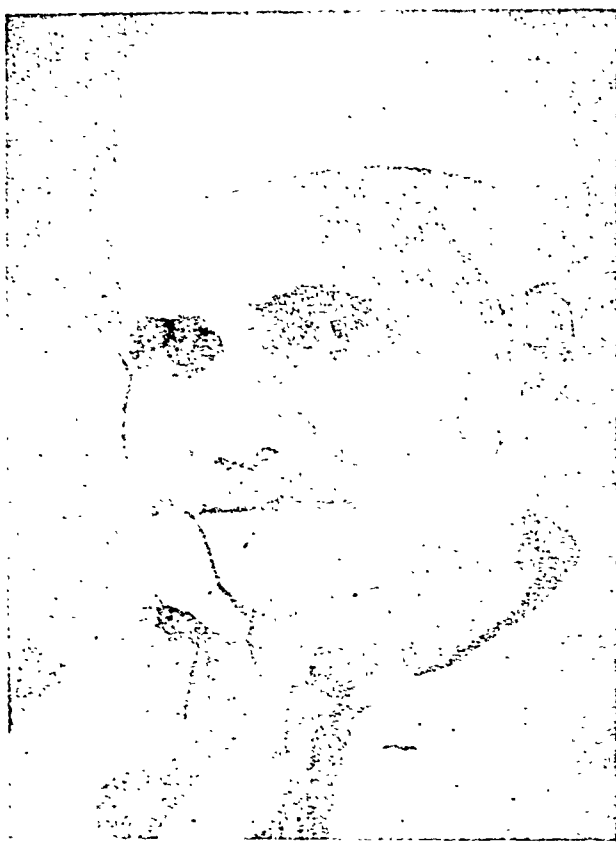
श्री लालबहादुर शास्त्री
श्री गुलजारीलाल नंदा
श्रीमती इन्दिरा गांधी

⊙

भारतके
तीन प्रधानमंत्री

राष्ट्रीय कांग्रेसके महारथी

ऊपर : आचार्य जे० बी० कृपलानी, श्री उच्छंगराय न० ढेबर नीचे : श्री के० कामराज, श्री निजलिंगप्पा
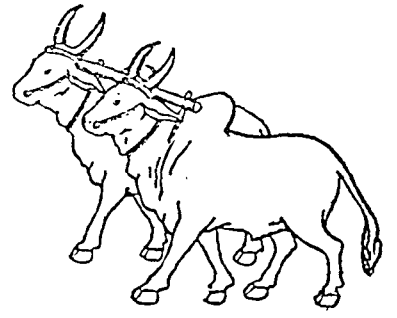
११ : कांग्रेस दल

कांग्रेस दलके विषयमें संक्षेपमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कारण कि ऐतिहासिक परम्परा और प्रवृत्तियोंके कारण कांग्रेस दल अनेकरूपी और कभी-कभी तो परस्पर विरोधी शक्तियोंका समूह ही बन गया है। यों भी, राजनीतिक दलोंमें—विशेषत: विस्तीर्ण और विकासशील देशोंके राजनीतिक समूहोंमें—एकसूत्रता या सम्पूर्ण एकात्मता संभव नहीं होती; फिर भी यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि कांग्रेस दलमें वैचारिक विभिन्नताकी मात्रा असाधारण अनुपातमें है। कांग्रेसका उद्भव किसी राजनीतिके सिद्धान्त-परस्त (Doctrinaire) दलके रूपमें न होकर स्वतंत्रता-प्राप्तिके लिए हो रहे जन-आन्दोलन या उसके एक मंचके रूपमें हुआ था और विविध राजनीतिक और सामाजिक मन्तव्योंको धारण करनेवाले लोग उसमें सम्मिलित होकर काम करते थे। इस संस्थाको जन-आन्दोलनके एक शस्त्रके रूपमें निर्मित करनेका सम्पूर्ण श्रेय विश्ववंद्य महात्मा गांधीजीको दिया जाता है। आज़ादीको एकमात्र ध्येय बनाने और किसी अन्य गौण कारणसे उसके आन्दोलनमें कोई बाधा न उत्पन्न होने देनेके लिए गांधीजी सतत सावधान रहते थे। शान्तिमय साधनों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करनेके ध्येयमें विश्वास रखनेवाले सभी वर्गों और समूहोंको कांग्रेसमें स्थान दिया गया। हिंसा में विश्वास रखनेवाले त्रासवादी, मात्र कानूनी साधनोंके हिमायती मॉडरेट्स और धार्मिक कट्टरताको प्रधानता देनेवाले सम्प्रदायवादी—इन तीनोंको छोड़कर राजनीतिक दृष्टिसे जागृति अनुभव करनेवाले सभी व्यक्ति कांग्रेसमें सम्मिलित हुए। परिणामत: डॉ० भीमराव अम्बेदकरने बाद में कहा था : "कांग्रेस धर्मशाला है। सभी बेवकूफों और लुच्चों, मित्रों और शत्रुओं, सम्प्रदायवादियों और धर्म-निरपेक्षतावादियों, पूंजीपतियों और उनके शत्रुओं—इन सभीके लिए इसका दरवाजा खुला है।"

सन् १९३०के बाद गांधीजीने रचनात्मक कार्यक्रम पर अधिकाधिक जोर देना आरम्भ कर दिया था और दूर-दराजके गांवोंमें भी एकाध 'गांधीका आदमी' बैठा हो, इस प्रकारकी व्यवस्था कर कांग्रेस-संगठनको मज़बूत और कार्यक्षम बनाया। परन्तु इतना बड़ा संगठन खड़ा करने और उसे टिकाए रखनेके लिए आवश्यक हजारों कार्यकर्ताओं और सैकड़ों नेताओंकी आवश्यकताको पूरा करनेके लिए पर्याप्त धनराशिकी आवश्यकता अनुभव होने लगी। देशकी पीड़ासे पीड़ित और अंग्रेजी व्यापारिक प्रतिस्पर्धाके विरुद्ध संघर्षरत धनिकवर्गसे अधिकांश धन इकट्ठा किया जाता था। इस व्यापारी-वर्गका कांग्रेसके तंत्र और उसकी राजनीतिके निर्माण पर कितना और कैसा असर हुआ; इस विषय पर अध्ययन नहीं किया गया है; परन्तु मध्यम और निम्न श्रेणीके कार्यकर्ता और उच्च स्तरके नेताओं पर उसका कम या अधिक मात्रामें प्रभाव पड़ा होगा, यह मान लेनेमें कोई बुराई नहीं है। उस जमानेमें भी राजनीतिक प्रवृत्तियोंके संचालनमें तथा कांग्रेस-तंत्र विषयक नेताओंके बीच यदाकदा तीव्र मतभेद होते थे, कटुता उत्पन्न

होती थी और नेतागण अपनी बात सिद्ध करनेके लिए खटपट भी किया करते थे। उस कालमें कांग्रेसके पास राजनीतिक सत्ता नहीं थी और न निकट भविष्यमें उसे राजनीतिक सत्ता प्राप्त होना दिखाई ही देता था; अतः ये मतभेद सत्ता या सम्पत्तिके बंटवारे जैसे प्रश्नोंको लेकर न होते थे। अधिकांश प्रश्न सैद्धान्तिक या व्यक्तिगत मेल बैठानेके लिए उत्पन्न होनेके कारण इनका निराकरण अपेक्षाकृत सरलतासे किया जा सकता था। ऐसे मतभेदोंको मिटाने और टालनेमें गांधीजीके विलक्षण नेतृत्वने बहुत अधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

सन् १९३७के चुनावोंमें विजय प्राप्त करनेके बाद सात प्रान्तोंमें सत्ता प्राप्त कर कांग्रेसने एक नए क्षेत्रमें पदार्पण किया। बहुत-से नेताओंके इन पदोंसे अलग रहनेके कारण सभी प्रान्तोंमें धारा-सभाओंके कांग्रेसी सदस्य पार्टीके आधिपत्यमें थे। कांग्रेसकी केन्द्रीय संसद-समितिकी अनुमतिके बिना प्रान्तोंकी कांग्रेसी सरकारें कुछ भी नहीं कर सकती थीं और प्रान्तोंकी राजनीतिका निर्माण विधानसभाओंमें न होकर कांग्रेसकी कार्यकारिणीमें हुआ करता था। तत्कालीन प्रख्यात अंग्रेज विद्वान् श्री रेज़िनॉल्ड कुपलैण्डने अपने ग्रंथ 'दि इंडियन क्वेश्चन'में उक्त व्यवस्थाकी कटु आलोचना की है। यह आलोचना पूर्णतः उचित नहीं है। परन्तु इस समय दलके सरकार और संस्थागत पक्षोंके आपसी सम्बन्धोंके विषयमें कांग्रेसी नेताओंने अगर विचार कर तत्सम्बन्धी एक आचार-संहिता बना डाली होती, तो १९४७के बाद कांग्रेसमें हुए महत्वपूर्ण मतभेदोंको सहज ही दूर किया जा सकता था। संसदीय और संस्थागत पक्षोंके बीचके सम्बन्धोंका प्रश्न कांग्रेस अभी तक सुलझा नहीं सकी है और दलकी आन्तरिक राजनीति पर तथा देशके महत्वपूर्ण प्रश्नों पर उसकी गहरी छाया बारम्बार पड़ा करती है।

संस्था-पक्ष और संसदीय-पक्षका घर्षण

सन् १९४७के बाद इन सम्बन्धोंकी चर्चा चार चरणोंमें बँटी हुई है। सन् १९४६से १९५१ तकके पहले चरणमें संस्थापक्षने अपना वर्चस्व स्थापित करनेके लिए दो बार दृढ़ प्रयास किए, पर दोनों ही बार उसे असफलता मिली। सन् १९५१से १९५४ तककी दूसरी अवधिमें प्रधानमंत्री और कांग्रेस-अध्यक्षका पद एक कर इस प्रश्नका समाधान न कर उसका उच्छेद किया गया, लेकिन यह व्यवस्था भी असफल सिद्ध हुई। इसका कारण यह है कि दोनों पदोंके दायित्व भिन्न-भिन्न हैं और दोनों ही अपने ढंगके अत्यन्त महत्वपूर्ण पद हैं। तीसरे चरणकी अवधि सन् १९५४से १९६४ तककी है। इस बीच दल पर प्रधानमंत्रीके बढ़ते वर्चस्वके कारण संसदीय-पक्षका प्रभाव परोक्ष रूपसे बढ़ा और संस्थापक्षका महत्व अच्छा-खासा कम हो गया। इस समयावधिमें कांग्रेसके युवावर्ग और दूसरी श्रेणीके नेताओंको अध्यक्षके रूपमें चुननेका चलन चल पड़ा। सन् १९६४में अपनी संगठित-क्षमता और स्वतंत्र कार्य-पद्धतिके लिए प्रसिद्ध श्री कुमारस्वामी कामराजके अध्यक्षके रूपमें चुनाव हो जानेसे चौथे चरणका आरम्भ होता है। उसमें संस्थापक्षके महत्व और गौरवको बढ़ानेके लिए सावधानीपूर्वक प्रयास किए गए।

आइए, इन चरणों पर विस्तारसे विचार करें।

संस्थापक्ष और संसदीय-पक्षके सम्बन्ध

[ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री हेराल्ड विलसन]

१. लेवर पार्टीके स्थानीय (वार्ड अथवा जिलेके अनुसार) संगठन पार्लियामेण्टके चुनावमें प्रत्याशीके रूपमें अपने-अपने प्रतिनिधियोंको चुनते हैं।

२. पार्टीकी राष्ट्रीय कार्यकारिणी कभी-कभी किसी अपवादको छोड़कर, स्थानीय मनोनयनको ही स्वीकार करती है।

३. स्थानीय संगठन (राजनीतिक तथा ट्रेड यूनियन) दलकी वार्षिक परिषद्में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। वहाँ दलकी कार्यकारिणीका चुनाव होता है। इस कार्यकारिणीके दायित्व निम्न प्रकार होते हैं।

(अ) पार्लियामेण्टके कामकाजको छोड़कर दलके कामकाजकी मासिक देखरेख रखना; (आ) पार्टीकी नीतियों पर निवेदन करना; और (इ) दलके संसदीय-पक्षके सहयोगके लिए चुनाव-घोषणापत्र तैयार करना। वार्षिक परिषद्में राजनीतिक निवेदन, दलकी शाखाओं द्वारा तथा ट्रेड यूनियनों द्वारा तैयार प्रस्तावोंको प्रस्तुत किया जाता है। परिषद्का सबसे महत्व-पूर्ण काम प्रस्तुत निवेदनों तथा प्रस्तावों पर चर्चा करनेके बाद तत्सम्बन्धी निर्णय लेना है और अगर दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हो तो उन निर्णयोंको दलके नीतिविषयक दस्तावेज़ तथा कार्यक्रममें शामिल कर लिया जाता है।

परन्तु परिषद् या राष्ट्रीय कार्यकारिणी—इनमेंसे एक भी लेवर पार्टीके संसदीय पक्षको अपनी आज्ञानुसार व्यवहार करनेका आदेश नहीं दे सकती; यह उसका काम ही नहीं है। लेवर सरकारको तो इससे भी कम आदेश कर सकती है।

संसदीय लेवरपार्टी (पक्ष) एक स्वायत्त मण्डल है। वह अपने नेता और उपनेताका चुनाव करती है और अपना कामकाज अपनी आन्तरिक प्रजातांत्रिक पद्धतिसे चलाती है।

पार्लियामेण्टकी स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए लेवर पार्टीके संविधानमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पार्लियामेण्टरी पार्टी' परिषद्के अमुक निश्चित निर्णय अपने आप स्वीकार करनेके लिए बद्ध नहीं है। और लेवर सरकार, सत्तामें हो उस समय स्पष्टतः यह मान लिया जाता है कि परिषद्का कोई भी निर्णय उसके लिए बन्धनकर्ता नहीं है।

लेवर सरकार पार्लियामेण्ट द्वारा सम्पूर्ण देशके प्रति उत्तरदायी है और उसे पूरे देशके हितमें सत्य और उचित प्रतीत होनेवाले निर्णय करने चाहिए।

['दि रिलेवेन्स आफ ब्रिटिश सोशियालिज्म'से उद्धृत]

●

क्या भारत इससे कुछ ग्रहण करेगा?

सन् १९४६में अन्तरिम सरकार बनाए जानेके समय कांग्रेसके प्रायः सभी उच्च नेताओं द्वारा सरकारमें सम्मिलित हो जाने या संसदीय स्थानोंको स्वीकार कर लिए जानेसे कांग्रेसका संसदीय-पक्ष प्रतिष्ठा, अनुभव और शक्तिकी दृष्टिसे संस्थापक्षकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा हो गया था। संस्थापक्षकी ओर गांधीजीके अतिरिक्त अन्य कोई भी महत्वपूर्ण नेता नहीं रह गया था। यद्यपि गांधीजी कांग्रेसके प्राण थे और संस्था तथा संसदीय-पक्ष दोनों पर समान प्रभाव भी रखते थे; फिर भी वे दोनोंसे अलग रहते थे। दोनों पक्षोंको उनके मार्गदर्शनका पूरा-पूरा लाभ मिलता था, लेकिन कोई भी पक्ष उन्हें अपना अंग नहीं मान सकता था। कारण कि उनकी प्रतिष्ठा या शक्ति संगठन पर आधारित न थी। सरकारी तंत्र या संस्थापक्षमें भी पं० नेहरू और सरदार पटेलके वर्चस्वके विरुद्ध किसीमें भी आवाज उठानेकी सामर्थ्य नहीं थी। व्यावहारिक और वैचारिक दृष्टिसे देखें तो एक-दूसरेसे विलकुल विरुद्ध जानेवाले यह दोनों महानुभाव, अनेक बार एक-दूसरेसे टकरा जाने पर भी, एक-दूसरेके साथ सहयोगसे काम कर सके, यह एक आश्चर्य ही है। प्रा० मोरिस जॉन्स 'गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स ऑफ इंडिया'में लिखते हैं कि "यह द्वैध शासन—परस्पर विरोधी मन्तव्यों और स्वभावोंका विचित्र सम्मेलन—टिका रहा; क्योंकि दोनों एक दूसरेकी शक्ति भलीभाँति पहचानते थे और उसका आदर करते थे।" अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि दोनोंकी देशभक्ति समान रूपसे तीव्र थी। और सर्वजन-हिताय और सर्वजन-सुखायके लिए व्यक्तिगत रागद्वेष पी जानेवाली महान् उदारता तथा दलके प्रति अटूट निष्ठा दोनोंमें थी। इन वरिष्ठ नेताओंके बीचका मतभेद अगर उग्र बन जाता तो दलमें संकट उत्पन्न हो जाता और फिर दोनोंमेंसे अगर कोई एक संस्था-त्याग करता तो कांग्रेसका विघटन होना भी संभव था।

अगर गांधीजीकी सलाहके अनुसार कांग्रेसका, लोकसेवा संघ बनाकर, समापन कर दिया गया होता तो इसके परिणामस्वरूप दो या अधिक राजनीतिक दलोंकी स्थापना हुई होती और यह पूरा-पूरा संभव था कि इन दोनों नेताओंके बीच संघर्षण अनिवार्य हो गया होता। पर कांग्रेसके प्रति वर्षो पुरानी निष्ठा और गांधीजीके प्रति दोनोंकी भक्तिके कारण उनके बीचका संघर्षण सीमित ही रहा। कांग्रेस-तंत्र पर कड़ी पकड़ रखनेवाले सरदार पटेलके सरकारमें होनेके कारण संस्था और संसदीय पक्षोंके बीचका स्पष्ट अन्तर कभी सार्वजनिक नहीं हुआ। ऐसी स्थितिकी अभी शुरुआत ही थी।

बारह वर्षतक कांग्रेसके महामंत्री रहनेके बाद आचार्य कृपालानी उसके अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। इसके बाद, सन् १९३७-१९३९में आरम्भ हुई, कांग्रेस कार्यकारिणीके वर्चस्ववाली परम्पराको पुनर्ज्जीवित करने और मंत्रिमण्डलकी नीतियोंको लेकर चर्चा आरम्भ हुई। परन्तु वरिष्ठ नेता मंत्रिमंडलको कांग्रेस कार्यकारिणीके अधीन रखनेको तैयार नहीं थे। १५ जुलाई, १९४७को लिखे गये अपने व्यक्तिगत पत्रमें पं० नेहरूने स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया कि नीति या प्रशासनके विषयमें सरकारी निर्णयोंका पूर्वपरीक्षण करने या जानकारी प्राप्त करनेका अधिकार कांग्रेस कार्यकारिणीको नहीं हो सकता। मंत्रिमण्डलके सदस्य, जो कार्यकारिणीके भी सदस्य हैं, वे इन चर्चाओंके समय अपने-अपने स्वतंत्र मत व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि मंत्रिमण्डलकी सामूहिक दायित्व और गोपनीयता बनाए रखनेकी शपथका इससे भंग होता है। यों पं० नेहरू भी स्वीकार करते थे कि सरकारी नीतिकी घोषणाके बाद उसकी छानबीन करने तथा उसमें परिवर्तनोंका सुझाव देनेका अधिकार

कार्यकारिणीको है। सरदार पटेलने भी इस दृष्टिकोणको समर्थन प्रदान किया था। परन्तु आचार्य कृपालानीको लगा कि इसमें कांग्रेस कार्यकारिणीके प्रभुत्व पर आँच आती है और कांग्रेसकी परम्परा नष्ट होती है; साथ ही कांग्रेसाध्यक्षके प्रति वरिष्ठ नेताओंमें श्रद्धा नहीं है। परिणामतः गांधीजीके परामर्शका पालन कर आचार्य कृपालानी त्यागपत्र देकर अध्यक्ष पदसे हट गये और तद्विषयक चर्चा स्थगित कर दी गई। संस्थागत पक्ष और संसदीय-पक्षके बीच हुए खुले संघर्षमें संस्थागत-पक्षकी यह पहली पराजय थी।

सन् १९५०में, पं० नेहरू तथा उनके कतिपय साथियोंको नापसंद और रूढ़िग्रस्त विचार रखनेवाले बाबू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन सरदार पटेलके समर्थनसे कांग्रेस-अध्यक्ष बन गए। पं० नेहरू और श्री टण्डनजीके बीच सैद्धांतिक मतभेद श्री सरदार पटेलकी मृत्युके बाद काफी बढ़ गए। कांग्रेस दलसे त्यागपत्र देनेवाले श्री रफी अहमद किदवई और श्री अजितप्रसाद जैनको मंत्रिमण्डलसे अलग करनेके लिए उन्होंने पं० नेहरूको विवश किया। जनवरी १९५१में एक अवसर पर पं० नेहरूने क्रोधपूर्वक कहा था कि कांग्रेस महासमिति द्वारा पारित श्रीलंकामें बसे हिन्दुस्तानियोंसे सम्बद्ध तथा पेप्सूमें राष्ट्रपतिका शासन उठा लेनेसे सम्बद्ध प्रस्ताव उनके कार्यक्षेत्रमें हस्तक्षेपके बराबर हैं। श्री टण्डनजीको अंकुशमें रखने या उन्हें अध्यक्ष पदसे हटानेके लिए हलचलें शुरू हो गईं। कांग्रेस कार्यकारिणीके पुनर्गठनका पं० नेहरू द्वारा दिया गया सुझाव श्री टण्डनजीने इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया कि कांग्रेसके संविधानके अनुसार कार्यकारिणीके गठनका अधिकार एकमात्र अध्यक्षको है। फलतः संस्थापक्षको 'शॉक ट्रीटमेन्ट' देनेके लिए पं० नेहरू और मौलाना आज़ादने कार्यकारिणीकी सदस्यतासे त्यागपत्र दे दिया। श्री टण्डनजीने इन त्यागपत्रोंको स्वीकार करनेमें अपनी असमर्थता प्रदर्शित की और चूंकि पं० नेहरूजीकी माँगको वे स्वयं अनुचित मानते थे; अतः उन्होंने घोषणा की कि वे इन त्यागपत्रोंको स्वीकार करनेके लिए कतई तैयार नहीं हैं। अन्तमें, इस संकटके समाधानके लिए उन्होंने स्वयं ही त्यागपत्र दे दिया और प्रधानमंत्री पं० नेहरूने १९५१के सितम्बर महीनेमें कांग्रेसके अध्यक्ष पदको सम्हाल लिया। संस्थापक्षकी यह दूसरी और अन्तिम पराजय थी। प्रधानमंत्री और संसदीय-पक्षने कांग्रेस संगठन पर लगभग पूरी तरह अधिकार जमा लिया।

सन् १९५१से १९५४ तकके दूसरे चरणमें पं० नेहरू दोनों पक्षोंका उपभोग करते थे; अतः कांग्रेसाध्यक्ष और प्रधानमंत्रीके बीच किसी मतभेदका कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। लेकिन समय और शक्तिके अभावमें कांग्रेसके संस्थापक्षका प्रशासन और उसकी समस्याओं पर वे पूरा ध्यान नहीं दे पाए। मात्र दैनिक कामकाज ही चलाए रखा गया और दलका संगठन-तंत्र अधिकाधिक शिथिल होता गया। यहाँ तक कि कांग्रेस कार्यकारिणीका महत्व ही नष्ट हो गया। सरकारी निर्णयोंकी स्वतंत्र रूपसे समीक्षा करनेका काम रुक गया और वह मात्र रबर-स्टाम्प जैसी वस्तु ही रह गई। श्री स्टानली कोचानक 'जनरल आफ एशियन स्टडीज़' (अगस्त, १९६६)में लिखते हैं: "परिणाम यह हुआ कि महत्वपूर्ण राजनीति विषयक सरकार द्वारा निर्धारित नीतिको स्वीकृति देना ही संस्थापक्षके लिए राजनीति-निर्माणमें भाग लेनेका एकमात्र मार्ग बना रहा और संस्थापक्ष संसदीय पक्षकी आवश्यकताओंका ताबेदार बन गया।" 'इंडिया टु-डे'में लिखते हुए श्री फ्रांक मोरिसने

स्पष्ट किया है कि "वर्ष बीतते गए और इसके फलस्वरूप कांग्रेसकी मनोवृत्ति ऐसी बन गई कि दलके बहुतसे लोग राजनीतिक नेतृत्वके लिए कांग्रेस अध्यक्षके पास न जाकर प्रधान-मंत्री पर अवलम्बित रहने लगे हैं।" यह दोहरा भार उठाना तो पं० नेहरूके लिए अशक्य था। उन्हें स्वयं पढ़ने या विचार करनेका समय नहीं मिलता, यह शिकायत करते हुए उन्होंने इन दोनों पदोंसे मुक्त होनेका प्रयास किया; लेकिन दलके नेताओंकी ओरसे उन्हें कांग्रेसके अध्यक्ष पदको ही छोड़नेकी अनुमति प्राप्त हो सकी।

संस्थागत इतिहासका तीसरा और सबसे लम्बा चरण अब शुरू हुआ। सन् १९५४से १९६४ तककी अवधिमें अपेक्षाकृत छोटी वयके, कम ख्यातिवाले और शीर्षस्थ नेताओंके मार्गदर्शनमें चल सकनेवाले किसी आशास्पद कांग्रेसी नेताको दलके अध्यक्षके रूपमें पसंद किया जाता था। इस समयावधिमें चारमेंसे तीन अध्यक्ष राज्योंके मुख्यमंत्री थे। यह चुनाव हमेशा पं० नेहरू स्वयं करते थे; लेकिन पंडित पंत और श्री लालबहादुर शास्त्रीकी सलाह भी ले ली जाती थी। इस अवधिमें कांग्रेसके चार अध्यक्षोंमें श्री यू० एन० ढेबर सबसे लम्बे समय तक—लगभग साढ़े चार बरस तक—अध्यक्षपद सम्हाले रहे। उनका यह कार्य-काल संस्थाके सुधारके लिए सबसे महत्वपूर्ण है। अचानक बिना किसी विशेष कारणके उन्होंने जून, १९५९में त्यागपत्र दे दिया और श्रीमती इन्दिरा गांधीने यह पद सम्हाला; परन्तु वे लम्बे समय तक इस पदको सम्हाल नहीं सकीं। जून, १९६२में श्री नीलम संजीव रेड्डी उनके अनुगामी होकर आए। श्री रेड्डीने स्वयं ही स्वीकार किया कि "कांग्रेसके अध्यक्ष-पदका पहलेके समान अब कोई महत्व नहीं रह गया है।" श्री फ्रांक मोरिसने अपनी जलद भाषामें जो कुछ कहा, उसके अनुसार "१९५५से कांग्रेस-अध्यक्षने प्रधानमंत्रीके नेतृत्वमें कांग्रेसकी केन्द्रीय सरकारके ऐश्वर्ययुक्त चपरासी (glorified office-boy)के रूपमें काम किया है।" इन अध्यक्षोंने, विशेषत: श्री ढेबरने अपने कार्यकालमें कांग्रेस संस्थाका पुनर्गठन करने और पं० नेहरूकी उपेक्षाके कारण हुए नुकसानको पूरा करनेका प्रयत्न किया। परन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, उस समय तक रोग इतना फैल चुका था कि उनकी इस मेहनतका परिणाम शून्य ही आया।

कांग्रेस संस्थाको मजबूत बनानेके लिए शीर्षस्थ नेताओंको अपने सरकारी पद छोड़ देने चाहिएं, इस प्रकारकी चर्चाएं बार-बार उठा करती थीं और श्री संजीव रेड्डीने तो अपने अध्यक्षीय भाषणमें सत्ता-पदके विषयमें दस वर्षका नियम रखनेकी सिफारिश भी की थी। सन् १९६२में चीनी-आक्रमणने पं० नेहरूकी प्रतिष्ठाको काफी चोट पहुँचाई और उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। उनकी मृत्युके बाद उत्पन्न होनेवाले प्रश्नोंका सामना करनेके लिए कांग्रेस दलको पुन: सुदृढ़ और गतिशील बनानेकी आवश्यकता सभीको अनुभव हो रही थी। अत: सन् १९६३में श्री कामराजकी योजना स्वीकृत कर ली गई, परन्तु उसका कार्यान्वयन कांग्रेस संगठनको सुदृढ़ बनानेके लिए न किया जाकर बाधारूप लगनेवाले तत्वोंकी समाप्तिके लिए किया गया। पदोंसे मुक्त हुए नेताओंको किसी भी प्रकारका संस्थासंगठनका काम या उसमें स्थान दिया ही नहीं गया और उनमेंसे कुछ नेताओंको क्यों पदमुक्त कराया गया, यह स्पष्ट पता चलता था।

इस योजनाके पुरस्कार-स्वरूप अचानक प्रख्यात हुए श्री के० कामराजको सन् १९६४में कांग्रेस-अध्यक्षके रूपमें चुना गया और यहीं से संस्थागत पक्षके इतिहासका चौथा चरण आरम्भ

हुआ। श्री स्टानली कोचानकने श्री के० कामराजको "डा० राजेन्द्रप्रसादजीके वाद कांग्रेसके अध्यक्षपद पर आसीन होनेवाले सभी व्यक्तियोंमें सवसे अधिक प्रभावशाली" के रूपमें वर्णित किया है। अनुगामित्वका प्रश्न एक वार नहीं, वल्कि दो वार सुलझाना उनके भाग्यमें लिखा था। पं० नेहरूके वाद श्री शास्त्रीजीका मनोनयन कठिन नहीं था और इस काममें कांग्रेसको वहुतसे परिवलोंकी सहायता मिली। दूसरी ओर, श्री शास्त्रीजीने यह आग्रह रखा कि कांग्रेस महासमितिके पूर्वनिर्णयके विरुद्ध एक प्रस्ताव पास कर श्री के० कामराजको पुनः अध्यक्ष वनाया जाना चाहिए और श्री मोरारजी देसाईके खुले विरोधके वावजूद भी उसे उन्होंने पास करवा दिया। श्री शास्त्रीजीके अवसानके वाद, इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री मोरारजी देसाईके स्थान पर श्रीमती इन्दिरा गांधीको प्रधानमंत्री वनाए जानेमें श्री कामराजकी शक्ति, प्रतिष्ठा और योग्यताने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अपने कार्यकालमें श्री कामराजने सरकारी नीतिकी खुली और कटु आलोचना की है, स्वतंत्र रूपसे निर्णय लिए हैं और अपनी वाणी और व्यवहार द्वारा प्रतिपादन किया है कि संसदीय-पक्ष संस्थापक्षके अधीन है। खादसे सम्वद्ध सरकारी नीतिकी कांग्रेस महासमितिमें हुई तीखी आलोचनासे उवल उठे विभागीय मंत्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम्ने जब त्यागपत्र देनेकी वार-वार धमकी दी, तव श्री कामराजने उन्हें त्यागपत्र देनेका आह्वान किया। सन् १९६५से हिन्दीके सार्वत्रिक उपयोग करनेके विरुद्ध अपना विरोध उग्र शब्दोंमें व्यक्त किया; पंजाबी सूवेकी रचना करनेसे सम्वद्ध अन्तिम निर्णय लेकर सरकारको यह काम पूरा करनेका आदेश दिया और उड़ीसाके मंत्रियोंकी शान उन्होंने अकेले अपने ही वूते पर ठिकाने लगा दी। प्रधानमंत्रीके समर्थनसे वंगालकी परिस्थितिका परीक्षण करनेके लिए गए श्री जी० एल० नन्दाके निर्णयको अमलमें लानेसे उन्होंने रोका। आन्तरिक राजनीतिके प्रत्येक प्रश्नपर सरकारी नेताओंको उनसे वातचीत किए विना मुक्ति नहीं थी और सरकारी निर्णयके विरोधमें कांग्रेस-अध्यक्ष सार्वजनिक रूपसे और असंदिग्ध भाषामें वोलनेमें संकोचका अनुभव नहीं करते थे।

यहाँ यह कहना हमारा अभिप्राय नहीं कि कांग्रेस दल और सरकारी-तंत्रके वीच शत्रुता उत्पन्न हो गई थी। पर संस्था सरकारके समकक्ष है, स्वायत्त है और कुछ अंशोंमें उच्च है; इस प्रकारका आभास श्री कामराजके व्यवहारसे स्पष्ट मिल जाता है। इस पर भी, उनके अपने प्रदेशमें कांग्रेसको मिली ज़वरदस्त पराजयके कारण श्री कामराजने जव स्वयं अध्यक्षपद छोड़नेका निर्णय किया, तव उनका अनुगामी वन अध्यक्ष-पद सम्हालनेके लिए कोई भी वरिष्ठ नेता तैयार नहीं था। यह इसका अचूक प्रमाण है कि अध्यक्षपदका महत्व केन्द्रीय सरकारके मंत्रीपद और प्रदेशके मुख्यमंत्री-पदकी अपेक्षा निम्नस्तर का माना जाता है। लम्वी वातचीत और अनेक नामोंके परिवर्तनके वाद मैसूरके पुराने और वयोवृद्ध मुख्यमंत्री श्री निजलिंगप्पाने इस पदको स्वीकार किया। प्रदेशके मुख्यमंत्रीके पदसे मुक्त होनेमें उनके द्वारा की गई देरीकी कटु आलोचना की गई। उन्होंने (१९६४में आरम्भ) संसदीयपक्ष पर संस्थापक्षके प्रभुत्वकी प्रणाली जारी रखी है। महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नोंकी स्वतंत्र रूपसे समीक्षा करनेका अपना अधिकार कार्यकारिणी और महासमितिने वारम्वार भोगा है। एक या दूसरे कारणोंसे कितने ही अग्रणी नेताओंको सरकारी तंत्रसे खिसकना

कांग्रेस की सदस्य संख्या
प्राथमिक —— लाख में
सक्रिय - - - - हजार में
संख्या लाख में
संख्या हजार में
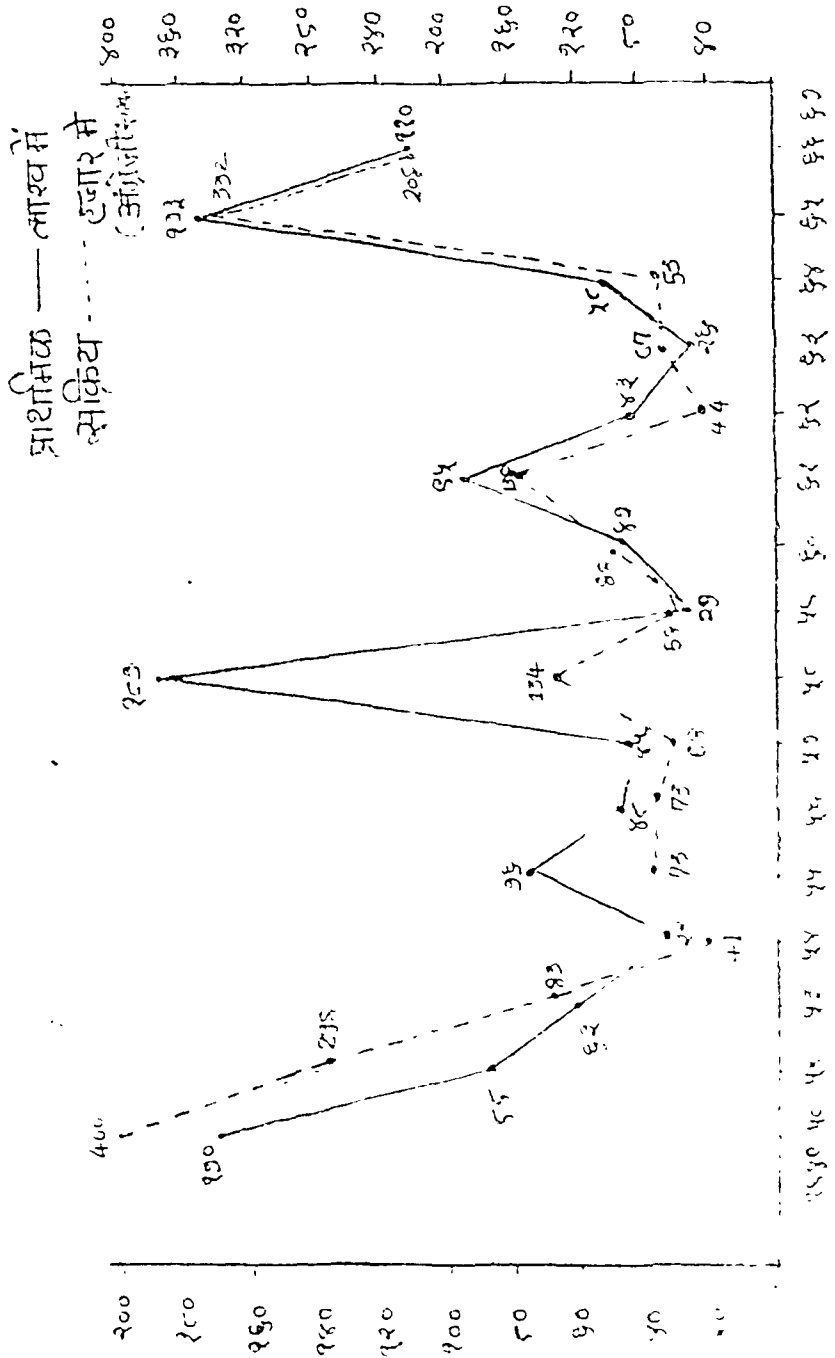
पड़ा है। अगर यह स्थिति यथावत् बनी रहे तो संस्थापक्षका महत्व आजकी अपेक्षा अधिक होना संभव है। हालांकि आज भी इन दोनों पक्षोंके बीचके सम्बन्धोंके प्रश्नोंका कोई संस्थागत उत्तर ढूंढ़नेमें नहीं आया है।

इसके अतिरिक्त कांग्रेस दलकी शक्ति और प्रतिष्ठाके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाने वाले दलके साधारण सदस्यकी योग्यतासे सम्बद्ध प्रश्न अभीतक उलझा हुआ ही है। कांग्रेसको आम जनताका दल बना देने पर भी गांधीजीने बहुत प्रयास किया कि उसमें केवल योग्य व्यक्तियोंको प्रवेश देनेका एक स्तर निश्चित किया जाय। पहले, श्रम करनेवाले और नियमित सूत कातनेके आधार पर एक मानक कांग्रेसने स्वीकार किया और आगे चलकर छोड़ दिया; अन्ततः खादी पहननेवाले और अमुक प्रकारका व्यवहार न करनेवाले—नशेबाज़ न हो, अस्पृश्यतामें विश्वास न रखता हो और थोड़ा-बहुत रचनात्मक काम करता हो, ऐसा प्रत्येक व्यक्ति—भारतीय नागरिक कांग्रेसके सदस्य हो सकते हैं, यह निश्चित किया गया। कांग्रेस दल राजनीतिक सत्ताके ज्यों-ज्यों पास आता गया; त्यों-त्यों उसकी सदस्य संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गई। सन् १९३७में उसकी सदस्य-संख्या पचास लाख थी, जो १९४६में पचपन लाख हो गई। स्वतंत्रताके बाद तो सदस्य संख्यामें ज्वार ही उमड़ आया। १९४८में कांग्रेसके एक करोड़ सदस्य थे। १९५२में यह संख्या घटकर ८८ लाख थी और १९५३में ६१ लाख ही रह गई। १९६१में यह संख्या पुनः एक करोड़ पर पहुँच गई है। यह बड़ी संख्या अवसरवादियोंके लिए उपकारक सिद्ध हुई। सदस्योंकी निष्ठा और योग्यताके परीक्षणार्थ कोई निश्चित मानक न होनेके कारण राजनीतिक हलचलोंमें दक्ष लोग लाभ उठा ले गए तथा निष्ठावान और सीधे-सादे लोग एक ओर फेंक दिए गए। "इतिहास भरमें केवल कांग्रेस ही एक ऐसा सफल दल है कि जिसने अंशतः अपने साथियोंकी ओरसे पीठ फेर ली; विदेशी शासकोंके समर्थकोंको तथा उनके आदेशानुसार विदेशमें जाकर भारतकी जनता और उसके नेताओंकी बदनामी करनेवाले लोगोंको सत्ता-प्राप्तिका लाभ प्रदान होने दिया गया।" [पॉलिटिकल साइंस कांफ्रेन्स : दिसम्बर, १९६६ : आलुबहन दस्तूरके अध्यक्षीय भाषणसे]

अनेक अवसरवादियोंने आगे बढ़कर कांग्रेसदलमें अपना स्थान बनानेके लिए अपने एजेंटों और साथियोंको दलमें प्रवेश दिलाया अथवा गलत नाम लिखकर उसका नाममात्रका सदस्यता शुल्क अपनी जेबसे दे दिया।

> [जयपुर अधिवेशनमें कांग्रेसके महामंत्रीकी रिपोर्टसे]
>
> **"एक तहसीलने ४,००,००० सक्रिय सदस्य बना कर कीर्तिमान स्थापित किया है और अनेक गांवोंमें कांग्रेसके सदस्योंकी संख्या वहांकी कुल आबादीकी अपेक्षा अधिक है।"**

श्री ढेबरने अपने कार्यकालमें और बादमें भी दलमें इन घुसपैठियोंके प्रवाहको कम करनेका प्रयास किया है; उन्होंने सदस्योंके दो—सामान्य और क्रियाशील—वर्ग बनाए। सक्रिय सदस्य बननेके लिए दो वर्षकी साधारण सदस्यताकी योग्यता और उससे रचनात्मक कार्यकी अपेक्षा रखी गई। गलत सदस्योंकी सत्ता समाप्त करनेके लिए सभी महत्वके स्तरों

पर मताधिकार सक्रिय सदस्योंको ही दिया गया और परोक्ष पद्धतिके आधार पर चुनाव किए गए। परन्तु परोक्ष चुनाव पद्धतिके दोष जब सामने आए तब इस प्रथाको छोड़ देना पड़ा तथा दोनों प्रकारके सदस्योंके बीचका अन्तर खादीकी वेशभूषा जैसे बाह्याचार तक ही सीमित हो गया और कई बार तो उसकी भी उपेक्षा की गई है; अन्य परीक्षण तो लक्ष्यमें लिए जाते दिखाई नहीं देते।

> शराबके नशेमें धर्मपत्नीको ठोकर मारनेवाले श्री पलसपगार महाराष्ट्रके मुख्यमंत्री पद तक पहुंच गए थे और कांग्रेस दलकी जांचके आधार पर नहीं, अपितु विरोधपक्षके शोरगुलके कारण उन्हें पदच्युत किया गया था।
>
> हरिजनोंके लिए मनमाने ढंगसे और अपमानजनक बातें कहनेके लिए समाचारपत्रोंमें प्रसिद्धिप्राप्त श्री थिम्मा रेड्डी आज भी (१९६९में) आंध्रमें मंत्री पद पर हैं।

कुछ उदाहरण स्पष्ट रूपसे यह सिद्ध करते हैं कि कांग्रेस-सदस्यके लिए ही नहीं, अपितु कांग्रेस-नेताके लिए भी किसी प्रकारकी कोई कसौटी नहीं रखी जाती। जाली, निष्क्रिय और अवांछनीय सदस्योंके दलमें आ जानेके प्रश्नको भारतके सभी दलोंको हल करना है। परन्तु कांग्रेस दलके लिए तो यह प्रश्न विशेष रूपसे एक विकट समस्या बन गया है। इसका कारण यह है कि १९६७ तक तो कांग्रेसकी सदस्यता सत्ता-प्राप्तिका एकमात्र साधन और उसके बाद मुख्य राजद्वार होनेके कारण अनेक प्रकारके अवांछनीय और अवसरवादी तत्त्व उसमें घुस गए हैं। कांग्रेस सदस्योंको सक्रिय बनानेके लिए और उन्हें प्रशिक्षित करने तथा दलमें योग्य व्यक्तियोंको स्थान देनेके हेतु दलके पुन:संगठनके सम्बन्धमें अनेक प्रस्ताव कांग्रेस कार्यकारिणी पारित कर चुकी है; परन्तु वे सभी मात्र कागज पर ही रहे हैं। दलसे भ्रष्टाचार निकालनेके लिए नियुक्त अनेक जाँच-समितियोंकी और सदस्योंसे बार-बार माँगे गए उनकी सम्पत्तियोंके ब्यौरोंकी भी यही हालत हुई है। अन्य दलोंके सक्रिय कार्यकर्ताओंकी तुलनामें कांग्रेसके सक्रिय सदस्य अपने दलकी सिद्धियों और कमजोरियोंसे अधिकांशत: अपरिचित हैं। ऐसे कार्यकर्ताओंके समर्थनके आधार पर कांग्रेस जो विजय प्राप्त कर पाती है, वह वस्तुत: आश्चर्यजनक है।

इतनी अधिक प्रशिक्षणविहीन सदस्य-संख्या, लम्बे समयकी परम्परा और विभिन्न विचारधाराओं वाले नेताओंकी उपस्थितिके कारण किसी स्पष्ट और सुनिश्चित विचारधाराको स्वीकार कर लेना कांग्रेसके लिए अशक्य हो गया है। पहलेसे ही यह डर पाया जाता रहा है कि अगर किसी एक निश्चित विचारधाराको स्वीकार कर लिया गया तो आज़ादीके लिए चलाए जानेवाले आन्दोलनोंमें विग्रह उत्पन्न हो जायगा। जनतामें विचार-भेद उत्पन्न होगा और स्वतंत्रता प्राप्त करनेमें विलम्ब होगा। फिर भी धर्मनिरपेक्षता, प्रजातंत्र, दलित-वर्गोंका हित-संरक्षण, साम्प्रदायिक एकता और तीव्र आर्थिक विकासके समान अनेक मूलभूत सिद्धान्तोंके विषयमें लगभग सभी नेता एकमत थे। स्वतंत्रता-प्राप्तिके बाद 'सहकारी और समानतावादी समाज'की स्थापनाका ध्येय स्वीकार किया गया। सन् १९५५के आवड़ी अधिवेशनमें 'समाजवादी पद्धतिकी समाज रचना'का और १९५९के नागपुर अधिवेशनमें 'समाजवादके ध्येय' जैसे प्रस्तावोंको स्वीकार किया गया। ऐसे प्रस्तावोंको स्वीकार करनेमें पं० नेहरूके प्रभावने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है; कांग्रेसके अनेक अग्रगण्य नेताओंके

विचार और व्यवहारके साथ समाजवादकी धारणा मुश्किलसे ही सुसंगत मानी जा सकेगी। आवड़ी प्रस्तावको कांग्रेस द्वारा मतदाताओंको धोखा देने और चुनाव-स्टण्टके रूपमें घोषित किया था—इस प्रकारके श्री मधुलिमयेके सार्वजनिक रूपसे लगाए आरोपमें अतिशयोक्ति होने पर भी सत्यका कुछ अंश उसमें निहित दिखाई देता है।

'लोकतांत्रिक या प्रजातांत्रिक समाजवाद'का आदर्श, जिसे कांग्रेसने स्वीकार कर लिया है, अत्यन्त अस्पष्ट है; क्योंकि 'प्रजातांत्रिक' और 'समाजवाद'—इन दोनों शब्दोंकी स्पष्ट या निश्चित व्याख्या अभी तक नहीं की जा सकी है। प्रा० मोरिस जॉन्सकी शुष्क और तीखी आलोचना स्मरण रखने योग्य है: "आज तक जितनी टीकाएँ और भाष्य बाइबिल पर हुए हैं, उतने ही इस 'प्रजातांत्रिक समाजवाद' पर हुए हैं; परन्तु अभी तक उनमेंसे कोई भी स्पष्ट अर्थ निष्पन्न नहीं होता।"

कांग्रेसने कुछ व्यावहारिक उद्देश्योंको स्वीकार कर लिया है, अत: विचार-धाराका अभाव उसके अस्तित्वके लिए बहुत गंभीर खतरा नहीं बना है। विश्वके बहुत-से राजनीतिक दल विचारसरणीकी शुद्धताकी कसौटी पर नहीं चढ़ सकते; इतना ही नहीं, बल्कि इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे पुष्ट प्रजातांत्रिक देशोंमें तो मुख्य राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी दलोंकी विचार-धाराओंमें भी तात्विक भेद ढूंढ़ पाने मुश्किल हैं। एक अमेरिकी विद्वान् अपने देशके राजनीतिक दलोंके विषयमें लिखता हुआ बताता है कि वहांके दोनों (प्रमुख दल) एक जैसी बोतलमें भरे एक जैसे आसवके समान हैं; उनके बीच अन्तर मात्र लेबिलका है।

इंग्लैण्डके दलोंके विषयमें लिखते हुए श्री विंस्टन चर्चिलने बताया है कि "ये दोनों (कंजरवेटिव और लेबर) समान रूपसे खड़खड़ाहट करनेवाली गाड़ियाँ हैं और एक दूसरेकी प्रतिस्पर्धा करते समय परस्पर कीचड़ उछालती हैं।" सूत्रात्मक विचारसरणीकी अस्पष्टता या उसके अभावमें राजनीतिक दलको कोई हानि नहीं होती; परंतु संगठनमें एकताका अभाव हो तो उससे अपूरणीय क्षति होती है।

कांग्रेस संगठनको सुदृढ़ बनानेके प्रयास बहुत समयसे होते आए हैं। फिर भी आरम्भसे ही उसमें अलग-अलग अनेक वर्ग वर्तमान रहे हैं और उनके बीच पर्याप्त खींचतान होती रही है। स्वतंत्रता प्राप्त होनेके पहले गुटबंदीमें व्यक्तिगत पसंद-नापसंदका बहुत अधिक और प्रतिकूल प्रभाव होने पर भी बहुत-से मतभेद सिद्धान्तों और विशेषत: कार्य-क्रमोंके विषयमें होते थे; परन्तु 'आजकलके वर्ग सम्पूर्णत: सिद्धान्तविहीन हैं' (सेमिनार: फरवरी, १९६२)। उस समय तो फिर भी इस वर्गवादसे परे और तटस्थ रहनेवाले नेताओंकी संख्या भी पर्याप्त होनेके कारण उनके बीच समाधान करने और संतुलन बनाए रखनेका काम असंभव न था। नेताओंकी प्रतिष्ठाका आधार बहुधा उनकी योग्यता और आत्मभोग पर आवृत होनेकी वजहसे वर्गवादका स्तर भी अच्छा-खासा ऊँचा रहता था।

आज स्थिति बिलकुल बदल गई है। कांग्रेस दलमें आज ऊपरसे लेकर एकदम नीचे तक वर्ग नहीं पर वर्गवाद (गुटबाज़ी) फैल गया है और अनेक उपदल बन गए। एक या दूसरे प्रकारके वर्गवादसे परे होनेका किसी भी नेताका दावा उचित नहीं माना जा सकता। गुटबन्दीकी मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसके कारण कांग्रेस दल छिन्न-भिन्न हो जानेके डरसे बुरी तरह भयभीत है। चुनावके समय कांग्रेसी उम्मीदवारोंकी

अथवा दलकी हारमें विरोधी दलोंकी अपेक्षा कांग्रेसकी आन्तरिक गुटवन्दीने वहुत वड़ा भाग अदा किया है, जिसे संभवतः अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। पिछले दो दशकोंमें अलग-अलग प्रदेशोंमें जितनी भी बार कांग्रेस सत्ताच्युत हुई है, उसमें विरोधी शक्तिका उतना नहीं; जितना कांग्रेसकी आन्तरिक गुटवन्दीका हाथ रहा है। कांग्रेस दलका जव निश्चित वहुमत था, उस जमानेमें भी नेताओंके प्रति जनताकी अरुचिके कारण सरकारोंका पतन हुआ था।

ये उपदल सिद्धान्तों, नैतिक मूल्यों या राजनीतिक मतभेदोंकी चाहे कितनी ही वातें करते हों, फिर भी वह मतभेद मुख्यतः व्यक्तिगत ही होता है और सत्ता-प्राप्ति ही उसका प्रमुख उद्देश्य होता है। भाषागत, साम्प्रदायिक और धार्मिक मतभेदोंके कारण अथवा जातिवादके प्रभावके कारण भी इस प्रकारकी गुटवन्दी अधिक उग्र वनती है। पर मुख्यतः तो यह सत्ता और प्रतिष्ठाके लिए किए जानेवाला गजग्राह युद्ध ही होता है। ठीक ऐसी ही वातें श्री पॉल ब्रॉस 'फ्रेक्शनल पॉलिटिक्स इन एन इंडियन स्टेट'में कहते हैं।

कांग्रेसकी अव तककी शक्ति और प्रतिष्ठा इस प्रकारकी गुटवाजीको परोक्ष रूपसे प्रोत्साहन देनेवाली रही है। अव तक कांग्रेस दल सत्ता-प्राप्ति या लाभ-प्राप्तिके लिए एक मात्र प्रवेशद्वार होनेके कारण असंतुष्ट लोग या उपदल दलत्याग करनेकी हिम्मत नहीं कर पाते। कांग्रेससे वाहर जानेवाला व्यक्ति, चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठावान या शक्तिशाली हो, फिर भी वीरानेमें फेंक दिया जाता है—ऐसे अनुभवके कारण वहुत-से व्यक्ति और उपदल कांग्रेस छोड़नेके वदले कांग्रेसमें रहकर ही खटपट किया करते हैं। अन्य दलके व्यक्ति भी अवसर मिलने पर कांग्रेसमें सम्मिलित हो जाते थे। सन् १९६७के आमचुनावके वाद कांग्रेस दलकी शक्ति अनेक राज्य विधानसभाओंमें काफी कम हो जानेके कारण इस परिस्थितिमें थोड़ा परिवर्तन हुआ है। ऐसी संभावना देखकर कि कांग्रेसके वाहर जाकर छोटे-छोटे समूहोंसे गठबन्धन कर सत्ता प्राप्त की जा सकती है—सत्ताकेन्द्रमें पहुँचा जा सकता है—अनेक प्रदेशोंमें कुछ कांग्रेसी नेताओंने दल त्याग कर दिया है। दल-वदलके वावजूद अपेक्षित लाभ न मिलनेकी प्रतीति होने पर उनमेंसे भी अनेक लोगोंने पुनः दल-त्याग किया है। वहुत वड़ी मात्रामें और वार-वार दल-वदलकी प्रक्रिया एक गंभीर समस्या वन गई है। परिणामस्वरूप, दल-वदलकी इस वढ़ती प्रवृत्तिको कानून द्वारा रोकनेका प्रश्न विचाराधीन है। वस्तुतः यह समस्या कोई नया रोग नहीं है; यह दलीय निर्वलता रूपी रोगके वाह्यचिह्न हैं। अन्य दलोंकी शक्तिमें वृद्धि होने पर शासनमें कांग्रेसी एकाधिकार कम होगा, शायद इस प्रकारकी दल-वदलकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन मिलेगा। फलतः, दलकी आन्तरिक गुटवाजी कमजोर होगी, क्योंकि वड़े और सुदृढ़ उपदल अन्दर पड़े रहनेकी अपेक्षा वाहर जाना अधिक पसंद करेंगे।

निरी गुटवाजी दलकी नैतिक और राजनीतिक शक्तिको क्षीण करती है। वर्गके सदस्यों द्वारा एक दूसरेके दोष-गोपन होनेके कारण अव्यवस्था और भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन मिलता है। भ्रष्टाचारीके रूपमें सिद्ध हुए उच्च श्रेणीके अनेक लोगोंको उनके समर्थकोंने अन्तिम समय एकनिष्ठ भावसे समर्थन दिया है। इस प्रकारकी गुटवन्दीमें एक स्तरके नेता दूसरे स्तरके नेताओंसे संकलित होते हैं। अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ करनेके लिए वरिष्ठ नेता प्रादेशिक और तहसीली क्षेत्रों तकमें इस प्रकारकी गुटवाजीको जानवूझ कर प्रोत्साहन देते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अधिकाधिक गुटोंको संतुष्ट रखनेके लिए सरकारी-नीतिमें भी शिथिलता लानी पड़ती है और

जहाँ पर गुटबन्दीकी मात्रा या उग्रता विशेष हो, वहाँ तो उपदलोंको संतुष्ट करनेके लिए उनके एक-दो सदस्योंको मंत्रिमण्डलमें स्थान भी देना पड़ता है; और इस तरह मंत्रिमण्डलके आकारमें सतत वृद्धि करनी पड़ती है। इस मामलेमें चौंकानेवाला उदाहरण हरियाणाके राव वीरेन्द्र सिंहका मंत्रिमण्डल प्रस्तुत करता है। जहाँ गुटबाजी न हो वहां मंत्रिमण्डल छोटा, सुगठित और कार्यक्षम होता है। परन्तु बहुत-से राज्योंमें मंत्रिमण्डलके सदस्योंकी संख्या काफी बड़ी होने लगी है। बड़े आकारका मंत्रिमण्डल कार्यक्षमताको कम करता है, क्योंकि मंत्रियोंको काम देनेके लिए कभी-कभी विभागोंके टुकड़े करने पड़ते हैं। इस त्रिगुटबाजीके कारण मुख्यमंत्रियोंका कतिपय मंत्रियों पर विश्वास नहीं होता, अतः विभागोंका बँटवारा प्रशासनिक कुशलता और मंत्रियोंकी योग्यताके आधार नहीं किया जाता; परन्तु इस आधार पर किया जाता है कि किसके हाथमें कैसी और कितनी सत्ता रहे। प्रत्येक गुट यथासंभव अधिक संख्यामें अपने मंत्री और महत्वपूर्ण विभागोंको अपने हाथमें रखनेका प्रयत्न करता है। उत्तर-प्रदेशके मंत्रिमण्डलमें पैंतालीस सदस्य होने पर भी श्री चन्द्रभानु गुप्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण पाँच विभाग स्वयं ही सम्हालते थे और शेष मंत्रियोंको काम देनेके लिए उन्हें विभागोंका कृत्रिम और अनावश्यक विभाजन करना पड़ा है। यह आसानीसे समझा जा सकता है कि इस प्रकारकी व्यवस्था अत्यन्त खर्चीली और काममें निरन्तर गिरावट लानेके अतिरिक्त असंतोष उत्पन्न करनेवाली सिद्ध हुई है। हालमें ही राजस्थानके कुछ मंत्रियोंने सार्वजनिक रूपसे यह कड़ी शिकायत की थी कि उन्हें काम बिल्कुल दिया ही नहीं जाता।

दलके भीतर गुट-निर्माणको लेकर दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिए। पहली तो यह है कि मतभेद और गुट-निर्माण प्रजातांत्रिक संस्थाओं और दलोंका अनिवार्य लक्षण हैं। कांग्रेसकी गुटबाजी अत्यन्त पक्व है, पर जनसंघको छोड़कर अन्य सभी दलोंमें पनप रही गुटबाजीकी तुलनामें कांग्रेसमें चली आ रही गुटबाजीकी मात्रा कोई विशेष नहीं है। साम्यवादियों और समाजवादी दलोंमें होने वाली गुटबाजीके परिणामस्वरूप इन दलोंका बार-बार विभाजन हुआ है। यों तो इन विभाजनोंको वैचारिक स्तर पर समझानेकी कोशिश की जाती है; परन्तु वास्तवमें तो यह गुटबाजीका ही उग्र रूप है। स्वतंत्र पार्टीकी दशा कांग्रेसकी अपेक्षा कोई बहुत अच्छी दिखाई नहीं देती। वास्तविकता तो यह है कि प्रजातांत्रिक राजनीतिमें लम्बे समयमें लाभ लेनेकी दृष्टिसे आवश्यक धीरज और अनुशासनका जो अभाव हमारे दलों और राजनीतिक नेताओंमें रहा है, वही इस गुटबाजीका मूल कारण है। मतदाता अभी तक किसी एक दलके प्रति निष्ठावान नहीं बन पाए है, अतः इस प्रकारकी गुटबाजी करनेवाले सफल हो जाते हैं।

दूसरी आश्चर्यजनक बात यह है कि दलमें संतुलन और प्रजातांत्रिक तत्वोंको बनाए रखनेमें ये गुट अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। कारण कि दल चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, पर दलका कोई भी नेता सर्वसत्ताधीश नही बन सकता। उसे सदा अपने साथियोंके सामने झुकना पड़ता है और उसे अपनी सत्ताकी सीमाका बोध सतत होता रहता है। गुटोंको समूल नष्ट करना तानाशाही दलोंकी अनिवार्य आवश्यकता है। दलकी एकताके नाम पर एक वर्ग या व्यक्ति सत्ताधीश बन बैठता है और दलमें अपनी असीम शक्तिका उपयोग कर राज्यसे भी प्रजातंत्रको लुप्त कर देता है। उस समय प्रजातंत्रमें वर्गोंके अस्तित्वके परिणामस्वरूप नए सदस्य, नए वर्ग, नए विचार और नई राजनीतिका दलमें आगमन हुआ करता है, चर्चाएं चलती रहती हैं और

विचारचक्र घूमता ही रहता है। इस तरह दलको नित्य नवीन और युवा बनाए रखनेमें वर्गोका अस्तित्व बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। अगर दलसे वर्ग नष्ट कर दिए जायँ तो अमुक वाद या सिद्धान्तकी जड़ें धीरे-धीरे इतनी मजबूत हो जाती हैं कि अन्ततः वह दल अंधा और संकीर्ण हो जाता है। श्री विंस्टन चर्चिलके कथनानुसार "मतभेद तो स्वास्थ्यकी निशानी है।" परन्तु अगर सिद्धान्तों, विचारों या कार्यक्रमोंके आधार पर वर्ग-रचना होती है, तभी उससे उक्त लाभ हो सकते हैं। सत्ता-प्राप्तिके ध्येयसे परिचालित वर्गवाद कुछ अंशोंमें दलमें संतुलन बनाए रखनेमें तो योग देता है, पर उससे अन्य कोई लाभ नहीं मिल पाता।

अन्तरिम सरकार

केन्द्रीय मंत्रिमण्डल (दिनांक २ सितम्बर, १९४६)

मंत्री		विभाग
पं० जवाहरलाल नेहरू	:	उपाध्यक्ष, विदेशविभाग, कामनवेल्थ-संबंधविभाग
सरदार वल्लभभाई पटेल	:	गृह, सूचना और आकाशवाणी
सरदार बलदेवसिंह	:	सुरक्षा
डॉ० जॉन मथाई	:	वित्त
श्री आसफअली	:	यातायात
डॉ० राजेन्द्रप्रसाद	:	कृषि और खाद्य
श्री जगजीवनराम	:	श्रम
श्री शफात अहमद खाँ	:	स्वास्थ्य और उद्योग
श्री अली ज़हीर	:	विधि, डाक तथा विमानन
श्री सी० राजगोपालाचारी	:	उद्योग तथा रसद
श्री शरच्चन्द्र बोस	:	निर्माण, खनिज और विद्युत
श्री सी० एच० भाभा	:	व्यापार

श्री जयप्रकाश नारायणका चौदह सूत्रीय कार्यक्रम

[४ मार्च १९५३को पण्डित नेहरूको प्रेषित]

१. संविधानमें संशोधन :

[अ] सामाजिक सुधारके वीचमें आनेवाली वाधाओंको दूर करना।

[आ] देशी राजाओं, राजपत्रित कर्मचारियों (सिविल सर्वेन्ट्स आदि)को दी गई गॉरण्टियोंको रद करना।

[इ] केन्द्र तथा राज्योंमें ऊपरी सदन (राज्यसभा और विधान परिषद्)को समाप्त करना।

२. प्रशासनिक सुधार :

[क] राजनीतिक और प्रशासनिक सत्ता सहित सभी क्षेत्रोंमें सभी स्तरों पर प्रशासनिक सुधार।

[ख] व्यवस्था और कानूनकी प्रणालीमें सुधार।

[ग] भ्रष्टाचार दूर करनेके लिए तत्काल कदम उठानेवाली तंत्र-व्यवस्था।

३. [अ] भाषागत, आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टिसे, उसके आधार पर भारतका प्रशासनिक नक्शा पुनः बनाना; ऊपरके स्तर निश्चित करनेके लिए पार्लियामेण्ट द्वारा आयोगकी नियुक्ति।

[आ] गवर्नरों, हाईकोर्टों और अन्य न्यायालयों तथा लोक सेवा आयोगोंका राज्यवार गठनके स्थान पर राज्योंके प्रदेशोंके आधार पर पुनर्गठन कर व्ययमें कमी करना।

४. भूमिका पुर्नविभाजन :

[क] आर्थिक असमानता और शोषण दूर करनेके लिए भूमिका पुर्नवितरण करना; इस संदर्भमें भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और गरीव किसानोंको अधिक पसंद करना।

[ख] जमीनकी वेदखलीके सभी कदमोंको रोक देना।

[ग] भूमिका छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँटना रोकना और विभागका संगठन कर सहायक सिद्ध होनेवाले अनुकूल नियमोंको वनाना।

[घ] अवशिष्ट जमींदारीके प्रकारोंकी समाप्ति।

[ङ] अनिवार्य वहु-उद्देश्यीय सहकारी समितियों द्वारा ग्रामीण अर्थ-तंत्रका सहकारी अर्थतंत्रमें रूपान्तर।

(च) राज्यकी ओरसे वहु-उद्देश्यीय समितियोंके द्वारा कृपिक्षेत्रमें धन तथा अन्य सुविधाओंकी सहायता देना।

[छ] यथासंभव अधिक मामलोंमें राज्य द्वारा किसानके साथ व्यक्तिगत व्यवहार करनेके वदले सहकारी समूहोंके साथ अथवा पंचायतों द्वारा व्यवहार करना। उदाहरणार्थ, लगान वसूल करना। इसकी अमुक आय वहु-उद्देश्यीय समितियों अथवा पंचायतों द्वारा गाँवमें ही रहे।

५. गाँवकी सामूहिक समितियों द्वारा खाली जमीनोंको फिर उपयोगमें लाना और उस पर भूमिहीन मजदूरोंको वसाना। धनी लोगोंको खेतीके लिए जमीन बिल्कुल न देना।

राष्ट्रीयकरण, सहकारी समितियाँ और ट्रेड यूनियन

६. वैंकों और वीमा कम्पनियोंका राष्ट्रीयकरण।

७. राज्याधिकृत व्यापारमें वृद्धि।

८. प्रत्येक राज्यमें अमुक निश्चित की हुई विविध प्रकारकी औद्योगिक इकाइयोंका स्वामित्व और उनका संचालन राज्य या सहकारी समितियों या स्वायत्त निगमों या कामदार काउंसिलोंके अधिकृत; राज्योंके उद्योगोंके लिए विशेषज्ञोंकी सलाह और प्रशासनिक कार्यकर्ताओंको प्रदान करनेके लिए टेक्नीशियनों और मैनेजरोंको तैयार करनेके लिए संस्थाका विकास करना।

९. 'यूनियन शाप'के स्तर पर ट्रेड यूनियन आन्दोलनका संगठन', इससे यूनियनें समाजके प्रति उत्तरदायी एजेन्सियाँ वनेंगी।

१०. कोयला और अन्य महत्वके द्रव्योंकी खानोंका राष्ट्रीयकरण।

११. राज्याधिकृत उद्योगोंमें कामदारोंका सहकार।

१२. लघु उद्योग :

वड़े और छोटे उद्योगोंके क्षेत्रोंको अलग करना, छोटे उद्योगोंको स्थापित करना, विकसित करना और उनके संरक्षणमें सहायता देना।

१३. आर्थिक समानता :

देशमें आर्थिक समानता स्थापित करनेकी दिशामें प्रथम कदमके रूपमें सरकारी नौकरियोंमें वेतन और दूसरी आर्थिक सुविधाओंका स्तर नीचा करना।

१४. स्वदेशी :

स्वदेशीकी भावना जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्यापक हो, इस दृष्टिसे उसे प्रोत्साहन देना।

१२ : समाजवादी दल और समाजवादी लोग

"समाजवादी नेता संगठनके मामलेमें हमेशा दुर्बल रहे हैं और समाजवादी दलका इतिहास संकटों, विग्रहों और निवृत्तिकी कथाओंसे भरा पड़ा है।"

—श्री हरिकिशोरसिंह : हिस्ट्री ऑफ सोशिलिस्ट पार्टी

सन् १९३४में कांग्रेस दलमें परम्परावादियोंके बढ़ते हुए प्राबल्यको कम करनेके लिए और देशमें मार्क्सवादी विचारधाराका प्रसार करनेके लिए अनेक उत्साही युवकोंने—श्री जयप्रकाश नारायण, श्री मेहर अली, श्री अच्युत पटवर्द्धन, श्री मीनू मसानी, श्री अशोक मेहता, श्री एस० एम० जोशी और श्री गोरे आदिने—कांग्रेसके एक दलके रूपमें कांग्रेस समाजवादी दलकी स्थापना की। आचार्य नरेन्द्र देव और डॉ० राममनोहर लोहिया भी उसमें सम्मिलित हुए। पं० नेहरू और श्री सुभाषचंद्र बोसने इस वर्गके प्रति अपनी ममता तो दिखाई; परन्तु वे इससे अलग ही रहे। कांग्रेसकी नीतिकी प्रगतिशील दृष्टिसे समीक्षा करने और उस पर अपना वैचारिक प्रभाव फैलानेके हेतुसे स्थापित यह समाजवादी दल सदा सीमित ही रहा। सन् १९४८में भी उसकी सदस्य-संख्या लगभग बारह हजार आँकी जाती थी। मजदूर संगठनों, किसानों और विद्यार्थी-संगठनोंमें इस वर्गने काफी अच्छा काम किया और खूब लोकप्रिय भी हुआ। समाजवादी विचारधारामें विश्वास रखनेवाले सभी वर्गोंकी एकताका स्वप्न साकार करनेके लिए प्रयत्नशील श्री जयप्रकाश नारायणके सतत आग्रहके कारण इस वर्गने साम्यवादियोंके साथ मिलकर संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चेके रूपमें काम किया। परिणाम यह हुआ कि इनके द्वारा स्थापित मजदूर और विद्यार्थी संगठनोंमें साम्यवादियोंने अपना प्रभाव जमा लिया। इस प्रकारके गठबन्धनके कारण समाजवादी दलको बहुत हानि सहन करनी पड़ी है, जिसे श्री जयप्रकाश बाबूने बहुत बादमें स्वीकार भी किया है।

इन उद्दामवादी युवकोंको गांधीजीकी विचारधारा अतिशय रसहीन प्रतीत हुई। अहिंसाके सिद्धान्तमें उन्हें विश्वास न था और अंग्रेजी शासकोंका किंचित भी विश्वास करनेके लिए वे तैयार नहीं थे। सन् १९३५के संविधानका उन्होंने कड़ा विरोध किया और सन् १९३७के चुनावोंका बहिष्कार किया। सन् १९४२में कांग्रेसी नेताओंकी गिरफ्तारीके बाद आन्दोलनका नेतृत्व उन्होंने सम्हाल लिया। 'करो या मरो'की उत्कट भावनासे भरे इन समाजवादी नेताओंने स्वातंत्र्य-संग्राममें बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ और हिंसाका काम किया और करवाया। देशभक्ति और बलिदानके मार्ग पर सब कुछ होम कर उतर पड़ने वाले इन समाजवादी नेताओंकी लोकप्रियतामें बेहद वृद्धि हुई।

स्वतंत्रताकी लड़ाई पूरी होनेके बाद श्रमिक प्रवृत्तियोंमें रुचि लेने और साम्यवादियों द्वारा स्थापित प्रभावको हटानेके लिए अपने झण्डेके नीचे स्वायत्त संस्था खड़ी करनेके कांग्रेसके निर्णयका समाजवादी नेताओं द्वारा कड़ा विरोध हुआ; क्योंकि उनकी मान्यता थी कि यह क्षेत्र उनका

अपना है। कांग्रेसमें विभिन्न वर्गोंके लिए स्थान नहीं होना चाहिए, ऐसा माननेवाले सरदार पटेलने साम्यवादियोंको निकाल बाहर करनेके बाद समाजवादियों पर भी हाथ साफ किया। फलत: १९४६-४७में समाजवादियों और कांग्रेसके बीच दरार बढ़ी और बढ़ती ही गई। अन्तत: कांग्रेसके संविधानमें इस प्रकारका सुधार किया गया कि कांग्रेसमें अलग वर्ग या पक्ष रह ही नहीं सकता। अन्तमें, फरवरी १९४८में नासिक अधिवेशनमें कांग्रेससे स्वतंत्र एक समाजवादी दलकी स्थापना की गई। अपने प्रति प्राप्त व्यक्तिगत सम्मानको दलकी शक्ति समझ लेनेवाले ये कार्यकर्ता अपने मनमें हवाई किले बना रहे थे। दलकी सदस्य-संख्या बढ़ानेका निर्णय हुआ और लगभग तीन लाख सदस्य बनाए गए। समाजवादी नेताओंने उत्साहपूर्वक दलका निर्माण और संगठन करना आरम्भ कर दिया और कांग्रेसके समक्ष बैठ सकनेवाला वह एकमात्र समर्थ और सुदृढ़ विरोधपक्ष है, यह मानने और कहने लगे। गैर-साम्यवादियोंके साथ—विशेषत: आचार्य कृपालानीके 'किसान-मजदूर प्रजादल'के साथ—चुनाव, संगठन या विवेक पैदा करनेमें उन्हें कड़ी मेहनत करनी पड़ी; फिर भी उसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। मात्र केरलमें वह मुस्लिम लीगके साथ सम्बन्ध स्थापित कर सके। सन् १९५४के चुनावोंके परिणामोंने उनकी सारी आशाओं पर एक करारा आघात किया। कांग्रेसकी तुलनामें उसके चौथाई भागके मत भी वे प्राप्त नहीं कर सके और उन्हें प्राप्त मत सारे देशमें फैले हुए होनेके कारण वे लोक-सभामें कुल बारह और विधानसभाओंमें १२५ स्थान ही पा सके।

लगभग ऐसा ही अनुभव 'किसान-मजदूर प्रजादल'को हुआ। कांग्रेस दलमें आचार्य कृपालानी और श्री रफी अहमद किदवई द्वारा स्थापित 'प्रजातांत्रिक मोर्चे'के विघटनके बाद मतभेदों और खटपटोंके कारण सत्ताच्युत आचार्य कृपालानी, श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष और श्रीप्रकाशम् जैसे नेताओंने अलग-अलग स्थानीय दलोंकी स्थापना की थी। मई १९५१में श्री कृपालानीजी कांग्रेससे हट गए और जूनमें पटनामें इन सभी दलोंने एकत्र होकर 'किसान-मजदूर प्रजादल'की स्थापना की। इस प्रक्रियाकी समीक्षा करते हुए श्री मायरोन वाइनरने कहा है कि "अलग-अलग दलों और उनके नेताओंकी सत्ता-क्षुधाने उनके हेतुओंमें निर्णायक भूमिका अदा की।"

किसान-मजदूर प्रजादलके नेताओंको अपनी शक्ति और लोकप्रियता पर इतना विश्वास था कि पंडित नेहरू द्वारा कांग्रेसमें वापिस आनेके निमंत्रणको उन्होंने अस्वीकृत कर दिया और चुनाव-गठबन्धनकी समाजवादी दलकी प्रार्थनाको भी ठुकरा दिया। लेकिन चुनावके परिणामोंने उनकी आँखें खोल दीं। इस दलको लोकसभामें केवल सात और राज्योंकी विधानसभाओंमें केवल ७७ स्थान ही मिले। श्री कृपलानीजी समाजवादी दलके साथ मिल जानेको अधीर हो उठे और दोनों दलोंके बहुतसे सदस्य इस गठबन्धनके विरुद्ध होने पर भी अगस्त १९५२में इन दोनों दलोंको मिलाकर एक नए प्रजा समाजवादी दलकी रचना हुई। इस गठबन्धनका निर्णय केवल शीर्षस्थ नेताओंके द्वारा लिया गया था, इसके कारण उसमें प्रजातांत्रिक परम्पराओंका पालन नहीं किया गया, ऐसा श्री अजय घोषका कथन उचित ही है। इस मिलनसे समाजवादी आन्दोलनको बहुत हानि हुई। सन् १९५७के आम-चुनावके एक सर्वेमें श्री सादिक अली लिखते हैं : "किसान-मजदूर प्रजादल और बादमें फार्वर्ड ब्लाकसे मिल जानेके कारण समाजवादी

दलके महत्वमें वृद्धि तो हुई, पर अधिक सदस्य और बौद्धिक सामग्रीके आगमनसे प्रजा-समाजवादी दलकी शक्तिमें कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई।" उक्त बातकी प्रतीति जल्दी ही हो जाती है। वैचारिक विभिन्नता और नेताओंके आपसी व्यक्तिगत स्तर पर एक-दूसरेके अनुकूल बन जानेकी शक्तिके अभावमें यह दल कमजोर होने लगा और इसमें विग्रह उत्पन्न हो गया। श्री हरिकिशोर सिंहके उल्लेखानुसार "जन्मके दिनसे ही दल विग्रहों और मूलभूत विभिन्नताओंसे पीड़ित रहने लगा।"

सतत चल रहे इन झगड़ों और मतभेदोंसे थककर प्रजा-समाजवादी दलके अनेक अग्रगण्य नेता धीरे-धीरे हटने लगे अथवा निष्क्रिय होते गए। फरवरी १९५३में राष्ट्रके नवनिर्माणके काममें प्रजा-समाजवादी नेताओंका सहयोग प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पंडित नेहरूने श्री जयप्रकाश नारायणको वार्ताके लिए दिल्ली बुलाया और प्रदेश तथा केन्द्रीय स्तर पर मंत्रिमण्डलमें सम्मिलित होनेका निमंत्रण दिया। विश्वके किसी भी देशमें किसी भी विजेता दलने किसी भी पराजित पक्षको इस तरहकी सुविधा देनेका प्रस्ताव नहीं रखा। परन्तु श्री जयप्रकाश नारायणने चौदह सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया और यह आग्रह किया कि इसे पहले स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। पं० नेहरू द्वारा किसी कार्यक्रमसे पहलेसे ही बँध जाना अस्वीकृत कर दिया और यह बातचीत यहीं समाप्त हो गई। दोनों दलोंमें बहुत-से लोग ऐसी व्यवस्थाके विरुद्ध थे। बहुत-से कांग्रेसी नेता अनावश्यक रूपसे अपनी सत्तामेंसे हिस्सा बँटाना नहीं चाहते थे और कांग्रेसके उपांगके रूपमें सरकारी दायित्व उठानेमें समाजवादी नेताओंको ऐसा भय था कि अपने पैरों पर खड़ा हो रहा यह उनका दल कुचल दिया जायगा। परन्तु राष्ट्र-निर्माणके लिए ऐसा सहयोग स्थापित करनेका यह विचार जीवन्त रहा। प्रजा-समाजवादी दलके बेतूल अधिवेशनमें श्री अशोक मेहताने अपने 'ऑन कम्पलजन्स आफ बेकवर्ड इकोनॉमी' नामक एक निबन्धमें आर्थिक निर्माणके कार्यक्रममें कांग्रेससे सहयोग करनेका अनुरोध किया। लेकिन काफी विचार-विमर्शके बाद यह विचार छोड़ दिया गया। अक्तूबर १९५३में आंध्रके मुख्यमंत्री बननेके लोभसे श्रीप्रकाशम्के पुनः कांग्रेसमें मिल जानेसे दलको जबरदस्त धक्का पहुँचा। केरलमें त्रावणकोर-तमिलनाड् नेशनल कांग्रेस द्वारा संचालित भाषा-विषयक आन्दोलनके समय प्रजा-समाजवादी मुख्यमंत्री श्री पट्टम् थाणु पिल्लैकी सरकार द्वारा कराए गए गोलीकाण्डकी समाजवादी नेता डा० लोहियाने कटु शब्दोंमें आलोचना की। नागपुरके अधिवेशनमें इस प्रश्न पर गरमागरम चर्चा हुई और कार्यकारिणीके सभी सदस्योंने त्यागपत्र दे दिया। इस संकटका जैसे-तैसे निवारण किया गया। परन्तु १९५४में कांग्रेसके आवड़ी अधिवेशनमें कांग्रेस द्वारा 'समाजवादी समाज-रचना विषयक' पारित प्रस्तावका श्री अशोक मेहताने स्वागत किया, लेकिन सोशलिस्ट नेता श्री मधु लिमयेने इस प्रस्तावको 'मतदाताओंके साथ धोखा देनेका काम' मानकर इसका 'चुनाव स्टंट'के रूपमें परिचय दिया। प्रजा-समाजवादी दलके नौ कार्यकर्ताओंने श्री मधु लिमयेके इस कथनको चुनौती दी और उनकी व्यक्तिगत और कटु आलोचनाएँ कीं, इतना ही नहीं, बल्कि यह मांग भी की कि कांग्रेस द्वारा समाजवादी ध्येय स्वीकार किए जानेके कारण उसके साथ सहयोग करनेके प्रश्न पर पुनः विचार किया जाय। श्री मधु लिमयेने उन्हें तीखे शब्दोंमें अपमानित ही नहीं किया, बल्कि यहाँ तक कह दिया कि दलके द्वारा लिए गए निर्णयको षड्यंत्रपूर्वक बदलनेकी श्री अशोक मेहता साजिश कर रहे हैं। दलके अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेवने पुनर्विचारकी मांगकी आलोचना की; परन्तु श्री अशोक मेहता पर निराधार आक्षेप करनेके कारण श्री मधु लिमयेको उनसे क्षमा-याचना

करनेका आदेश दिया। वातावरण इतना विषाक्त हो गया कि किसी भी प्रकारके समाधान या जोड़तोड़के लिए अवकाश ही नहीं रह गया। बादमें प्रजा समाजवादी दलकी वम्वई शाखाकी वैठकमें इस तथा अन्य मामलोंके बारेमें उग्र विवाद हुआ और मार्च १९५५में श्री मधु लिमये सहित अन्य इक्कीस सदस्योंको पार्टीसे निलम्बित कर दिया गया। डॉ० राममनोहर लोहियाने वम्वई शाखाके लोगोंको 'लकवाग्रस्त समाजवाद'के पुरस्कर्त्ता बताकर निलम्बित सदस्योंके लिए उत्तर प्रदेशमें प्रवचन-प्रवासकी व्यवस्था कर दी। दलकी कार्यकारिणीने डॉ० लोहियाकी दी गई चेतावनीकी अवगणना की और डॉ० लोहियाने घोषणा की कि "लकवाग्रस्त और नपुंसक प्रजा-समाजवादी अगर चार-छः महीनेमें नहीं सुधर जाते तो युवा और क्रियाशील दलकी स्थापना करनी पड़ेगी।"

इसके वाद प्रजा-समाजवादी दलकी उत्तर प्रदेश शाखाके कार्यकर्ताओंके एक सम्मेलनका शुभारम्भ डॉ० राममनोहर लोहियाके निकटतम साथी श्री मधु लिमयेके हाथों करवाया गया और दलकी केन्द्रीय कार्यकारिणीके दबावका सामना करनेके लिए डॉ० लोहियाने इस शाखाको अभिनन्दन दिया। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश शाखाको निलम्बित कर दिया गया और डॉ० लोहियाके नेतृत्वमें अलग समाजवादी दलका गठन हुआ तथा सत्याग्रह और आन्दोलनोंके समान सीधी कार्यवाहीके द्वारा उसे मजबूत बनानेकी कोशिश की गई। इन दोनों वर्गोंके बीच एकता स्थापित करनेके लिए श्री जयप्रकाश नारायणने १९५७में मंत्रणाएं आरम्भ कीं, पर उन्होंने उसे अधूरा ही छोड़ दिया। इस झगड़ेके खराव परिणाम १९५७ और १९६२के चुनावोंमें नज़र आए और आन्तरिक कलह, स्पष्ट और विशिष्ट राजनीतिका अभाव, नेताओंमें संगठन शक्तिकी कमी तथा साथियोंकी कमी—इन सब कारणोंसे समाजवादी दल राष्ट्रीय दलोंमें सवसे निचली पैढ़ी पर उतर आए।

दिन बीतते-बीतते दोनों वर्गोंमें एकताकी भावना बढ़ने लगी। अक्तूबर १९६२में उत्तर प्रदेशमें प्रजा-समाजवादी और समाजवादी दलोंकी स्थानीय शाखाओंने अपने-अपने वरिष्ठ नेताओंसे विना पूछे ही एक गठजोड़ कर लिया। परन्तु यह गठजोड़ अधिक समय तक चल नहीं पाया। इससे केवल इतना ही लाभ हुआ कि इसके कारण गठजोड़ करने वाले प्रवाहोंको शक्ति प्राप्त हुई।

जून १९५३में कांग्रेसको सत्तासे उखाड़ फेंकनेके लिए उग्र कदमोंका अनुमोदन करने वाला प्रस्ताव प्रजा-समाजवादी दलने स्वीकार कर लिया, लेकिन श्री अशोक मेहताने और उनके साथियोंको वह पसंद नहीं आया; अतः वे दलमें निष्क्रिय हो गए। सितम्बर महीनेमें श्री अशोक मेहताने योजना-आयोगके उपाध्यक्ष-पदको स्वीकार कर लिया और बहुत-से साथियोंको लेकर वे कांग्रेसमें शामिल हो गए। तदुपरान्त १९६४के प्रारम्भमें दोनों समाजवादी दलोंने शर्तहीन गठवन्धन कर संयुक्त समाजवादी दलकी स्थापनाकी घोषणा की। लेकिन नेताओंके बीच परस्पर अविश्वासकी भावना और व्यक्तिगत मनोमालिन्यके कारण यह निर्णय थोड़े समयके लिए भी नहीं टिक सका। संयुक्त दलकी अधिकृत स्थापनाके लिए सन् १९६५के आरम्भमें वुलाए गए अधिवेशनमें विग्रह उत्पन्न हुआ और प्रजा-समाजवादी दलको नए सिरेसे सजीव किया गया। यह बात दूसरी है कि अधिकांश सदस्य और नेता संयुक्त समाजवादी दलमें ही वने रहे।

डॉ० राममनोहर लोहिया
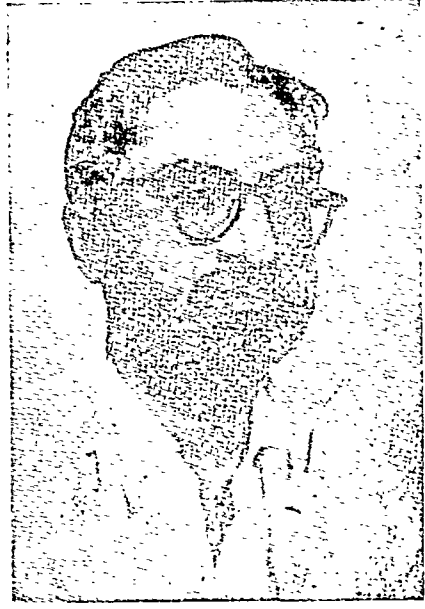
श्री अशोक मेहता

सन् १९६२के बाद डॉ० लोहियाके नेतृत्वमें समाजवादी दलने संसदीय प्रवृत्तिका महत्व स्वीकार किया और संसदमें अपने मन्तव्योंको आवेगपूर्वक और विशद रूपसे प्रस्तुत कर सरकारी प्रशासनकी अव्यवस्था, अन्याय और घोटालोंकी वखिया उधेड़नेके कारण समाजवादी संसद सदस्य काफी प्रसिद्ध हो गए। कभी-कभी तो आवश्यकता पड़ने पर संसदके दोनों सदनोंमें भी शोर-शरावा कर उन्होंने अपनी वातोंको सत्य सिद्ध करनेका आग्रह रखा। परन्तु उनका संगठन उनकी आवाज़की अपेक्षा अत्यन्त कमज़ोर ही रहा है। सन् १९६७के चुनावमें उत्तर प्रदेश और विहारमें कांग्रेसकी कमजोरियोंका पूरा लाभ समाजवादियोंको मिला है; परन्तु प्रजा-समाजवादी दल राष्ट्रीय क्षेत्रमें तो लगभग समाप्त प्राय-सा ही हो गया है।

व्यक्तिगत झगड़ों, परस्पर एक-दूसरेके अनुकूल न हो पानेकी कुशलताका अभाव और अनुशासन-हीनता आदि कारणोंसे दोनों समाजवादी दलोंके नेता वौद्धिक प्रतिभा, जोश, ध्येय, निष्ठा और मननशीलताके अनुपातमें भारतीय राजनीतिको अपना योग-दान नहीं कर सके। समाजवादी दलोंने अपने ध्येय और कार्यक्रमोंको सदा ओजस्वी और प्रभावशाली ढंगसे प्रस्तुत किया है। उनके इन कार्यक्रमोंकी समीक्षा करनेसे किसी विशेष उपलब्धिकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि उनके कार्यक्रम आदर्शके मायाजगत्‌में ही विचरण करते रहे हैं। इन कार्यक्रमोंको अमलमें लानेका पूरा अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल पाया है और संयुक्त मोर्चेके अंगरूप जो कुछ थोड़ा-वहुत अवसर उन्हें मिला भी था, उसमें भी उन्होंने कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं की। प्रजा-समाजवादी दल वहुधा निष्क्रिय स्वप्न-दर्शियों और संयुक्त समाजवादी दल जोशीले आन्दोलनकारियोंके दल वन गए हैं। अव तो यह हो रहा है कि संयुक्त समाजवादी दलके भूतपूर्व नेताओं द्वारा अपनाई गई अनुशासनहीनता उनके अनुयायी वर्गमें तेज़ीसे फैलती जा रही है, अतः उसके विकासके सम्वन्धमें कुछ अच्छी आशाएँ नहीं रखी जा सकतीं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके नेता
श्री महादेव सदाशिव गोलवलकर (गुरुजी)
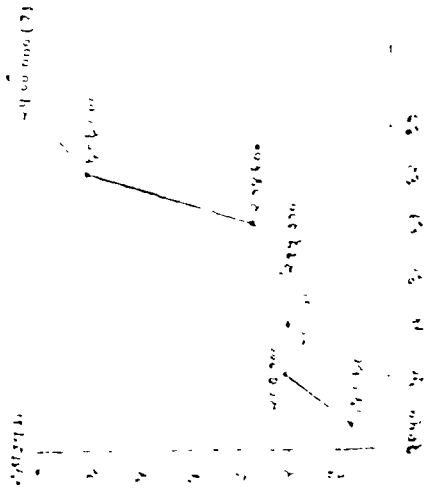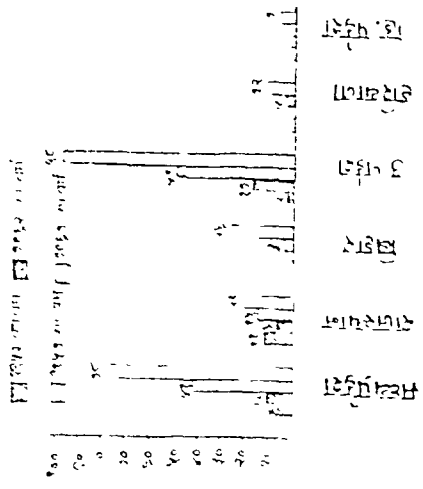
भारतीय जनसंघके संस्थापक
डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी

१३ : भारतीय जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी

जनसंघ

जनसंघके मूलभूत स्वरूप और उसके अंतिम उद्देश्यको लेकर जितनी उग्र चर्चा होती रही है, उतनी भारतके किसी भी अन्य राजनीतिक दलके बारेमें नहीं होती। बहुत-से देशी और विदेशी पर्यवेक्षक इसे हिन्दू सम्प्रदायवादी दल मानते हैं। पंडित नेहरूने तो इसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघकी अवैध (illegitimate) संतानके रूपमें घोषित किया है। जनसंघके प्रणेता और समर्थक इन आक्षेपोंको निराधार मानकर इनको दृढ़तासे अस्वीकार करते हैं और यह कह कर अपना बचाव करते हैं कि केवल बदनाम करनेके लिए उन पर सम्प्रदायवादी लेबिल लगाया जाता है।

जनसंघका सही स्वरूप जाननेके लिए यह ध्यानमें रखना चाहिए कि उसकी स्थापना दो स्वायत्त परिबलोंके संयोगका परिणाम है। डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी हिन्दू सम्प्रदायवादी नेता थे और सन् १९४३में वे हिन्दू महासभाके अध्यक्ष भी बने थे। स्वतंत्रता-प्राप्तिके बाद और विशेषतः गांधीजीकी हत्याके बाद उन्होंने हिन्दू महासभाको राजनीतिक प्रवृत्ति छोड़ देनेकी सलाह दी थी और यह घोषणा कर कि अगर भारतको महान् राष्ट्र बनाना हो तो सम्प्रदायवादी पूर्वाग्रहों और आवेशोंको छोड़ना पड़ेगा, हिन्दू महासभासे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। पाकिस्तानके प्रति भारतकी अत्यधिक उदार नीतिके सम्बन्धमें मतभेद होनेके कारण उन्होंने केन्द्रीय मंत्रिमण्डलसे त्यागपत्र दे दिया और उन्हें एक ऐसे राजनीतिक दलकी आवश्यकता अनुभव होने लगी, जो उनके उग्र राष्ट्रवादी विचारोंका वाहन बन सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी उस समय इसी आवश्यकताको अनुभव कर रहा था। नागपुरके डॉ० हेडगेवार द्वारा दो दशकों पूर्व स्थापित यह गैर-राजनीतिक संघ हिन्दू युवकोंमें व्यायाम, सैनिक प्रशिक्षण और हिन्दुत्वके गौरवका प्रचार करता रहा था। जैसे-जैसे सम्प्रदायवादी भावनाएँ उत्तेजित होती गई, त्यों-त्यों उसका प्रचार बढ़ता गया। हिन्दू-मुसलमानोंके बीच झगड़ोंके समय हिन्दुओंके रक्षकके रूपमें यह सर्वत्र फैलने लगा। अनेक आत्म-त्यागी और सन्निष्ठ कार्यकर्ताओंवाले और लगभग सैनिक अनुशासन और पद्धति पर संगठित हुए इस दलके सर-संचालक श्री एम० एस० गोलवलकर सभी स्वयंसेवकोंके 'गुरु'के रूपमें भक्ति और समर्पणके केन्द्र बने। भारतीय अर्थात् हिन्दू—इस अर्थमें हिन्दू संस्कृति श्रेष्ठ है, हिन्दू संस्कृति भारतकी एकमात्र संस्कृति है, हिन्दुत्वकी भावना उग्र और आधुनिक राष्ट्रवादकी नींव बननी चाहिए और सभी हिन्दू अल्पमतको भारतीय अर्थात् हिन्दू-संस्कृतिके प्रवाहमें सम्मिलित हो जाना चाहिए, इस प्रकारकी विचारधाराका वे जोर-शोरसे प्रचार कर रहे थे। पुरुषोचित शिक्षा, अनुशासनबद्धता और संघ शक्तिसे आकृष्ट युवकोंके मनमें ये विचार तेजीसे रूढ़ होते गए और तदनुसार वे कट्टर और जनूनी हिन्दू बन गए। विभाजनके समयसे साम्प्रदायिक संकीर्णता और उपद्रवोंके कारण यह संघ

निराश्रितोंमें और बड़े भागके हिन्दुओंमें—विशेषतः मध्यम वर्गके, नगरके तथा पढ़े-लिखे हिन्दुओंमें अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। मुसलमान इस संघसे बहुत घबराते थे।

गांधीजीका हत्यारा गोडसे इस संघका भूतपूर्व सदस्य था। गांधीजीकी हत्याके बाद संघको गैरकानूनी घोषित कर दिया गया और उसके अनेक कार्यकर्ताओंको कारावासमें डाल दिया गया। संघ परसे प्रतिबन्ध उठा लिए जानेके बाद, राजनीतिक क्षेत्रमें अपना समर्थन कर सके, ऐसे किसी दलकी आवश्यकताके सम्बन्धमें कार्यकर्ताओंमें उग्र चर्चा चल रही थी और उनमेंसे कितने ही लोग इस मतके थे कि संघको सीधे ही राजनीतिमें प्रवेश कर लेना चाहिए। वरिष्ठ नेतागण—विशेषतः श्री गोलवलकर—इस कदमका विरोध कर रहे थे। संघके कितने ही कार्यकर्ता डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जीसे मिले। श्री मुकर्जी उनका सहयोग लेनेके लिए तैयार थे, पर उन्होंने दो शर्तें प्रस्तुत कीं: एक तो उनके नेतृत्वमें चलनेवाला दल भारतके सभी नागरिकोंके लिए खुला रहना चाहिए। दूसरा, इस दलका ध्येय 'हिन्दू' नहीं, बल्कि भारतीय राष्ट्रका निर्माण करना और भारतीय संस्कृतिकी प्रतिष्ठा करना होगा। ये दोनों शर्तें स्वीकार कर ली गईं। डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी भारतीय राष्ट्र और संस्कृतिमें शायद सभी सम्प्रदायों और धर्मोंका समावेश कर लेना चाहते थे। परन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके लिए हिन्दू और भारत दोनों पर्यायवाची शब्द थे। जनसंघके नेताओंमें अर्थान्तरकी विभिन्नता अभी तक चल रही है। सन् १९५१के अक्तूबर मासमें अखिल भारतीय जनसंघकी स्थापना की गई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके ध्येयनिष्ठ और योग्य कार्यकर्ताओंके बड़ी संख्यामें इस दलमें आ जानेसे अत्यन्त अल्प समयमें ही दलका सुव्यवस्थित और मजबूत संगठन खड़ा हो गया।

इस प्रकार, जनसंघकी स्थापना सम्प्रदायवादी और गैर-सम्प्रदायवादी दोनों परिबलों द्वारा भूमिका अदा होनेके कारण हुई और वह दोनों तत्व अभी तक उसमें मौजूद हैं। जनसंघको सम्प्रदायवादी संस्था मानने या न माननेका आधार यह है कि आप किस तत्वको प्राधान्य देते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघके बीच किसी भी प्रकारका औपचारिक सम्बन्ध नहीं है। जनसंघके पदाधिकारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके पदाधिकारी नहीं हो सकते। भारतीय जनसंघमें मुसलमानों सहित गैर-हिन्दू सदस्य भी हैं और उनमेंसे कुछ तो ऊँचे पद पर भी हैं। प्रत्येक चुनावमें जनसंघकी ओरसे कितने ही गैर-हिन्दू प्रत्याशी खड़े किए जाते हैं और जनसंघके नेताओंने स्वयं हिन्दुत्ववादी होना बारबार बलपूर्वक अस्वीकार किया है। दूसरी ओर देखें तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघमें बहुत अधिक विचार-साम्य है। उनके बहुत-से कार्यकर्ता राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके भूतपूर्व कार्यकर्ता हैं और जनसंघके चुनाव प्रचारका बहुत कुछ कार्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके कार्यकर्ता ही करते रहते हैं। सन् १९६२के चुनावके समय पूनामें जनसंघके प्रत्याशीका मनोनयन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके संचालकके साथ बातचीतके बाद निश्चित किया गया था, जिसका उल्लेख प्रो० सिर्सिकरने 'इंडियन वोटिंग विहेवियर'में किया है। जनसंघके अध्यक्ष अनेक बार बदले हैं, परन्तु उसके महामंत्रीका पद पंद्रह वर्षों तक सम्हालनेवाले श्री दीनदयाल उपाध्याय, गुरुजी श्री एम० एस० गोलवलकरके विश्वासपात्र साथी माने जाते थे और महामंत्रीका पद छोड़नेके

बाद वे जनसंघके अध्यक्ष बन गए थे। जनसंघ पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने अपना अधिकार जमा रखा है, यह कह कर उसके विरोधमें जनसंघके अध्यक्ष पंडित मौलिचन्द्र शर्माने सन् १९५४में त्यागपत्र दे दिया था और १९६०में जनसंघ पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके अधिकारके विरोधमें श्री शनवलदासने जनसंघकी दिल्ली शाखाके कार्यालयके सामने अनशन आरम्भ किया था।

जनसंघकी विचारधारा कट्टर राष्ट्रवादसे भरी हुई है और वे पाकिस्तानके प्रत्येक कदमका तीव्र विरोध करते हैं। मुसलमान और ईसाइयोंके प्रति उसके कार्यकर्ताओं द्वारा और उसके समाचार-पत्रोंमें आशंकाएं व्यक्त होती रही हैं; हिन्दू कोडबिलका उन्होंने विरोध किया था और गोहत्याके विरुद्ध उन्होंने बार-बार आन्दोलन चलाया है; चौथे चुनावमें उन्होंने गोहत्याको प्रमुख प्रश्न बनाकर हिन्दुओंकी धार्मिक भावनाओंको उत्तेजित किया था और बड़े पैमाने पर गड़बड़ मचाई थी। जनसंघने रूढ़िग्रस्त हिन्दू-दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। उसने अस्पृश्यताको कभी समर्थन नहीं दिया और धर्मपरिवर्तन करनेवालोंकी शुद्धि हो, इसके प्रति सहानुभूति होने पर भी उसमें आगे बढ़कर हिस्सा नहीं लिया। इसके विपरीत इसके कितने ही अध्यक्षोंने ईसाई मिशनरियोंकी प्रशंसा भी की है।

दलके सदस्योंकी भांति उसकी विचारधारा और कार्यक्रम भी मिश्रित प्रकारके हैं। जमीनके स्वामित्वकी उच्चतम सीमा, योजना और उच्चोच्च तथा निम्नतम आयके विषयमें जनसंघका कार्यक्रम किसी भी उद्दामवादी दलसे टक्कर ले सकता है। परन्तु धार्मिक, सांस्कृतिक और विशेष रूपसे साम्प्रदायिक मामलोंमें उसका दृष्टिकोण आधुनिकताकी अपेक्षा भूतकालकी ओर झुकता हुआ प्रतीत होता है। उग्र और एकमात्र राष्ट्रभक्ति उनके कार्य-क्रमकी आधारशिला है और राष्ट्रहितको नुकसान पहुँचानेवाली किसी भी राजनीतिको यह बर्दाश्त करनेके लिए तैयार नहीं। यह विचारधारा इनमेंसे बहुत-से लोगोंको युक्तिसंगत लगती है कि अगर मुस्लिमोंके लिए अलग राष्ट्रकी स्थापना हुई है तो सभी मुसलमानोंको वहाँ भेज देना चाहिए या फिर पाकिस्तानको हिन्दुस्तानमें मिलाकर अखण्ड हिन्दुस्तान खड़ा कर देना चाहिए। राष्ट्रभक्तिमें द्विधा पैदा करनेवाले समवायतंत्रके वे विरोधी हैं और भारतमें एकतंत्रीय शासनके स्वप्न देख रहे है। सैनिक बलके उपयोगका आग्रह रखने वाला जनसंघ देशमें सैनिक शिक्षा और परमाणु शस्त्रोंके उत्पादनका पक्का समर्थक है। उनकी इस युद्धप्रिय और उग्र राष्ट्र-भक्तिके कारण अनेक लोगोंको प्रजातांत्रिक मूल्यों और राज्यपद्धतिके प्रति उनकी पक्ष निष्ठाके विषयमें आशंका होने लगती है। परन्तु ऐसे किसी भी निश्चित कथनके लिए प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

जनसंघकी सदस्य-संख्याके विषयमें कुछ भी अनुमान करना संभव नहीं है। सन् १९५७में उसके सदस्योंकी संख्या ७४,८६३ थी, जो बढ़कर १९६१में २,७४,९०७ हो गई। तत्पश्चातके प्रामाणिक आंकड़े प्राप्त नहीं हो पाते, पर उसकी संख्या सन् १९६८में लगभग तेरह लाख अनुमानित की गई है। चुनाव-परिणामोंकी दृष्टिसे देखें तो इस दलकी शक्ति कम होते हुए भी उसमें सतत वृद्धि होती रही है। लोकसभामें तीन सीटोंसे आरम्भ कर पिछले चुनावमें जनसंघने ३५ सीटें प्राप्त की हैं और राज्य विधानसभाओंमें उसके सदस्योंकी संख्या ३३से बढ़कर सन् १९६७में २६४ तक पहुँच गई है। साथ ही जनसंघ द्वारा प्राप्त मतोंकी मात्रा तीन प्रतिशतसे बढ़कर नौ प्रतिशत तक पहुँच गई है। इस उत्तरोत्तर सफलताका श्रेय केवल उसके कार्यकर्ताओंके हिस्से जाता है। डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जीके

अवसानके बाद आम जनताको अपनी ओर आकृष्ट कर सके, ऐसा कोई नेता जनसंघको मिल नहीं पाया। परन्तु एकनिष्ठ और जोशीले कार्यकर्ताओंकी जितनी संख्या जनसंघके पास है, उतनी आज शायद किसी भी अन्य दलके पास नहीं है। सतत प्रगतिके कारण दलके कार्यकर्ता और नेताओंमें इतना अधिक आत्मविश्वास है कि स्वतंत्र पार्टीके गठबन्धनके प्रस्तावको उन्होंने ठुकरा दिया है। यह दल मुख्यतः उत्तरप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और मध्यप्रदेशमें अपनी जड़ें जमा सका है। दक्षिणी राज्योंमें इसका कोई विशेष जोर नहीं है और यहाँ तक कि बंगाली निराश्रितोंकी बड़ी संख्या वाले बंगालमें भी वह मृत-प्राय हो गया है।

सामाजिक क्षेत्रमें कट्टर विचारधारा रखनेवाला यह दल आर्थिक क्षेत्रमें परम्परावादी दृष्टिकोण रखनेवाली स्वतंत्र पार्टीके साथ अधिकाधिक मात्रामें सहयोग स्थापित कर रहा है। सन् १९६१से इन दोनों दलोंके बीच विचार-विनिमय करने और अपने-अपने साहित्यका आदान-प्रदान करनेका क्रम विकसित हुआ है और दोनों दलोंके अनेक नेतागण इन दोनों दलोंको एक दूसरेके साथ मिला देनेका समर्थन सार्वजनिक रूपसे करते हैं। जनसंघ सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रमें पुरातनपंथी होने पर भी आर्थिक दृष्टिसे प्रगतिवादी है और स्वतंत्र दल आर्थिक विचारधारामें अत्यन्त पिछड़ा हुआ होने पर भी अन्य क्षेत्रोंमें अत्यन्त प्रगतिशील है। इन दोनों दलोंके सम्मिलनसे उत्पन्न नए दलका वैचारिक स्थान निश्चित करना अत्यन्त कठिन है और इस प्रकारका मिलन स्थापित करना आसान भी नहीं है; क्योंकि विदेश-नीति, साम्प्रदायिक सद्भाव, राजनीतिक तंत्र-रचना और अर्थतंत्रके विषयमें इन दलोंके दृष्टिकोणोंमें साम्यकी अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है।

स्वतंत्र पार्टी

भारतके प्रमुख दलोंमें सबसे कम समयमें राष्ट्रीय राजनीतिमें अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेनेवाला यह दल पुराने नेताओं—श्री सी० राजगोपालाचारी, प्रो० रंगा, श्री मीनू मसानी, श्री के० एम० मुंशी आदि द्वारा स्थापित किया गया है। भू-स्वामित्वकी उच्चतम सीमा निश्चित करने और समाजवादको अमलमें लानेके प्रयास जबसे कांग्रेसने गंभीरतापूर्वक करने आरम्भ कर दिए हैं, तबसे उसके विरोधके रूपमें सन् १९५९में इस दलकी स्थापना की गई थी। भारतके कृषिकार समवाय संघ (Agricultural Federation of India)में सम्मिलित भू-स्वामित्व रखनेवाले धनी किसान और मुक्त उद्यम मण्डली (Forum of Free Enterprise) नामक संस्थामें सम्मिलित उद्योगपतियोंने इस दलकी स्थापनामें और उसके संवर्द्धनमें यथेष्ट सहायता की है। भारतके अन्य सभी दल जिस समय उद्दामवादी कहलानेके लिए प्रयत्न करते हैं, तब यह दल अपने आपको परम्परावादी कहलानेमें गौरव अनुभव करता है और समाजके चिरन्तन मूल्योंके संरक्षकके रूपमें परम्परावादी होनेमें हेयताका अनुभव नहीं करता।

सिद्धान्तोंकी भांति संगठनके क्षेत्रमें भी इस दलने कितने ही नए मार्ग खोले हैं। सन् १९६४में इसने अपने संविधानमें सदस्यता-विषयक धारामें परिवर्तन कर प्रजातांत्रिक पक्षोंके लिए नितान्त नई माने जानेवाली पद्धतिको अपनाया है। दलका सक्रिय काम करने वाले और उसके विशिष्ट परिचयपत्र रखनेवाले उसके सदस्य ही दलके आन्तरिक प्रशासनमें भाग ले सकें, इस तरहकी व्यवस्था कर स्वतंत्र पार्टीने जाली और निरर्थक सदस्योंके उलझनपूर्ण प्रश्नका सही समाधान कर दिखाया है। परन्तु इसके

परिणामस्वरूप सदस्योंकी संख्यामें एकदम बहुत बड़ी कमी हो गई। सन् १९६०में स्वतंत्र पार्टीके सदस्योंकी संख्या ३,१९,३५८ थी, जिसका उल्लेख श्री सोमजीने किया है। १९६४के जुलाई महीनेमें सदस्योंकी कुलसंख्या मात्र २२,५४८ थी। सदस्योंके प्रकार बदल जानेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि यह कमी दलकी दुर्बलता सूचित करती है। परन्तु ऐसा करनेसे अनुशासन और संगठनकी मात्रा जितनी बढ़नी चाहिए थी, उतनी बढ़ी नहीं। दलकी स्थानीय शाखाओंके निर्णयके सामने ऐसा प्रतीत होता है कि इसके केन्द्रीय नेताओंका कुछ वश नहीं चलता। दलमें बढ़ती अनुशासनहीनता और अव्यवस्थाके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। "उत्तरप्रदेश और बिहारमें स्वतंत्र पार्टीके सामने उत्पन्न समस्याएं दर्शाती हैं कि आमजनतामें जिसकी जड़ें गहरी नहीं उतर जातीं, वह दल आकाररहित—धुंधला समूहमात्र रह जाता है और उसमें एकता अधिक समय तक नहीं टिक पाती।" (इंडियन एक्सप्रेस, १७ मार्च, १९६६)। सन् १९६८में दलके पांचवें अधिवेशनमें श्री मीनू मसानीने दलकी सदस्य-संख्या ४७,१५१ बताई थी, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया था कि सदस्योंके अभाव में यह दल बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, काश्मीर और हरियाणामें चुनाव नहीं लड़ सका।

वर्गवाद, संघर्ष, अनुशासनका अभाव और व्यवस्था तथा साधनोंकी कमी होने पर भी स्वतंत्र पार्टीने तीसरे आम-चुनावमें पर्याप्त विजय प्राप्त की और आजकल लोकसभामें सबसे बड़े विरोधी दलके रूपमें स्थान प्राप्त किया है। उसके स्थानीय नेताओंका लोकमानस पर अधिकार ही इस विजयका कारण माना जाना चाहिए। एक विचित्र बात यहां यह उल्लेखनीय है कि जिन प्रदेशोंमें सदस्योंकी संख्या सबसे अधिक है अथवा जहाँ उसके वरिष्ठ नेता अपना काम कर रहे हैं; यथा—आंध्र, मद्रास, महाराष्ट्र प्रदेशोंमें यह दल बहुत अच्छा काम नहीं कर सका है। राजस्थान, उड़ीसा या सौराष्ट्र जैसे शैक्षणिक दृष्टिसे पिछड़े हुए प्रदेशोंमें आधुनिकीकरणसे युक्त इस दलका प्राबल्य है। इस अन्तर्विरोधकी चर्चा अन्य संदर्भोंमें भी करनी पड़ेगी।

जनसंघकी भांति इस दलके वास्तविक स्वरूप और उद्देश्योंको लेकर आरम्भसे ही बहुत तीव्र चर्चा चलती आ रही है। एक ओर उसके संस्थापक श्री राजाजीने अपने इस दलको मानव-स्वातंत्र्यके लिए संघर्षशील उदारमतवादी लिबरल दलके रूपमें परिचित कराया है और उन्होंने इसके विरुद्ध कि उसे श्रीमंतोंकी तरफदारी करनेवाला दल कह कर उसको बदनाम किया जाता है, गांधीजीके ट्रस्टीशिपके सिद्धान्तको आगे रखा है। दूसरी ओर पंडित नेहरू उसे मध्ययुगीन जमींदारों और सामन्तोंका दल कहा करते थे। समग्रतः देखने पर दलके नेता परम्परावादी होते हुए भी प्रजातंत्रको स्वीकार कर चुके हैं और शोषणमें आस्था नहीं रखते। दूसरी ओर इस दलका राजनीतिक झुकाव सम्प्रति स्थितिको बनाए रखनेकी इच्छा रखनेवाले साधनसम्पन्न लोगोंकी मनोदशाके बहुत अधिक अनुकूल है। इस दलके शीर्षस्थ नेताओंकी प्रजातंत्र या प्रजाके कल्याणसे सम्बद्ध निष्ठाके विषयमें जितनी आश्वस्तताके साथ कहा जा सकता है, उतनी आश्वस्तताके साथ उसकी दूसरी या तीसरी श्रेणीके नेताओंके विषयमें नहीं कहा जा सकता। इन दूसरी और तीसरी श्रेणीके नेताओंमें बहुत-से लोग अत्यन्त पुराणपंथी और प्रजातंत्र-विरोधी दृष्टिकोण रखनेवाले वर्गसे संयुक्त हैं अथवा केवल स्वार्थपरस्त श्रीमंत हैं। प्रिवीपर्सकी श्रमविहीन आय प्राप्त सामन्तशाही वर्गके अनेक कुख्यात लोग इस दलके आधारस्तम्भ बन गए हैं। गुजरात, राजस्थान और उड़ीसामें स्वतंत्र पार्टीकी बागडोर

अपने हाथमें रखनेवाले बहुत-से नेता इसी वर्गके हैं और इन प्रदेशोंमें ही स्वतंत्र पार्टी अपनी शक्ति आनुपातिक रूपसे अच्छी मात्रामें दिखा सकी है।

आज तो यह कहना मुश्किल है कि प्रो० राजाजी, श्री रंगा या श्री मीनू मसानी जैसे प्रजातंत्रके पुरस्कर्ता इन परिबलोंका उपयोग करके कांग्रेसकी जड़ उखाड़ फेंक रहे हैं या प्रतिक्रियावादी परिबल इन नेताओंकी प्रतिभा और प्रतिष्ठाका लाभ उठाकर अपने पग फैला रहे हैं। उड़ीसामें सत्ता प्राप्त करनेमें स्वतंत्र पार्टीने अच्छा काम कर दिखाया है; परन्तु अन्य प्रदेशोंमें विभिन्न दिशाओंमें काम करनेके कारण इन परिबलोंमें टक्कर शुरू हो गई है। आजकल यह तय करना कठिन है कि स्वतंत्र पार्टीमें किस परिबलका प्राबल्य है, अतः स्वतंत्र पार्टीके निश्चित स्वरूपको लेकर कोई मत बना लेना असंभव है।

कांग्रेस-विरोधी और समाजवाद-विरोधी तत्वोंकी तथा पार्टीमें स्थित विभिन्न परिबलोंकी एकता स्थापित करनेके लिए स्वतंत्र पार्टीने एक अद्भुत मार्ग ढूंढ़ निकाला है। किन्हीं निश्चित प्रश्नोंके अलावा सभी प्रश्नोंके सम्बन्धमें दलके सभी सदस्य अपना स्वतंत्र मत बनाए रख सकते हैं और उन्हें सार्वजनिक रूपसे व्यक्त भी कर सकते हैं। काश्मीर, मद्य-निषेध, हिन्दी-भाषा, गौहत्या और कच्छ-समझौता जैसे कुछ ज्वलंत तथा महत्वपूर्ण प्रश्नों पर स्वतंत्र पार्टी दलके रूपमें मौन है और उसके नेता या स्थानीय शाखाएं विभिन्न मत प्रदर्शित करते रहे हैं। इस तरह स्वतंत्र पार्टीने मौन द्वारा ऐक्यकी स्थापना की है; परन्तु यह दल ज्यों-ज्यों सत्ता-प्राप्तिके पास आता जा रहा है, त्यों-त्यों मौन रहनेका काम कठिन होता जा रहा है। उसे एक या दूसरे मतके पक्ष या विपक्षमें फैसला करना ही पड़ेगा। अबतक इस दलने जिन बातों पर अपना मत प्रदर्शित किया है, उनके आधार पर निश्चित कहा जा सकता है कि यह दल प्रजातंत्रनिष्ठा, धर्म-निरपेक्षता, सुधारवादी और सामाजिक तथा बौद्धिक क्षेत्रमें प्रगतिशील है; आर्थिक क्षेत्रमें उसका दृष्टिकोण अधिकतः राज्यसत्ताके हस्त-क्षेपके विरुद्ध और व्यक्तिगत उद्यममें आस्था रखनेवाला है। 'समाजवाद' देश और समाजको आर्थिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक ढंगसे हानि पहुंचाता है और उससे भ्रष्टाचार और कार्य-अक्षमताको उत्तेजन मिलता है—इस बातको यह दल दृढ़तापूर्वक मानता है। ऐतिहासिक अनुभवोंकी दृष्टिसे इसमें बहुत अधिक तथ्य है। परन्तु भारतके समान गरीब और पिछड़े हुए देशोंका तेज़ीसे औद्योगीकरण करनेके लिए उत्पादनका अधिक न्यायपूर्ण वितरण करनेके लिए राज्यसत्ताके हस्तक्षेपको छोड़कर आगे बढ़नेके लिए कोई अन्य विकल्प सामने दिखाई नहीं देता। आधुनिक युगमें स्वयं उद्योगपतियोंका ही राज्यकी मदद और उसके हस्तक्षेपके बिना काम नहीं चलता। १९वीं शतीमें यूरोपमें विकसित अर्थतंत्र समाजके लिए अत्यन्त विघातक सिद्ध हुआ है और वह आजके युगमें किसी प्रकार भी चल नहीं सकता। इन सभी वास्तविकताओंका हिसाब लगाएँ तो देशकी प्रशासनिक जिम्मेदारी जब स्वतंत्र पार्टी पर आ पड़ेगी, तब अपने अनेक प्रचलित सूत्रों—मुक्त उद्योग, मुक्त व्यापार और मुक्त स्पर्धा—को बहुत मात्रामें सीमित करना पड़ेगा। "उत्तरदायित्वपूर्ण और प्रजातांत्रिक भूमिका अदा करनेके लिए निर्मित इस दलके पास अभी तो आर्थिक वास्तविकताके आधार पर निर्मित सुसंगत राजनीति, ठोस अवधारणाएँ और व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं है।" (कॉमर्स : ४ जून, १९६६)।

साम्यवादी नेता

श्री सुन्दरैया
साम्यवादी पार्टी (मार्क्स०) के महामंत्री

स्व० श्री अजय घोष
साम्यवादी पार्टीके एक प्रमुख नेता
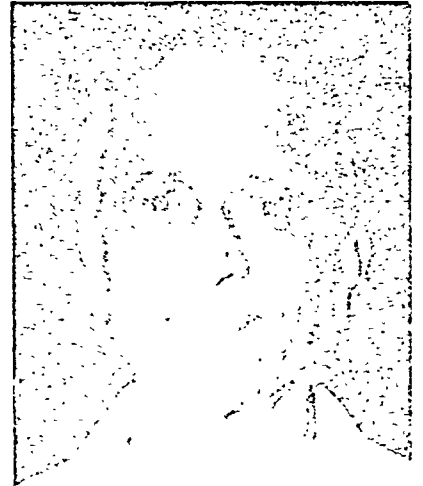
श्री श्रीपाद डांगे
साम्यवादी पार्टीके प्रणेता

कम्युनिस्ट पार्टी: सदस्य संख्या

कम्युनिस्ट छाया संस्थाएँ
[१९५५]

१९६७ बंगाल-विधानसभा। प्रतिशत संख्या
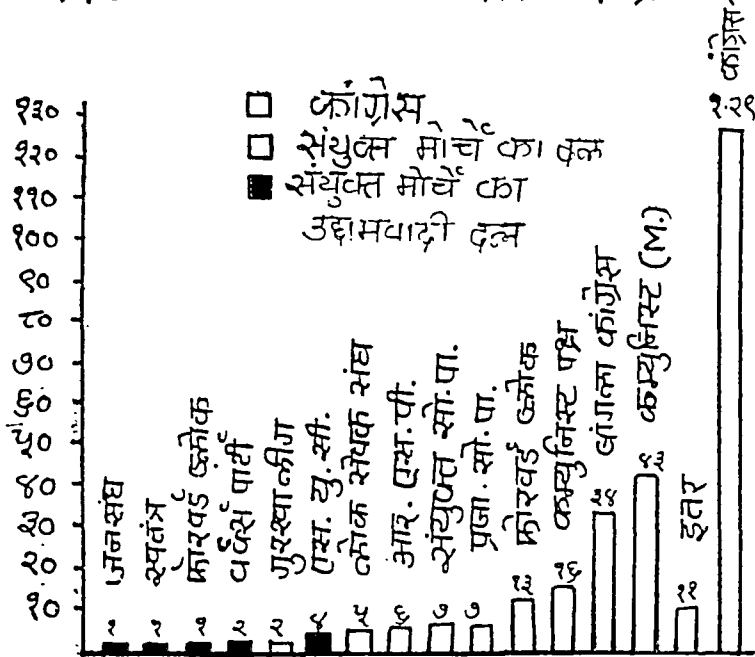
कम्यु., कम्यु.(M.), सं.सा., प्र.सो. १९ ५२ १९ ०	१९६७	कांग्रेस, स्वतंत्र, जनसंघ, इतर + अपक्ष ९ ० ० २८ + ५
कम्यु., सं.सा., मु.लीग, आर.एस.पी. प्र.सो. ४०+३ १३ ६ — — (१९.८७ ७.+९३) (७.९२) (२.८३) (१.२२)	१९६५ मध्य सत्री चुनाव	कांग्रेस., केरल कांग्रेस., जनसंघ., स्वतंत्र, ३६ २३ — १ (३३.८०) (१३.५८) (०.५२) (०.७४)
प्र.सो., मु.लीग, कम्यु आर.एस.पी., संसो २० ११ २६ १ — (१४.२) (४.९) (३६.८) (१.३) —	१९६०	कांग्रेस, स्वतंत्र, केरल सो. जनसंघ, इतर ६३ — — २ (३५.५) — १.०
कम्यु., मु.ली., प्रसो., आर.एस.पी., ६० १३ ९ — ३५ १२.७ १०.७ ३.२	१९५७	कांग्रेस इतर ४३ १ (३७.८) –

केरल में दलानुसार स्थिति
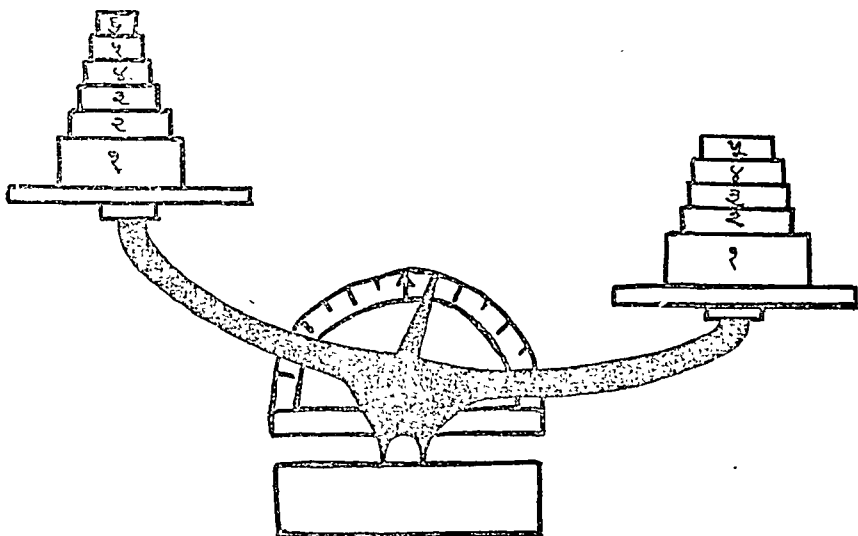
साम्यवादी पार्टीकी आंतरिक स्थिति

१९५६में पार्टीकी चौथी कांग्रेसके समय समस्त ३७१ प्रतिनिधियोंमें दक्षिण भारतके १८९ प्रतिनिधि थे.....

१.	बंगाल	४४	योग १३२	आंध्र	५९	योग १८९
२.	महाराष्ट्र	२४		मलाबार	३७	
३.	उत्तर प्रदेश	२३		त्रावनकोर-कोचीन	३३	
४.	बिहार	२१		तेलंगाना	३२	
५.	पंजाब	२०		तमिलनाडु	२८	

शेष राज्योंके ५० प्रतिनिधि

१४ : साम्यवादी दल

साम्यवादी दलोंका स्वयंका स्वतंत्र अस्तित्व न होनेके कारण उसकी समीक्षा करना कठिन हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनका भाग बननेमें गौरवका अनुभव करनेवाले साम्यवादियोंने आरम्भसे ही विदेशी सलाह-सूचनाओं और आदेशोंका अमल अपनी इच्छासे इतने आग्रहके साथ किया है कि ये दल वर्षोंसे रूसी अथवा बादमें चीनी विदेशनीतिके 'औजार'के समान बने रहे हैं। "विश्वके साम्यवादी दलोंकी तुलनामें भारतका साम्यवादी पक्ष सबसे अनुशासनहीन और मिश्र है।"—प्रा० पॉमरका यह मत सत्य ही है। मार्शल विंडमिलर द्वारा 'पैसेफिक अफेयर्स'में लिखे अनुसार ऐसा होनेका कारण यह है कि "यूरोपके वितण्डावादी (Sophisticated) और मानवद्वेषी (Cynical) मनोवृत्ति धारण करनेवाले साम्यवादी पक्षोंकी अपेक्षा भारतीय साम्यवादियोंमें बचकानी और अनावश्यक आदर्शपरायणताकी मात्रा बहुत अधिक रही है।" साम्यवादी दलके विषयमें दो दशक पूर्व 'फॉरेन अफेयर्स' : मार्च, १९५१में श्री मीनू मसानीने अपना अभिप्राय व्यक्त किया था कि "मूलभूत वास्तविकता तो यह है कि भारतका साम्यवादी दल अभी निर्बल और आम-जनताके विचार-प्रवाहोंसे अलग है और वह आन्तरिक फूटसे छिन्न-भिन्न हुआ है।" यह कथन आज १९६९में भी उतना ही सत्य है।

सन् १९२४में कोमिन्टर्न (कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल)के अंकुश और देखरेखमें अधिकांशतः अमेरिका तथा ब्रिटिश साम्यवादियों द्वारा भारतमें साम्यवादी आन्दोलनका सूत्रपात हुआ। १९२९में मेरठ षड्यंत्र केसमें पकड़े गए साम्यवादी—सर्वश्री डांगे, घाटे, जोगलेकर, निमकर, स्प्राट, ब्रेडले, जोशी, मिरजकर, शौकत उस्मानी तथा अन्य १८ नेताओंको लम्बी सजाएँ दी गई। परन्तु उच्च न्यायालयने इन सजाओंको कम कर दिया, अतः सन् १९३५ तक ये सब छूट गये थे। सन् १९३६में अखिल भारतीय संगठनके रूपमें भारतीय साम्यवादी दल खुलकर काम करने लगा और निरन्तर बारह वर्षोंतक श्री पूरणचन्द्र जोशीने इसकी नाव बड़ी कुशलतासे तैराई। भारतमें इस कालमें कांग्रेस दल और महात्मा गांधीका प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। गांधीजीकी कार्य-पद्धति और उनकी विचारधारा रूसी नेता बिल्कुल नहीं समझ सके। उनकी समाधान वृत्ति और शान्ति-प्रियतासे पं० नेहरू, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और श्री जयप्रकाश नारायण जैसे उद्दामवादी युवक भी ऊब उठे थे; फिर भी उनकी सच्चाई और आत्मत्यागके विषयमें किसीके मनमें कुछ भी शंका न थी। परन्तु रूसमें अपनी बुद्धि गिरवी रखनेवाले साम्यवादी यह कहने लगे कि "गांधी भ्रष्ट सुधारवादी है और लोकभावनाको गलत मार्ग पर ले जानेके लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादका साधन है।" गांधीजीकी सत्याग्रहकी लड़ाईमें सम्मिलित हो, उस पर अधिकार कर अथवा उसे अन्दरसे तोड़ डालनेके गंदे प्रयासोंके कारण साम्यवादी आम जनतासे और राष्ट्रीय

आन्दोलनसे दूर रह गए। सन् १९३५ तक उनकी मुख्य राजनीतिक प्रवृत्ति आज़ादीकी लड़ाई लड़नेवाले नेताओंका अपमान करने तक ही सीमित थी। यों ठेठ १९२२-२४से उन्होंने मजदूर संघोंके नेतृत्वकी प्रवृत्ति अपनानी आरम्भ कर दी थी। १९३५के बाद संयुक्त मोर्चे स्थापित करनेकी रूसने नीति अपनाई, अतः साम्यवादियोंने कांग्रेस समाजवादी पक्षके साथ सहयोग करना आरम्भ कर दिया और इस पक्षकी केरल और आंध्र शाखाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इन शाखाओंके द्वारा कांग्रेसमें प्रवेश कर उन्होंने उसके पदोंका भी उपभोग किया।

सन् १९३५से '४१की समयावधिमें अंग्रेजी शासनकी आलोचना करनेमें और उनके विरुद्ध लड़नेमें साम्यवादी पूरे जोशमें थे। १९३९में नाज़ी-वाद तथा फासिज्मके विरुद्ध आरम्भ हुए युद्धको साम्राज्यवादी युद्ध कह कर साम्यवादी भारतमें अंग्रेजोंके विरुद्ध मोर्चेमें कांग्रेसियोंसे भी आगे निकल गए थे। सरकारने साम्यवादी दलको गैरकानूनी घोषित कर दिया था। इसी समय रूसने हिटलरके साथ मित्रता कर ली, जिससे साम्यवादियोंको एक प्रकारसे कवच प्राप्त हो गया था। अंग्रेज़ोंको परेशान करने तथा उनके युद्ध-संचालनमें रुकावटें डालनेके लिए आवेशपूर्वक जूझ रहे तथा दमन और कारावास भोग रहे साम्यवादी राष्ट्र-प्रेमियोंकी पंक्तिमें प्रशंसा प्राप्त कर रहे थे। परन्तु जून १९४१में हिटलर द्वारा अचानक रूस पर आक्रमण कर देनेसे साम्यवादी हिटलरके कट्टर शत्रु और अंग्रेजोंके मित्र बन गए। परिणामतः उन्हें जेलोंसे मुक्त कर दिया और उनके दल पर लगाया हुआ प्रतिबन्ध उठा लिया गया। ब्रिटेनके इन वफादार साथियोंने सन् १९४२के 'भारत छोड़ो' आन्दोलनका कड़ा विरोध किया। श्री सुभाष बाबू जैसे देशभक्तोंको फासिस्ट 'पंच मांगी' कह कर बदनाम किया। इतना ही नहीं, बल्कि अनेक राष्ट्रवादियोंको पकड़वानेमें ये लोग सहायक भी हुए माने जाते हैं। जब दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हुआ तब साम्यवादी दल सर्वथा बदनाम और राष्ट्रवादियोंमें धिक्कारका पात्र बना हुआ दल था। फिर भी साम्यवादी दल अपनी भयंकरसे भयंकर राष्ट्रद्रोही प्रवृत्तियोंमें बरसों तक संलग्न रहने पर भी फलता-फूलता रहा, जो स्वयंमें एक आश्चर्य ही है।

सन् १९४७ तक विश्व शीतयुद्धकी दो छावनियोंमें बँट गया था। ब्रिटेन तथा अमेरिका रूसके कट्टर शत्रु बन गए थे। साम्यवादी सिद्धान्तोंमें बताया जा चुका था कि साम्राज्यवादका विसर्जन कभी भी शान्तिसे नहीं होता। ब्रिटिश साम्राज्यने जब भारतसे विदा ली तब अपने सिद्धान्तमें परिवर्तन करनेके स्थान पर साम्यवादी दलने भारतकी आजादीकी वास्तविकताको चुनौती दी। इस सिद्धान्तका भी प्रतिपादन किया कि भारत एक राष्ट्र नहीं है, परन्तु अनेक राष्ट्रीयताओंका समूह है और अल्पमत प्रजाको आत्मनिर्णयका अधिकार होना चाहिए और सैद्धान्तिक रूपसे धार्मिक लघुमतको अस्वीकृत करते रहने पर भी भारतमें मुस्लिम अल्पमत प्रदेशोंके इस अधिकारके आधार पर पाकिस्तानकी मांगका समर्थन किया और यह कहने लगे कि भारतको आज़ादी मिली ही नहीं, नेहरू और कांग्रेस साम्राज्यवादियोंके पिठ्ठू हैं; अतः अंग्रेजोंकी कठपुतली हैं और उनको सत्ता सौंप कर अंग्रेज पर्देके पीछेसे राज्य चलाते हैं और उनके आर्थिक हित अबाधित रहे हैं। पं० नेहरूकी तटस्थ विदेश नीतिके विषयमें अमेरिकाकी भांति रूसमें भी अनेक आशंकाएं हो रही थीं और ये दोनों समूह भारतको

अपना दुश्मन मानने लगे थे। इसीलिए भारतके साम्यवादी भी अपने देशकी सरकारको अमेरिका और ब्रिटेनके बाद तीसरे नम्बरका शत्रु मानते थे।

साम्यवादी दल उत्तरोत्तर उग्रपंथी होता गया। १९४८में श्री बी० टी० रणदिवे दलके महामंत्री हुए। मार-काट, तोड़-फोड़, आन्दोलनों तथा हुल्लड़ों द्वारा भारत सरकारको उखाड़ फेंककर सत्ता हथियानेके हास्यास्पद विचारके आधार पर उन्होंने दलको अंध-साहसके मार्ग पर धकेल दिया। कलकत्तामें हाथबमोंका उपयोग हुआ, लूट-पाट मचाई गई। बम्बई राज्यमें श्रीमती गोदावरी परुलेकर (गोदाराणी)के नेतृत्वमें विद्रोह किया गया और तेलंगानामें बड़े पैमाने पर फूट पड़ने वाले सशस्त्र किसान विद्रोहका नेतृत्व श्री रवि नारायण रेड्डी जैसे साम्यवादियोंने सम्हाल लिया। इन प्रदेशोंमें दो-ढाई हजार गांवों और लगभग दस लाख लोगों पर साम्यवादियोंका शासन स्थापित हुआ। फिर भी साम्य-वादी क्रान्ति किसानोंके द्वारा नहीं हो सकती, इस प्रकारके मार्क्सके मतसे अंधे बने अनेक नेताओंने इस आन्दोलनको अपेक्षित समर्थन नहीं दिया। आखिर तो यह सब हाय-तोबा बेकार थी; क्योंकि एक ओर अधिकांशतः बड़े-बड़े नेताओंकी गिरफ्तारी हो चुकी थी और दूसरी ओर "अपनी क्रान्तिकारी भाषाके साथ तालमेल बैठानेवाली क्रान्तिकी योजना श्री रणदिवेके पास नहीं थी। इतना ही नहीं, पं० नेहरूकी सुदृढ़ सरकारके सामने हिंसक कामोंका सिगनल देनेवाले दलके द्वारा इस प्रकारके कामको राष्ट्रव्यापी स्तर पर कर सकने वाला तंत्र खड़ा नहीं किया जा सका था।" इस बातका उल्लेख श्री विंडमिलर और श्री ओवर स्ट्रीटने अपने 'कम्यूनिज्म इन इंडिया' नामक ग्रंथमें किया है।

भारत सरकारने एक ही झटका दिया, जिसमें साम्यवादी दलकी इमारत पत्तोंके महलकी भाँति धराशायी हो गई। निष्फलताके लिए अपना दोष देखनेके बदले श्री रणदिवेने अधिक जोरसे इस नीतिको अपनाया और इस नीति पर शंका करनेवाले या उसका विरोध करनेवाले अपने साथियोंको दलमेंसे निकाल दिया या ठिकाने लगा दिया। इस जीहुजूरीकी नीतिके कारण दल टूटने लगा और दलके एक नेता श्री पूरणचन्द्रके बताए अनुसार "दल तंत्रके रूपमें काम नहीं कर सका।" तेलंगानामें साम्यवादियोंने थोड़ी-बहुत विजय प्राप्त की थी। आंध्रके साम्यवादी अनुपातमें अधिक संगठित थे, अतः उनके नेता श्री राजेश्वर राव श्री रणदिवेके विरोधीके रूपमें सामने आए और १९५०में उनको हटा कर दलके महामंत्री बने। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलनके प्रमुख पत्र 'कोमिन्फार्म'में प्रसिद्ध हुए लेखोंसे ग्रामीण क्षेत्रोंमें आन्दोलन जारी रखनेकी दलकी नीतिको रूसी समर्थन प्राप्त हुआ है। इसे स्वीकार कर उन्होंने आन्दोलन जारी रखे। आसाम, मणिपुर, त्रिपुरामें विद्रोह फूट निकला, परन्तु इस प्रकारके आन्दोलनोंको आगे बढ़ानेकी साम्यवादी दलके पास गुंजाइश नहीं थी। अन्तमें, १९५१के आरम्भमें ब्रिटिश साम्यवादी नेता श्री रजनी पामदत्तने घोषित किया कि भारतीय साम्यवादी दलकी नीति भ्रमपूर्ण थी। भारतमें प्रजातांत्रिक परिबलोंके मोर्चे खड़े करना और अंतर्राष्ट्रीय शान्ति आन्दोलनको समर्थन देना—ये दो साम्यवादियोंकी मुख्य जिम्मेदारियाँ बताई। पं० नेहरूकी आन्तरिक नीति प्रत्याघाती होते हुए और उनकी विदेश-नीति भी त्रुटिपूर्ण होते हुए पं० नेहरू अंग्रेज साम्राज्यवादके पिट्ठू नहीं हैं, यह उन्हें समझमें आने लगा। इस विचारसे दलके अन्दर श्री अजय घोष, श्री डांगे और श्री अधिकारी जैसे अनेक नेताओंके

हाथ दृढ़ हुए और साम्यवादी दलने प्रस्ताव पारित किया कि दल निर्बल हैं, अतः जनतासे सम्पर्क स्थापित करनेका काम दलको विशेष रूपसे करना चाहिए। १९५१के अप्रैल महीनेमें नई नीतिकी घोषणा हुई। आन्दोलन बन्द हो गए और श्री राजेश्वर रावको महामंत्री-पदसे त्यागपत्र देना पड़ा। १९४७की पन्द्रह अगस्तको साम्यवादी पक्षने जो स्वतंत्रता दिवस मनाया था, उसके बाद पहली बार १९५१में स्वतंत्रता-दिवस मनाया और संवैधानिक रूपसे काम करना निश्चित किया। तेलंगानाके बिखरते हुए आन्दोलनको वापिस ले लिया गया।

मूलभूत क्रान्तिमार्गके रूपमें शस्त्र उठानेमें विश्वास रखनेवाले किन्तु सीमित हेतुओंके लिए संवैधानिक प्रवृत्ति अपनानेकी नीतिके अंगरूप साम्यवादी दलने पहले चुनावमें भाग लिया और अच्छी संख्यामें सीटें प्राप्त कीं। आन्दोलनकारी प्रवृत्तियोंकी सरे-आम असफलता और स्वल्प संवैधानिक प्रवृत्तियोंके परिणामस्वरूप प्राप्त यह उत्साहजनक विजयके बीचके स्पष्ट अन्तरने साम्यवादी नेताओंका ध्यान खींचा। साम्यवादी दलकी नीतिमें आमूल परिवर्त्तन हुआ और एक दशक तक (१९५२-६२) दलमें श्री अजय घोषकी संसदीय प्रजातांत्रिक मध्यममार्गी व्यूहनीतिका प्राबल्य रहा। इसके पूर्व भारतके साम्यवादी दलकी विचारधारा या परिभाषामें विशिष्ट रूपसे भारतीय कहे जाने लायक कुछ नहीं था। पर अब प्रजातांत्रिक राजनीतिमें आम जनताका समर्थन यदि प्राप्त करना हो तो भारतीय प्रश्नोंको समझने और उससे सम्बद्ध उचित नीति बनानेका काम किए बिना कोई विकल्प शेष नहीं हैं। साम्यवादी दलने यह काम करनेके लिए बहुत प्रयास किया, लेकिन उसमें उसने बहुत उलझनका अनुभव किया; क्योंकि ऐसा करने पर विदेशी सलाहकारोंकी बुद्धि पर आश्रित न रह अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे चलना पड़ता है। दलकी अब तक हुई सात कांग्रेसोंमेंसे चार (१९५३-५४में तीसरी कांग्रेस मदुराईमें, १९५६में चौथी कांग्रेस पालघाटमें, १९५८में पाँचवीं कांग्रेस अमृतसरमें और १९६१में छठी कांग्रेस विजयवाड़ामें) इन दस वर्षोंमें ही हुई हैं; पर दलके सभी समूह और वर्ग जिस नीतिसे सहमत हों, ऐसी नीति बना पानेमें साम्यवादी दल असफल हुआ है। श्री नम्बूद्रीपादका 'नोट फॉर दि प्रोग्राम ऑफ सी० पी० आई०' (१९६४)में उल्लिखित यह कथन बिल्कुल सत्य है कि "दलका स्वराज्योत्तर राष्ट्रीय नीति विषयक आन्तरिक कलह ठेंठ १९४७से चला आ रहा था और वर्गोंके बीच कटुता बढ़ते-बढ़ते १९६१में चरम सीमा पर पहुँच गई।"

इस समय दलमें अनेक छोटे-बड़े वर्ग वर्तमान थे और उनमें सबसे बड़ा और सबसे प्रभावशाली वर्ग मध्यम मार्गियोंका था। श्री डांगे, श्री अजय घोष और श्री नम्बूद्रीपाद इसके नेता थे। उधर श्री राजेश्वर राव और श्री रणदिवेके नेतृत्वमें उद्दाम साम्यवादी एक हो गए थे और उदार साम्यवादियोंका नेतृत्व श्री पूरणचन्द्र जोशीके हाथमें आया। मदुराईमें इस प्रश्न पर भारी मतभेद पैदा हो गया कि भारत सरकारके साथ किस प्रकारका रवैया रखना चाहिए। पं० नेहरूकी नीतिके प्रति सहानुभूति रखने वाले और उसका जोरदार विरोध करनेवाले दो वर्गोंमें साम्यवादी दल विभक्त हो गया। इस कालमें समाजवादी दलमें भी इसी प्रकारकी प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। विरोधी वर्ग लगभग समान बल रखनेवाले होनेके कारण सभी संस्थागत प्रश्न टाल दिए गए और दलकी समितिमें तीनों वर्गोंके नेताओंको समान रूपसे स्थान दिया गया। मदुराई अधिवेशनकी सबसे बड़ी सफलता यही मानी जा सकती है कि जैसे-तैसे करके दलमें होनेवाले खुले विग्रहको टाला

जा सका। इसके बाद १९५६ तक राजनीतिक रवैए और व्यूह-रचनाको लेकर साम्यवादी दलमें उग्र चर्चा चलती रही थी। चीन और रूसके साथ भारतके बढ़ते हुए मैत्री-संबंध, एशियामें सैनिक वर्चस्व जमानेके अमेरिकी प्रयासोंकी पं० नेहरू द्वारा कटु आलोचना, चीनको राष्ट्रसंघमें उचित स्थान दिलानेके लिए भारतका प्रयत्न और उसके साथ पंचशील समझौता, शान्तिकी स्थापनाके लिए पं० नेहरूके प्रयास और आवड़ी स्थान पर समाजवादी समाज रचना विषयक कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव---नेहरू-सरकारके इन कदमोंकी प्रशंसा कर पूरे जोशके साथ उसका समर्थन करनेके अलावा साम्यवादियोंका काम चलना कठिन था। दूसरी ओर, विकास कार्योंके बोझसे जाग्रत हुए राष्ट्रके आन्तरिक असंतोषका लाभ अगर उठाना हो तो कांग्रेस और नेहरूका प्रखर विरोध किए बिना भी काम चल पाना मुश्किल था। इस प्रकार विचार-द्वंद्वमें फँसा हुआ साम्यवादी दल सुसंगत रूपसे नीति-निर्माणमें प्रयत्नशील होने लगा। कांग्रेसके साथ सहयोग स्थापित करनेके लिए श्री राममूर्ति द्वारा सुझाए गए 'शान्ति और मुक्तिके लिए मंच' नामक प्रस्तावको लेकर दलमें तीव्र विरोध हुआ। दलमें सर्वसम्मति स्थापित करनेके लिए जुलाई मासमें अपनी बीमारीका इलाज कराने मास्को गए हुए श्री अजय घोषने रूसी नेताओंके साथ मंत्रणाएं कीं। श्री घोषके वापिस आने पर दलकी कार्यकारिणीने एक प्रस्ताव पारित कर कांग्रेसकी विदेश-नीतिका बहुत आदर किया और उसे समर्थन देनेका निश्चय किया। आन्तरिक मामलोंमें कांग्रेसमें ही उद्दामवादी और रूढ़िवादी नामक दो पक्ष होनेसे यह घोषित किया गया कि साम्यवादी दलका यह कर्त्तव्य और नीति है कि वह उद्दामवादी प्रगतिशील तत्वोंको समर्थन देकर मजबूत बनाए। इस तरह साम्यवादी दल द्वारा पूरे कांग्रेस दलका नहीं, अपितु उद्दामवादी वर्ग—विशेषतः नेहरू वर्ग—का समर्थन करनेकी नीति स्वीकार की गई।

पर भाग्य साम्यवादी दलके विरुद्ध रहा। एक ओर २६ जनवरी, १९५५को रूसी साम्यवादी दलके प्रमुख समाचारपत्र 'प्रवदा'के सम्पादकीय लेखमें भारतीय साम्यवादी जिन्हें प्रतिक्रियावादी और पूजीवादी कह कर अपमानित करते थे, उस भारतीय सरकारकी आन्तरिक नीतिका खूब बखान किया गया। दूसरी ओर उद्दामवादियोंके तथाकथित गढ़ आंध्रमें मध्यावधि चुनावोंमें अन्य दलोंके साथ सहयोग स्थापित कर कांग्रेसने साम्यवादियोंको साफ कर दिया। उद्दामवादियोंकी पराजयके कारण दलमें चलता आ रहा आन्तरिक संघर्ष और तेज हो गया। "उग्र संघर्ष ऊपरसे नीचे तक दलीय जीवनका लक्षण बन गया। दलकी चालू प्रवृत्ति भी बहुत-से प्रान्तोंमें स्थगित हो गई।" (डेमोक्रेटिक रिसर्च पत्रिका)

रूसके प्रधानमंत्री श्री बुल्गानिन और कम्युनिस्ट पार्टीके नेता श्री क्रुश्चेवने भारतकी यात्रा कर साम्यवादी नेताओंकी प्रतिष्ठा पर पानी फेर दिया; क्योंकि रूसी मेहमानोंने उनसे मिलने या उन्हें महत्व देनेका कोई भी प्रयास नहीं किया। श्री स्टालिनके कृत्योंसे सम्बद्ध १९५६में श्री क्रुश्चेव द्वारा दी गई सूचनाओंने भारतके अनेक श्रद्धालु साम्यवादियोंको हिला दिया—उनका महान नेता इतना बर्बर और जालिम घोषित किया गया था—और वह भी स्वयं रूसी नेताओंकी ओर से। उसी वर्ष हंगरीके राष्ट्रीय आन्दोलनको कुचलनेमें रूसियोंकी क्रूरता और इम्रे नाज्की हत्यामें की गई दगाबाज़ीकी सचाई पर साम्यवादी भी आँखें बन्दकर लेनेमें समर्थ नहीं हो सके।

पालघाट अधिवेशन (१९५६) में साम्यवादी दलने संवैधानिक दलके रूपमें काम करने तथा सरकारके प्रगतिशील कदमोंका समर्थन करनेकी नीति घोषित की। साम्यवादी दलने पूंजीवादियोंके प्रति अत्यन्त उदार रवैया अपनाया। श्री सादिक अलीने अपने एक विवरणमें बताया है कि "साम्यवादी दलने भारतीय पूंजीवादियोंके प्रति जितनी नरमी दिखाई, उतनी अन्य किसी भी घोषणा पत्रमें—कांग्रेस, प्रजा समाजवादी अथवा जनसंघके भी घोषणापत्रमें—नहीं मिलती।"

सन् १९५७के चुनावोंमें केरलकी विधानसभामें बहुमत प्राप्त कर साम्यवादी दलने एक कीर्तिमान् स्थापित किया। प्रामाणिक और निष्पक्ष चुनावोंके जरिए साम्यवादी दल द्वारा सत्ता प्राप्त करनेका विश्वभरमें यह पहला ही उदाहरण है। साम्यवादी नेताओंने सार्वजनिक रूपसे यह वचन दिया कि साम्यवादी दल संविधानकी सीमामें रह कर ही काम करेगा और कांग्रेसके अधूरे या उपेक्षित कामोंको पूरा करेगा। साम्यवादी दलको यह भी अनुभव हुआ कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करनेके लिए हिंसक वर्ग-संघर्ष और षड्यंत्रपूर्ण मार्ग ही एकमात्र मार्ग नहीं है। एक वर्ष तक दलमें चली चर्चाके परिणामस्वरूप साम्यवादी दलने संविधानमें आमूलचूल सुधार करना निश्चित कर उपोद्घातके रूपमें घोषित किया कि "शान्तिमय साधनों द्वारा और सशस्त्र क्रान्तिका सहारा लिए बिना दल भारतमें पूर्ण प्रजातंत्र और समाजवाद स्थापित कर सकेगा।"

साम्यवादी दल अपने अनुभवके आधार पर अधिकाधिक मध्यममार्गी और समय बीतते वैधानिक दल बन जायगा, यह आशा ठगौरी सिद्ध हुई। केरलमें २८ महीने तक पदारूढ़ साम्यवादी सरकार द्वारा कुछ प्रशंसनीय काम किए जाने पर भी नायर और ईसाई समाज द्वारा शिक्षा क्षेत्रमें स्थापित एकाधिकार समाप्त करने और सर्वत्र कम्युनिस्टोंका शासन सुदृढ़ करनेके लिए उठाए गए कदमोंसे जाग्रत व्यापक असंतोषका लाभ उठा कर कांग्रेसने इस सरकारको उलट दिया। बादमें १९६०के उपचुनावोंमें साम्यवादी दलकी भयंकर पराजय हुई। सन् १९५५में आंध्रके चुनावोंमें उद्दामवादी पक्षकी पराजय हुई तो १९६०के उपचुनावोंमें नरम दलकी हार हुई। दलका वर्गवाद पुनः उग्र रूपमें फूट निकला और संसदीय प्रवृत्ति लम्बे समयमें व्यर्थ है, प्रगतिका एक मात्र मार्ग क्रान्ति है—इस प्रकारकी धारणा रखनेवाले लोग पुनः शक्तिशाली हुए।

इस वर्गवादमें दो कारणोंसे कटुता उत्पन्न हुई। चीन और रूसके बीच उत्तरोत्तर बढ़ते झगड़ेने पहले सैद्धान्तिक रूप धारण किया। चीनकी विचारधारा अविकसित देशोंके साम्यवादी पक्षोंको रुचनेवाली थी; पर भारतका साम्यवादी दल रूसके साथ विशेषतः संकलित था, परिणामतः दल तटस्थ रहा। परन्तु उसमें विभाजन हो गया और अधिक क्रान्तिकारी रवैया रखनेवाले और संवैधानिक मार्गके प्रति तिरस्कार-भाव रखनेवाले उद्दामवादी चीनके सिद्धान्तोंके समर्थक बन गए। भारत और चीनके बीच सतत बिगड़ रहे सम्बन्धोंके कारण चीन या चीनियोंके प्रति सहानुभूति रखनेवाले लोग समूचे राष्ट्रमें धिक्कारके पात्र हो जायेंगे; अतः इस निश्चित भयसे किसीने भी अपना मन्तव्य सार्वजनिक रूपसे व्यक्त नहीं किया। सन् १९६१में विजयवाड़ा-अधिवेशनमें दोनों वर्गोंका संघर्ष अपनी चरम पराकाष्ठाको पहुँच गया। रूसी नेता श्री सुस्लोवकी उपस्थिति और श्री अजय घोषकी व्यवहार कुशलताके कारण दलमें विभाजन होते-होते रुक गया। भारत पर चीनके आक्रमणके बाद साम्यवादी दलकी स्थिति अत्यन्त खराब हो गई। दक्षिणपंथी श्री डांगे और उनके साथियोंने बहुत लम्बे समयकी हिचकिचाहटके बाद चीनको खुलकर आक्रामक घोषित किया।

नवम्बर १९६२में हुई कार्यकारिणीकी एक बैठकमें दोनों वर्गोके बीच जबरदस्त आरोप-प्रत्यारोप लगाए गए और अन्ततः दलकी कार्यकारिणीने प्रस्ताव पारित कर चीनी आक्रामकोंके विरुद्ध 'मातृभूमिकी रक्षा'के लिए आह्वान किया और चीनी समाचारपत्रोंमें पं० नेहरूके प्रति जो कीचड़ उछाली जा रही थी, उसके प्रति घृणा प्रदर्शित की।

सन् १९४२की कम्युनिस्टोंकी राष्ट्रद्रोही नीतिकी कडुवी यादके बाद और चीनी आक्रमणके विषयमें किए गए विलम्बके कारण बहुत-से लोगोंको यह प्रस्ताव केवल शब्दजाल ही प्रतीत हुआ था। चीन-पक्षी रवैया रखनेवाले उद्दामवादियोंको बड़ी संख्यामें सरकारने गिरफ्तार कर लिया और दल पर सम्पूर्ण अधिकार श्री डांगे और उनके साथियोंके हाथोंमें आ गए। इन गिरफ्तारियोंको लेकर रूसी समाचारपत्रोंमें टीका-टिप्पणी होने पर भी श्री डांगेने इन अपने साथियोंकी मुक्तिके लिए कोई उत्साह नहीं दिखाया और न श्री नम्बूद्रीपादको, जो उस दृष्टिसे प्रयास ही कर रहे थे, कोई विशेष सहायता ही दी। सन् १९६३के आरम्भमें उद्दामवादी जब छूटे तो उन्होंने समानान्तर साम्यवादी दल स्थापित करनेकी वकालत आरम्भकी और अपने स्वतंत्र समाचारपत्र प्रकाशित करने लगे। इस अरसेमें श्री डांगेका एक तथाकथित पत्र बड़ा प्रसिद्ध हुआ, जिसमें उन्होंने अंग्रेज सरकारको आश्वासन दिया था कि अगर उन्हें मेरठ जेलसे मुक्त कर दिया जाय तो वे अंग्रेज सरकारकी ओरसे काम करेंगे। श्री डांगे द्वारा यह घोषित होने पर भी कि यह पत्र जाली है, उन्होंने ऐसे आक्षेप लगाने वाले समाचारपत्र 'करेन्ट' पर न्यायिक मामला चलाना टाल दिया और उनके निकटतम साथी श्री मिरजकरने यह साक्षी दी कि उन्होंने यह पत्र जेलमें देखा था। दलके अन्दर भी इस पत्रको लेकर चर्चा करनेका आग्रह किया गया। इसकी चर्चाके लिए हुई कार्यकारिणीकी एक बैठकमें उन्होंने अध्यक्षपद छोड़नेसे इनकार कर दिया, फलतः कार्यकारिणीके ९५ सदस्योंमेंसे ३२ने सभा-त्याग किया। इस तरह साम्यवादी दलमें जबरदस्त फूट पैदा हो गई। दोनों गुटोंने अलग-अलग सातवीं कांग्रेस बुलाई और अलग हुए गुटने भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) नाम धारण किया। दलके बहुत-से तेजस्वी नेता और सदस्य इस नए दलमें सम्मिलित हो गए।

दोनों दल अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ करनेमें लग गए और बंगाल, आंध्र तथा केरलमें उद्दामवादियोंका वर्ग और शेष भारतमें दक्षिणपंथी वर्ग शक्तिशाली बन गया। लोकसभाके चुनावमें दोनों दलोंके सदस्य समान संख्यामें चुने गए। परन्तु जहाँ उद्दामवादियोंका जोर था, वहाँ राज्योंकी विधानसभाओंमें बहुत अधिक संख्यामें उद्दामवादी चुने गए और बंगाल तथा केरलमें संयुक्त मोर्चेकी सरकारोंमें अग्रगण्य दलके रूपमें उन्होंने शासन सम्हाला। तेज़ीसे परिवर्तन लानेके इच्छुक उद्दामवादियोंने प्रशासनिक और वैधानिक मार्गको एक तरफ रख कर दुर्गम प्रदेशमें—विशेषतः बंगालके नक्सलबारी क्षेत्रमें—किसान क्रान्तिके लिए सीधे कदम उठाने शुरू किए और शहरोंमें विशेषतः कलकत्तामें मजदूरोंकी घेराव करनेकी प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। शान्ति और व्यवस्था स्थापित करनेके लिए पुलिस दलका उपयोग करनेमें केरल और बंगालकी सरकार निरुत्साही रही। समूचे देशमें इस प्रश्न पर चर्चा होने लगी और अन्तमें बंगालकी संयुक्त सरकार नक्सलबारी जैसे स्थलों पर बल प्रयोगकर पूंजीवादी और स्थापित हितोंकी रक्षा करनी पड़ी।

अब मार्क्सवादी साम्यवादी दलके उद्दामवादी संसदीय पद्धतिके लाभके विषयमें शंका उठाने लगे और दल द्वारा स्वीकृत कार्यक्रमकी खुलकर आलोचना करने लगे हैं। जब यह आलोचना

असह्य हो गई तब इस उद्दामवादी दलके महामंत्री श्री सुन्दरैया ने श्री नागी रेड्डी और दलके अन्य अनेक नेताओंको मुअत्तल कर दिया। इस तरह मार्क्सवादी दलमें पुनः फूट उत्पन्न हुई और केवल क्रान्तिमें अपना विश्वास घोषित करनेवाले और चीनी साम्यवादका अनुसरण करनेका अनुरोध करनेवाले एक तीसरे साम्यवादी दलका उदय हुआ। देशमें उसके अनेक समूह काम कर रहे हैं।

साम्यवादियोंकी सदस्य संख्याके विषयमें हमेशा वादविवाद चलता आया है और तत्सम्बन्धी निश्चित व विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं होते। परन्तु १९६५-६६में तीनों प्रकारके साम्यवादियोंकी कुल संख्या ढाई-तीन लाख मानी गई है। साम्यवादी अपने सदस्योंकी पसंद अत्यन्त सावधानीपूर्वक करते हैं, अतः उनका प्रत्येक कार्यकर्ता कम या अधिक मात्रामें निष्ठावान होता है। जनसंघकी भाँति इस दलकी शक्ति भी उसकी सदस्य संख्याकी तुलनामें बहुत अधिक होती है। चुनावोंमें साम्यवादी सदस्योंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि १९६४में अगर फूट पैदा न हुई होती तो चौथे चुनावके बाद यह संसदमें सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण दल बन गया होता और आज दोनों वर्गोंके कुल जोड़की अपेक्षा अधिक सीटें प्राप्त कर ली होतीं। विग्रहके मार्ग पर बढ़े हुए दलका भविष्य अभी तो बड़ा अनिश्चित दिखाई देता है। परन्तु साम्यवादियोंकी शक्तिको कम करके आँकनेमें बहुत खतरा है; क्योंकि वे अनेक आघात सहनेके बाद भी खड़े रह सकते हैं।

●

कलकत्ता (१९६७ मार्च से सितम्बर)

१०१६ घिराव

कामगारों की हड़ताल में कार्य-दिवसों का नुकसान
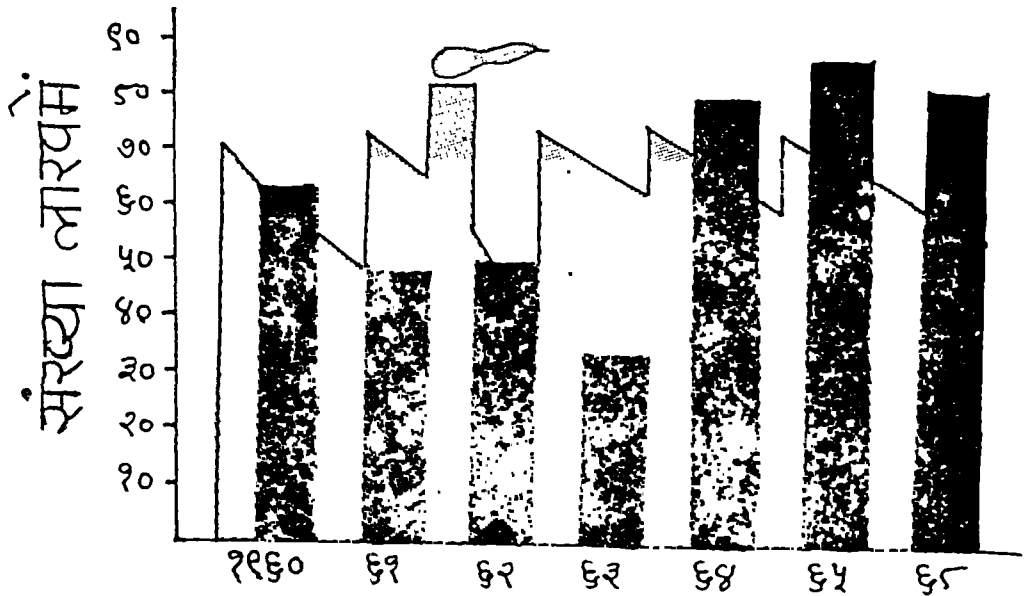
विद्यार्थी आंदोलन (संख्या)
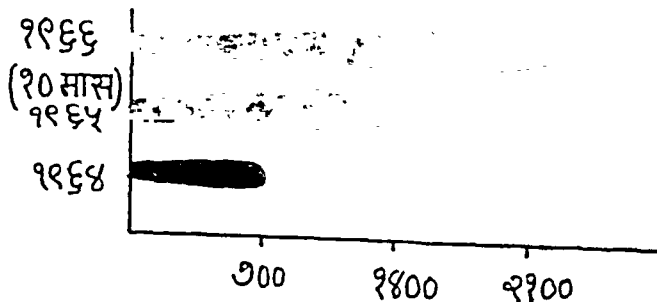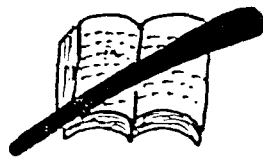
स्वराज्यके २० वर्षोंके अंतर्गत

विभिन्न आन्दोलनों में

६७,९१२ बसें जलाई गईं।

७९५३ सार्वजनिक भवनोंको क्षति पहुँची।

९१९ पुतले जलाए गए।

२१९१ रेलके डिब्बोंको आग लगाई गई।
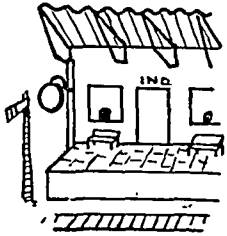
११२२ रेलवे स्टेशन जलाए गए।

८०,१७२ व्यक्तिगत मोटरोंको क्षति पहुँचाई गई।

९१३ जीप गाड़ियोंको क्षति पहुँची।

रु० ९७६५१२०००००००
(९७६५ अरब रुपयोंकी सम्पत्तिका विनाश)

गांधीजी

"व्यक्तिगत रूप से भीड़ के जनून की मुझे जितनी चिन्ता है उतनी सरकारी जनून की नहीं। भीड़ के अनजान लोगों को उनके पागलपन से मुक्त करने की अपेक्षा राज्य करनेमें अयोग्य सिद्ध हुई सरकार को उलट देने का काम बहुत आसान है।"

(यंग इण्डिया, २८-७-'२०)

"कितने ही मामलों में सरकार के त्रासवाद की अपेक्षा प्रजाका त्रासवाद प्रजातंत्र की भावना के विकासमें अधिक प्रतिकूल है।"

(यंग इण्डिया, २३-२-२२)

गांधीजीका वसीयतनामा

[गांधाजी द्वारा अपने अवसानके एक दिन पूर्व अर्थात् २९-१-४८को तैयार किया गया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके संविधानका मसविदा नीचे दिया गया है। अन्तिम लेख होनेके कारण इसे उनका 'अंतिम वसीयतनामा' माना जाना चाहिए।]

विभाजन होने पर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा आयोजित साधनोंके द्वारा भारतको राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होनेके कारण आजके स्वरूपकी कांग्रेसका अर्थात् प्रचारके वाहन और संसदीय प्रवृत्तिके तंत्र रूपमें अव उसका उपयोग समाप्त हो गया है। नगरों और कस्वोंसे अलग सात लाख गाँवोंकी दृष्टिसे भारतकी सामाजिक, नैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना अभी भी शेष है। प्रजातंत्रके लक्ष्यकी ओर भारतकी प्रगतिके वीच सैनिक सत्ता पर विजय स्थापित करनेका मुल्की सत्ताका आन्दोलन अनिवार्य है और इसे राजनीतिक दलों और साम्प्रदायिक संस्थाओंके वीचकी अघटित स्पर्धासे अलग रखना चाहिए। इसे तथा इस जैसे दूसरे कारणोंको लेकर निम्नांकित नियमोंके अनुसार महासमिति कांग्रेसकी वर्त्तमान संस्थाको भंग करने और लोकसेवक संघके रूपमें प्रकट होनेका निर्णय ले। प्रसंगानुसार इन नियमोंमें परिवर्त्तन करनेकी सत्ता संघके हाथोंमें रहेगी।

ग्रामवासी अथवा ग्रामवासियोंसे मनवाले वयस्क पाँच स्त्री-पुरुषोंसे निर्मित प्रत्येक पंचायत एक इकाई होगी।

आसपासकी ऐसी प्रत्येक दो पंचायतोंकी उन्हींमेंसे चुने गए एक नेताके नेतृत्वमें काम करनेवाली एक मंडली वनेगी।

ऐसी सौ पंचायतोंके वन चुकनेके वाद प्रथम कक्षाके पचास नेता अपनेमेंसे दूसरी कक्षाके नेता चुनेंगे और इस प्रकार प्रथम कक्षाके नेता दूसरी कक्षाके नेतृत्वमें काम

करेंगे। जब तक इस प्रकार सम्पूर्ण भारत आवृत नहीं हो जाता, तब तक दो सौ पंचायतोंके ऐसे युग्म रचे जाते रहेंगे और बादमें रचित पंचायतोंका प्रत्येक समूह पहलेकी भाँति दूसरी कक्षाके नेता चुनता जायगा। दूसरी कक्षाके नेता समग्र भारतके लिए एकत्र होकर कार्य करेंगे तथा अपने-अपने प्रदेशोंमें अलग-अलग काम करेंगे। उन्हें जब आवश्यकता अनुभव हो, तब दूसरी कक्षाके नेतागण अपनेमेंसे एक प्रमुख चुन लें। वह, जब तक चुननेवाले चाहें, तबतक सभी समूहोंको व्यवस्थित करे और उनका नेतृत्व करे।

[प्रान्तों अथवा विभागोंका अन्तिम स्वरूप अभीतक निश्चित न होनेके कारण इन सेवकोंके समूहोंको प्रान्तीय या विभागीय समितियोंमें बाँटनेका प्रयत्न नहीं किया गया और इस प्रकार पूरे हिन्दमें काम करनेका अधिकार किसी भी समय रचे गए समूह अथवा समूहोंमें प्रतिष्ठित होता है। सेवकोंके इन समुदायोंको अधिकार अथवा सत्ता, उस अपने स्वामी अर्थात् भारतकी समस्त प्रजासे प्राप्त होते हैं; जिनकी उन्होंने स्वेच्छापूर्वक और कुशलतासे सेवा की है।]

१. प्रत्येक सेवक स्वयं काते हुए सूत अथवा चरखा संघ द्वारा प्रमाणित खादी पहननेवाला हो और मादकद्रव्यसेवी नहीं होना चाहिए। अगर वह हिन्दू है तो उसे स्वयं और अपने परिवारसे सभी प्रकारकी अस्पृश्यता दूर करनी चाहिए। कौम-कौमके बीच एकता, सब धर्मोंके प्रति समभावना तथा जाति, धर्म या लिंगके किसी भी भेदभावसे परे रह कर सभीके लिए समान अवसर और समान स्तरके आदर्श माननेवाला होना चाहिए।

२. उसे अपने कार्यक्षेत्रके प्रत्येक ग्रामवासीके व्यक्तिगत संसर्गमें रहना चाहिए।

३. वह ग्रामवासियोंमेंसे ही कार्यकर्ता तैयार करेगा और उन्हें प्रशिक्षण देगा तथा उनका पत्रक रखेगा।

४. वह अपने नित्यप्रतिके कामोंका लेखा-जोखा रखेगा।

५. वह गाँवोंको इस तरह संगठित करेगा कि जिससे वे अपनी खेती व कुटीर उद्योगों द्वारा आत्मनिर्भर हो सकें।

६. वह ग्रामवासियोंको स्वच्छता व आरोग्यका शिक्षण देगा और उनकी बीमारियों तथा रोगोंको दूर करनेके सभी उपाय करेगा।

७. हिन्दुस्तानी तालीमी संघकी नीतियोंके अनुसार वह नई तालीमके स्तर पर जन्मसे मरण तककी सभी ग्रामवासियोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करेगा।

८. जिनके नाम सरकारी मतदाता सूचियोंमें लिखनेसे रह गए हों, वह उनके नाम उनमें लिखेगा।

९. जिन्होंने मताधिकार प्राप्त करनेकी आवश्यक योग्यता अभीतक प्राप्त नहीं की हैं, वह ऐसे व्यक्तियोंको उसे प्राप्त करनेके लिए प्रोत्साहित करेगा।

१०. उपर्युक्त तथा समय-समय पर जो दूसरे हेतु सिद्ध करनेके लिए कर्तव्यपालनार्थ जिन नीति-नियमोंको संघ बनाएगा, उनके अनुसार वह स्वयं तालीम लेगा और योग्य बनेगा। संघ नीचे लिखी स्वाधीन संस्थाओंको मान्यता देगा :

(१) अखिल भारतीय चर्खा संघ। (२) अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ। (३) हिन्दुस्तानी तालीमी संघ। (४) हरिजन सेवक संघ। (५) गोसेवा संघ।

वित्त

संघ अपना ध्येय पूरा करनेके लिए ग्रामवासियों तथा अन्योंके पाससे पैसा जमा करेगा। गरीब आदमियोंसे पाई-पैसा जमा करने पर विशेष बल दिया जायगा।

१५ : समस्याएँ और प्रवाह

राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रमें प्रजातंत्रकी स्थापना और उसके संवर्द्धनके लिए शांत तथा विधायक क्रान्ति भारतीय राजनीतिकी मुख्य प्रक्रिया है। साथ ही, उसकी मुख्य समस्याएं भी हैं। निर्धन, रूढ़िवादी और अशिक्षित समाजमें प्रजातंत्रको स्थापित करने और उसे बनाए रखनेका काम अत्यन्त कठिन होने पर भी राजनीतिक और आर्थिक जी-हुजूरीकी लम्बी परम्परा और असमानताकी नींव पर रचित वर्णव्यवस्थाके समान सामाजिक रचना रखनेवाले भारतमें स्वातंत्र्य और समानताके आदर्शों पर आधारित प्रजातंत्रकी स्थापना होना असंभव है। भारतीय और विदेशी पर्यवेक्षकों द्वारा प्रदर्शित इस मतकी पुष्टिके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। व्यक्ति-स्वातंत्र्यविहीन एथेन्समें, गुलामी और असीम शोषण पर आधृत अर्थतंत्रवाले अमेरिकामें, धर्मान्धताके कारण विचार-स्वातंत्र्यके मामलेमें अंधे हुए स्विट्ज़रलैण्डमें और त्रासदायी अधिनायकवादकी सदियों पुरानी परम्परा रखनेवाले फ्रान्समें, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड जैसे देशोंमें प्रजातंत्रका विकास हो सका है, अतः यह मान लेनेका कोई कारण नहीं है कि भारतमें प्रजातंत्रकी स्थापना असंभव है और हुई भी तो गांधी-नेहरू जैसे मुट्ठीभर लोगोंके कारण ही और उनके जीवनकाल तक ही प्रजातंत्र टिका रहेगा।

हमारे देशमें प्रजातंत्रका ढाँचा खड़ा हुआ है, सभाएँ और चुनाव रूपी बाहरी चौखटा तैयार हो चुका है, फिर भी सच्चा प्रजातंत्र स्थापित नहीं हो सका है; स्वातंत्र्य, समानभाव, विरोध पक्ष और विरोधी धारणाओंके प्रति हमारे समाजमें उदार दृष्टि दृष्टिगत नहीं होती। हमारा प्रजातंत्र मात्र बाह्याचार है—ऐसी आलोचनामें बहुत-सा तथ्य होने पर भी उसमें कितनी ही भ्रान्तियाँ समाविष्ट हैं। प्रजातंत्रके निर्माणका कार्य कारखानेके निर्माण जैसा अथवा उनमें यंत्रसामग्री तैयार करनेके समान नहीं है और न ऐसा ही है कि उसमें अधिक शक्ति और साधनोंको लगाकर उसे जल्दी पूरा किया जा सकता हो।

प्रजातंत्रके संवर्द्धनका कार्य अत्यन्त कोमल वृक्षको बड़ा करनेके समान दुःसाध्य है। उचित खाद, पानी और सेवासे उसके विकासको थोड़ा तेज किया जा सकता है और उसे फैलाया जा सकता है, पर उसे खींचतान कर या अधिक पानी देकर जल्दी-जल्दी बड़ा नहीं किया जा सकता। आरम्भमें उसकी प्रगति अत्यन्त मंदगतिसे होती है और उसके उचित विकासमें बहुत-सा समय अनिवार्य रूपसे लग जाता है। ऐसे समय पर बहुत बार दशकोंका नहीं अपितु शताब्दियोंका हिसाब लगाना पड़ता है।

बीस वर्षके इस समयमें अफ्रीका और एशियामें, हमारे आसपासके अनेक पड़ोसी राष्ट्रोंमें, प्रजातंत्रके अनेक दीपक झिलमिलाकर बुझ गए हैं। ठीक ऐसे समय सर्वत्र व्याप्त

अंधकारमें हमारे प्रजातंत्रका दिया टिमटिमा रहा है। पं० नेहरूके कथनानुसार "विधाताने खराव परिस्थितियोंमें प्रजातंत्रके परीक्षणके क्षेत्र हेतु भारतको चुना है।" इंग्लैण्डमें प्रजातंत्रकी नींव तेरहवीं सदीमें पड़ी और उसके बाद उसके राजनीतिक स्वरूपका पूर्ण विकास ठेठ बीसवीं सदीमें—सातसौ वर्षोंके बाद—हुआ। हाउस ऑफ लॉर्ड्सकी उपस्थिति अभी तक भी अंग्रेजी प्रजातंत्रकी अपूर्णताकी द्योतक है। अमेरिकामें दो सौ वर्षोंसे प्रजातंत्रकी स्थापना हुई है और वह भी गोरे लोगोंके लिए; परन्तु अपमानित तथा हब्शियोंकी दृष्टिसे अमेरिकाको पूर्ण प्रजातांत्रिक देश नहीं कहा जा सकता। समानता, स्वतंत्रता और बन्धु-भावनाकी घोषणा करनेवाले फ्रान्सके प्रजातंत्रने दो सौ वर्षोंमें चार बार पछाड़ खाई है। योरोपके बहुत-से प्रजातांत्रिक देशोंमें स्त्रियोंको मताधिकार प्राप्त हुए अभी पच्चीस वर्ष भी नहीं बीते और स्विट्ज़रलैण्डकी संघीय संस्थाओंके चुनावमें अभी तक भी मत देनेका अधिकार नहीं है। अमेरिकाकी दलित हब्शी जाति आज भी पूरी स्वतंत्रतासे मताधिकारका उपयोग नहीं कर सकती।

यह ठीक है कि भारतमें भी व्यक्ति और सामाजिक जीवनके अनेक पहलुओंमें—प्रजातांत्रिक संस्थाएँ, प्रजातांत्रिक पद्धति और प्रजातांत्रिक मानसके दर्शन नहीं होते, फिर भी प्रजातंत्रके कलेवरको टिकाए रखनेमें हमें मिली विजय विश्वके इतिहासमें अन्य किसी भी राष्ट्रको इतने समयमें मिली विजयसे रत्तीभर भी कम नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि १९५२से १९६७ तकके समयमें भारतीय नागरिकोंने चार बार और कुछ प्रदेशोंमें तो सात बार अपने मताधिकारका मुक्त और बेधड़क प्रयोग किया है। शासक दलके और विरोधी दलके अनेक महारथियोंको चुनावकी आँधीमें उड़ा दिया है; अनेक प्रदेशोंकी सरकारोंको बदल दिया है। चुनाव-परिणाम जनताके मतोंसे प्रभावित होते हैं, इसका ज्वलन्त और सतत अनुभव लोगोंने किया है।

दूसरी ओर, एक बात यह भी है कि मुक्त मताधिकार मिलने पर भी गरीबी, अज्ञानता और अनुभवहीनताके कारण लोग अपने इस अधिकार और सत्ताका पूरा उपयोग ठीक तरह और सर्वत्र नहीं कर पाते। आदिवासी जातियों, अस्पृश्यों और भूमिहीन निर्धनोंके लिए अभी भी अपने देशमें पूर्ण प्रजातांत्रिक प्रशासनतंत्र स्थापित नहीं हो सका है और उन्हें चुपचाप आँख बन्द कर अपनेसे ऊँचे वर्गकी जीहुक्मी सहन करनी पड़ती है। अभी तक जनताको इस प्रकारका अनुभवयुक्त आत्मबोध नहीं हुआ है कि वह सर्वशक्तिमान है और भारतके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचेमें मनपसंद परिवर्तन करनेमें समर्थ है। संक्षेपमें इसका अर्थ यह है कि भारतमें प्रजातंत्रकी नींव डाली जा चुकी है और तेज़ीसे उसका विकास भी हो रहा है; परन्तु देशमें प्रजातंत्रकी सुदृढ़ और पूर्ण स्थापना का काम अभी भी पूरा नहीं हुआ है, बहुत-से मामलोंमें भारतका प्रजातंत्र विकलांग अवस्थामें दिखाई पड़ता है।

इस हेतुसे कि प्रजातंत्र केवल संघ और राज्योंकी वरिष्ठ सरकारों तक ही सीमित न रहे, सरकारी तंत्र और आम जनता परस्पर सतत और प्रगाढ़ सम्पर्कमें आएँ, लोग अपने प्रश्नोंका स्वयं समाधान करने लगें और समष्टिके कार्योंमें उनकी रुचि जाग्रत हो तथा लोग मात्र मताधिकार धारण करनेवाले नकलचियोंसे निर्जीव और निष्क्रिय न बने रहें, बलवंतराय

मेहता समितिकी स्थापना की गई थी। उसकी सिफारिशोंके अनुसार लगभग सभी प्रदेशोंमे जिला परिषदों, तहसील पंचायतों और ग्राम पंचायतोंकी स्थापना द्वारा राज्यका ढांचा खड़ा कर समाजके कोने-कोनेमें प्रजातंत्रके प्रवाहको फैलानेका प्रयास हो रहा हैं।

यह ठीक है कि पंचायती राज्यका प्रयोग आरम्भ करते समय जो अपेक्षाएँ या आशाएँ रखी गई थीं, वह सभी फलीभूत नहीं हुईं। उलटे उनमें वहुत-से गंभीर दोष और कमियां दिखाई देने लगी हैं। अनुभवसे मालूम हुआ कि अधिकांश पंचायतें प्रजातांत्रिक ढंगसे काम नहीं करती हैं। स्थानीय नेताओं, उच्च वर्गो या जातियों अथवा सम्पन्न व्यक्तियोंके दवावमें आकर पंचायतें अवांछनीय तत्वोंकी स्वार्थपूर्तिका साधन वन गई हैं। इसके अलावा ग्राम और तहसीलकी पंचायतोंके चुनावोंने गाँवोंमें कलह और द्वेषकी मात्रा वढ़ा दी है और अलग-अलग वर्गोंके वीच चल रहे संघर्षको अधिक तीव्र कर दिया हैं। जिनके हित जुड़े हुए हैं वे नेता और उनकी गुटवाज़ीके कारण प्रशासनिक तंत्रकी तटस्थता और कुशलता पर वहुत अधिक वुरा प्रभाव पड़ा हैं। महत्वपूर्ण निर्णय सार्वजनिक हितमें न किए जाकर वहुत ही संकुचित मनोवृत्तिसे व्यक्ति-विशेषके लाभके लिए किए जाते हैं। जनता पंचायती धारा और उसके अटपटे जालमें उलझ जाती है। लोगोंमें आत्मविश्वास और सामूहिक संवंधोंकी संज्ञानता उत्पन्न होनेके स्थान पर नैराश्य और विफलताकी भावना जोर पकड़ती जा रही है। ऐसा अनुभव भी कभी-कभी होने लगता है कि पंचायती और प्रजातांत्रिक नहीं, वल्कि स्थापित और अवाञ्छनीय तत्वोंका अवाधित राज्य है।

इस तरहकी शिकायतमें वहुत तथ्य है कि समाजमें प्रजातंत्रके आरम्भमें, विशेषतः स्थानीय स्तर पर ऐसे ही परिणाम आते रहते हैं। अमेरिकाकी स्थानीय और नगर सरकारोंसे परिचित लोग इस तथ्यको स्वीकार भी करते हैं। प्रजातंत्र आरम्भमें तानाशाही और नौकरशाही तंत्रोंकी अपेक्षा कम कार्यक्षम होता है; परन्तु उसमें निहित लचीलापन और सामूहिक शक्तिके कारण आगे चलकर फैलाव, त्वरा और शक्ति—सभी दृष्टियोंसे अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है। यह भी याद रखना चाहिए कि विद्वेष, विग्रह, समूहोंके वीच संघर्ष, शक्तिशाली वर्गो और वर्णोका वर्चस्व तथा सिरचढ़े तत्वोंकी जीहुक्मी परम्पराकी नींव अपने ग्रामीण जीवनमें अत्यन्त गहरी है। गाँवोंमें झगड़े और कलह चुनावोंने नहीं पैदा किये हैं, उसने तो उन्हें मात्र प्रकट किया है। आर्थिक और सामाजिक सत्ता भोगने वाले नेता अपने स्वार्थके लिए पंचायतके कामोंमें विघ्न डालते हैं और अधिकांश लोग वैयक्तिक और तात्कालिक स्वार्थवृद्धिसे चलते हैं, जिसे देखकर घवरानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रजातंत्रमें आम जनता दैवी या सर्वगुणसम्पन्न नहीं वन जाती। इसके विपरीत अलग-अलग वर्गो और व्यक्तियोंके वीच अपने हितोंको लेकर चल रही खींचतान प्रजातांत्रिक प्रक्रियाका एक अनिवार्य तत्व है। व्यक्तिका हित एक-दूसरेसे सर्वथा विरोधी या भिन्न नहीं है, वह तो एकरूपताका छोटा-मोटा रूप है। व्यष्टि-समष्टिके ऐसे सुदृढ़ सम्वन्धोंकी रचना करनेमें प्रजातंत्रकी सिद्धि है।

केवल नियम वना देनेसे, साधन-सामग्री प्रदान करनेसे या अधिकार सौंप देनेसे ग्राम-पंचायतें प्रजातांत्रिक ढंगसे और सक्षम रूपसे काम नहीं करने लग सकती; कारण कि ग्राम-पंचायतोंकी स्थापनाका प्रयोग केवल प्रशासनिक प्रयोग नहीं है, अपितु वह एक नैतिक और

राजनीतिक प्रक्रिया है। इस कामको पूरा करनेके लिए मुख्य आवश्यकता लोक-शिक्षणकी है और यह लोक-शिक्षण उपदेशोंसे या किताबी ज्ञानसे नहीं मिलता, वरन् संज्ञानता और अनुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आरम्भमें भूलों, अव्यवस्था और कुरीतियोंका खतरा उठाना पड़ता है। खतरा उठानेके लिए अथवा हानि वर्दाश्त करनेके लिए अगर समाज तैयार न हो तो वह स्वशासन चलाना सीख ही नहीं सकता। पंचायती-राज्यकी स्थापनाको अभी पूरा एक दशक भी नहीं हुआ है, अतः यह शोर मचाना अनुचित है कि उसके सुफल नहीं मिल पा रहे हैं। इस तरहके तंत्रकी आम या नारियलके समान लम्बे समयमें फल देनेवाले वृक्षोंके साथ तुलना की जा सकती है।

प्रजातंत्रकी स्थापनाके साथ-साथ और उसके विकासके लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करनेके लिए भारत द्वारा अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न तुरन्त हल किए जाने हैं। इस तरहके प्रश्नोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न राष्ट्रीय एकताका है। भावात्मक एकताका प्रश्न भारतके लिए जीवन-मरणका प्रश्न है; क्योंकि समाजमें एकता स्थापित करनेके लिए और उसे बनाए रखनेके लिए किए जानेवाले कार्योंकी सफलता अथवा असफलता पर देशके अस्तित्वका और उसके भौतिक और सांस्कृतिक विकासका आधार है। भारत जैसे विशाल देशमें इस तरहकी एकता स्थापित करनेके प्रयास विशेष रूपसे कठिन होते हैं। भारतमें सांस्कृतिक तथा विचार-पद्धति विषयक ऐक्य होने पर भी सामाजिक और राजनीतिक ऐक्य स्थापित करनेके प्रयास हमारे इतिहासमें शायद ही दृष्टिगत हों और इस प्रकारके प्रयास मौर्यों व मुगल कालकी एक-दो शतीकी क्षणिक सफलताके बाद समाप्त हो गए मिलते हैं।

संज्ञानपूर्वक प्रयास करने पर भी अभी तक भावात्मक एकता हमारे यहाँ स्थापित नहीं हो सकी है। हम अभी तक अपने-आपको जितना भारतीय मानते हैं, उससे अधिक गुजराती, मराठी, बंगाली या पंजाबी मानते हैं। भाषा, धर्म, आचार और प्रदेशों की भिन्नताको लेकर लोग जितने सजग हैं, उतनी मात्रामें राष्ट्रीय एकताको लेकर सजग नहीं हैं। संकुचित प्रादेशिक भावनाएँ हम सबके हृदयोंमें आरूढ़ हैं। अलग-अलग विभागों, क्षेत्रों, वर्गों और प्रदेशोंके बीच खींचतान चल रही है। अन्य प्रदेशोंके लोगोंके प्रति ईर्ष्या और तिरस्कारके भावोंको वाणी देनेवाली सेनाएँ क्षणभरमें लोकप्रिय बन जाती हैं; मामूली कारणोंको लेकर फूट पड़नेवाले दंगोंमें लोग एक-दूसरेकी जन-हानि करते हैं और धन-सम्पत्तिका नुकसान करते हैं।

देशके विभिन्न भागोंको संकलित कर लेनेवाली और विचार या साहित्यका जिसके द्वारा विनिमय हो सके, ऐसी भाषाका प्रश्न अभी तक हल हुए बिना ही पड़ा है। देशकी प्रादेशिक अखण्डताको चुनौती देनेवाली पूर्व प्रदेशके आदिवासियोंकी माँग भविष्यके अमंगल-अपशकुनोंकी भांति हमें घुड़कियाँ देती रहती है। काश्मीर प्रदेशके बहुत-से लोग सीमा पार दृष्टि लगाए हुए हैं और जमींदोज़ हुआ हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न भूत बनकर अपनी कब्रसे उठ बैठा लगता है।

एकताके प्रश्नकी विकटता और उसके महत्वसे इनकार नहीं किया जा सकता; परन्तु जब हम एकताकी आदर्श कसौटी पर अपने देशको कसने लगते हैं, तब अधिकांशतः

राष्ट्रीय एकता परिषद्

'राष्ट्रीयता एकता परिषद्'का यह मन्तव्य रहा कि राष्ट्रीयता एकताको पुष्ट और विकसित करनेके लिए राजनीतिक दलों, समाचारपत्रों, छात्रों और सार्वजनिक जनता आदिके लिए आचार-संहिताका होना जरूरी है। आगामी चुनावको ध्यानमें रखकर राजनीतिक दलोंके लिए एक खास आचार-संहिता वना देनी चाहिए। इन सब मामलोंसे सम्बद्ध हितोंके साथ विचार-विनिमय किए विना व्यापक नियम वना सकना संभव नहीं। इस पर भी परिषद्में उपस्थित विभिन्न दलोंके प्रतिनिधि राजनीतिक दलोंके लिए निम्नलिखित नियम तुरन्त स्वीकार करने पर सहमत हो गए थे:—

१. भिन्न-भिन्न जातियों तथा धार्मिक या भाषाई सम्प्रदायोंके बीच तिरस्कार उत्पन्न करनेवाली या संकीर्णता बढ़ानेवाली कोई भी प्रवृत्ति किसी भी दलको नहीं करनी चाहिए।

२. राजनीतिक दलोंको समाधान तथा मध्यस्थताके सभी मार्गोंका अनुसरण करनेके पूर्व साम्प्रदायिक, जातीय, प्रादेशिक अथवा भाषाई प्रश्नोंसे सम्बद्ध शिकायतोंको लेकर समर्थन प्राप्त करनेके लिए आन्दोलनका मार्ग ग्रहण नहीं करना चाहिए कि जिससे शान्ति भंग हो और जनताके अलग-अलग भागोंके वीच कटुता उत्पन्न हो अथवा संकीर्णता बढ़े।

३. अगर कोई भी राजनीतिक दल किसी आन्दोलनको चलाता है तो उसे इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि उसके आन्दोलनके दौरान हिंसाको प्रोत्साहन न मिले तथा किसी भी प्रकारके हिंसात्मक कृत्योंका आश्रय न लिया जाय। और अगर दलके सभी प्रयत्नोंके वावजूद हिंसा फूट निकले तो दलको उसकी तुरन्त निन्दा करनी चाहिए।

४. राजनीतिक दलोंको दूसरे दलों द्वारा आयोजित सभाओं और जुलूसोंमें अवरोध उत्पन्न करने तथा उन्हें अस्त-व्यस्त करनेकी प्रवृत्तियोंसे दूर रहना चाहिए।

५. कानून व व्यवस्था वनाए रखनेके लिए कदम उठाते समय सरकारको दो वातोंका ध्यान रखना चाहिए कि नागरिक स्वातंत्र्य पर अनावश्यक वंधन न लगाए जायँ और राजनीतिक दलोंकी दैनिक प्रवृत्तियों पर किसी प्रकारकी भी वाधा पहुँचाने वाले कदम न उठाए जायें।

६. किसी भी स्तर पर व्यक्तिगत या अपने पक्षके सदस्योंके हितोंको पूरा करनेके लिए दूसरे पक्षके सदस्योंके हितोंको नुकसान पहुँचानेकी दृष्टिसे राजनीतिक सत्ताका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

अलग-अलग राजनीतिक दलोंके प्रतिनिधियोंको प्रान्तीय व राष्ट्रीय स्तर पर शिष्टाचारके नियम गढ़ लेने तथा परस्पर मंत्रणा और समाधानके लिए तंत्र तैयार करनेका प्रयत्न जारी रखना चाहिए।

राष्ट्रीय एकताके लिए विभिन्न प्रदेशोंके संतुलित आर्थिक विकासका प्रश्न महत्वपूर्ण है। अभी भी विविध प्रदेशोंके वीच असमानताका अन्तर वड़ा है; परिणामतः आर्थिक दृष्टिसे पिछड़े हुए क्षेत्रोंके विकासको विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। अगर प्रादेशिक और आर्थिक असमानता दूर करनी हो तो विभिन्न राज्योंके वीच मजदूरों और अधिकारियोंकी मुक्त अदला-वदलीके सभी व्यवधानोंको दूर करना आवश्यक है। ग्रामीण-क्षेत्रोंका आर्थिक विकास, अधिक विकेन्द्रीकरण और आर्थिक विकासकी प्रवृत्तियोंके अधिक व्यापक प्रसार पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

[सितम्बर-अक्तूबर, १९६१में दिल्लीमें हुई 'राष्ट्रीय एकता परिषद्'के सर्वसम्मत निवेदनसे]

राष्ट्रीय ऐक्यका घोषणापत्र

श्रीनगरमें हुई द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय एकता समिति द्वारा स्वीकृत ध्येयका घोषणापत्र निम्नानुसार है:

"हमारे राष्ट्रीय जीवनकी बुनियाद सामान्य नागरिकत्व, विविधतामें एकता, धार्मिक स्वतंत्रता, अ-साम्प्रदायिकता, समानता, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय और सभी कौमोंके बीच बन्धुभाव है। राष्ट्रीय एकता समिति इन जीवन-मूल्योंमें अपनी श्रद्धाका पुनरुच्चार करती है और अपने ध्येयकी सिद्धिके लिए स्वयं श्रेष्ठ प्रयास करेगी।

इस पर भी, राष्ट्रीय एकता समिति गत थोड़े वर्षोंमें देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें हुई साम्प्रदायिक घटनाओं पर गहरी चिन्ता व्यक्त करती है। समिति इस वास्तविकता पर बल देती है कि बिखरे साम्प्रदायिक और विभाजनवादी संघर्षोंके बावजूद भी सामान्य लोग, चाहे वे फिर किसी भी धर्मके हों, और उनका विशाल बहुमत शान्ति और मेलसे रहता है तथा उनमें हिंसा और अराजकताके प्रति कोई रुचि नहीं है।

राष्ट्रीय एकता समिति राष्ट्रीय एकताके मूलमें ही आघात करने वालोंकी निन्दा करती है; और वह सभी राजनीतिक दलों, ऐच्छिक संस्थाओं, अन्य नागरिक समूहों, समाचारपत्रों, समाजमें प्रभावशाली नेताओं और वस्तुतः सभी शुभेच्छावादी मनुष्योंसे इस तरहकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए अपील करती है।

इस प्रकारके विचारोंको अंकुशमें रखनेके लिए समिति नागरिकोंसे (१) साम्प्रदायिक विष-वमन और प्रादेशिक शत्रुताको निरुत्साहित करने और समाजके पथभ्रष्ट तत्त्वोंको हिंसाके मार्गसे विमुख करने; (२) इस देशके जो सिद्धान्त हैं, विशेषतः सहनशीलता और सुमेल जैसे सिद्धान्तोंका सक्रिय और जोरदार प्रचार करने; (३) राष्ट्रीय एकता और दृढ़ताके हितमें समाजकी रचनात्मक शक्तियोंको गतिशील कर लोगोंको नेतृत्व, प्रोत्साहन और शक्ति प्रदान करने और (४) राष्ट्रीय जीवनमें भाई-चारेका भाव पैदा करनेके लिए कौमोंके लिए अनुकूल प्रवृत्तियाँ और कार्यक्रम खोज निकालनेकी अपील करती है।

समिति इस बात पर बल देना चाहती है कि यह काम अकेली सरकारका नहीं है, फिर भी सरकारको एकताके बलोंको मज़बूत करनेमें और इस समितिकी सिफारिशोंको शीघ्र तथा प्रभावशाली ढंगसे क्रियान्वित करनेमें महत्वपूर्ण भाग अदा करना है। यह विकट काम राजनीतिज्ञों, शिक्षाशास्त्रियों, कलाकारों, साक्षरों, शिक्षकों, माता-पिता तथा विद्यार्थियों, बुद्धिजीवियों, व्यापारियों और मजदूर नेताओं—इस प्रकार सभी नागरिकोंकी संयुक्त जिम्मेदारी है।

समिति सम्पूर्ण आतुरतासे भाषाकीय, धार्मिक, सांस्कृतिक, निष्ठा आदिके किसी भी भेदभावके बिना सभी भारतीयोंको राष्ट्रीय एकता और दृढ़ताकी अभिवृद्धिके इस महत्वके महान कार्यमें सम्मिलित होनेका आमंत्रण देती है।

हम योरोपीय राष्ट्रोंमें प्रवर्तित राष्ट्र-भावनाको आदर्श मानकर चलते हैं; क्योंकि राष्ट्र-भावना विषयक हमारी धारणा योरोप, विशेषतः इंग्लैण्डके आधार पर विकसित हुई है। परन्तु इंग्लैण्ड, फ्रान्स, बरमा, श्रीलंका या जापान आदि छोटे-छोटे देशोंकी तुलनामें हमारा राष्ट्रीयत्व हमेशा निराला रहेगा। यह बात हमें स्पष्टतः जान लेनी चाहिए। छोटे-छोटे राष्ट्रोंमें धर्म, भाषा रहन-सहन, जलवायु, आर्थिक जीवन और आचार-विचार लगभग समान होनेके कारण एकताकी जितनी तीव्र अनुभूति पैदा हो सकती है, उतनी भारत जैसे विस्तृत और वैविध्यपूर्ण देशमें कभी नहीं हो सकती। मानव-स्वभाव एकांगी या एकनिष्ठ नहीं है। अपने-अपने धर्म, भाषा, जाति अथवा प्रदेशोंके प्रति अनुराग-भावना स्वाभाविक है और बड़े देशोंमें स्वागत योग्य भी है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह भावना राष्ट्रके प्रति व्यापक निष्ठाकी विरोधी न बन जाय। इंग्लैण्डमें वेल्स परगनेका प्रश्न, बेल्जियममें अभी हालमें हुए भाषायी दंगे, अमेरिकामें गोरे-हब्शियोंके बीच खूंख्वार संघर्ष और योरोपके बहुत-से राष्ट्रोंमें अपने ही यहूदी देशबंधुओंके प्रति अविश्वास और तिरस्कार—अगर इन सबको ध्यानमें रखें तो पता चलेगा कि छोटे और सुखी राष्ट्रोंमें भी भावात्मक एकता पूरी तरह हासिल नहीं हो सकी है; तब अनेक प्रकारकी उलझनोंमें पड़े हुए और निराश हुए हमारे नागरिकोंकी निष्ठा यदि बँटी हुई और बहुमुखी है तो उसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। सतह पर विग्रहकी लहरें उठते रहने पर भी चीनी और पाकिस्तानी आक्रमणोंके समान संकट कालमें समग्र देशके कोने-कोनेसे देशकी पुकारका जो प्रतिघोष उठा, वह इस बातकी सूचना अवश्य देता है कि हमारी राष्ट्रीय एकताकी जड़ें बहुत गहरी हैं।

हाल में ही जिस भौगोलिक और राजनीतिक एकताको हमने स्थापित किया है, वह स्वयंसिद्ध नहीं है और भारतीय जनताके प्रयासों या नेताओंसे निष्पन्न नहीं है। यह तो अंग्रेजी साम्राज्यके एकाधिकारी शासनके इतिहास द्वारा प्रकट किया गया परिणाम है। अंग्रेजी शासनकालमें देशी राज्योंके जगह-जगह स्थापित घावोंके कारण देशके तृतीयांशको एकछत्र शासनका भी लाभ नहीं मिला। इस प्रकार अधूरी और कृत्रिम रूपसे स्थापित एकतासे सच्ची राष्ट्रीय एकता स्थापित करना सरल नहीं है और उसके लिए कोई सीधा-सादा और छोटा रास्ता नहीं है। प्रजातंत्रकी भांति ऐसी सर्वाङ्गीण एकताका भी हमारे देशमें विकास हो रहा है। यह प्रक्रिया भी ऐसी है जिसमें तेज़ दौड़ नहीं लगाई जा सकती। इस तरहके परिवर्तनोंमें एक-दो सदियाँ लग जाती हैं और इस समयको अधिक नहीं माना जा सकता। इस लम्बी मंजिलमें कभी-कभी मात भी खानी पड़ती है, प्रजातांत्रिक कार्य-पद्धतिके कारण धांधलीबाज़ीकी मात्रामें वृद्धि हो सकती है; परन्तु इन अस्थायी उफानसे घबराकर मूलभूत तत्वोंके विकासके प्रति दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिए।

भावात्मक एकताका विकास करनेके लिए बौद्धिक और साहित्यिक क्षेत्रमें सभी प्रदेशोंको संकलित कर लेनेवाले विचार-विनिमय निरंतर बनाए रखने आवश्यक है। विचारों, अनुभवों और अनुभूतियोंके विनिमयका माध्यम बन सकनेमें समर्थ भाषा या भाषाओंका प्रश्न भारतका सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है। बौद्धिक स्तर पर व राष्ट्रीय कक्षा पर विचार-विनिमय बुद्धिजीवियोंके लिए जीवन-मरणका प्रश्न है। यह समस्या अत्यन्त जटिल

है। तथ्यों और उसके विविध अंगोंकी उपेक्षा कर हम उसे और भी जटिल बनाते जा रहे हैं।

हमारे देशमें, १६६२ बोलियाँ प्रचलित हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे उसके तीन विभाग किए जा सकते हैं: संस्कृतसे निष्पन्न उत्तर भारतमें प्रचलित बोलियाँ, द्रविड़ परिवारकी—विशेषत: दक्षिण भारतमें बोली जानेवाली बोलियाँ और देशके कोने-कोनेमें फैली हुई आदिवासियोंकी बोलियाँ। इनमें ढाई सौ से अधिक भाषाएँ हैं, जिनमें १५ भाषाएँ तो ऐसी हैं जो दस करोड़ लोगोंसे भी अधिकके द्वारा बोली जाती है और जिन्हें प्रादेशिक भाषाओंके रूपमें संविधानमें स्थान प्राप्त है। समग्रत: ७८ प्रतिशत प्रजा उनका उपयोग करती है। परन्तु उत्तर भारतमें जिसका करोड़ों लोग उपयोग करते हैं उस उर्दू भाषाका समावेश इस सूचीमें नहीं है। यह दलील दी जा सकती है कि यह भाषा किसी एक प्रदेशमें नहीं बोली जाती, लेकिन इस कदममें साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहकी गंध आए बिना नहीं रहती; क्योंकि उर्दू भाषा मुसलमानोंकी भाषा है, इस तरहका भ्रम बहुसंख्यक लोगोंमें है।

अंग्रेजी शासनके समय अंग्रेजी भाषा विदेशी होने पर भी प्रशासनिक तंत्रकी, विचार-विनिमयकी और ज्ञान-साधनाकी भाषा बन गई। शिक्षित वर्गमें उसकी जड़ें काफी गहरी जम गई हैं और भौतिक तथा बौद्धिक दृष्टिसे अपनेसे उच्च समाजकी भाषाके रूपमें उसकी प्रतिष्ठा भी स्थापित हुई है। इतना ही नहीं, अपितु समाजके आर्थिक और राजनीतिक जीवनमें अंग्रेजी भाषाके जानकारोंका वर्चस्व स्थापित है और स्वराज्य-प्राप्तिके बाद भी उनके नेतृत्वके नीचे १९४७के बाद प्रजातंत्रकी रचना विषयक प्रगतिशील विचारों और ध्येयोंको अपना लिया गया है। दूसरी ओर, राष्ट्रभक्ति, विदेशी भाषाके विरुद्ध विरोध और प्रशासनिक सरलता—इस प्रकारकी अनेक दलीलोंके आधार पर हिन्दीको प्रशासनकी भाषाके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है और पंद्रह वर्षके बाद हिन्दी भाषाको अंग्रेजी भाषाका स्थान दिया जाना निश्चित किया गया। परन्तु इस परिवर्तनका दायित्व सरकारी-तंत्रके हाथमें होनेके कारण, अधिकांशत: सरकारी अधिकारियोंका हिन्दी भाषासे अपरिचित होना तथा उनके पुरानी लीक पर चलते रहनेके कारण इस परिवर्तनको व्यावहारिक रूप देनेके लिए अपेक्षित कदम उठाए ही नहीं जा सके। संसद और विधानसभाओंमें बैठे हुए सदस्योंने प्रसंगोपरांत उसके लिए हायतोबा की, आयोगोंकी नियुक्तियाँ हुईं, रिपोर्टें तैयार हुईं, परन्तु परिवर्तनकी नीतिका सातत्य बना नहीं रह सका।

भाषाका प्रश्न मुख्यत: शैक्षिक है और साथ ही प्रशासनिक भी। इस दिशामें लगभग सर्वानुमति प्रवर्तित हो गई है कि शैक्षिक प्रथाओंमें मातृभाषा शिक्षाका सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। परन्तु इस पर भी उच्चस्तरीय शिक्षाके लिए माध्यम होनेकी सूक्ष्म शक्ति भारतीय भाषाओंमें नहीं है, जटिल विचारोंके लिए उचित शब्दभण्डार उनमें नहीं है—इस प्रकारकी कुछ उलझनें प्रस्तुत की जाती हैं। दूसरी ओर, भाषाशुद्धिके आग्रही अन्य भाषाओंके शब्दोंके विनियोगके लिए तैयार नहीं हैं। योरोपमें प्रयुक्त अनेक भाषाओं, रूसमें प्रयुक्त अनेक एशियाई भाषाओंमें और चीन तथा जापानकी भाषाओंमें अगर उच्च शिक्षण दिया जा सकता है तो भारतीय भाषाओंमें क्यों नहीं दिया जा सकता? इसके उत्तरमें

अभी तक कोई भी तर्कसंगत दलील प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। अगर प्रशासनकी दृष्टिसे देखें तो प्रजातांत्रिक समाजका यह एक न लुप्त होनेवाला लक्षण है कि उसके प्रशासन तंत्रमें और न्यायतंत्रमें लोग प्रत्यक्ष रूपसे भाग ले सकें और उसकी कार्यवाहीको समझ सकें; अतः इनमें लोकभाषाका उपयोग होता है। भारतकी प्रजाका यह दुर्भाग्य है कि पिछले हजार वर्षोंसे उसका प्रशासनिक कार्य विदेशी भाषाओंमें हो रहा है: फारसी या अंग्रेजी? परिणामतः उत्पन्न वकीलों, प्रशासनिक अधिकारियों और शासनके उच्चवर्गके लोगोंने प्रजाको खूब हैरान किया है। आज भी अंग्रेजी भाषाके उपयोगके कारण हमारे यहाँकी निचली अदालतोंमें न्यायकी किस प्रकार विडम्बना होती है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अंग्रेजोंके चले जानेके बाद भी अंग्रेजीके चलते रहने और सर्वत्र उसका प्रभुत्व बने रहनेके कारण सामान्य जनताको अपनी स्वतंत्रताका सीधा अनुभव नहीं हुआ; उनके सिर पर तो वही प्रशासन, वही परम्परा और वही भाषा थोप दी गई है। अगर हमें अपनी प्रजाको वास्तविक प्रजातंत्रका स्पर्श कराना हो तो शिक्षाके क्षेत्रमें मातृभाषा और प्रादेशिक क्षेत्रमें प्रादेशिक भाषाओंको स्वीकार करना ही पड़ेगा (बहुत बड़े समुदायके लिए ये दोनों भाषाएँ एक ही अथवा लगभग एक-सी ही हैं)। सौभाग्यसे इन दोनों प्रश्नोंको लेकर कोई विशेष ऊहापोह नहीं है; क्योंकि बहुत-से लोगोंने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है।

अब प्रश्न रह जाता है सम्पर्क भाषाका। अलग-अलग प्रदेशोंको संकलित करनेके लिए प्रशासन और विचार-विनिमयकी भाषाका स्थान महत्त्वपूर्ण है. आज इस कामको अंग्रेजी भाषा करती है। यह स्थान स्वराज्यके बाद देशमें किस भाषाको दिया जाय, यह भाषा-समस्याका सबसे अधिक चर्चित और ज्वलन्त प्रश्न है। विशेषतः एक प्रदेशकी भाषा दूसरे प्रदेशोंमें समझी नहीं जाती, अतः अगर किसी अन्य सबल सम्पर्क-भाषाके होने पर अथवा सबको स्वीकार्य न होने पर यह भय अनुचित नहीं माना जायगा कि देशका विचारात्मक ऐक्य, उसके बाद भावात्मक ऐक्य और अन्ततः राजनीतिक ऐक्य नष्ट हो जायगा। आज अंग्रेजी भाषाके माध्यमसे देशके कोने-कोनेसे शिक्षित लोग परस्पर विचार-विनिमय कर सकते हैं, जो छोटी-मोटी सिद्धि नहीं है। अतः हमारे यहाँ प्रचलित अनेक भाषाओंके शंभु मेलेमेंसे किस भाषाको यह स्थान दिया जाय, इस विषयमें देशमें उग्र विवाद चल रहा है।

संविधानने यह स्थान हिन्दीको दिया है। ४२ प्रतिशत लोगोंकी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा हिन्दी या हिन्दीकी उपभाषा हैं। ६६ प्रतिशत लोग किसी विशेष असुविधाओंके बिना इस भाषाको समझ लेते हैं या उसका उपयोग कर सकते हैं। अतः परस्पर व्यवहारके लिए यह भाषा सहज और स्वाभाविक रूपसे प्रयुक्त होती आ रही है। व्यापार, यात्रा, चलचित्र और रेडियोके समान मनोरंजनके साधनोंने भी हिन्दीके चौतरफा फैलावमें बहुत बड़ा योग दिया है। परन्तु साहित्यकी गुणवत्ताकी दृष्टिसे यह भाषा बंगला, तमिल या मराठीसे निम्न स्तरकी है। पूर्वी भारतके आदिवासी और दक्षिण भारतके ६.३५ लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्रमें बसनेवाले दस करोड़ लोग हिन्दी भाषासे सर्वथा अपरिचित हैं और उत्तर भारतके लोगोंके लिए द्रविड़ भाषाएँ सीखना जितना मुश्किल है, उतना ही इन लोगोंके लिए हिन्दी सीखना कठिन है। भाषाका प्रश्न आज तो लोगोंके आक्रोशको जाग्रत

करनेका साधन बन गया है। परन्तु अगर निष्पक्ष और सर्वसम्मत कोई हल खोजना हो तो यह असाध्य समस्या नहीं है।

इस मामलेमें इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी जैसे छोटे और एकभाषी राष्ट्रोंके तथा अन्य अनेक बड़े देशोंके उदाहरण हमारे लिए उपयोगी नहीं होंगे। अमेरिकामें आरम्भमें अंग्रेजी-भाषी उपनिवेशोंका प्राधान्य होनेके कारण और अन्य भाषाभाषी अलग-अलग स्थलों पर बसने और स्थानीय लोगोंके साथ सम्मिलित हो जानेके कारण, अन्य भाषाएँ उपयुक्त अनु-पातमें प्रयुक्त होनेपर भी, अंग्रेजी भाषा सर्वसामान्य बन गई। रूसमें रूसी भाषा बोलने वालोंके प्रभुत्व, गैररूसी भाषाओंके पिछड़ेपन और विशेषतः अधिनायकवादी शासनतंत्रके कारण वहाँ अब तक यह प्रश्न उग्र रूप धारण नहीं कर सका है। चीनके प्रदेशोंमें अलग-अलग भाषाएँ बोली जाने पर भी उनकी लिपि विशिष्ट प्रकारकी और एक लिपिके सार्व-त्रिक प्रयोग तथा अधिनायकवादी शासनतंत्रके कारणसे इस प्रश्नकी उग्रता शान्त रही है। हमारे देशकी स्थिति इन सबसे भिन्न और विलक्षण है।

प्रत्येक राष्ट्रमें व्यवहार-विनिमयके लिए अन्तर्देशीय माध्यमकी आवश्यकता होती है। लेकिन इस माध्यमका एक ही होना जरूरी नहीं है। बेलजियम, स्विट्जरलैण्ड, फिनलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, केनेडा जैसे छोटे और कम आबादी वाले राज्योंमें भी दो, तीन, चार भाषाओंको राज्यकी भाषाओंके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है। भारत जैसे विशाल देशके लिए एक ही भाषाको मान्यता देनेका आग्रह करना आवश्यक नहीं है। इस दृष्टिसे भारतकी इस परिस्थितिमें हिन्दीको ही समग्र भारतके लिए सम्पर्क-भाषाका स्थान देनेका विधानसभाका निर्णय उचित या बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। दक्षिणको छोड़कर हिन्दी भाषा लगभग सभी प्रदेशों—भारतके लगभग ६६ प्रतिशत लोगोंके लिए सम्पर्क-भाषाके रूपमें सरलतासे काम दे सकती है; क्योंकि भाषाओंमें जितनी भिन्नता लिपिकी है, उतनी शब्दोंकी या व्याकरणकी नहीं है और लिपि भाषाका महत्वपूर्ण अंग होने पर भी उसका अविभाज्य अंग नहीं है। लिपिको लेकर रूसने अनेक प्रयोग किए हैं; परन्तु इस प्रश्नकी जटिलतामें वृद्धि इसलिए भी होती है कि दक्षिण भारतमें बोली जानेवाली चार भाषाएँ : तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़; द्रविड़ भाषासे उत्पन्न होने पर भी उनके बीच इस प्रकारकी कोई समानता नहीं है। तो ऐसी स्थितिमें हिन्दीके अतिरिक्त दक्षिण भारतकी चारों भाषाओंको सम्पर्क-भाषाओंका स्थान देना असंभव नहीं माना जाना चाहिए। यह ठीक है कि इससे आदिवासियोंकी भाषाको लेकर कोई समाधान नहीं होता; क्योंकि इनके समूह इतने छोटे हैं या एक-दूसरेसे इतने भिन्न हैं कि उनका इकाईके रूपमें विचार नहीं किया जा सकता। उनकी भाषाएँ शायद ही प्राथमिक अथवा अधिक-से-अधिक माध्यमिक कक्षाओं तक माध्यम बननेकी क्षमता रखती होंगी। संक्षेपमें कहें तो भारतकी संघ सरकार द्वारा बहुभाषित्व अपनाए जानेके अलावा भाषा-प्रश्नका कोई सरल समाधान दिखाई नहीं देता। इस प्रश्नको थोड़े समयके लिए टालनेका ही प्रयत्न किया जा रहा है, जो उचित नहीं है। प्रश्नोंको टालते रहनेसे उसका कोई हल नहीं निकल आता, बल्कि उसमें विकृति पैदा होने लगती है।

इस प्रश्नके तात्कालिक उपायके रूपमें स्वीकृत त्रिभाषा-सूत्रमें अंग्रेजीको स्वीकार किया गया है। पर अगर अंग्रेजी भाषा जारी ही रखनी हो तो अन्य किसी भी प्रकारकी हायतोबा करनेकी आवश्यकता नहीं है। इससे तो जनतासे दूर रहकर और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगोंके द्वारा ही शासन चलाया जा सकता है और इस तरहका शासन प्रजातांत्रिक शासन नहीं माना जा सकता।

भाषा-समस्याकी चर्चामें दिखाई देनेवाला आक्रोश बहुत बार तो प्रादेशिक भावनाओंके प्रदर्शन-रूपमें ही होता है और धार्मिक, भाषागत अथवा सांस्कृतिक वैविध्य रखनेवाले बड़े राज्योंमें प्रादेशिक भावनाओंकी खींचतान हमेशा प्रबल होती है। अमेरिका और स्विट्ज़र-लैण्डकी भाँति यह कई बार तो अन्तःविग्रह तक पहुँच जाती है। प्रादेशिक भावनाओं और संघीय एकताके बीच संतुलन बनाए रखनेके लिए सतत सावधान रहना पड़ता है। ब्रिटिश शासकोंके अज्ञान और उपेक्षा, इंग्लैण्डके औद्योगिक और आर्थिक हितोंको नुकसान न पहुँचे, यह ध्यानमें रखनेकी तत्परता और देशी राज्योंकी उपस्थितिके कारण पैदा हुई शासनतंत्रोंकी विविधता—इन सब प्रकारके आर्थिक और राजनीतिक कारणोंसे अलग-अलग प्रदेशोंके शैक्षिक और आर्थिक विकासके स्तरोंमें बहुत बड़ा अन्तर रहनेके कारण प्रादेशिक भावनाएँ अत्यन्त द्वेषपूर्ण हो गई हैं। इतना ही नहीं, अपितु यह सच्ची-झूठी भावना भी प्रबल होती गई है कि अन्य प्रदेशोंके लोग उनका शोषण करते हैं, उनकी साधन-सम्पत्तिका अनुचित लाभ उठाते हैं और उन्हें उचित विकाससे वंचित रखते हैं। भारतके सभी प्रदेश परस्परावलम्बी हैं, एकता बनाए रखनेमें और राष्ट्रीय विकासमें सभीका लाभ है—अगर यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे सबकी समझमें न आए तो पारस्परिक पूर्वाग्रह दूर करना मुश्किल ही है।

प्रादेशिक भावनाएँ लगभग सभी राज्योंमें और सभी भाषाई समूहोंमें हैं। परन्तु कुछ प्रदेशोंमें यह अधिक जोर पकड़ रही है—विशेषतः सीमा प्रान्तोंमें। समग्रतः, स्वतंत्र तमिलनाडुकी माँगमें, नागा, मीज़ो और कूकी प्रजाके विद्रोहमें, काश्मीरी प्रजामें प्रवर्तित उदासीनतामें और सर्वसाधारण मुसलमानोंके पाकिस्तानके प्रति अनुरागमें यह भावना लगभग अलगताकी हद तक पहुँच गई है। इसमें भारतीय संघके अंगरूप बने रहनेकी स्पष्ट या अस्पष्ट अनिच्छाका भी दर्शन किया जा सकता है।

इस समस्याको हल करनेके लिए संसद द्वारा अपनाया गया मार्ग अत्यन्त विचित्र है। उसने प्रादेशिक अलगताकी माँग अथवा राष्ट्रीय सार्वभौमत्वको चुनौती देनेसे सम्बद्ध प्रचार करनेके कामको अपराध माननेवाला कानून गढ़ लिया है और चुनावमें भाग लेने वाले प्रत्येक प्रत्याशीको देशकी एकता तथा अखंडतामें आस्था रखनेकी शपथ लेनी पड़ती है। संघसे अलग होनेकी माँग अवश्य अनुचित और खतरनाक है; परन्तु अलगावकी यह भावना जब देशके किसी कोनेमें प्रबल होती है, तब उसके कारणोंको खोजने और उनका निराकरण करनेके बदले उसका उच्चारण तक दबा दिया जाता है। यह धारणा भी गलत है कि इस प्रकार देशकी एकता बनी रहेगी या दृढ़ बन जायगी। यह सत्य भूल नहीं जाना चाहिए कि लीपापोती करनेसे दीवारकी दरारको ढँका तो जा सकता है, पर

उसे जोड़ा नहीं जा सकता। अप्रिय और खतरनाक दिखाई देनेवाले विचारोंको प्रकट करने तथा उसके प्रचारका सीमित स्वातंत्र्य प्रजातंत्रका सच्चा वल है। समष्टि और राज्य-सत्ताको पसंद आनेवाले विचारोंका प्रचार करनेकी छूट तो अधिनायकवादमें भी मिलती है।

भाषा, समाज-व्यवस्था, वेशभूषा व आचार-विचारकी दृष्टिसे उत्तर भारत और दक्षिणके चार राज्योंके बीच (विशेषतः तमिलनाडुके बीच) वहुत विभिन्नता है। वहाँ इस प्रकारकी एक भावना अच्छी-खासी फैली हुई है और यदाकदा उच्च स्वरमें व्यक्त भी की जाती रही है कि उनके साथ प्रत्येक मामलेमें अन्याय किया जाता है और अधिक आवादी वाले प्रदेश लाभ ले जाते हैं। 'पंच द्रविड़ोंकी एकता स्थापित कर समस्त दक्षिण भारतका स्वतंत्र और सार्वभौम राज्य स्थापित करना और द्रविड़-संस्कृतिका वैभव पुनः पूर्ण रूपमें प्रकट करना'—इस उद्देश्यको सामने रखनेवाली द्रविड़ कषगम और उससे उत्पन्न द्रविड़ मुनेत्र कषगम नामक दोनों संस्थाओं द्वारा चलाया गया आन्दोलन थोड़ा-वहुत लोकप्रिय वहुत वन गया था। यह आन्दोलन द्विमुखी है। जिस रूपमें वहाँके निवासी उत्तरके लोगोंके प्रति तिरस्कारकी भावना रखते हैं उसी प्रकार स्थानीय स्तरपर आर्य-संस्कृतिके प्रतिनिधि-रूप ब्राह्मणों—उच्चवर्णों और द्रविड़ मानी जानेवाली जातियोंके वीचके संघर्षको भी समाविष्ट कर लेते हैं। द्रविड़ आन्दोलनका यह प्रमुख स्वर हो गया है कि सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक तथा राजनीतिक क्षेत्रमें सभी ओर वर्चस्व जमाकर वैठनेवाले ब्राह्मणोंकी सत्ताको समाप्त किया जाय। इस स्तर पर राजनीतिक मतभेद लुप्त हो जाता है। चीनी आक्रमणके वाद द्रविड़ आन्दोलनमें निहित अलगतावादी तत्व गौण हो गया है और मुनेत्र कषगमकी ओरसे औपचारिक रूपसे उसे छोड़ भी दिया गया है; परन्तु वह सम्पूर्णतः लुप्त नहीं हुआ है। भारतका संविधान, भारतका ध्वज, भारतका राष्ट्रीय गीत—सभीके प्रति तिरस्कार फैलानेवाले आन्दोलनको चलानेवाले तथा स्वतंत्र तमिलनाडुकी पताका फहरानेवाले लोगोंके प्रति वहुत-से लोगोंकी सहानुभूति है और अभीतक संस्कृत और उर्दूके नामोंको हटानेका आग्रह रखा जा रहा है। वहाँके विचक्षण नेता यह मानते हैं कि हिन्दीको राजभाषा बनानेका निर्णय दक्षिणके दर्जेको जानबूझकर कम करनेके लिए लिया गया है। इस प्रकारकी भावनाको शक्ति या भाषण-प्रवाहसे नहीं वदला जा सकता। स्वानुभव और समय—यही इसके दो अन्तिम निदान हैं।

काश्मीरमें फैली हुई उदासीनता आजादीका उत्तराधिकार है। विशिष्ट परिस्थितियोंके कारण स्थानीय नेताओंके हाथोंमें असीम सत्ता देनेके परिणामस्वरूप यह प्रश्न विशेष रूपमें उलझ गया है। अविभाजित भारतका यह देसी राज्य यातायातकी दृष्टिसे पाकिस्तानके साथ संयुक्त था और उसकी आवादी मुख्यतः मुसलमान बहुत होनेके कारण विभाजनके समय पाकिस्तानके नेताओंको यह विश्वास था कि वह उन्हींके साथ मिल जायगा; परन्तु वहाँकी जनताके सर्वमान्य नेता शेख अब्दुल्ला आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रमें अधिक प्रगतिशील विचार रखनेवाले कांग्रेस दल तथा पंडित नेहरू जैसे नेताओंके प्रति झुके हुए थे। वहाँके शासक महाराजा हरिसिंह अभी कोई निर्णय न कर पाए थे कि पाकिस्तानने अधीर होकर राज्य पर आक्रमण कर दिया; इस आक्रमणसे रक्षण प्राप्त करनेके लिए शासक और स्थानीय नेताओंने भारतके साथ मिलना स्वीकार किया। भारतने उसकी रक्षा करनेमें वहुत वड़ा योग दिया।

काश्मीर प्रश्नका लोकमत द्वारा अन्तिम निर्णय करनेका वचन हम लोगोंने सन् १९५६में वापिस ले लिया है। वहाँकी जनता नाराज होगी—स्थानीय नेताओंके द्वारा उत्पन्न इस हौवेके कारण काश्मीरका भारतके साथ अविमिलन पूर्णतः स्थापित नहीं किया जा सका है। भारत तरफी नेताओंको मुक्त हाथ मिलने पर, उनके द्वारा स्थापित जीहुक्मीके कारण, स्थानीय प्रजाको पूरी स्वतंत्रता या प्रजातांत्रिक स्वातंत्र्यका पूरा लाभ नहीं मिला है और काश्मीरमें आयोजित १९६७ तकके सभी चुनाव चुनाव-आयोगकी सीमाके क्षेत्रसे बाहर रहकर आयोजित किए जाते थे। काश्मीरी जनतामें बहुत अधिक सम्मान-प्राप्त शेख अब्दुल्लाको वर्षों तक बिना किसी अपराधको सिद्ध किए जेलमें डाले रखना भारतके प्रजा-तंत्रके लिए कलंक माना जाना चाहिए। परदेशी निरीक्षकोंने बहुत बार अपना मन्तव्य इस रूपमें प्रकट किया है कि काश्मीरके लोग भारतके नागरिक न होकर उसके बन्दीजन हैं। तानाशाही और भ्रष्टाचारके परिणामस्वरूप जनतामें उत्पन्न उदासीनताका पूरा लाभ पाकिस्तानकी स्वार्थपूर्ण और कुटिल राजनीतिको मिला है। यह दूसरी बात है कि सैनिक शक्तिके द्वारा काश्मीरको हड़प लेनेके पाकिस्तानी सभी प्रयत्न अब तक असफल सिद्ध हुए हैं।

प्रश्न इतना उलझ गया है कि उसका निदान कोई भी नहीं बता पा रहा। शेख अब्दुल्ला काश्मीरको पाकिस्तानमें मिला देनेका आग्रह नहीं कर रहे हैं पर वह भारतकी सत्ता चलते रहनेका भी विरोध कर रहे हैं। काश्मीरके दोनों टुकड़ोंको मिलाकर स्वतंत्र राज्यके रूपमें बनाए रखनेकी या फिर इस प्रदेशको पांच-दस वर्ष तक राष्ट्रसंघ या अमेरिका और रूसके सामूहिक प्रशासनके अन्तर्गत रखनेकी कल्पना अव्यावहारिक है और काश्मीरी लोगोंके लिए घातक भी है। स्वतंत्र राज्यके रूपमें रहकर जी पा सकनेकी शक्ति काश्मीरमें नहीं है और भारत, चीन, रूस और पाकिस्तान जैसे महाकाय राष्ट्रोंके पड़ोसमें इतना छोटा राज्य स्वतंत्र रूपसे अधिक समय तक टिक नहीं सकता। काश्मीरका सर्वसम्मत निराकरण आज तो सामने दिखाई नहीं देता, परन्तु इसमें शंका नहीं कि यह हमारी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय शृंखला रूप यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भारतके पूर्वी सीमान्त पर स्थित आदिवासी समूहोंमें—विशेषतः नागाजातिमें अलगाव और स्वायत्तताका आन्दोलन चल रहा है, जो बिल्कुल भिन्न प्रकारका है। अनेक देशोंकी सीमाएँ यहाँ एक-दूसरेके पास स्थित हैं। ये आदिवासी अत्यन्त दुर्गम प्रदेशोंमें रहते हैं। उनका जीवन-स्तर अत्यन्त नीचा है और उनका सांस्कृतिक विकास भी अपेक्षाकृत कम ही हुआ है। सैनिक बलके आधार पर अंग्रेजोंने इस प्रदेश पर थोड़ी-बहुत सत्ता स्थापित की थी और उसे जैसे-तैसे टिकाए रखा था; परन्तु आदिवासी भारतीय जनताके सामाजिक या बौद्धिक प्रभावमें कभी रंगे नहीं थे और १९४७में स्वतंत्रता-प्राप्तिकी भावात्मक ऊष्मा उन्होंने कभी अनुभव नहीं की। उनके मनमें तो जैसे अंग्रेजी शासक विदेशी थे, उसी प्रकार भारतीय प्रशासक भी परदेशी हैं। इन प्रदेशोंमें विदेशी मिशनरियोंने बहुत लम्बे समयसे अपने मिशन कायम कर रखे हैं और बहुत-सी संख्यामें आदिवासियोंने ईसाई धर्म और अंग्रेजी भाषाको स्वीकार कर लिया है। इनमेंसे कितनी ही जातियोंमें शिक्षाकी मात्रा भारतके अन्य बहुत-से प्रदेशोंकी अपेक्षा अत्यधिक ऊँची है। परन्तु प्राकृतिक सम्पदाका अभाव, इन

प्रदेशोंके विशिष्ट प्रश्नोंके विशेष अध्ययनके प्रति उपेक्षा और राजनीतिमें आदि-वासियोंकी कम पकड़ होनेके कारण शिक्षित लोगोंका यह प्रदेश आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त पिछड़ा हुआ रहा है। परिणामस्वरूप यहाँकी सभी जातियोंमें असंतोषकी आग धधकने लगी हैं और प्रादेशिक स्वायत्तता, अलग-अलग प्रदेश और राज्य तथा आत्यन्तिक स्तर पर प्रादेशिक राज्योंकी माँग होने लगी है। इस असंतोषकी आग सबसे पहले नागालैंडमें भभक उठी है।

मुठ्ठीभर किन्तु सुदृढ़, युद्धप्रिय और बहादुर नागालैंडके लोग स्वयंको भारतीय लोगोंसे भिन्न मानते हैं; और ऐतिहासिक कारणोंसे उनके प्रदेशका प्रशासन भारत सरकारके गृहविभागकी ओरसे न होकर विदेश विभागकी ओरसे होता था, इस तथ्यने उनकी उक्त मान्यताको अधिक प्रोत्साहन दिया है। अंग्रेजी शासनके हट जानेके बाद उनकी धारणा यह बन गई है कि वे अपने आप स्वतंत्र हो जाते हैं। १९४७में आसामके राज्यपाल श्री अकबर हैदरीके साथ उनके नेताओंकी हुई संधिके कारण उनकी यह धारणा और अधिक पुष्ट हुई थी। इस समझौतेके (जिसे नागालोग संधि कहते हैं) अनुसार दस वर्षकी अवधिमें बातचीतके द्वारा उनका दर्जा (स्टेट्स) निश्चित किया जायगा—इस प्रकारका वचन उन्हें दिया भी गया था। 'दर्जा' शब्दके दो भिन्न अर्थ किए जा सकते हैं और किए भी गए। उनके साथ किसी भी प्रकारकी बातचीत किए बिना भारतके नए संविधानको अमलमें लाया गया और उसके छठे परिशिष्टके अनुसार नागा प्रदेशका प्रशासन निश्चित किया गया। इसके आधार पर नागा लोगोंका यह मानना है कि उनके साथ धोखा किया गया है। फीज़ोके नेतृत्वमें संगठित नागा राष्ट्रीय परिषद् (नागा नेशनल काउंसिल)ने बातचीतमें दाद न मिलते देख सभी जातियोंको एकसूत्रमें करनेके हेतुसे भारतसे स्वतंत्र 'समवायी नागा सरकार'की स्थापना कर सन् १९५६में सशस्त्र विद्रोह कर दिया। आरम्भमें उस विद्रोहको कुचलनेका काम पुलिसको और बादमें सेनाको सौंप दिया गया। नागा विद्रोहियोंके द्वारा किए गए रक्तपात, लूटपाट और आग लगानेके अनेक उदाहरण भारत सरकार द्वारा उजागर किए गए हैं और सेनाके अनुचित व्यवहार, बलात्कार, लूट और जुल्म करनेकी अनेक शिकायतें नागा नेताओंने प्रस्तुत की हैं। इस मामलेमें सदासे होती आई अतिशयोक्तिको अगर एक ओर रख भी दें तो भी दोनों ओरसे प्रस्तुत किए गए उदाहरण और शिकायतोंमें कुछ सचाई होनेकी संभावनाको नकारा नहीं जा सकता।

चार वर्षों तक चलीं झड़पोंसे दोनों पक्षोंकी बहुत अधिक हानि हुई; नागा-विद्रोही अपने असफल प्रयासोंसे थक गए और उन पर सम्पूर्ण अधिकार जमा कर शान्ति स्थापित करनेकी अपनी कमजोरी भी भारत सरकारने अनुभव की। १९६०में कोहिमामें हुई एक परिषदमें नागा-नेताओंने सार्वभौम राज्यकी मांगको छोड़ दिया तथा स्वायत्त और अलग प्रदेश-राज्यकी माँग करने और विद्रोहका मार्ग छोड़कर बातचीतका मार्ग स्वीकार करनेका अपना निर्णय घोषित किया। तत्पश्चात्, इन्होंने पहले इम्को ग्लिबो और उसकी हत्याके बाद शिलुआओंके नेतृत्वमें भारत सरकारके साथ लम्बे समय तक बातचीत की। परिणामतः इस प्रदेशके लिए अन्तरिम सरकार बनाई गई। १९६२में (नागालैण्ड) नामक अलग इकाई राज्यकी स्थापना की गई। परन्तु नागा प्रजाकी सभी जातियोंने इस परिषदके प्रस्तावोंको

स्वीकार नहीं किया और विद्रोही आन्दोलन चलता रहा। स्थानीय जनतामें उसकी अच्छी-खासी प्रतिष्ठा होते हुए भी उसका बल शनैः-शनैः क्षीण होने लगा। फ़ीज़ोने भाग कर इंग्लैण्डमें शरण ली। १९६५में बेप्टिस्ट सम्प्रदायके प्रयासोंसे आसामके मुख्यमंत्री श्री विमल प्रसाद चाहिला, श्री जयप्रकाश नारायण तथा श्री रेवरेण्ड माइकेल—इन तीन सदस्योंसे निर्मित शान्ति-मण्डलकी स्थापना हुई। इस मण्डलने विद्रोही नागा नेताओंसे सम्पर्क स्थापित किया और युद्ध-विराम किया गया। बिना किसी पूर्व शर्तके सरकारी नेता और विद्रोहियोंके बीच, पहले स्थानीय स्तर पर और बादमें उच्च स्तर पर बातचीत आरम्भ की गई। इस मण्डलके एक सदस्य श्री माइकेल स्कॉटने, इन नागाओंका प्रश्न मानों कोई अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न हो, इस प्रकारका रूप देकर राष्ट्रसंघ और बरमाकी सरकारको पत्र लिखे। फलतः भारत सरकारने उसे देशसे निकल जानेका आदेश दे दिया और विद्रोही नागा नेताओंके साथ मतभेद उत्पन्न हो जानेके कारण श्री जयप्रकाश नारायणने त्यागपत्र दे दिया। दुबारा इस तरहका मंडल गठन करनेका प्रयास असफल हुआ। परन्तु केन्द्र सरकार और नागा-नेताओंके बीच लम्बी और नाज़ुक वार्ता चल ही रही हैं। इस वार्ताके सम्बन्धमें दोनों पक्षोंकी ओरसे अधिकांशतः मौन ही रखा जा रहा हैं। १९६७के मध्यमें यह वार्ता अचानक रुक गई थी और नागा विष्टिकार दिल्ली कभी भी वापिस न आनेकी घोषणा कर चले गए।

इस वार्ताके बीच स्थापित सैनिक युद्धविराम और नागा प्रदेशकी सरकार द्वारा किए गए सामाजिक कल्याण कार्योंसे स्थानीय प्रजाको राहतकी तीव्र भावनाका अनुभव हुआ है। भारत सरकारने, जैसाकि आरम्भमें ही कहा था, तदनुसार भारतीय संघके भीतर और उसका अंग रह कर यथासंभव सभी स्वायत्तताकी व्यवस्था करनेकी तत्परता दिखाई थी; परन्तु सम्पूर्ण स्वतंत्रताकी पुरानी माँगको कभी स्वीकार नहीं किया। निराश हुए नागा नेता अन्य मार्ग खोजने लगे और अनेक उग्रवादी युद्धविरामका लाभ उठाकर गुरिल्ला प्रशिक्षण और युद्ध सामग्री प्राप्त करनेके लिए चीन पहुँच गए। चीनी सहायताको लेकर नागा लोगोंमें विग्रह उत्पन्न हुआ। लम्बे समयके संघर्षसे त्रस्त लोगोंमें भी शान्तिकी माँग बलवती होने लगी। फिर भी नागालैण्डकी समस्या हल नहीं हुई है। नागा नेता भारत सरकारको फुसला या झुका नहीं सके और भारत सरकार उनकी शक्ति या उनके संघर्षको समाप्त नहीं कर सकी। लम्बे समयकी आन्तरिक खटपटके कारण विद्रोहियोंमें कई वर्ग हो गए है और बहुधा जातियोंके आधार पर बने इस वर्ग-भेदके कारण नागा जातियोंकी एकता नष्ट हो गई है और अलग-अलग जातियाँ एक-दूसरेके विरुद्ध बल-प्रयोग कर रही हैं।

नागा-विद्रोहको कुचलनेमें भारतकी असफलतासे उसके पड़ोसी मीज़ो जातिके लोगोंमें हिम्मत बढ़ गई है। उनके प्रश्नों और कठिनाइयोंके प्रति प्रदेश या संघ सरकार उपेक्षा-भाव रख रही है, इस तरहसे उत्तेजित हो उन्होंने १९६६के उत्तरार्द्धमें जो विद्रोह किया था, उसे दबा दिया गया है। उनके कितने ही नेता कैदमें हैं, परन्तु प्रमुख नेता अभी भी मुक्त हैं और भारतीय सेना और मीज़ो विद्रोहियोंकी झड़पोंके समाचार यदाकदा समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित होते रहते है।

इस तरह, भारतमें अलगतावादी परिबलों और आन्दोलनोंका अभाव नहीं है। ये

आन्दोलन आजकी स्थितिमें देशकी एकताको भंग करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर भी यह आन्दोलन सीमाप्रान्तोंमें फैली उदासीनताके कारण विद्रोहियोंके हाथ मजबूत करते हैं और सीमा-सुरक्षाके प्रश्नको अधिक कठिन बना देनेकी संभावनाको प्रस्तुत करते हैं।

समृद्धि और योजना

प्रजातंत्र और एकताका प्रश्न समृद्धिके साथ दृढ़तासे जुड़ा हुआ है। भारतीय जनताके जीवन-स्तरमें जब तक सुधार नहीं होता, तब तक देशके करोड़ों लोगोंके मनमें आज़ादी, प्रजातंत्र और एकात्मताकी बात एक मिथ्या भ्रमजाल और मोहक शब्दछलना प्रतीत होती है; जो बहुत ही स्वाभाविक है। वे अपने दैनिक जीवनमें अगर आँखोंको आकर्षित कर लेने वाले परिवर्तन नहीं देखते तो प्रजातंत्र और एकताकी भावनाकी प्राण-प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। सदियोंके परिपाक जैसी दारुण निर्धनताको नष्ट करनेके लिए आर्थिक प्रयास पिछले बीसेक वर्षोंकी राजनीतिक प्रक्रियाका संचालक परिबल और सत्व है। इस गरीबीको दूर करनेके लिए राज्य संस्थाओंको नेतृत्व करना पड़ेगा और देशके थोड़े-से साधनोंका उपयोग करनेके लिए योजनाका पथ ग्रहण करना पड़ेगा। इस बातको भारतीय प्रश्नोंसे सुपरिचित सभी दल और समूह स्वराज्यकी प्राप्तिके पूर्वसे ही स्वीकार करते आए हैं। कांग्रेसने इस विचारधाराको स्वीकार कर योजना-कार्योंकी समस्याओंका अध्ययन करनेके लिए सन् १९३८में एक समितिकी स्थापना की थी। दूसरे विश्वयुद्धके कारण अस्त-व्यस्त हुए अर्थतंत्रको पुनः स्थापित करनेके लिए अंग्रेजी सरकारने श्री अरदेशर दलालके नेतृत्वमें एक योजना बोर्ड बनाया था। भारतके प्रमुख उद्योगपतियोंने 'बम्बई योजना'के नामसे परिचित एक पंद्रह-वर्षीय योजनाका निर्माण कर डाला। इसके उत्तरमें श्री मानवेन्द्र रायने प्रजाकीय योजना (पीपिल्स प्लान) प्रस्तुत की थी।

स्वतंत्रता-प्राप्तिसे उत्पन्न तात्कालिक प्रश्नोंको हल करनेके बाद भारत सरकारने सन् १९५०में योजना आयोगकी स्थापना की और पं० नेहरू उसके अध्यक्ष हुए। कार्यकारिणीके प्रस्तावके अनुसार स्थापित इस आयोगके हाथमें किसी भी प्रकारकी संवैधानिक या विधायक सत्ता नहीं थी। परन्तु पं० नेहरूके प्रभाव और केन्द्रीय मंत्रियोंकी उपस्थितिके कारण आरम्भसे ही यह आयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्ताकेन्द्र बन गया। उसकी सत्ता और उसके कार्यक्षेत्रके कारण वित्त-मंत्रालयका महत्व नष्ट हो गया और इसी प्रश्न पर तत्कालीन वित्तमंत्री श्री जॉन मथाईने वित्तमंत्री पदसे त्यागपत्र दे दिया। इस आयोगकी सत्ता धीरे-धीरे इतनी अधिक हो गई कि श्री संथानमने इसे केवल केन्द्र सरकारका ही नहीं, अपितु सभी राज्योंकी सरकारोंके 'सर्वोच्च मंत्रिमण्डल'के नामसे विभूषित किया। इस आयोगको केवल परामर्शदाता मंडल बनाने, उसमें केवल तज्जज्ञोंको ही स्थान दिये जाने और योजनाओंके कार्यान्वयनका दायित्व उससे ले लिये जानेका बार-बार दिया गया सुझाव अस्वीकृत कर दिया गया है। आयोगके कार्यक्षेत्रका विस्तार सतत बढ़ता गया है। उसके कार्यालयमें सैकड़ों कर्मचारियोंका समावेश किया गया है और योजना-भवन नामक विशाल भवन पूर्ण-रूपसे उसीके द्वारा उपयोगमें लाया जाता है।

स्वराज्यका श्रमयज्ञ
(योजनाकी एक झाँकी)

योजनाके सम्बन्धमें उत्पन्न कठिनाइयों, विदेशी आक्रमणों और अकालके द्वारा बिगड़े हुए अर्थतंत्र, नेताओंके बीच मतभेद और राजनीतिक परिपाटीमें हुए परिवर्तनोंके कारण योजना-कार्यका चक्र धीमा हो गया है। योजना-स्थगनके लिए विरोध पक्षोंके द्वारा—विशेषतः स्वतंत्र दलके द्वारा—की गई माँग सैद्धान्तिक रूपसे अस्वीकृत होने पर भी व्यवहारमें वह स्वीकार कर ली गई है।

प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओंके द्वारा देशके आर्थिक ढाँचेको बदल डालने, तेजीसे उद्योगीकरण करने, मूलभूत उद्योगोंकी स्थापना करने और अर्थतंत्रमें सरकारी आधिपत्य स्थापित करनेका प्रयास किया गया है। इन प्रयासोंकी सफलता और उसके आर्थिक परिणामोंकी गुणवत्ताके आँकड़ोंको लेकर विद्वानोंमें उग्र चर्चा व्याप्त है। सम्पूर्ण सिद्धिकी आशाके आधार पर योजना-आयोगके कार्यका परीक्षण नहीं किया जाना चाहिए। मूलभूत महत्वके उद्योगोंकी स्थापना करने और औद्योगिक विकास करनेमें योजना-आयोगने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, परन्तु कृषिके क्षेत्रमें और दैनिक उपयोगकी वस्तुओंके मामलेमें आम जनताको संतोष देनेवाली सफलता अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है।

केन्द्रीय योजनाके अनुसार काफ़ी बड़ी, खर्चीली और लम्बे समयकी योजनाओंको प्राधान्य दिया गया है तथा स्थानीय जनताके उत्साह और क्रियाशीलताको जाग्रत कर तात्कालिक परिणाम देनेवाले छोटे कार्योंकी अवगणना की गई है—ऐसी आलोचना करनेवाले सर्वोदयी विचारक विकेन्द्रित योजनाके सबल समर्थक हैं। यह चर्चाका विषय है कि योजनाका विकेन्द्रीकरण कितनी मात्रामें संभव है? विशृंखलित और स्वेच्छासे किए जानेवाले प्रयासों द्वारा आर्थिक साधनोंके दुरुपयोगको रोकनेके लिए प्रयत्न करना योजनाका मुख्य उद्देश्य होनेसे योजना-कार्यको जब तक पूरी तरहसे केन्द्रित नहीं किया जाता; तब तक यह तर्क दिया जा सकता है कि उसका हेतु पूरा नहीं होता। दूसरी ओर, भारत जैसे विशाल देशमें एक केन्द्रीय स्थान पर बैठकर बनाई गई योजनामें स्थानीय और साधनहीन प्रजाके तात्कालिक प्रश्नोंकी उपेक्षा होना संभव है, जिसे नकारा नहीं जा सकता; बल्कि इस प्रकारका अनुभव इतने वर्षोंसे बराबर होता आ रहा है।

सरकारी तंत्र द्वारा परिचालित विकास-कार्योंका सबसे बड़ा खतरा यह है कि समाजके श्रीमंत और सत्ताधारी वर्गके लोग उसका लाभ उठा ले जाते हैं और अधिक आवश्यकतावाले वर्ग उसका पूरा लाभ नहीं उठा पाते; क्योंकि इस प्रकारके लाभोंको लेनेके लिए आवश्यक सुविधाओं, साधनों या बुद्धिका उनमें अभाव होता है। 'जो हीन है, वह सभीसे विहीन है'—इसे रोकनेके लिए अपेक्षित कदमोंको उठानेमें और तत्संबंधी सजगताका उपयोग करनेमें भारत सरकार बिल्कुल असफल हुई है। उक्त कथनमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अतः विकास योजनाओंके फलस्वरूप जिनके पास कुछ था, उन्हें ही 'अधिक' मिला है; और जिनके पास बहुत था, उन्हें 'बहुत अधिक' मिला है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गरीबोंको कल्याण-कार्यसे बिल्कुल ही लाभ नहीं मिला है। परन्तु विकास कार्योंके परिणामस्वरूप पैदा हुई राष्ट्रीय सम्पत्ति मुट्ठीभर लोगोंके हाथोंमें एकत्र हो गई है—यह श्री मिहालनोबिलके विवरणसे स्पष्ट हो जाता है। समग्रतः गरीब और अमीर दोनोंके द्वारा प्रगति किए जाने पर भी गरीब और अमीरके बीच पहलेसे स्थापित अन्तर बढ़ा ही है।

उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित करनेके कारण योजनाकारोंने और सरकारने सम्पत्तिके वितरणमें निहित प्रश्नों और उससे उत्पन्न सामाजिक और राजनीतिक परिणामोंकी लगभग सम्पूर्ण उपेक्षा की है। आम-जनताकी दुर्बलता, उनमें संगठनका अभाव, उनके हितोंका संरक्षण करने वाले और उसके लिए सतत झगड़ने वाले वर्ग, संस्था और दलोंकी अनुपस्थिति आदि कारणोंसे समाजके निचले तवकेको विकास-कार्योंका पूरा लाभ नहीं मिल सका। आर्थिक विकास-कार्य वहुत अधिक भाग माँगनेवाला है और अत्यन्त त्रासप्रद है। परन्तु उसका लाभ भी अद्‌भुत होता है। हमारे यहाँ शक्तिशाली वर्गको योजनाके विकास-कार्योंका लाभ मिला और समाजके कमज़ोर वर्गको विकास-कार्यके लिए अपेक्षित त्याग और त्रासका कटु अनुभव हुआ। लोग इस त्रासको भोगनेके लिए स्वेच्छासे किस हद तक तैयार होंगे? कहाँ तक तैयार रहेंगे? इस प्रकारका प्रश्न पैदा होता है और इस तरहके उत्तर भी दिए गए हैं कि इस कामके लिए अधिनायकवादको स्वीकार किए विना काम नहीं चलेगा।

सरकार और नेताओंको यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं आत्मभोग देकर प्रजाका विश्वास प्राप्त कर सकने वाला अगर नेतृत्व है तो प्रजा आत्मत्याग और त्रास भोगनेमें कभी पीछे नहीं हटती। अपने और विश्वके अन्य देशोंका भी यही अनुभव है। इसमें कोई शंका नहीं कि सरकारी तंत्र और नेतागण जनताको विकास-कार्योंमें मनोयोगपूर्वक रुचि लेनेमें प्रवृत्त करनेमें निश्चय ही असफल हुए हैं।

जनताको जाग्रत करने और उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करनेके लिए अमेरिकन इंजीनियर द्वारा सुझाया गया और इटावा में सफल कर दिखाया गया 'सामाजिक इकाइयों' (कम्युनिटी डेवलेपमैंट प्रोजेक्ट्स)का प्रयोग वड़े पैमाने पर किया गया था। शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक विकास-कार्योंमें लोगोंको प्रवृत्त करनेके लिए और अपने बूते अपना भविष्य खुद गढ़ लेनेको उद्यत होनेकी जागृति पैदा करनेके लिए ग्राम-सेवकों और विकास अधिकारियोंकी वड़ी फौज खड़ी कर दी गई है।

ये समाज-विकासकी इकाइयाँ वहुत वड़ी आशासे आरम्भ की गई थीं और भारतीय प्रजातंत्रके गत्यात्मक परिबलके रूपमें पं० नेहरूने उनकी प्रशंसा की थी परन्तु एक दशक पूरा होनेके पहले ही सभी आशाएँ धूलमें मिल गईं। कितने ही घटकोंमें अच्छा काम हुआ भी, परन्तु समग्रतः सरकारी अधिकारियों और दफ्तरकी फाइलोंमें अत्यधिक वृद्धि होने पर भी इस प्रयोगके अन्य परिणाम वहुत कम आए। नए स्कूल और रास्ते बनाए गए, शिक्षण वर्ग आरम्भ किए गए, खेती और पशुपालनके क्षेत्रोंमें नयी पद्धतिको आजमाया गया, पर सभी कुछ नौकरशाही ढंगसे हुआ; परन्तु लोकशिक्षण और जागृतिका मूल हेतु पूरा नहीं हो सका। इसके दर्शन श्री कुसुमनायरके अद्‌भुत प्रवासग्रंथ 'ब्लॉसम्स इन डस्ट'में सहज ही प्राप्त होते हैं। लम्बे और कटु अनुभवोंके कारण जनता अधिकारियोंसे डरती थी। सदियोंसे अन्याय और जी-हुजूरी सहन करने वाले अज्ञानी लोगोंकी सेवा करनेके लिए अपेक्षित उत्साह, धीरज या नम्रता पैदा करनेका काम लोकसेवकोंके लिए वहुत कठिन होता है और इस पर वेतन और अधिकारके लिए नौकरी करनेवाले सरकारी अधिकारी वर्गमें इन गुणोंकी अपेक्षा रखना कुछ अधिक ही माना जायगा। फिर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि विकास-कार्य

बिल्कुल असफल हुए हैं; क्योंकि आरम्भ हुए इस प्रयोगके परिणामोंको देखकर ग्रामीण-जनताके कौशलमें और साधन-सम्पन्न लोगोंकी जीवन-प्रणालीमें परिवर्तन होता दिखाई दे रहा है और कृषि तथा पशुपालनके क्षेत्रमें अच्छी-खासी प्रगति हुई है।

लोगोंकी भावना और उनका उत्साह जाग्रत करनेके लिए दूसरा महत्वपूर्ण लोक क्रान्ति-प्रयोग संत विनोबाजीके भूदानमें समाविष्ट है।

शासक-वर्गकी उपेक्षा और सम्पन्न-वर्गकी स्वार्थवृत्तिके कारण भारतीय अर्थतंत्रकी सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या—भूस्वामित्वका सुधार—के क्षेत्रमें हम कोई विशेष प्रगति नहीं कर पाए हैं। जमींदारी उन्मूलन विषयक और स्वामित्वकी उच्चतम सीमा निर्धारण करनेसे सम्बद्ध कानून बना देनेसे छोटे किसानोंको लाभ होनेके बदले शायद नुकसान ही हुआ है। थोड़ा-बहुत पैसा लगा कर दूसरोंसे जमीन जुतवा कर खेती करनेवाले जमींदारोंको अपनी जमीनें खो देनी पड़ी हैं; परन्तु स्वयं खेती करनेवाले बड़े जमींदारोंको कुछ विशेष नुकसान नहीं हुआ। भूमिहीन और बेकार ग्रामीण जनता भारतीय समाजका सबसे अधिक विकट, आर्थिक और सामाजिक प्रश्न है। इन प्रश्नोंका निराकरण सरकारी नियम और कायदे-कानूनोंके बल पर नहीं; परन्तु मानवकी सद्वृत्ति और समझदारीके आधार पर करनेका प्रयास विनोबाजीने सन् १९५१में आरम्भ किया।

सन् १९५१के अप्रैलमें तेलंगाना प्रदेशमें भूदान आन्दोलन उत्साहके साथ आरम्भ हुआ और उसके बाद सात-आठ वर्षोंमें लगभग ४२ लाख एकड़ भूमि भूदानमें प्राप्त हुई। यह आन्दोलन बहुधा बिहारी आन्दोलन है; क्योंकि ३० लाख एकड़ भूमि केवल बिहारमें ही प्राप्त हुई थी। इसमेंसे १२ लाख एकड़ भूमि भूमिहीनोंमें बाँट दी गई और १३ लाख एकड़ भूमि बिना बँटी पड़ी है और १७ लाख एकड़ भूमि अनुर्वर होनेके कारण परती मान ली गई है। सन् १९६०के बाद भूदान आन्दोलन लगभग बन्द हो गया और भूमि प्राप्तिका काम रुक गया। विनोबाजी द्वारा निश्चित पाँच करोड़ एकड़के लक्ष्यांकसे दस प्रतिशतसे भी कम भूमि प्राप्त हुई है और उसमें केवल दो या ढाई प्रतिशत जमीन ही भूमिहीनोंमें बाँटी गई है।

सन् १९६०के बाद ग्रामदान और १९६५के बाद सुलभ ग्रामदान पर लक्ष्य केन्द्रित किया गया है और १९६८के अगस्त मास तक हुए कुल ग्रामदानको आगे एक कोष्टकमें दर्शाया गया है। इनमेंसे बहुत-से गाँवोंमें तो केवल दानका संकल्प हुआ है और दानपत्रों पर हस्ताक्षर कर दिए गए हैं। कुछ ग्रामदान वाले गाँवोंमें नए-नए प्रयोग किए जानेके समाचार आया करते हैं; परन्तु भावी समाज-रचनाकी स्पष्ट कल्पना इस कामके नेताओंके पास न होनेके कारण आन्दोलन इस द्विविधामें आ पड़ा प्रतीत होता है कि अब किस दिशामें उसे चलना है? यह सिद्धांत रूपमें सही होने पर भी कि लोगोंको आत्मनिर्भर होना चाहिए और अपने दर्शनसे चलना चाहिए, भविष्यका आकलन करने और मार्गमें आने वाली बाधा-ओंको अकेले ही पार कर जानेकी शक्ति जनतामें हो सकती है या नहीं; यह मतभेदका प्रश्न है।

इस कामके लिए सतत, एकाग्र और दीर्घकालीन अखण्ड कार्यक्रममें लग जानेवाले निष्ठावान् सर्वोदयी कार्यकर्ता प्राप्त नहीं किए जा सके हैं। इसके अतिरिक्त मानव-समाजके अर्थतंत्र और दैनिक व्यवहारसे सम्बद्ध सर्वोदयके कार्यकर्ताओंकी धारणाएँ अवास्तविक और कभी-कभी तो प्रतिक्रियावादी भी प्रतीत होती हैं। यह होना असंभव नहीं है कि निश्चित सुधार कार्यको आवेग और आवश्यकता उन्हें अधिक सही रास्ते पर खींच ले जा सकती है और उनके द्वारा उठाए गए भगीरथ कार्यका इतने कम समयमें कोई निश्चित परिणाम आना ही चाहिए, यह अपेक्षा ही अनुचित है।

असाम्प्रदायिकता

भारतके सामने तुरन्त हल चाहने वाले अनेक प्रश्न एक साथ उपस्थित हुए हैं; क्योंकि भारतकी आज सर्वांगीण कायापलट हो रही है—भारत आज राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रूपसे तीन-तीन क्रान्तियोंसे गुज़र रहा है और इन तीनोंमेंसे किसीका भी महत्व कम नहीं आँका जा सकता। सामाजिक क्षेत्रमें भी बहुत-सी सनातन समस्याएँ हमें उत्तराधिकारमें मिली हैं, जो हमें हैरान कर रही हैं। हमारा हजारों वर्षोंका पुराना और पुरातन-पंथी, सुषुप्त और रूढ़िवादी समाज अनेक साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों और आचार-विचारकी शृंखलाओंमें अभी तक बंदी है। भारतमें लोग विविध धर्मोंका पालन करते हैं। पाकिस्तानकी स्थापनाके परिणामस्वरूप भारतमें हिन्दू-धर्मका पालन करनेवाले लोगोंका प्रतिशत बढ़ गया है और ८३·५ प्रतिशत लोग हिन्दू-धर्मका पालन करते हैं, १०·७ प्रतिशतके बराबर मुसलमान हैं, ईसाई धर्ममें आस्था रखनेवालोंकी संख्या २·४४ प्रतिशत है और बाकीके लोग अलग-अलग धर्मोंका पालन करते हैं।

साम्प्रदायिक झगड़े भारतीय इतिहासमें निपट अपरिचित नहीं हैं; परन्तु साम्प्रदायिक संकुचितता, दंगे और हिन्दू-मुसलमानोंके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्यकी जो मात्रा बीसवीं सदीके पूर्वार्द्धमें प्राप्त होती है, वह भारतीय परम्पराके अनुकूल नहीं है। अतः अचानक उत्पन्न साम्प्रदायिक प्रश्नने भारतीय नेताओंको स्तब्ध कर दिया है। भारतमें प्रचलित मुख्य-धर्म—हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदाय बहुत बड़ी नींव पर संगठित तंत्र न होनेके कारण हमारे देशमें बहुत समयसे धार्मिक असहिष्णुताकी परम्परा स्थापित हो गई थी। सिख-मुसलमानोंके युद्धोंको यदि अलग रख दें तो हमारे यहाँ धार्मिक युद्ध हुए ही नहीं और धार्मिक दमन और संघर्ष भी योरोपके समान उग्र और दीर्घजीवी नहीं हुए। आज़ादीके उषःकालमें हिन्दू-मुसलमानोंने पशुओंसे भी अधिक विकृत रूपमें व्यवहार किया है, यह बात सही होने पर भी सामान्यतः विभिन्न धर्म पालने वाले सम्प्रदाय हमारे देशमें मेल-जोलसे रहे हैं और परस्पर मैत्री तथा सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध बनाए हुए हैं। धर्म मनुष्यकी व्यक्तिगत बात है और समाज या राज्यको उसमें अपना सिर नहीं खपाना चाहिए। हमारे यहाँ सदियोंसे यह विचार जनमानसमें रूढ़ हो गया है। इस तरह असाम्प्रदायिक राज्यकी स्थापनाके लिए, योरोपकी तुलनामें, भारतकी परिस्थितियाँ बहुत अनुकूल थीं। इसी कारण तो विश्वके बहुत ही कम देशों द्वारा स्वीकृत धर्मनिरपेक्ष राज्यकी स्थापनाका प्रयोग हमने साहसके साथ

आरम्भ किया है। प्रत्येक व्यक्ति या समूहको अपना धर्म पालने, उसका प्रचार करने, मन-पसंद मान्यताओंका आग्रह रखने और अपने ढंगसे ईश्वरोपासना करनेकी छूट संविधानमें दी गई है। धर्मके आधार पर राज्य नागरिकोंके बीच भेद नहीं करेगा और किसी भी धर्मके विकासमें राज्य उत्तेजक या बाधारूप नहीं होगा—इस प्रकारका आश्वासन भी दिया गया है। इस तरहकी धर्मनिरपेक्षता अत्यन्त प्रशंसनीय राजनीति है। परन्तु उसकी सीमा स्पष्टतः समझ लेनी आवश्यक है। धर्मकी मान्यता या पूजा-पद्धतिसे अगर सार्वजनिक सुख-समृद्धि, सुरक्षा या नीति-भावनाको क्षति पहुँचती हो तो राज्य उसमें हस्तक्षेप कर सकता है और धार्मिक सम्पत्ति पर अंकुश रख सकता है। धर्मकी आड़में देवदासियोंसे वेश्यावृत्ति नहीं कराई जा सकती, मद्यनिषेधका भंग नहीं किया जा सकता और पुलिस द्वारा निषिद्ध किए जाने पर कृपाण, भाला या त्रिशूल लेकर घूमा नहीं जा सकता।

धर्मनिरपेक्षताका अर्थ धर्मविमुख नहीं है। राजनीतिज्ञ व्यक्तिगत ढंगसे अपने-अपने धर्मका पालन कर सकते हैं, पर इकाईके रूपमें राज्यका कोई धर्म नहीं हो सकता। केरलके हिन्दू मंदिरोंको आर्थिक सहायता देनेकी व्यवस्था करनेवाली संवैधानिक धारा सिद्धान्तोंको भंग करती है। परन्तु त्रावणकोर राज्यके विलीनीकरणकी यह एक आवश्यक शर्त थी। फिर भी धर्मस्थानोंको सुधरवानेके लिए और धर्मसम्मेलनोंके लिए राज्यकी सहायताका लाभ सभी धर्मोंको मिलता रहा है। यों यह ठीक होते हुए भी इसका ताल-मेल धर्मनिरपेक्षताके साथ बैठ नहीं पाता।

भारतकी विशिष्ट सामाजिक स्थितिके कारण भारतमें धर्मनिरपेक्षताका पूरी तौरसे पालन कर सकना संभव नहीं है और वह इच्छनीय भी नहीं है। हमारे सभी नागरिकोंके लिए फौजदारी कानून समान होने पर भी अलग-अलग कौमोंमें लग्न, मुक्ति, उत्तराधिकार तथा संरक्षकत्वके विषयमें दीवानीके नियम अलग-अलग सम्प्रदायोंके नियमानुसार हैं। प्राचीन कालकी रूढ़ियों और धार्मिक रीति-रिवाज़ोंके साथ संकलित ये नियम और कानून बहुधा अन्यायी और पीड़ादायक होते हैं। अगर भारतमें नवसमाजकी रचना करनी है तो इन दीवानी कानूनोंमें परिवर्तन करना ही पड़ेगा और ऐसा किए बिना काम नहीं चल सकता। और इसी अनुपातमें सरकारको धार्मिक मान्यताओं और रीति-रिवाज़ोंमें हस्तक्षेप कर उनमें परिवर्तन लाना चाहिए। इस पर शायद ही मतभेदके लिए अवकाश होगा।

रूढ़िग्रस्त हिन्दुओंका जबरदस्त विरोध सहन कर सरकारने सन् १९५१में हिन्दू कोड बिल नामक सर्वग्राही बिल संसदमें प्रस्तुत किया था; परन्तु पं० नेहरु द्वारा इस कानूनके निर्माणमें अत्यन्त आग्रह होने पर भी अपने दल कांग्रेसमें ही विग्रह उत्पन्न हो जायगा, यह स्पष्ट प्रतीत होने पर उन्हें भी झुकना पड़ा था। हिन्दुओंकी धार्मिक मान्यता और जीवन-प्रणालीमें हस्तक्षेप करनेवाला यह कानून धर्मनिरपेक्षताके सिद्धान्तको भंग करता है और वह केवल हिन्दुओं पर ही लागू होनेवाला होनेके कारण नागरिकोंके प्रति धर्मके आधार पर भेदभाव उत्पन्न करने वाला है—इन दोनों दलीलोंके औचित्यसे इनकार नहीं किया जा सकता। सन् १९५२के आम-चुनावके बाद इस धाराको चार भागोंमें बाँट कर चारों भागोंको अलग-अलग पारित किया गया। सभी नागरिकोंके लिए समान दीवानी कानून बनानेका

आदर्श संविधानमें निर्देशक सिद्धान्तके रूपमें स्वीकृत होने पर भी मुस्लिम समाजके अत्यधिक पुराने विवाह कानूनोंमें परिवर्तन करनेमें भारत सरकार संकोच और भय अनुभव करती है। वह समाजके रूढ़िवादी लोगोंको प्रसन्न रखनेके लिए करोड़ों मुसलमान स्त्रियोंकी जीवन-वर्बादीको वर्दाश्त करनेके लिए तैयार है। भारतका मुस्लिम-समाज विश्वके सभी मुस्लिम समाजोंकी अपेक्षा सामाजिक दृष्टिसे पिछड़ गया है। तुर्की, मिस्र और पाकिस्तान भी वहु-पत्नीत्व और तलाकके मामलेमें शरियत (धर्मसूत्रों)के अनुसार नहीं चलते हैं।

प्रगतिके मार्गमें अवरोधक वन जाने वाली धर्मनिरपेक्षताका आग्रह इच्छनीय नहीं है। ऐसा संक्रान्तिकालमें ही नहीं होता। धर्मसमस्याएँ और मान्यताएँ हमेशा कुछेक अंशोंमें भूतकालीन होती हैं, फिर भी वे व्यक्ति और समाजके जीवके साथ अतिशय- प्रगाढ़ सम्वन्ध रखती हैं। अतः विश्वका कोई भी राजतंत्र सम्पूर्णतः तटस्थ नहीं रह सकता। अर्थतंत्र या समाज-व्यवस्था पर धर्मका जितना प्रभाव होगा, उतनी ही मात्रामें राज्यको धार्मिक मामलोंमें सिर खपाना पड़ेगा।

धर्मके प्रवल प्रभावके कारण जनता जव अलग-अलग विभागोंमें वँट जाती है और प्रत्येक वर्ग जव हर एक मामलेमें अपनी ही दृष्टिसे विचार करने लगता है, तव वर्गों या समूहोंमें अविश्वास या तिरस्कारका भाव उत्पन्न हो जाता है; इस भावनाको हमारे यहाँ सम्प्रदायवादका नाम दिया गया है। अंग्रेजी शासन-कालमें पोषित सम्प्रदायवादके कारण अनेक हुल्लड़ और दंगे होनेके बाद उसके स्थायी हलके लिए पाकिस्तानकी स्थापनाको स्वीकार कर लिया गया। तदुपरान्त हिन्दुओं और मुसलमानोंके वड़ी मात्रामें स्थानान्तरणके कारण और मुसलमान आवादीमें कमी हो जानेके कारण साम्प्रदायिक समस्या कुछ अंशोंमें कम हो गई थी। परन्तु उसका स्थायी हल ढूँढ़ा नहीं जा सका है। महात्मा गांधीजीकी हत्याके आघातके कारण और उसके बाद दस वर्ष तक शमित साम्प्रदायिक हुताशनकी चिनगारी पुनः प्रज्ज्वलित हो गई है। इस तंगदिलीने हाल हीमें वहुत उग्र रूप धारण कर लिया है और भारतमें—विशेषतः उत्तर भारतमें—स्थान-स्थान पर छोटे-वड़े हुल्लड़ होते ही रहते हैं। अत्यन्त सामान्य कारणोंको लेकर फूट निकलनेवाले ये हुल्लड़ एकता स्थापित करनेके कामोंमें विघ्न रूप हैं।

एकताकी वहुविध समस्याओंका सामना करनेके लिए स्थापित राष्ट्रीय एकता परिषद (नेशनल इण्टिग्रेशन काउंसिल)को पुनः सक्रिय किया गया है। उसके द्वारा वहुत अच्छे-अच्छे भाषण और प्रस्ताव प्रसारित और पारित होते हैं; पर अभी तक उसका कोई ठोस परिणाम सामने नहीं आया है।

सम्प्रदायवादके समान ही महत्वपूर्ण और लगभग उतना ही जटिल प्रश्न जातिवादका है। हिन्दुओंकी जाति-व्यवस्था कम या ज्यादा मात्रामें ईसाई और मुसलमानोंने भी अपना ली है। हमारे समाजका वाह्य निर्माण असमानताके आधार पर होनेसे प्रजातंत्रके मूलभूत तत्वके साथ उसका मेल नहीं वैठता। सदियोंसे जातियोंके वीच ऊँच-नीचके भेद चले आ रहे हैं और निम्न माने जाने वाली जातियोंमें लोग सदियोंसे शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे निम्न स्थान प्राप्त करते आ रहे हैं। अत्यन्त निम्न जातियोंको अस्पृश्य

मान लिया गया है। प्रजातांत्रिक तंत्रमें सभी प्रकारकी समानता अभिप्रेत होनेके कारण संविधानमें अस्पृश्यताका पालन करने वालेके लिए दण्डका विधान किया गया है और तत्सम्बन्धी कानून (unfonchcdsility of fccnics Act) भी सन् १९५५में पारित कर दिया गया है। दो दशकोंकी स्वतंत्रताके बाद भी अस्पृश्यताका पाप हिन्दुस्तानसे पूर्णतः मिटा नहीं है। अभी भी यह भेदभाव सारे देशमें वर्तमान है, जिसे दलित जातिके लिए नियुक्त अधिकारियों द्वारा अपने वार्षिक विवरणमें बारबार ज़ोर-शोरसे कहा गया है। ये दलित जातियाँ और आदिवासी समाजके अन्य वर्गों और समाजकी तुलनामें इतने अधिक कमज़ोर हैं कि अगर उन्हें विशेष संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता तो वे कुचले बिना नहीं रहेंगे। उनके शैक्षिक और आर्थिक विकासकी विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है; संसद और विधानसभाओंमें उनके लिए सुरक्षित सीटें रखी गई हैं। शिक्षण संस्थाओंमें—विशेषतः इंजीनियरिंग और मेडिकल संस्थाओंमें—उनके लिए विशेष स्थान रखे गए हैं और निश्चित किए हुए प्रतिशतके अनुसार नौकरियोंमें उन्हें पसंद किया जाता है। इस तरहकी सरकारने दलित जातियोंकी एक सूची तैयार की है और उसमें प्रसंगानुकूल सुधार किया जाता है। अधिकांशतः उसमें वृद्धि ही की जाती है; क्योंकि दलित जातियोंकी इस सूचीमें अपनी-अपनी जातियोंके नाम सम्मिलित होनेसे प्राप्त लाभ उठानेके लिए जातियाँ अपनेको निम्न जातिका मनवानेके लिए प्रयत्न करती हैं और उसके लिए सिफारिशें करवाती हैं।

इस प्रकार, कौमों और जातियोंके आधार पर विशेष सुविधाएँ प्रदान किए जानेके कारण जातिवादको प्रोत्साहन मिला है और जाति-संगठन अधिक पुष्ट हुआ है। दलितों-द्धारका प्रशंसनीय काम करते समय जातियों और जातिवादको परोक्ष रूपसे पोषण प्राप्त होता है। परन्तु इस चक्रवातमेंसे निकलनेका कोई मार्ग दिखाई नही देता। इस प्रकारकी सुविधाएँ केवल आर्थिक दृष्टिसे देनेके कालेलकर-समितिके सुझाव स्वागत-योग्य होने पर भी वे व्यावहारिक नहीं हैं। कारण कि ९०-९५ प्रतिशत आबादी आर्थिक दृष्टिसे पिछड़ी हुई होनेके कारण इस प्रकारकी व्यवस्था निरर्थक बन जाती है। यों भी आर्थिक स्थितिका माप निकालना लगभग असंभव है। क्योंकि उसमें यदाकदा परिवर्तन होते रहते हैं। जब समाजसे जातिवादकी भावना दूर हो जायगी और कौमोंके बीच असमानता मिट जायगी, तभी इस संरक्षणात्मक भेदभाव (Protective discrsmination)का अन्त हो सकता है। परन्तु आज तो यह संरक्षण ही साम्प्रदायिक भावनाको पुष्ट करनेवाला और भेदभावको बनाए रखनेमें महत्वपूर्ण परिबल बन गया है, जो हमारी परिस्थितिका विचित्र विरोधाभास है।

प्रजातंत्र—विध्वंसक समस्या

स्वातंत्र्य और उसके रक्षणके लिए की गई व्यवस्थाओंका प्रश्न बहुत-कुछ मात्रामें इसी प्रकारका है। वाणी, विचार परिवर्तन और धंधोंके मामलेमें प्रजातंत्रका यह सिद्धांत है कि प्रजाको पूरा स्वातंत्र्य मिलना चाहिए। प्रजातंत्रमें यह भी अपेक्षा की जाती है कि नागरिक राष्ट्र या समाजका नुकसान न करते हुए उसका उत्तरदायित्वपूर्ण ढंगसे उपयोग करते रहेंगे। इस तरहकी स्वतंत्रता देनेवाली अनेक धाराओंका संविधानमें समावेश किया गया है और व्यवहारमें उन पर उचित मात्रामें अमल भी किया जाता है। परन्तु भारतीय समाजकी मनःस्थिति अत्यन्त विस्फोटक है।

तीव्र आर्थिक दवाव और सामाजिक असमानताके कारण उत्पन्न असंतोष इतना अधिक उग्र है कि नगण्य कारणोंसे और अनेक वार तो अकारण ही आन्दोलन भड़क उठते हैं। अन्याय और अत्याचारका प्रतिकार करनेके लिए गांधीजीने हमेशा इस वात पर वल दिया है कि नागरिकोंको सीधे कदम उठानेका अधिकार है और उसके लिए द्वेषरहित अहिंसक सत्याग्रहका मार्ग उन्होंने सुझाया है। अहिंसा और आत्मशुद्धिकी नींवपर स्थित इस शान्त प्रतिकार-पद्धतिका आज व्यापक रूपसे दुरुपयोग हो रहा है। लोकसभामें पं० नेहरूके कथनानुसार "भारतमें आज प्रत्येक आदमी—पत्थर फेंकने वाला और सिर फोड़ने वाला प्रत्येक आदमी—सत्याग्रही हो गया है।" और "नेताओंकी इच्छा हो या न हो, फिर भी प्रत्येक आन्दोलन हिंसक और भयानक रूप धारण कर लेता है"—पंडित गोविन्दवल्लभ पंतकी यह वात सर्वांशतः सत्य है। केवल आत्मशुद्धिकी भावनासे अथवा हृदय-परिवर्तनके हेतुसे सत्याग्रह आयोजित नहीं होते और इस तेजस्वी किन्तु खतरनाक शस्त्रका उपयोग विल्कुल उचित रीतिसे कर सकने वाला कोई नेता दिखाई नहीं देता। स्वयं गांधीजी भी सत्याग्रहसे हिंसाके तत्वको पूरी तरहसे निकाल नहीं पाए थे और सन १९४२के आन्दोलनको अहिंसक युद्ध कहा ही नहीं जा सकता। किन्तु इस समय अपने देशमें दंगों और तोड़फोड़की कार्यवाहियोंके द्वारा अपना क्रोध व्यक्त करने या अपनी माँगोंको मनवा लेनेका दृष्टिकोण और अधिक पुष्ट होता जा रहा है।

दूसरी ओर, आम जनताकी जरूरतों और प्रशासनिक उपायोंके वीच जमीन-आसमानका अन्तर है। सरकारी तंत्र इतना जड़ और सुस्त वनता जा रहा है और उसका काम इतनी मंद गतिसे चलता है कि उसके विरुद्ध अर्जियों, दलीलों और शान्ति-पूर्ण प्रदर्शनका कोई असर ही नहीं होता। सरकारी कार्यालयोंमें घेरा डाले विना आम जनताका कोई काम होता ही नहीं। सिर फुटौव्वल, आगजनी और लूट-पाट किए विना सरकारी कर्मचारी और नेता कदाचित ही अपनी भूल समझते या सुधारते हैं; इतना ही नहीं, वल्कि ऐसे फसादोंके वाद सर्वाधिक अन्यायी माँगोंके सामने झुक जाते हैं। द्विभाषी वम्वई राज्यका विसर्जन करना हो, हिन्दी भाषाके सम्वन्धमें कोई निर्णय लेना हो, तटस्थ आयोगोंके द्वारा दिए गए निर्णयों पर अमल करना हो, सरकारी कर्मचारियोंकी वेतन-वृद्धि करनी हो अथवा रेलगाड़ियोंकी समय-सारणीमें परिवर्त्तन करना हो; परन्तु जव तक तूफानी दंगे नहीं होते, तव तक उनके पेटका पानी तक नहीं हिलता। इस तरह जनताकी आन्दोलनकारी प्रवृत्ति और सरकारी निष्क्रियताके कारण देश भरमें कहीं-न-कहीं छोटे-मोटे दंगे होते ही रहते हैं। जनताकी ही सरकारने लोगोंके विरुद्ध लाठियाँ और गोलियाँ चलाई हैं। अंग्रेजी शासनके डेढ़ सौ वर्षके शासनके दरम्यान पुलिसकी गोलीसे जितनी जनहानि हुई थी, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक जनहानि आज़ादीके वाद इन पचीस वर्षोंमें हुई है। यह प्रजा और सरकार दोनोंके लिए ही वड़ी अशोभनीय वात है। प्रजा और सरकार द्वारा लगाई इस हिंसाकी आगमें अपने नवोदित प्रजातंत्रके भस्मीभूत होनेकी संभावना नकारी नहीं जा सकती; क्योंकि उत्तरदायित्वहीन प्रजातंत्र या स्वातंत्र्य लम्वे समय तक टिक नहीं सकता।

आज तो अपने नागरिकोंको प्रदान किए हुए वाणी स्वातंत्र्य, सभास्वातंत्र्य और संगठन स्वातंत्र्यका भी वड़े पैमाने पर दुरुपयोग किया जा रहा है और परिणामस्वरूप जानमालकी हानिके अतिरिक्त अराजक तत्व समाज पर अपना वर्चस्व थोड़े समयके लिए स्थापित करनेमें सफल हो जाते हैं; अतः इस प्रकारके अपराध करनेवालों और उसमें सहायक होने वाले लोगोंको दण्डित करनेकी

व्यवस्था प्रत्येक राज्यको करनी पड़ती है। अपराधियोंको पकड़ने और उन्हें नसीहत देनेका काम हमारे यहाँ बहुत मुश्किल है; क्योंकि अपराधशोधमें सहायक होनेका कर्त्तव्यबोध हमारे समाजमें लगभग नहीं है। विध्वंसक प्रवृत्तिकी मात्रा हमारे समाजमें इतनी अधिक है कि अपराधीको दण्ड देने मात्रसे अब अपना काम चलनेवाला नहीं है। ऐसी प्रवृत्ति आरंभ होनेसे पहले ही उसे रोकना हमारे लिए अत्यन्त जरूरी है। अपराध करनेके बाद दण्ड देनेका न्यायतंत्रका सामान्य नियम प्रत्येक स्थितिमें स्वीकार नहीं किया जा सकता; फलतः हमारे संविधानमें निरोधात्मक गिरफ्तारीकी व्यवस्था की गई है।

यह बात न्यायके आदर्शकी दृष्टिसे तो अनुचित ही होगी कि अगर कोई व्यक्ति अपराध करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक पूर्व तैयारी कर लेता है या तैयारी करनेकी संभावना है, इसका समाचार मिलते ही उसे गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिया जाय। यद्यपि नजरबन्द हुए व्यक्तिका जब तक अपराध सिद्ध नहीं होता, तब तक वह निरपराध है। फिर भी हमारी संसदने इस तरहका कानून सन् १९५०में एक वर्षके लिए बना डाला था और उसकी अवधि बारबार बढ़ाई गई है। अब तो यह कानून अपनी कानूनी पुस्तकका एक स्थायी अंग बन गया है। ऐसे नजरबन्द लोगोंकी न्यायतंत्र कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। इसका निर्णय कार्यकारिणीको करना होता है। व्यक्तियोंके विषयमें कार्यकारिणी तंत्र द्वारा—विशेषतः पुलिस तंत्र द्वारा—निश्चित किए हुए अभिप्रायोंके अनुसार उनका निर्णय होता है। अपराध करनेके पूर्व कारावासकी व्यवस्था करनेवाली नजरबन्दीकी धारा शुद्ध प्रजातंत्रके तत्वोंके प्रतिकूल है। परन्तु इसका उपाय क्या? उसका निरन्तर परिहार कैसे किया जाय?

इस मामलेमें शीघ्रतामें कोई धारणा बना लेना उचित नहीं है। यह सही है कि इस प्रकारका कानून विशुद्ध प्रजातंत्रके सर्वथा विरुद्ध है; परन्तु इस प्रकारकी सुदृढ़ बाड़के द्वारा रक्षणके अलावा इस देशमें प्रजातंत्रका यह कोमल पौधा टिका नहीं रह सकता। अतः उक्त तर्कको यों ही नहीं उड़ाया जा सकता। इस धाराके बन जाने पर भी अराजक तत्व इतना बल-प्रदर्शन करते हैं तो इसके न होने पर उनका बल कितना बढ़ गया होता—ऐसा तर्क भी अनुचित नहीं है। सरकारी तानाशाही जिस प्रकार प्रजातंत्रके लिए घातक है, उसी प्रकार प्रजाकी हिंसक अराजकता भी प्रजातंत्रकी जड़ उखाड़ फेंकती है।

यह कहना कठिन होने पर भी कि नजरबन्दी कानूनका कभी दुरुपयोग हुआ ही नहीं, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि बड़े पैमाने और लम्बे समयके लिए उसका दुरुपयोग नहीं ही हुआ है। नजरबन्द किए गए लोगोंकी संख्यामें घटबढ़ होती रहती है; परन्तु कुल मिलाकर देखने पर उनमें कमी होती गई है। नजरबन्दी कानूनका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर राजनीतिक नेताओंके विरुद्ध किए जाने पर भी मुख्यतः तो इसका प्रयोग अराजक तत्वों, देशद्रोहियों और लूट-पाटकी प्रवृत्तिको समर्थन देनेवाले तत्वोंके विरुद्ध किया गया है। किसी भी दलकी या वर्गकी प्रवृत्तियोंको दबानेके लिए उसका उपयोग नहीं किया गया और न कोई विचारधारा या संस्था इससे नष्ट ही हुई है। नवोदित प्रजातंत्रको हमेशा इस तरहकी स्थितियोंका सामना करना पड़ता है और नवप्राप्त स्वातंत्र्यके नशेसे समाज-जीवनको नष्ट होनेसे बचाना पड़ता है। उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार सीखनेके पूर्व स्वतंत्रता-प्राप्ति खतरनाक है; परन्तु स्वतंत्रता प्राप्त किए बिना लोग उत्तरदायी व्यवहार सीख भी नहीं सकते। पराधीनता और जीहुक्मी रखनेवाले समाजमें जब प्रजातंत्रका प्रयोग करना होता है, तब दो परस्पर विरोधी समस्याओंका एक साथ ही समाधान करना पड़ता है। नवोदित प्रजातंत्रकी कसौटी ही इस तरह का संतुलन बनाए रखनेकी सफलता पर आधृत है।

श्री मीनू मसानी
[स्वतंत्र पार्टीके नेता]

श्री एस० एम० जोशी
[संयुक्त समाजवादी दलके नेता]

व्यापारिक समूहोंकी राजनीतिक दलोंको देन
(श्री फखरुद्दीन अली अहमदका लोकसभामें प्रतिवेदन)

राजनीतिक दल	१९६६-६७ वर्ष रु०	१९६७-६८ वर्ष रु०	१९६८-६९ वर्ष रु०
कांग्रेस	६५,७६,३१७	७४,९४,७७९	३,३४,८५१
स्वतंत्र पार्टी	२१,७२,३२२	१९,१५,२८८	१८,०००
जनसंघ	२६,००१	१,४०,८०२	—
संयुक्त समाजवादी दल	७१	१,७००	—
प्रजा-समाजवादी दल	१२,७७१	१,०००	—
साम्यवादी दल	१६०	—	—
सं० वि० दल	५००	—	—
भारतीय क्रान्ति दल	१,००१	—	—
हिन्दू महासभा	५०१	६५१	—
जनता पार्टी	१५१	—	—
जन कांग्रेस	५,०००	—	—
महा गुजरात प्रान्तीय हिन्दू सभा	१०,०००	—	—
कुल योग	८७,८७,९८३	९५,८०,०३०	३,५२,८५१
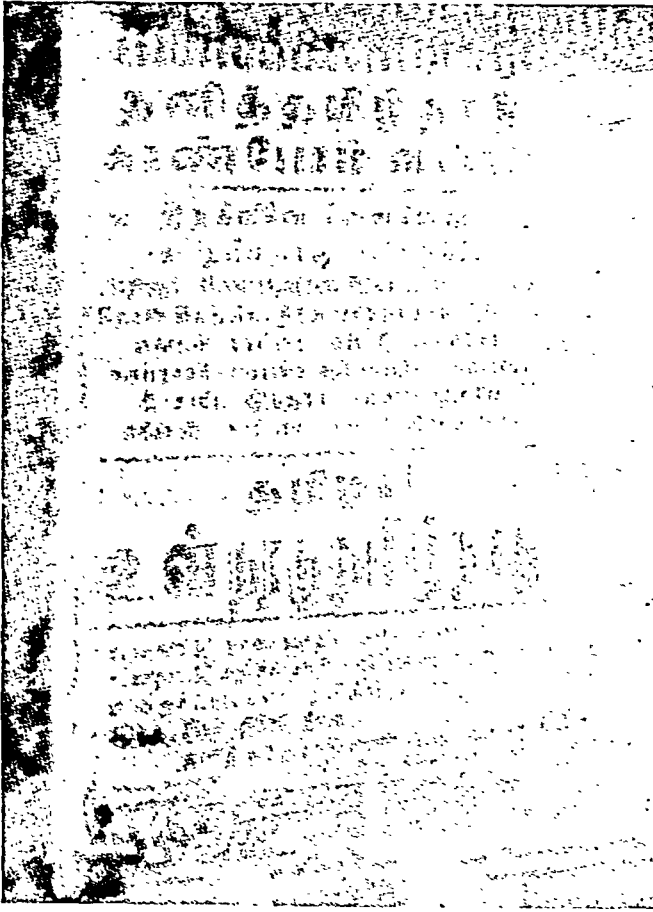
तमिलसेनाका पोस्टर

२६ जनवरी, १९६८के गणतंत्र-दिवस पर आसामकी लचित सेनाके पोस्टर प्रकट हुए। तदुपरान्त लगभग ऐसे ही पोस्टर तमिलनाडुमें प्रकट हुए, उसके मुख्य सूत्र थे:

"ए भारतीयो जागो"
तमिलनाडु तमिलोंके लिए है
ए बाल ठाकरे, इन्दिरा, मोरारजी और चौहाण
हट जाओ तमिलनाडुसे
अपने सिक्के देखो:
मुद्रा तमिलमें है?
अपने पोस्टकार्ड पर देखो:
मुद्रण तमिलमें है?
यह शरम मिटाने, चलो, बढ़ो
तमिलनाडु लेके रहेंगे।"

[तमिल फौज : ईरोड (तमिलनाडु) पांडियन प्रेस : ईरोड]
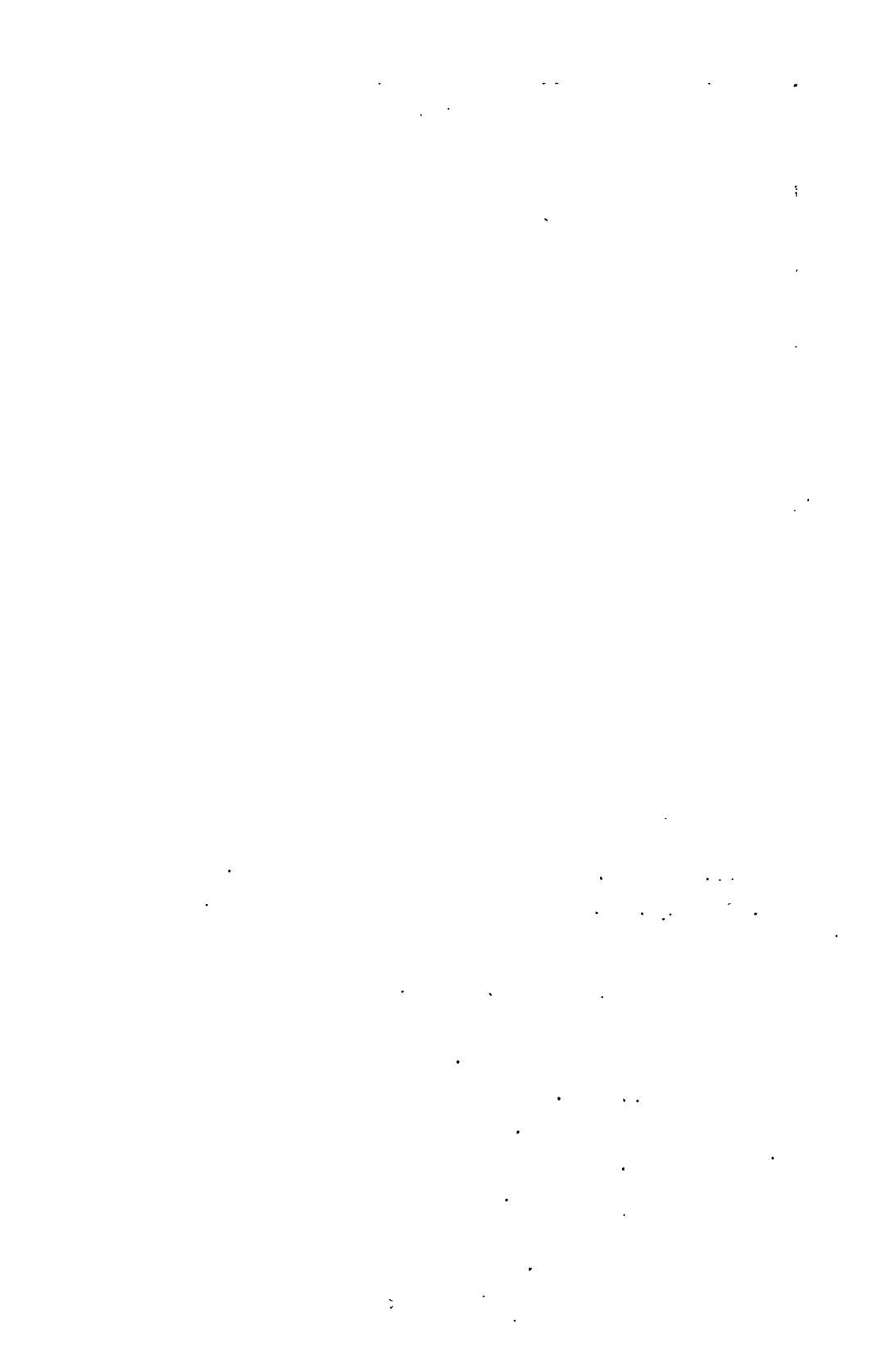
सर्वोदय आंदोलनके प्रणेता

आचार्य विनोबा भावे
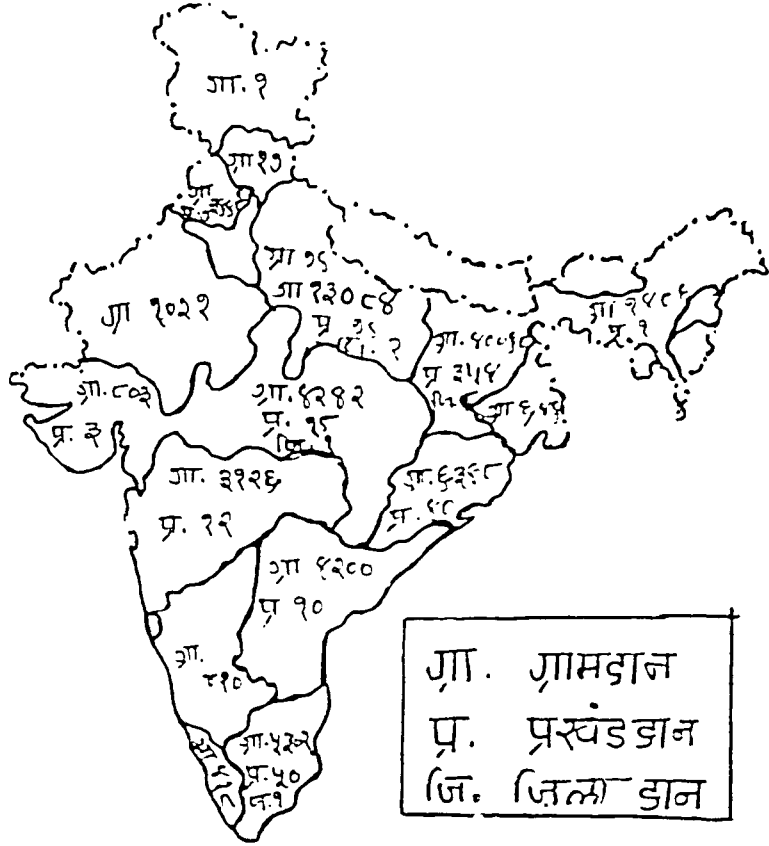
भूदान-प्राप्ति और विवरण

[प्रदेशानुसार आँकड़े : ३१ मार्च १९६८ तक]

प्रदेश १	जिलों की संख्य २	भूमि प्राप्ति (एकड़ में) ३	दाताओंकी संख्या ४	भूमिवितरण (एकड़में) ५	दाता-संख्या ६	अनुर्वर भूमि (ए) ७	शेष भूमि ८
आसाम	६	०११९३५	०७३४४	०००२६५	—	—	०११६७०
आंध्र	२०	२४१९५२	१६६२७	१०३३५१	२२७३३	०८६३८५	०५२२१६
उड़ीसा	१३	१८५७८३	८४४५६	०९६४६४	४२६१४	—	०८९३१९
उत्तरप्रदेश	५४	४३५४७८	३८२९६	२१००९१	७३३१८	२०१६५३	०२३७३३
केरल	९	०२६२९३	—	००५७७४	—	००७९९९	०१२५२०
तमिलनाडु	१२	०५१३३०	२१८९९	०१६३९४	११११५३	—	०३४९३६
दिल्ली	१	०००३००	—	०००१८०	—	०००१२०	—
पंजाव : हरियाणा	१८	०१४७३९	—	००३६०१	—	००३३८०	००७७५८
गुजरात	१६	१०३५३०	१८३२७	०५०९२४	१०२७०	—	०५२६०६
महाराष्ट्र	८	१०५०९४	१९९५३	०७०९५०	१५१९९	००३३१६	०३०८२८
मध्यप्रदेश	४१	४०५७८६	५८३७५	१७३०६३	४७४४५	०५६४७७	१७६२४६
मैसूर	१९	०१५८६४	०५०१७	००२१२३	००९४१	—	०१३७४१
पश्चिमी वंगाल	१७	०१२९६०	—	००३८९८	—	०००८४२६	०००६३६
विहार	१७	२१२७४५२	२९७२००	३५१४४३	२२४८५०	१३६४६३७	४११३७२
राजस्थान	२६	४३२८६८	०८३९१	०८४७८१	०१३१५८	०१२२४८९	२२५५९८
हिमाचल प्रदेश	६	००५२४०	—	००२५३१	—	—	००२७०९
जम्मू और कश्मीर	१५	०००२११	—	००००५	—	—	०००२०६
	२९८	४१७६८१५	५७५८८५	११७५८३८	४६१६८१	१८५४८८२	११४६०९४

आधिकारिक भाषा-समस्या

भाषानुसार आबादी और कुल आबादी का प्रतिशत
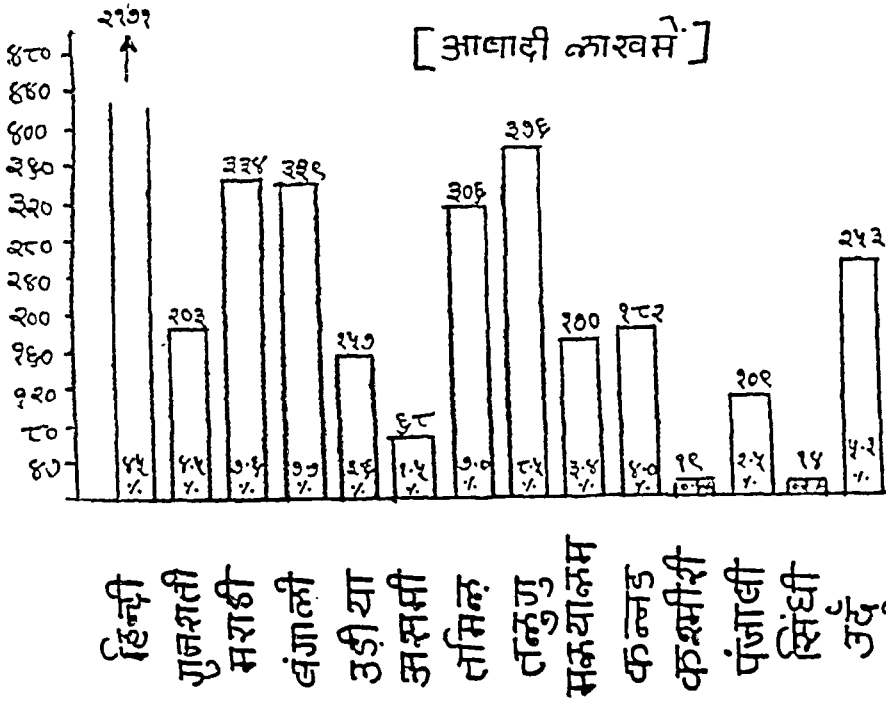
ऊपरकी आकृतिमें २१७१ लाख (कुल आबादीका ४५ प्रतिशत) दिया है। (हिन्दी अगेन्स्ट इंडिया : श्री मोहनरामके आधार पर)

हिन्दी भाषा-भाषियोंकी निश्चित संख्याको लेकर ऊहापोह रहा है। टी० ओ० आई० डाइरेक्टरीके आधार पर सन् १९६१की जनगणनाके आधार पर : हिन्दीभाषा-भाषियोंकी संख्या मात्र १३३४ लाख मानी गई है, यह कुल आबादीका ३०.६ प्रतिशत है। इसमें बिहार और राजस्थानको जोड़ देने पर १६५१ लाख होती है जो कुल आबादीका ३८.६ प्रतिशत है; परन्तु उसमें १५० लाख आदिवासियोंकी प्रजाकी हिन्दीसे मिलती बोलियोंका समावेश करने पर १८०० लाख होती है जो कुल ४१ प्रतिशत होती है जबकि हिन्दीभाषी प्रदेशोंकी कुल आबादीके हिसाबसे गणना करें तो यह संख्या ४५ प्रतिशत मानी जाती है।

हिन्दी-भाषी माने जाने वाले प्रदेशोंकी पूरी आबादी हिन्दी-भाषी नहीं है, ऐसा ध्यानमें रखनेसे यह अनुमान १६५०-१८०० लाखके बीचमें मानने पर ४० प्रतिशत अधिकाधिक उचित लगता है।

सोवियत रूस : आधिकारिक भाषाएं

(आबादी २० करोड अधिकांश आंकड़े १९५०-६१)
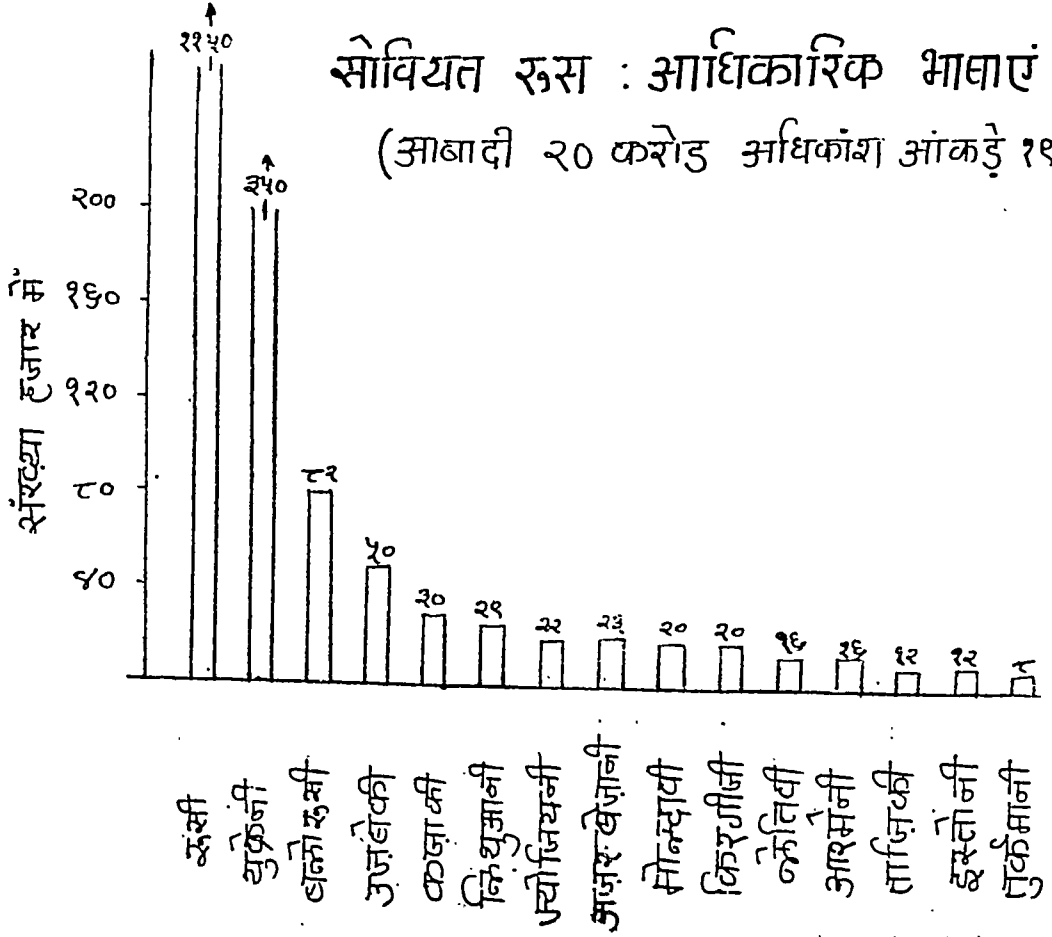
संविधानमें राजकीय भाषा*

धारा ३४३ :

(१) संघकी राजकीय भाषा देवनागरी लिपिमें हिन्दी रहेगी। संघके सरकारी कामकाजके लिए प्रयोगमें आनेवाले अंकोंके रूप भारतीय अंकोंके अन्तर्राष्ट्रीय रूप रहेंगे।

(२) इस धाराकी उपधारा (१)में चाहे जो हो पर संविधानके आरम्भसे (२६ जनवरी १९५०में) १५ वर्ष तक, आरम्भकालमें अंग्रेजी भाषा जिस किसी सरकारी कामकाजके लिए प्रयुक्त होती है, उन सभी कामकाजोंमें उसका प्रयोग चालू रहेगा।

यहाँ यह व्यवस्था की गई है कि इन पंद्रह वर्षोंकी अवधिमें, संघके किसी भी सरकारी कामकाजके लिए अंग्रेजी भाषाके अतिरिक्त हिन्दी भाषा और भारतीय अंकोंके अन्तर्राष्ट्रीय रूपोंके अलावा देवनागरी रूपोंका आधिकारिक उपयोग किए जा सकनेके लिए राष्ट्रपति आदेश दे सकता है।

(३) इस धारामें चाहे कुछ भी आता हो, परन्तु उपर्युक्त पंद्रह वर्षकी अवधिके बाद संसद् द्वारा कानून बनाकर उसमें स्पष्टतया सूचित काम-काजके लिए (क) अंग्रेजी भाषा अथवा (ख) देवनागरी अंकोंका उपयोग किया जा सकेगा।

विशेष आदेश

धारा ३५० :

किसी भी व्यक्तिको कोई भी शिकायत करने या समर्थन पानेके लिए, संघ या राज्यके किसी भी प्रशासक या अधिकारीको आवेदन करते समय संघ या राज्यमें प्रयुक्त भाषाओंमेंसे किसी भी भाषाका उपयोग करनेका अधिकार रहेगा।

---

*१९४९ (१४ सितम्बर) : संविधान सभाने हिन्दी भाषाको संघकी आधिकारिक भाषाके रूपमें मात्र देवनागरी लिपिके साथ केवल एकके बहुमतके आधार पर प्रस्ताव पारित कर स्वीकार किया गया (७८के विरुद्ध ७७ मत)

संविधानकी धारा ३५१ :

"संघका कर्तव्य रहेगा : हिन्दी भाषाका विस्तार करना और उसका इस ढंगसे विकास करना जिससे भारतकी सुसंगठित संस्कृतिके सभी तत्वोंकी अभिव्यक्तिके माध्यमके रूपमें वह काम आ सके। इसके अतिरिक्त उसकी मूलभूत प्रकृतिको आँच न आए, इस ढंगसे हिन्दुस्तानी तथा संविधानकी ८वीं धारामें बताई गई अन्य भाषाओंके स्वरूपों, शैलियों और अभिव्यक्तियोंको आत्मसात कर तथा जो कुछ आवश्यक और उचित प्रतीत हो; उससे उसके शब्दभण्डारको समृद्ध करनेके लिए, मुख्यतः संस्कृतसे और गौण रूपमें अन्य भाषाओंसे लाभ लेकर उसे (हिन्दीको) समृद्ध बनाना।

धारा ३४४के अनुसार :

"संघीय संविधानके लागू होनेके बाद पाँच वर्षोंके उपरान्त राष्ट्रपति एक आधिकारिक भाषा-आयोग नियुक्त करेगा। (इस आयोगमें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक अध्यक्षके अतिरिक्त ८वें परिशिष्टके अनुसार प्रत्येक भाषाके एक-एक प्रतिनिधिकी नियुक्ति होगी।)

निम्नलिखित बातोंमें राष्ट्रपतिको सिफारिश करना आयोगका कर्त्तव्य होगा :

(क) संघराज्यके आधिकारिक हेतुओंके लिए हिन्दी भाषाका उत्तरोत्तर और अधिकाधिक उपयोग करनेके सम्बन्धमें;

(ख) संघराज्यके सभी या अमुक आधिकारिक हेतुओंके लिए अंग्रेजी भाषाके उपयोग पर नियंत्रण करनेसे सम्बद्ध;

(ग) संघीयसंविधानकी ३४८वीं धारामें* बताए गए सभी अथवा अमुक हेतुओंके लिए प्रयोगमें आनेवाली भाषाको निश्चित करनेसे सम्बद्ध;

(घ) संघराज्यके सभी या किन्हीं भी निश्चित हेतुओंके लिए प्रयोगमें आने वाले अंकोंके स्वरूप;

(च) हिन्दी, संघकी आधिकारिक भाषाके रूपमें संघ और राज्यों के बीच तथा राज्य-सरकारोंके आपसी विचार-विनिमयकी भाषाके रूपमें धीरे-धीरे किस तरह अंग्रेजीका स्थान ले, अतः उसके लिए कार्यक्रम तैयार करना।

---

*३४८वीं धाराके हेतु : (१) उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयकी कार्यवाही, (२) संसद् तथा सभी राज्य विधान-सभाओंके बिल तथा कानून, (३) संघीय संविधानके अनुसार या संसद् या किसी भी राज्यकी विधानसभा द्वारा निर्मित किसी भी कानूनके अनुसार घोषित कोई भी आदेश, नियम, विधि-विधान और उपनियम।

२. अपनी सिफारिशें करते समय भाषा-आयोग भारतकी औद्योगिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगतिको ध्यानमें रखेगा और हिन्दीभाषी प्रदेशोंके लोगोंके सरकारी नौकरीसे सम्बद्ध दावों और हितोंको ध्यानमें रखेगा।

१९५७ (अन्त) : 'आधिकारिक भाषा कमीशनकी रिपोर्ट दो वर्षकी जाँचके बाद प्रकट हुई। अंग्रेजीके स्थान पर हिन्दीको प्रतिष्ठित करनेकी समयावधि निश्चित करनेका सुझाव दिया गया...इसके विरुद्ध दक्षिणमें, विशेषतः मद्रासमें, आन्दोलन हुए। दक्षिणके लोकसभाके सदस्योंने अंग्रेजीको अनिश्चित समय तक चालू रखनेके लिए दबाव डाला।

दिसम्बर १९५७ :

पंडित नेहरूने एक पत्रमें कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किए :

(१) निर्णय बहुमतके द्वारा अल्पमत पर लादा नहीं जाना चाहिए; महदंशतः सम्मति ली जानी चाहिए।

(२) प्रत्येक भाषाको पूरा अवकाश मिलना चाहिए, सरकारी नौकरियोंमें अहिन्दी प्रदेशके लोगोंको नुकसान न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए; अंग्रेजीका अध्ययन चालू रहना चाहिए, इतना ही नहीं बल्कि उसका विस्तार होना चाहिए।

(३) यह मेरी समझमें नहीं आता कि अंग्रेजी भविष्यमें अखिल भारतकी भाषा बन जायगी, यह कैसे कहा जा सकता है। यह अमुक समय तक भले ही चालू रहे और उसके बाद भी, अलबत्ता महत्वपूर्ण भाग अदा करेगी। परन्तु किसी परदेशी भाषाको हम देशकी आधिकारिक अखिल भारतकी भाषाके रूपमें स्वीकार करें, यह मुझे अपमानजनक लगता है।

(४) चाहे जो हो, पर इस प्रकारके मामलोंमें जल्दी-जल्दी किसी निर्णय पर पहुँचने या उसके लिए कोई निश्चित तिथि निश्चित कर देनेका मुझे कोई कारण दिखाई नहीं देता।

१९५८ : पंडित नेहरूने गोहाटी कांग्रेसमें घोषित किया कि : जब तक अ-हिन्दीभाषी प्रजा हिन्दीको स्वीकार करनेके लिए तैयार न हो जाय, तब तक हिन्दीके साथ-साथ अंग्रेजी सहभाषाके रूपमें चलती रहेगी।

१९६३ : पंडित नेहरू : "बहुत समयसे मुझे यह प्रतीति हो चुकी है और आज भी मैं इस बात पर दृढ़ हूँ कि भारतमें कोई भी सच्चा जन-आन्दोलन, कोई भी जागृति अंग्रेजी भाषाके द्वारा होना संभव नहीं है।... हमें अनिवार्यतः हिन्दीका उपयोग करना पड़ेगा।...किसी अन्य कारणसे नहीं तो केवल इसलिए कि यह भाषा इस हेतुके लिए सबसे अनुकूल है। (और हिन्दीको हमें प्रोत्साहन देना चाहिए) इस बीच यह आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है कि अंग्रेजी सहभाषाके रूपमें चलती रहे। यह क्रिया ऐसी नहीं है कि इसकी कोई निश्चित तारीख तय की जा सके।"

१९६३ : आधिकारिक भाषा कानून १९६३ :

आफिशियल लेंग्वेज एक्टके सेक्शन ३के अनुसार, अंग्रेजीका उपयोग १९६५की अवधिके बाद भी, पहलेकी तरहसे संघके सभी आधिकारिक हेतुओंके लिए तथा संसदकी सभी कार्यवाहियोंके लिए चलता रहे (May Continue) का निर्णय लिया गया।

१९६३ :

पंडित नेहरूने पार्लियामैन्टमें इस तरहका व्यक्तिगत रूपसे आश्वासन दिया (इसके बाद पंडित नेहरूका अवसान हो गया)।

१९६४ (१५ अक्तूबर) :

संविधानके अनुसार १९६६में २६ जनवरीको हिन्दी एकमात्र आधिकारिक भाषा होनेवाली होनेके कारण, उसकी पूर्व तैयारीके रूपमें, केन्द्रीय गृहमंत्रालयकी ओरसे केन्द्र सरकारके सभी मंत्रालयोंको एक परिपत्र भेजकर यह पूछा गया कि हिन्दीके उपयोगको सफल बनानेके लिए क्या-क्या कदम उठाने चाहिए। दिल्लीके सचिवालयको हिन्दीभाषी राज्योंके साथ हिन्दीमें पत्र-व्यवहार करनेका सुझाव दिया गया। और इस तरहकी स्टेशनरी (प्रथम हिन्दी और बादमें अंग्रेजी विगत वाले लेटरहैड्स) तैयार करवायी गई।.....इतना ही नहीं, मानसिक वातावरण तैयार करनेके लिए कितने ही मुद्रित प्रपत्र प्रेषित भी कर दिए गए।

—इस कदमसे अ-हिन्दीभाषी प्रदेशोंमें खलबली मच गई।

१९६४ (दिसम्बर) :

गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दाने यह स्पष्ट किया कि "देवनागरी लिपिको सम्पूर्ण भारतकी लिपिके रूपमें जबरदस्ती लादनेका सवाल ही नहीं उठता।"

१९६५ (२६ जनवरी) :

संविधानके अनुसार १५ वर्षकी अवधि पूरी होते ही हिन्दीको आधिकारिक भाषाके रूपमें स्थान देनेकी घोषणा की गई।

१९६५ (२५ और २६ जनवरी) :

मद्रास नगरमें द्रविड़ मुन्नेत्र कषगमके दो कार्यकर्ताओंने सार्वजनिक स्थानों पर आत्मदहन कर देशमें खलबली मचा दी। मद्रास राज्यमें भयंकर दंगे शुरू हो गए।

१९६५ (११ फरवरी) :

श्री लालबहादुर शास्त्रीने पंडित नेहरूके आश्वासनोंको दोहराते हुए एक चार सूत्रीय कार्यक्रम रखा : (१) प्रत्येकको अपना कामकाज अपनी भाषामें चलानेका अधिकार हैं, (२) राज्योंके बीच पत्र-व्यवहारका माध्यम अंग्रेजीमें रहेगा अथवा उसके साथ अंग्रेजी अनुवाद रहेगा (३) अ-हिन्दीभाषी-प्रदेश पहलेकी तरहसे ही केन्द्रके साथ अंग्रेजीमें ही व्यवहार कर सकेंगे और (४) केन्द्र सरकारके कामकाजमें अंग्रेजी जारी रहेगी।

परन्तु पंडित नेहरूके आश्वासनको कानूनका रूप न देनेके कारण द्विविधा बनी रही। केन्द्रीय खाद्य-मंत्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम्ने त्यागपत्र दे दिया।

१९६५ (१९ फरवरी) :

पार्लियामेंटमें राष्ट्रपति श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन्ने वचन देते हुए कहा : "पंडित जवाहरलाल नेहरूने जो आश्वासन दिए थे और हमारे प्रधान-मंत्रीने जिनको दोहराया है, वह बिना किसी घटबढ़ और हिचकिचाहटके पूरे किए जायँगे—इस तरहका हम स्पष्ट निवेदन करना चाहते हैं। हिन्दी संघकी आधिकारिक भाषा है, फिर भी अ-हिन्दीभाषी लोगोंको जब तक जरूरत होगी, अंग्रेजी जारी रहेगी।" और उन्होंने आगे कहा कि "संवैधानिक, प्रशासनिक तथा कार्यकारिणीके क्षेत्रोंमें उचित किया जायगा।

—इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दिल्ली और उत्तर प्रदेश में दंगे हुए।

—कांग्रेस कार्यकारिणी, केन्द्रीय मंत्रिमण्डल और राज्यके मुख्य-मंत्रियोंने मिल कर एक समाधान (फार्मूला) तैयार किया और पं० नेहरूके आश्वासनोंको समाविष्ट करते हुए सन् १९६३के आधिकारिक भाषा कानूनमें संशोधन करनेका आश्वासन भी दिया।

—१९६१में राष्ट्रीय एकता परिषद्में स्वीकृत 'त्रिभाषा फार्मूले' पर प्रभावशाली ढंगसे अमल करनेकी बात भी की गई। हिन्दी-भाषियोंको तीसरी भाषाके रूपमें संस्कृत नहीं, वरन् आधुनिक भारतीय और विशेषतः दक्षिणकी किसी एक भाषाको पढ़नेका आग्रह किया गया।

१९६५ (जून)* :

दक्षिणमें उग्र दंगे होनेके बाद केन्द्रने नई भाषा-नीति घोषित की। उसमें तीन मुद्दे थे : (१) हिन्दीके साथ अंग्रेजी सहभाषाके रूपमें चलती रहेगी। (२) केन्द्रकी नौकरियोंके लिए परीक्षामें हिन्दी, अंग्रेजीके अतिरिक्त संविधानमें मान्य सभी भाषाओंको स्थान मिलेगा। (३) विश्वविद्यालय स्तरके शिक्षण तक त्रिभाषा फार्मूला : मातृभाषा, आधिकारिक भाषा हिन्दी (हिन्दी प्रदेशोंमें कोई भी एक आधुनिक भाषा) तथा अंग्रेजी या योरोपकी कोई भी एक भाषा।

१९६७ :

१९६३के एक्टके क्लाज़ पहलेमें 'May' शब्द है, जो इच्छावाचक है; उसके स्थान पर १९६७के संशोधन प्रस्तावमें मद्रास सरकारने यह माँग की कि 'Shall' अनिवार्यतासूचक शब्द रखकर अंग्रेजीके चलनेके विषयमें निश्चितता कर देनी चाहिए।

---

* इस एक्टके अनुसार भारतको छोटे-से-छोटे राज्य (उदाहरणार्थ नागालैण्ड, जिसकी आधिकारिक भाषा अंग्रेजी है और उसमें वह परिवर्तन न करे तब तक) के अधिकारमें अंग्रेजीको बंद करनेके विरुद्ध वीटो सत्ता आ जाती है।

—१९६३के एक्टमें संशोधन हुआ। तदनुसार जिन्होंने हिन्दीको आधिकारिक भाषाके रूपमें स्वीकार न किया हो, उन सभी राज्योंमें अंग्रेजीका वैधानिक उपयोग बन्द करनेका प्रस्ताव पारित नहीं किया जा सकता। उक्त प्रकारके प्रस्तावों पर विचार होनेके बाद ही, और जब तक पार्लिया-मेण्टके दोनों सदनोंमें अंग्रेजीका उपयोग बंद करनेसे सम्बद्ध प्रस्ताव पारित न हो, तब तक अंग्रेजीका उपयोग चालू रह सकता है (May Continuee)।

१९६७ (दिसम्बर) :

उपरोक्त एक्ट-संशोधनके अतिरिक्त एक 'भाषा-नीतिका प्रस्ताव' भी पार्लियामेण्टमें ३५ घण्टोंकी बहसके बाद लोकसभामें १६ मईको २०५ (विरोधमें ४१ मत) तथा राज्यसभामें २२ मईको ११४ (विरोधमें १४ मत) मतोंसे पारित कर दिया गया जिसके अनुसार :

संघकी नौकरियोंके लिए परीक्षामें संविधानके परिशिष्ट ८में उल्लि-खित सभी प्रादेशिक भाषाओंमेंसे किसीका भी उपयोग किया जा सकता है; परन्तु नौकरीके लिए पसंद होने हेतु अंग्रेजी अथवा हिन्दीमेंसे किसी एकका ज्ञान पर्याप्त होगा।

इस प्रस्तावमें हिन्दी-भाषी प्रदेशोंमें तीसरी भाषाके रूपमें किसी एक आधुनिक विशेषतः दक्षिण भारतकी भारतीय भाषा (परिशिष्ट ८मेंसे)के अध्ययनकी सुविधा देनेका उल्लेख है।

त्रिभाषा फार्मूलेके अनुसार हिन्दी-भाषाभाषियोंको हिन्दी-अंग्रेजीके अलावा एक आधुनिक भाषा सीखनी थी, इस निर्णयका अमल हिन्दी-प्रदेशोंमें न होनेके कारण अ-हिन्दी प्रदेशोंमें असंतोष था ही। इस मान्यतासे अ-हिन्दी प्रदेशोंमें और भी अधिक असंतोष बढ़ा कि एक्टके संशोधन तथा प्रस्तावसे समग्रतः हिन्दीके पक्षमें और अंग्रेजीके विरुद्ध झुकाव बढ़ा है।

१९६८ (२५ जनवरी) :

मद्रास विधानसभाने त्रिभाषा फार्मूलेको अस्वीकृत करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। संविधानके अनुसार प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा राज्य सरकारके अधीन होनेके कारण केन्द्रके इस निर्णयकी वैधानिकताको चुनौती दी।

आधिकारिक भाषा (Office Language) की समस्या

[विदेशों के उदाहरण]

स्विट्ज़रलैण्ड :

—जर्मनभाषी प्रजा ७३ प्रतिशत, फ्रेन्चभाषी २१ प्रतिशत, इटेलियन ५ प्रतिशत और रोमन मात्र १ प्रतिशत।

—जर्मन, फ्रेन्च, इटालियन तथा रोमन : चारों भाषाओंका संविधानमें राष्ट्रीय भाषाओंके रूपमें स्थान (जिस तरह भारतमें १४ मुख्य भाषाओंका संविधानमें राष्ट्रीय भाषाओंके रूपमें स्थान है)।

आधिकारिक भाषाके रूपमें जर्मन और फ्रेन्चके अतिरिक्त, मात्र ५ प्रतिशत वाली इटालियनका भी समान स्थान है। उनकी पार्लियामेण्ट (नेशनल काउंसिल) तथा राज्यकी विधानसभाओंमें प्रत्येकको इनमेंसे किसी एक भाषामें बोलनेका अधिकार है। सभी कानून ३ भाषाओंमें प्रकट होते हैं। उच्चतम न्यायालयकी कार्यवाही तथा उसके निर्णय तक भी वादी और प्रतिवादी मनचाही भाषामें प्राप्त कर सकते हैं। उच्चतम न्यायालयमें बीस न्यायाधीश बैठते हैं, जो तीनों आधिकारिक भाषाओंके प्रतिनिधि होते हैं।

केनेडा :

—मूल फ्रेन्च उपनिवेश; बादमें ब्रिटिशाधिकृत।

—फ्रेन्चभाषी प्रजा आबादीका कुल तीस प्रतिशत होने पर भी अंग्रेजीके साथ फ्रेन्च भाषाको आधिकारिक भाषाके रूपमें स्थान प्राप्त है।

बेल्जियम :

—फ्रेन्च और फ्लेमिश—दो आधिकारिक भाषाएँ हैं, उत्तरमें अकेली फ्लेमिशका आधिकारिक उपयोग होता है, दक्षिणमें फ्रेन्चका और मिश्र भाषा प्रदेशोंमें दोनोंका उपयोग होता है।

सोवियत रूस (कुल आबादी २३ करोड़) :

—लगभग १२० स्पष्ट और भिन्न भाषाओं तथा सैकड़ों बोलियों वाला विराट देश है।

—मुख्य भाषाएँ ५९ हैं। मुख्य भाषाओंके आधार पर १५ इकाई राज्य हैं।

—एकमात्र रूसी भाषा-भाषियोंकी संख्या ५० प्रतिशतसे अधिक है।

—रूसी भाषाकी तुलनामें वहाँकी सभी भाषाएँ अल्पविकसित हैं।

—१५ भाषाएँ आधिकारिक भाषाओंके रूपमें स्थित हैं।

[हमारे यहाँ सभी १४ भाषाओंको इस रूपमें स्थान देना असंभव है, परन्तु मुख्य तीन-चार भाषाओंको आधिकारिक समान भाषाओंके रूपमें प्रतिष्ठित तो किया जा सकता है। कार्य कठिन अवश्य है, पर अन्ततः तो प्रश्न प्रजातांत्रिक प्रणालीके लिए आग्रहका है]।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी :

(सन् १९५५-५६के आधिकारिक भाषा आयोगके विवरणसे)

कोई भी भाषा आज्ञानुसार विकसित नहीं हो सकती और भाषा विकास-प्राप्त हो उसके पूर्व ही उसका समयपत्रक निश्चित कर देना मिथ्या है। कारण कि इस तरह उसे सिद्ध करना असंभव है। श्री के० एम० मुंशीके अनुसार : हिन्दी भाषा शिक्षित लोगोंके हाथमें जब तक अभिव्यक्तिका सबल माध्यम नहीं बन जाती, तब तक वह शक्तिशाली भाषाके रूपमें अंग्रेजीका स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। भाषा वर्तमान और प्रगतिशील लोगोंकी राजनीतिकी और जीवनके अन्य क्षेत्रोंकी मानसिक अभिव्यक्तिका पर्याप्त वाहन बने; इसके पूर्व सर्वप्रथम, मनुष्योंके चित्त अद्यतन होने चाहिएँ और विज्ञान तथा संस्कारके क्षेत्रमें परिपूर्ण रूपसे आगे बढ़े हुए होने चाहिएँ।

हिन्दीको स्वैच्छिक स्वीकार करनेके बाद और उसके बौद्धिकोंमें उसका ज्ञान विस्तृत होने पर, अपनी प्रादेशिक भाषाओंका उपयोग करनेवाले राज्यों द्वारा यह निर्णय लिया जाना शेष रहेगा कि संघ और राज्य सरकारोंके बीच और अन्य राज्योंके परस्पर व्यवहारमें हिन्दीका उपयोग कितनी सीमा तक किया जाय।

महात्मा गांधीकी देन

१९१७ :

महात्मा गाँधीने गुजरात शिक्षण परिषद (गोधरा) में राष्ट्रभाषा पर विचार प्रस्तुत करते हुए। उसकी निम्न कसौटियाँ बताई :

—देशके एक बड़े भागकी प्रजा द्वारा वह भाषा बोली जानेवाली हो।

—पूरे देशके लिए उसका सीखना आसान हो।

—अधिकारियोंके लिए सीखना सरल हो।

—देश भरमें धार्मिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक प्रवृत्तियाँ उसके द्वारा संभव हों।

१९१८ :

महात्मा गांधीने हिन्दी साहित्य सम्मेलनके समक्ष हिन्दी-उर्दूका भेद किए बिना, भारतके हिन्दू और मुसलमान जिस भाषाको बोलते हैं, उस हिन्दुस्तानी भाषाकी सिफारिश की। उसकी लिपि देवनागरी या फारसी हो सकती है।

१९२५ :

महात्मा गांधीने राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा हिन्दुस्तानीको आधिकारिक भाषाका स्थान दिलवाया।

भारतके और संविधानमें हिन्दुस्तानीके स्थान पर हिन्दी और एकमात्र देवनागरी लिपिको स्वीकार किया गया।

भाषाके आधार पर प्रान्तोंकी रचना

इतिहास

१८९४ : श्री महेशनारायणने अपने विहार प्रदेशको वंगालसे अलग करनेके लिए प्रयास किए। ('लिंग्विस्टिक विविसेक्शन ऑफ इंडिया', श्री बी० बी० कामथ)।

१९०५ : वंगविभाजनके विरुद्ध वंग एकताका आन्दोलन।

१९०८ : कांग्रेसने विहारको अलग प्रान्तका स्थान दिया।

१९११ : (२५ अगस्त) गवर्नमेंट ऑफ इंडिया द्वारा तैयार किया गया 'दि स्कीम आफ प्रोविंशियल ऑटानॉमी'में भाषावार प्रान्त-रचनाके सिद्धान्तको स्वीकार किया गया।

१९१३ : सर बी० एन० शर्माकी अध्यक्षतामे तेलुगुभाषी प्रजाको आंध्र प्रदेशसे अलग करनेके लिए आयोजित परिषद्।

१९१६ : आंध्र परिषद्ने कांग्रेससे भाषाके आधार पर आंध्रको स्वतंत्र प्रदेशके रूपमें स्वीकार करनेकी माँग की। महात्मा गाँधीजी तथा श्रीमती एनी वेसेंटके विरोधके वावजूद उसे स्वीकार कर लिया गया।

१९१७ : आंध्र और सिंधकी स्वतंत्र कांग्रेस समिति मान्य हुई।

१९१९ : माण्टेग्यु चेम्सफोर्डकी रिपोर्टमें भाषाओंके आधार पर प्रान्त वनानेके सिद्धान्तको स्वीकृति मिली।

१९२० : नागपुरमें हुई कांग्रेसकी वैठकमें अपने प्रशासनिक कार्योंके लिए भाषाके आधार पर भारतके २१ कांग्रेस-प्रदेश निश्चित किए गए। (पहलेके साथ तेरह भाषाएँ तथा वम्बई, दिल्ली, ब्रह्मदेश आदिको मिलाकर)।

१९२२ : देशवंधु चितरंजनदास और डा० भगवानदासने 'स्वराज्य योजना' तैयार की, जिसमें घोषित किया गया कि 'भाषाके आधार पर प्रान्तोंकी पुनर्रचना की जानी चाहिए।'

१९२७ : इंडियन स्टेच्युटरी कमीशनकी नियुक्ति हुई। कांग्रेसने प्रस्ताव पारित किया कि आंध्र, उत्कल, सिंध और कर्नाटकके अलग प्रान्त वनानेका समय आ गया है। इस समय इसके समर्थकोंमेंसे एकने "प्रजाका आत्मनिर्णय'का अधिकार" उपस्थित किया था।

१९२७ : श्री एस० श्रीनिवास द्वारा तैयार किए स्वराज्य संविधानमें भाषाके आधार पर प्रान्तोंकी पुनर्रचनाकी सिफारिश की गई।

१९२७ : मद्रासकी विधानसभाने ३२के मुकाबले ४० मतोंसे आंध्रके अलग राज्यकी मांगको लेकर प्रस्ताव पारित किया और उसे गवर्नर जनरलके पास भेज दिया।

१९२७-२८ : साइमन कमीशनने अपनी रिपोर्टमें इस तरहका मत प्रदर्शित किया कि "प्रान्तोंकी जो सरहदें जीवित हैं वे अनेक मामलोंमें स्वाभाविक सम्बन्धोंके रखनेवाले प्रदेशों और प्रजाके आधार पर निश्चित नहीं हुई हैं। अनेक बार तो अन्य योजनाओंके अन्तर्गत जिन्हें प्राकृतिक ढंगसे एकत्र किया गया होता, उन्हें भी अलग कर दिया गया है....जो एक भाषा बोलते हों, सघन और आत्मनिर्भर प्रदेशोंमें संगठित हों, स्वतंत्र प्रान्त बनाए जाने पर अपना अलग अस्तित्व टिकाए रखनेमें समर्थ हों, यह निःशंक बात है कि समान बोलीका उपयोग प्रान्तीय वैयक्तिकताके लिए दृढ़ और प्राकृतिक आधार है। इसके अलावा जाति, धर्म, आर्थिक हित, भौगोलिक एकता, नगर और ग्राम प्रदेशोंकी तथा नदी-तट और अन्दरके प्रदेशोंके बीचका संतुलन भी सम्बन्धित परिबल है। जिन प्रदेशोंको इन परिवर्तनोंसे लाभ या हानि होगी, उनके बीच अधिकाधिक संभव मात्रामें सहमति होना जरूरी है।

इस कमीशनने अनेक प्रदेशोंके पुनर्विभाजनकी सिफारिश भी की थी, परन्तु उस समय 'राष्ट्रीय संग्रामके लिए राष्ट्रीय एकता'का नारा पूरे जोर-शोर पर था।

१९२८ : पंडित मोतीलाल नेहरूकी अध्यक्षतामें नियुक्त सर्वदलीय समितिने अपने विवरणमें भाषाके आधार पर प्रान्त-रचनाकी मुख्य कसौटियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की थीं : "भाषा प्रजाकी इच्छा, प्रशासनिक सुविधा, भौगोलिक अनुकूलता, आर्थिक और वित्तीय पुष्टता....अगर प्रान्त खुदको शिक्षा देनेके लिए और दैनिक काम अपनी भाषामें करना चाहते हैं तो उनका भाषाके आधार पर निर्मित होना जरूरी है....भाषावार प्रदेशोंमें ये सब परिबल उसके विकासमें सहायता करेंगे।"

१९३५ : सप्रू-रिपोर्ट, प्रि० श्रीमन्नारायण अग्रवाल (सम्प्रति गुजरातके राज्यपाल) द्वारा तैयार किया गया गाँधी संविधान, हिन्दू महासभा, जस्टिस पार्टी, मानवेन्द्र रायकी रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी—सभीने भाषावार प्रान्तोंकी योजनाको स्वीकृति प्रदान की...। कांग्रेसके चुनाव-घोषणापत्रमें घोषित किया गया कि : कांग्रेस इस प्रकारका आग्रह रखती है कि भारतके प्रत्येक नागरिकको—स्त्री-पुरुषोंको समान अधिकार और अवसर मिलने चाहिएँ.... तथा इस प्रकारका आग्रह रहा है कि राष्ट्रके भीतर प्रत्येक वर्ग और

प्रादेशिक विस्तारकी स्वतंत्रता बनी रहनी चाहिए तथा राष्ट्रके ढाँचेमें उनका विकास होना चाहिए। ....इस हेतु भाषावार और सांस्कृतिक आधार पर इस प्रकारके प्रदेशों और प्रान्तोंका विचार किया जाना चाहिए।

१९३५ : ब्रिटिश पार्लियामेण्टने १९३५का 'गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया एक्ट' पारित कर सिंध और उड़ीसा नामक दो नए प्रान्तोंकी रचना की।

१९३८ : कांग्रेसने आंध्र, कर्नाटक और केरलके प्रतिनिधि मण्डलोंको विश्वास दिलाया कि सत्ता हाथमें आते ही भाषावार प्रान्तोंकी पुनर्रचनाका काम हाथमें ले लिया जायगा।

१९३८ (मार्च) : मद्रासकी विधानसभामें श्री कोंडा वेंकटप्पैया पन्तसने तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम प्रान्तोंकी रचनाका प्रस्ताव प्रस्तुत किया। मुख्यमंत्री श्री सी० राजगोपालाचारीने उसे समर्थित किया और प्रस्ताव पारित हो गया।

१९३८ (अप्रैल) : बम्बईका विधानसभा और राज्यसभामें कर्नाटक प्रान्तको अलग करनेका प्रस्ताव पारित हुआ।

१९३९-४५ : दूसरे विश्वयुद्धके वर्षोंमें यह आन्दोलन पार्श्वभूमिकामें चला गया।

१९४६ (दिसम्बर) : भारतका संविधान बनानेके लिए संविधान सभाके बनाए जानेके बाद भाषावार आन्दोलनको पुनर्जीवन मिला।

१९४६ (८ दिसम्बर) : डा० पट्टाभि सीतारामैयाकी अध्यक्षतामें दिल्लीमें भाषावार प्रान्तोंकी रचनाके लिए सम्मेलन हुआ। आंध्र, तमिल, केरल और कर्नाटक--इन चारोंको नए संविधानमें स्वतंत्र भाषावार प्रान्तोंके रूपमें स्थान देनेके लिए दबाव डाला गया।

१९४७ (१३ मई) : प्रसिद्ध इतिहासकार और भाषाविद् डा० राधाकुमुद मुकर्जीकी अध्यक्षतामें बेलगाँवमें अखिल भारतीय भाषावार प्रान्तोंकी लीगका सम्मेलन हुआ। उसमें संविधान सभाने भाषावार प्रान्त रचनाके सिद्धान्तको मूलभूत उद्देश्यके रूपमें स्वीकार करनेका आग्रह किया गया।

१९४७ : केबिनेट मिशनने भी ४-५ नए राज्योंकी सिफारिश की। स्वराज्य मिलते ही भाषाके आधार पर प्रान्तोंकी रचनाकी माँग जोर पकड़ती गई।

१९४८ (जून) : श्री एस० के० धारकी अध्यक्षतामें भाषावार प्रान्त कमीशनकी विधिवत् घोषणा की गई....उसका विवरण १० दिसम्बर, १९४८को प्रस्तुत किया गया।

१९४८ (दिसम्बर) : कांग्रेसके जयपुर अधिवेशनमें पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डा० पट्टाभि सीतारामैया "जे० वी० पी०"

कमीशन नियुक्त हुआ, जिसका विवरण १ अप्रैल, १९४९को प्रस्तुत किया गया।

दोनों रिपोर्टोंने भाषावार प्रान्त-रचनाके सिद्धान्तको स्वीकार करने पर भी राष्ट्रीय एकताको केन्द्रमें रखकर, तत्कालीन देशकी परिस्थितिको देखते हुए तत्काल पुनर्रचनासे होनेवाले भयको प्रकट कर अधिक अनुकूल समय पर भविष्यमें पुनः विचार करनेका मत व्यक्त किया और दोनोंने ही आंध्रको मद्रास नगर पर अपने अधिकारके दावेको उठा लेनेके लिए कहा। इसकी प्रतिक्रियामें :

१९५१ (१६ अगस्त) : आंध्रके प्रसिद्ध गांधीवादी नेता श्री सीताराम तथा उनके अनुयायियोंने आमरण उपवास शुरू किया। आचार्य विनोवा भावेकी प्रार्थना पर श्री सीतारामने ३५ दिनके वाद उपवास समाप्त किया।

१९५२ (१५ दिसम्वर) : आंध्रके श्री पोट्टी सीरामुलुने ५६ दिनके उपवासके वाद शरीर-त्याग कर दिया। प्रतिक्रियास्वरूप दंगे हुए।

१९५२ (१९ दिसम्बर) : भारत सरकारने आंध्रके लिए अलग राज्य-रचनाका वचन दिया। आंध्र स्वतंत्र राज्य घोषित हुआ।

जे० वी० पी० कमीशनके मुद्दे

(१) कांग्रेसने जब भाषावार प्रान्तोंके सर्वसाधारण सिद्धान्तको स्वीकृति दी, तब उसके व्यावहारिक प्रश्न पर विचार नहीं किया था; अतः उसके सभी परिणामों पर पूरी विचारणा नहीं हुई थी।

(२) सबसे पहली गणना देशकी रक्षा, एकता और आर्थिक समृद्धिकी होनी चाहिए। देशका विघटन करनेवाली सभी प्रवृत्तियोंके विरुद्ध सख्त नापसंदगी प्रकट की जानी चाहिए।

(३) भाषा केवल एकता स्थापित करनेका वल ही नहीं, अपितु विग्रहका कारण भी वन जाती है।

(४) प्रत्येक मामले पर ध्यानपूर्वक गहराईसे विचार करनेके वाद ही भाषावार प्रान्तोंके विषयमें पुरानी कांग्रेस-नीति पर अमल हो सकता है। यह देखना शेष रहता है कि ऐसा करनेसे कहीं प्रशासनिक गड़वड़ या पारस्परिक घर्षण तो उत्पन्न नहीं हो जाता; क्योंकि ऐसा होने पर राजनीतिक और आर्थिक समृद्धि ही खतरेमें पड़ जाती है। अतः थोड़े वर्षोंके लिए नए प्रान्तोंकी रचनाका कार्य स्थगित कर दिया जाना चाहिए, जिससे इस अवधिके वीच देशके लिए अत्यावश्यक अनेक मामलों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके और इस मामलेमें घिसटनेसे अपने आपको वचाए रखें।

इस पर भी, अगर प्रजाकी भावना उग्र और सतत बनी रहे तो उसे सम्मान देना स्वीकार किया गया:

(क) आरम्भमें जहाँ-जहाँ विवाद न हो, वहाँ-वहाँ ऐसे स्पष्ट प्रदेशोंपर इस सिद्धान्तका समायोग किया जाता है।

(ख) गुणदृष्टिसे निश्चित होने पर भी सभी प्रार्थनाओं पर एक साथ अमल नहीं हो सकता।

भाषावार राज्य-रचनाके कमीशनका कार्य

(१९५४से सितम्बर १९५५)

- ⊙ १५,००० दस्तावेज।
- ⊙ २,००० मेमोरेन्डम।
- ⊙ ९,००० सभी क्षेत्रोंके व्यक्तियोंसे भेंट।
- ⊙ ३८,००० मीलका प्रवास।

भाषावार राज्य-रचना

पक्षमें मुख्य तर्क :

भाषावार सांस्कृतिक समाजके आधार पर राज्योंकी रचना केवल राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टिसे ही इष्ट नहीं है, अपितु सामाजिक प्रजातंत्रकी दिशामें प्रगति करनेके लिए यह लगभग आवश्यक और पूर्व शर्त है।

विरोधमें मुख्य तर्क :

भाषावार राज्योंकी परिपाटी राज्योंको केवल केन्द्रके साथ ही जोड़ेगी, परन्तु राज्योंको परस्पर नहीं जोड़ पायेगी और भाषा भी सम्प्रदायवाद और प्रदेशवादकी भांति विघटनका साधन बन जायेगी; जिससे अन्तर्राज्यीय द्वेष तथा घातक स्पर्धा जन्म लेगी। अन्ततः भाषाकी उत्कट रूप ये वृत्तियाँ—भावनाएँ—राष्ट्रीय एकताकी विरोधी हो जायेंगी।

द्विभाषी या बहुभाषी क्षेत्र

मुख्यतः द्विभाषी राज्योंसे भारतीय भावनाको अधिक पुष्टि प्राप्त होगी, अतः इस दृष्टिसे संयुक्त राजधानीके साथ नौ राज्योंका सुझाव:

असम और बंगाल (कलकत्ता), आन्ध्र और कर्नाटक (हैदराबाद), मद्रास और केरल (मद्रास), बिहार और उड़ीसा (जमशेदपुर), मध्य प्रदेश (भोपाल), उत्तर प्रदेश (लखनऊ), पंजाब और राजस्थान (जयपुर), बम्बई और गुजरात (बम्बई) और जम्मू और काश्मीर (श्रीनगर)।

बंगालके मुख्यमंत्री डा० बी० सी० राय, बिहारके मुख्यमंत्री डा० सिंह, संसत्सदस्य श्री एन० सी० चटर्जी, श्री सी० राजगोपालाचारी आदिने बहुभाषी राज्योंका पक्ष लिया था।

भौगोलिक प्रदेश (क्षेत्र)

(१९५६के राज्य पुनर्रचना एक्टके अनुसार)

सभी राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशोंके पाँच भौगोलिक प्रदेश (क्षेत्र) बनाए गए हैं। प्रत्येक प्रदेशकी अपनी सलाहकार समिति है:

(१) उत्तर प्रदेश (पंजाब, राजस्थान, काश्मीर, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश)

(२) मध्य प्रदेश (उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश)

(३) पूर्व प्रदेश (बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, असम, मणिपुर और त्रिपुरा)

(४) पश्चिम प्रदेश (गुजरात, महाराष्ट्र और मैसूर)

(५) दक्षिण प्रदेश (आंध्र, मद्रास, केरल तथा स्थायी आमंत्रित राज्यके रूपमें मैसूर)।

मुख्य राजनीतिक पक्ष (मन्तव्य)

[१९५२ : सभी दलोंके चुनाव-घोषणापत्रोंका मुख्य विषय]

कांग्रेस : जे० वी० पी० रिपोर्टका समर्थन किया।

समाजवादी दल : भाषाके अतिरिक्त भौगोलिक एकता और आर्थिक समृद्धि भी ध्यानमें रखी जानी चाहिए।

साम्यवादी पार्टी : भाषा-इतिहास, प्रदेश और मानसिक रुझानकी एकताके आधार पर भिन्न राष्ट्रीयताको स्वीकार किया जाना चाहिए और प्रत्येक राष्ट्रीयताको आत्मनिर्णयके अधिकार (Right of self determination)के आधार पर भारतसे अलग होनेका भी अधिकार होना चाहिए।

किसान-मजदूर पार्टी : उच्च अधिकार-प्राप्त कमीशन नियुक्त कर समग्र समस्याका परीक्षण किया जाना चाहिए।

हिन्दू महासभा : भाषावार प्रान्तोंका समर्थन करने पर भी विशेष ध्यान भारतकी सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि तथा अन्य इसी प्रकारके अन्य प्रश्नों पर रखा जाना चाहिए।

डा० भीमराव अम्बेदकर

(केन्द्र सरकारके प्रथम विधिमंत्री)

१९४८ :

(लिंग्विस्टिक प्राविंशियल कमीशनके सामने प्रस्तुत मेमोरेन्डमसे)

भाषावार प्रान्तोंकी रचनाके प्रश्नकी चर्चामें यह बात विचारमेंसे रह ही जाती है कि भविष्यमें भारत सरकारकी इमारत द्विमुखी स्वरूपकी होने वाली है: (१) केन्द्र सरकार, (२) अनेक प्रांतीय सरकारें जो अपनेमें सम्बद्ध वैधानिक, प्रशासनिक और कार्यकारिणीके कार्योंके मामलोंमें आन्तरिक रूपसे सम्बद्ध हैं और बुनी हुई हैं। भाषावार प्रान्त-रचनासे सहमत होनेके पूर्व हर-एकको इस बातका विचार करना चाहिए कि इस प्रकारके भाषावार प्रान्तोंका केन्द्र सरकारके कामकाज पर कैसा प्रभाव पड़ेगा? बहुत-से प्रभावोंमेंसे जो देखे जा सकते हैं, वे हैं:

भाषावार प्रान्तोंका परिणाम यह आवेगा कि देशमें जाति (रेस), भाषा और साहित्य अपनी-अपनी खुमारी रखनेवाले समूह होंगे, वे सब अपनेको राष्ट्ररूपमें बताने लगेंगे। केन्द्रकी विधानसभा (सेन्ट्रल लेजि-स्लेचर) 'लीग ऑफ नेशन्सके, समान हो जायेगी तथा केन्द्रकी कार्यकारिणी (सेन्ट्रल एक्जीक्युटिव) अपनेको संस्कृत रूपसे अतः हित-दृष्टिसे अलग होकर स्वतंत्र माननेवाले अलग और सघन राष्ट्रोंकी बैठकके समान हो जायगी। आश्चर्य नहीं कि इससे राजनीतिक उद्धतताका मानस विकसित हो अर्थात् बहुमतको स्वीकार करना ही अस्वीकृत कर दे अथवा समाधान न करे। इस प्रकारके मानसका विकास असंभव नहीं है। अगर इस तरहका मानस विकसित हो जाय तो केन्द्र सरकारका कामकाज ठप हुए बिना नहीं रहेगा।

श्री फ्रेन्क एन्थोनी

(एंग्लो इंडियन समाजका प्रतिनिधि)

१९५३ (अगस्त ३१) :

"आप मात्र भूलसे भरा कदम ही नहीं उठा रहे, परन्तु खतरेसे भरा कदम भी उठा रहे हैं। भाषाकी लघुमतकी अगर कोई एकमात्र सुरक्षा हो सकती है तो वह बहुभाषी राज्योंको बनाए रखनेमें है।"

आचार्य श्री जे० बी० कृपलानी

(लोकसभामें प्रजासोशियलिस्ट पक्षके प्रतिनिधि)

भाषाओंके आधार पर राज्य-रचनाका सिद्धान्त ही गलत है। इससे भारतकी मूलभूत एकताको नुकसान पहुँच जायगी....कांग्रेसने जिस दिन भाषा-वार राज्य-रचनाकी सर्वप्रथम पेशकश की, वह दिन अशुभ माना जायगा। जब हमने एक बार इस गलतीको स्वीकार किया ही है तो अब शीघ्रातिशीघ्र और साहसपूर्वक पुनर्रचनाके कामको पूरा कर देना चाहिए।

श्री वी० वी० गिरि

(सम्प्रति भारतके राष्ट्रपति : भूतपूर्व मैसूर राज्यके राज्यपाल)

मैंने हमेशा यह माना है कि भाषावार राज्योंकी रचना हमारे राजनीतिक विकासके लिए एक आवश्यक कक्षा थी....भाषावार राज्योंने विविध प्रदेशोंके पुनरुत्थानमें अपना योग दिया ही है। उदाहरणार्थ, आंध्रमें तुंगभद्रा और नागार्जुन सागरके प्रोजेक्ट्स तथा उड़ीसामें हीराकुण्डके प्रोजेक्टसे सम्बद्ध प्रदेश राज्योंके गहरे रसके अभावमें इतने जल्दी पूरे न हुए होते। पार्लियामेण्टमें जब राज्य-पुनर्रचना कमीशनकी रिपोर्ट पर विचार हो रहा था, तब भी मैंने बलपूर्वक कहा था कि विभिन्न भाषायी समूहोंको उनका अलग राज्य देनेका आश्वासन देना एक आवश्यक कदम होने पर भी कुछ समयके बाद उसमेंसे प्रदेश राज्य (ज़ोनल स्टेट्स) और अन्ततः एकात्मक (यूनिटरी) सरकार निष्पन्न होनी चाहिए।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता होती है कि बहुत-से लोगोंको अब इस बातकी प्रतीति हो गई है कि भाषायी राज्योंका रोल पूरा हो गया है और अब एकता पर भार देनेका समय आ गया है।

श्री दादा धर्माधिकारी

१९६१ (दिसम्बर २) :

भारतवर्ष एक उपखण्ड नहीं, एक अखण्ड देश है और यह अपना उत्तराधिकार है। जब एकताकी प्रतीति नहीं थी, राष्ट्रीय भावना नहीं थी, राष्ट्रीयताका विचार भी नहीं हुआ था; उस समय देशके पुरातन साहित्य और इतिहासमें कभी भी उसकी एकताको लेकर कोई प्रश्न नहीं उठाया गया। हमारे देशमें आधुनिक राष्ट्रीयताका एक भी लक्षण दिखाई नहीं देता, फिर भी भारतीय एकता प्राचीन भारतमें एक सिद्ध वस्तु रही है।....आज एक राष्ट्रके अनेक राष्ट्र करनेके लिए तत्पर हुए हैं।....आज हम बहुराज्यवाद, बहुराष्ट्रवादमें डूब गए हैं।.... आज देशमें भाषायी अहंवाद है।....निरा उद्दण्ड भाषावाद है। इसमेंसे भाषावार राज्योंका जन्म हुआ है। यहाँका यह दुर्भाग्य है कि यहाँकी संस्कृति, यहाँका इतिहास, भाषा, लिपि, सभी कुछ सम्प्रदायोंके साथ चलते हैं।

*भाषा सम्प्रदायके संयुक्त होनेके कारण यहाँ केवल भाषावादी राज्य ही नहीं, पर साम्प्रदायिक राज्य भी बने हैं। उदाहरणार्थ, दो बंगाल, दो पंजाब।

*प्रत्येक प्रान्तमें दूसरे प्रान्तके लोग—विशेषतः पड़ोसी प्रान्तोंके लोग— नौकरियोंमें कुछ प्रतिशतमें होने ही चाहिए।

*सभी कॉलेजोंमें कुछ प्राध्यापक दूसरे प्रान्तोंके होने ही चाहिएँ।

*प्रत्येक विश्वविद्यालयमें दूसरे प्रान्तोंके विद्यार्थियोंके लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखने ही चाहिएँ।

*उच्च शिक्षा अखिल भारतीय भाषामें ही दी जानी चाहिए।

* दाई आँख मातृभाषा
बाई आँख है हिन्दी
तीसरा ज्ञाननेत्र है संस्कृत,
चौथा अंग्रेजी,
मानो, हों आँखके चश्मे :
चलो, पढ़ें चारों भाषा !

श्री गांधीजी

१९४२ : (अप्रैल)

भारत पर जापानके आक्रमणके भयके समय : मेरी धारणा है कि प्रान्तोंकी पुनर्रचनाके लिए भाषावार आधार सच्चा आधार मिल गया है....गुणवत्ताकी दृष्टिसे मैं इसे स्वीकार करता हूँ, परन्तु देशके सामने जो मुख्य सवाल है, उसे गलत रास्ते पर चलानेके प्रयत्नों और आन्दोलनोंके मैं विरुद्ध हूँ।

१९४७ : (७ सितम्बर)

मेरी यह धारणा है कि सभी प्रान्तोंके लोग भारतके निवासी हैं और वह सभीका वतन है। इससे सम्बद्ध सीमा या शर्त एक ही है कि कोई अपना प्रान्त छोड़कर दूसरे प्रान्तोंमें वहांके निवासियोंका शोषण या उन पर अधिकार करने या उनके हितोंको किसी भी प्रकार नुकसान पहुंचाने न जाय। हिन्दके सभी निवासी भारतमाताके सेवक होनेके कारण उसकी सेवाकी भावनासे ही जहां जायें, वहां जीवन व्यतीत करें।

१९४७ : (३० नवम्बर)

भाषाके आधार पर प्रान्तोंकी रचनामें जो ढील हो रही है, उसका कारण समझ लेना चाहिए। यह कारण आजका बिगड़ा हुआ वातावरण है। आज जहां भी देखो वहां हरेक अपना ही देखता है, अपना ही सोचता है; देशको नहीं देखता, उसका कोई नहीं सोचता।

आज तो भाषावार प्रान्तों या सूबोंकी रचना करनेमें झगड़े होनेका भय लगा रहता है।

कांग्रेसने भाषावार प्रान्तोंका बँटवारा ठीक सन् १९२० में किया था। सरकारी ढंगसे नियमानुसार अलग प्रान्त उड़िया भाषाभाषियोंको मिला था। फिर विचार करें कि मद्रासके चार भाग किस प्रकार किए

जायें ? इसी तरह बम्बईका बँटवारा किस प्रकार किया जाय ? सभी विभाग मनमें समझकर अपनी-अपनी सीमाएँ बना लें तो नियमानुसार भाषा-वार प्रान्त इसी घड़ी बन जायें। परन्तु क्या आज हुकूमत या राज्य कामके बोझको उठा लेनेकी स्थितिमें हैं ? कांग्रेसकी जो शक्ति सन् १९२० में थी, क्या वह आज है ?

इस दशामें प्रजा अन्दर ही अन्दर मिलकर और समझकर भाषावार प्रान्त बना ले, इस समय तो यही सरल है। संभव है कि दूसरे ढंगसे आज यह बन ही नहीं पाये। —हरिजन बंधु, ३०-११-१९४७

१९४८ : (२५ जनवरी)

कांग्रेसने भाषावार प्रान्त-रचनाका सिद्धान्त कभीसे स्वीकार कर लिया था और स्वयं सत्तामें आने पर उसे कार्यान्वित करनेकी इच्छा भी प्रकट की थी; क्योंकि इस तरहकी पुनर्रचना देशकी सांस्कृतिक प्रगतिमें अनुकूल बन जायगी, ऐसी धारणा थी। परन्तु यह पुनर्रचना भारतकी जीवन्त एकताकी हानि करनेवाली नहीं होनी चाहिए।....अगर प्रत्येक प्रान्त अपनेको भिन्न, सार्वभौम इकाई समझने लगे तो भारतकी स्वतंत्रताका कोई अर्थ नहीं रहेगा और इसके साथ विविध इकाइयोंकी स्वतंत्रता भी अदृश्य हुए बिना नहीं रहेगी।

चौथी योजनामें राज्योंको केन्द्रसे प्राप्त होनेवाली सहायता

संसदके सामने चौथी योजनाके प्रस्तुत मसौदेमें केन्द्रकी ओरसे राज्योंको कुल ६०६६ करोड रु० की योजनाके लिए ३५०० करोड़ रु०की सहायता नियत की गई, जो निम्न प्रकार हैं :

राज्य	योजना (रु. करोड़में)	केन्द्रकी सहायता	राज्य	योजना (रु. करोड़में)	केन्द्रकी सहायता
१. आंध्र	३६०.५५	२४०.००	१०. मैसूर	३२७.१०	१७३.००
२. असम	२२५.५०	२२०.००	११. नागालेण्ड	३५.००	३५.००
३. बिहार	४४१.०१	३३८.००	१२ उड़ीसा	१८०.००	१६०.००
४. गुजरात	४५०.०२	१५८.००	१३. पंजाब	२७१.००	१०१.००
५. हरियाणा	१९०.४८	७८.५०	१४. राजस्थान	२३८.००	२२०.००
६. कश्मीर	१४५.००	१४५.००	१५. तमिलनाडु	५०२.००	२०२.००
७. केरल	२५८.००	१७५.००	१६. उत्तर प्रदेश	९५१.००	५२६.००
८. मध्य प्रदेश	३५५ ९६	२६२.००	१७. पश्चिम बंगाल	३२०.००	२२१.००
९. महाराष्ट्र	८११.८०	२४५.००			

पहाड़ी प्रदेशोंकी समस्या

⊙

असम

विस्तार (नेफाको छोड़कर) : ४७,२९० वर्गमील (१,२२,४८१ किलोमीटर); जिसमे पहाड़ी प्रदेश २२,००० वर्गमील।

शिक्षा : २७.४ प्रतिशत।

आबादी : १,१८,७२,७७२ (१९६१); (जिसमें पहाड़ी जातियाँ : २० लाख; १२ लाख आबादी पहाड़ोंमें)।

धर्म : मुख्य हिन्दू; ३० लाख मुस्लिम; १२ लाख ईसाई।

मुख्य भाषा : मैदानी प्रदेशोंमें असमी; पहाड़ी प्रदेशोंमें विभिन्न लोकभाषाएँ और सबीको जोड़नेवाली भाषा अंग्रेजी।

जातियां : निग्रोइड, आस्ट्रिक, किरात (मोंगोलोइड); द्रविड़ (मेडि-टरेनियन), आल्पनोइड-दिनारिक-आर्मेनोइड तथा आर्यन (नोर्डिक)––इस प्रकार छः जातियाँ हैं। इनमें राज्यशासन, धर्म, भाषा, साहित्य, कला आदिकी दृष्टिसे किरात सबसे अधिक प्रगतिशील रही हैं।

समतल प्रदेश : (१) लखीमपुर, (२) दारांग, (३) सिवसागर, (४) नौगोना, (५) कामरूप, (६) गोआलपुरा और (७) काचार।

पहाड़ी प्रदेश : (१) खासी, (२) गारो, (३) उत्तर काचार, (४) मिकिर, (५) नाग और (६) लुशाई (मीज़ो)।

इतिहास : लगभग ई० सन्‌की सहस्राब्दीके बीच आर्य, मंगोल, आस्ट्रिक और द्रविड़ जातियोंके सम्मिश्रण द्वारा वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक विकास।

ब्रिटिश शासन (१८८० से आरम्भ) : असमके 'नेफा' प्रदेशको अलग रख कर 'विदेश मंत्रालय'के अन्तर्गत रख दिया गया। शेष पहाड़ी प्रदेशोंमें बहुत-से जिलोंको 'अलग प्रदेश' मानकर वायसरायके सीधे अधिकारमें रख कर गोरी सरकारकी देखरेखमें रख दिया गया। इन प्रदेशोंका असमके अन्य विस्तारोंके साथ संबंध-सम्पर्क नहीं था (इससे स्वयं भारतके होनेकी भावना विकसित नहीं होने पाई)।

१९०५ : बंगालका जब विभाजन हुआ, तब असमको पूर्व बंगालके साथ जोड़ दिया गया (ढाका राजधानी)।

१९११ : बंग-विभाजन समाप्त होते ही लेफ्टीनेंट गवर्नरके अधि-कारमें चला गया।

१९२१ : संशोधनके अनुसार असमको विधानसभाकी प्राप्ति।

१९३७ : मुस्लिम लीगके नेतृत्वमें मंत्रिमंडलकी स्थापना।

१९३८ : कांग्रेसका मंत्रिमण्डल (अन्य दलोंके सहयोगसे) स्थापित। मुख्यमंत्री श्री गोपीनाथ बारडोलिया हुए।

१९४१ : राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ होनेके कारण मंत्रिमण्डलने त्यागपत्र दे दिया (१९३९-४५)। विश्वयुद्धकी अवधिमें जापानी फौज़ोंने कोहिमामें प्रवेश किया था।

१९४६ : चुनावमें कांग्रेसकी ज्वलन्त विजय हुई। इसके बाद कांग्रेसकी पकड़ सन् १९६७के चुनाव तक बनी रही।

१९४७ से १९४९ : भारतको जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई, उस समयसे ही असम प्रदेशकी राज्य-रचना विषयक समस्या उलझती रही है। मुख्यतः समस्या दो प्रकारकी थी : (१) भारतसे अलग होनेके दृष्टिकोणसे निपटना, (२) उसकी सांस्कृतिक जीवन-पद्धति और स्थानीय स्वायत्तता

बनाए रखकर उसके सर्वांगीण विकास द्वारा भारतीयताकी भावनाका उनमें विकास करना।

इस हेतुसे भारत सरकारने पहाड़ी प्रदेशोंके स्वायत्त जिलोंकी योजना पर विचार किया और पं० नेहरूकी घोषणाके अनुसार पहाड़ी प्रदेशोंके विकासकी भूमिकाको ध्यानमें रखकर संविधानके परिशिष्ट ६में विशेष व्यवस्था की गई। तदनुसार यह आश्वासन दिया गया कि पहाड़ी जन-जातियोंके धार्मिक, सामाजिक रिवाजों तथा भूस्वामित्व विषयक विशेषताओंकी व्यवस्था रहेगी। मध्यावधिमें राज्यपाल द्वारा प्रशासन-संचालन और सलाह-सहायताके लिए नागाप्रदेशकी प्रतिनिधि समितिकी व्यवस्था की गई। केन्द्र सरकार द्वारा आर्थिक विकासके लिए खराब समस्याओंको हल करनेका आश्वासन दिया गया। विकास और सीमाके संरक्षणकी दृष्टिसे लगभग २५ वर्षों तक ४ करोड़ रु०की सहायताकी गणना की गई।

पहाड़ी जातियोंको इससे कोई संतोष नहीं हुआ। नागा जातिने तो इसके विरुद्ध 'सम्पूर्ण स्वातंत्र्य'का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। (शेष पूर्ववत्) दूसरी जातियाँ धुधुवाती रहीं।

१९५३-५४ : राज्य-पुनर्रचना कमीशन नियुक्त होते ही धुधुवाहट बढ़ती गई। उसके सामने अलग पहाड़ी राज्योंकी माँग प्रस्तुत की गई। परन्तु पहाड़ी प्रदेश एक साथ व संलग्न न होनेके कारण तथा अन्य अनेक कारणोंसे वह अस्वीकृत हुई।

१९५७ : अलग राज्यके पक्षधर ईस्टर्न इंडिया ट्राइबल यूनियन (पूर्व भारतीय जनजाति संघ)की स्थापना कर दूसरे आम-चुनावमें उतरे। उसने असमकी विधानसभाके लिए निश्चित सभी सीटों पर अधिकार कर लिया और असमके मंत्रिमण्डलमें उनके प्रतिनिधि कैप्टेन विलियमसन संगमाको लिया गया। उसके अधिकारमें ही जनजातियोंका मंत्रालय सौंपा गया। यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था।

१९६० : असमकी विधानसभा द्वारा 'असम भाषा बिल' स्वीकार कर केवल असमी भाषाको सम्पूर्ण राज्यकी भाषा घोषित किए जाने पर इस चिनगारीसे पुनः आग भड़क उठी और तबसे भारतके भीतर परन्तु असमसे अलग, पहाड़ी राज्यकी माँग जोर पकड़ती गई।

१९६३ (अक्तूबर) : असमकी सरकारकी इच्छा और कांग्रेसी नेतृत्वकी इच्छाके विरुद्ध जाकर भी केन्द्र सरकारने पंडित नेहरूके शब्दोंमें 'शतप्रतिशत स्वायत्तता (एटोनोमी)'की दिशामें सोचना आरम्भ कर दिया। परन्तु इसके विगतमें विभिन्न हितोंके बीच मेल बैठता ही नहीं। १९६३के दिसम्बरमें नागालैण्ड नामक अलग राज्यकी रचना हुई। (विशेष आगे)

१९६४ (दिसम्बर) : श्री एस० वी० पाटस्करकी अध्यक्षतामें आयोगकी नियुक्ति की गई। उसने पहाड़ी प्रदेशके लिए अलग मंत्री नियुक्त करने और उन विस्तारोंके लिए विशेष समितिकी सम्मतिसे उस प्रदेशसे सम्बद्ध कानून पास करनेकी सिफारिश की; परन्तु पहाड़ी नेताओंको यह मान्य न हुई।

१९६७ : श्री अशोक मेहताकी अध्यक्षतामें नए कमीशनकी नियुक्ति हुई। उसने पहाड़ी विस्तारोंके स्वायत्त ढाँचेकी सिफारिशका समर्थन किया; परन्तु मंत्रियोंके स्थान पर प्रशासनिक काउंसिलकी रचनाकी सिफारिश की। यह भी अस्वीकृत हुई।

—इस बीच पहाड़ी आन्दोलनने आकार ग्रहण किया था। ऑल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स (APHLC)की स्थापना हो चुकी थी। उसने सन् १९६२ तथा १९६७के आम-चुनावोंमें अधिकांश सीटों पर अधिकार कर अपना वल प्रदर्शित किया।

१९६७ (१३ जनवरी) : केन्द्र सरकारके घोषणापत्रके अनुसार "भारत सरकार पहाड़ी प्रजाकी राजनीतिक आकांक्षाओंकी कद्र करती है और निश्चित करती है कि असम राज्यकी पुनर्रचना की जाय। इस पुनर्रचनाका स्वरूप 'प्रादेशिक फेडरेशन'का होगा।"

१९६८ : उक्त आधार पर भारत सरकारने असमकी पुनर्रचनाका जो ढाँचा तैयार किया, वह इस प्रकार है:

दो पहाड़ी जिलोंका एक उपराज्य वनाया जाय। एक जिला खासी जयन्तिया हिल्सका तथा दूसरा गारो हिल्सका। तीसरा जिला मिकर और उत्तर काचार हिल्सका है; अगर उसे फेडरेशनमें सम्मिलित होना हो तो वह अपनी जिला काउंसिलके वहुमतसे सम्मिलित हो सकेगा। आन्तरिक खींचतानीके कारण मीज़ो हिल्सके विषयमें कुछ भी निर्णय नहीं किया गया।

इस उपराज्यके अधिकारमें विधानसभा, मंत्रिमण्डल होगा ही। उपराज्यको कर लेनेके उचित अधिकार भी सौंपे जाएँगे और राज्यसूचीके सभी कार्यालयों—असम फेडरेल राज्यके अधिकारमें जो निश्चित कर दिए गए हैं, उनके अलावा—को वह सम्हालेगा। फेडरेल राज्याधिकृत सार्वजनिक व्यवस्था और पुलिसका विभाग रहेगा; इसके अतिरिक्त गवर्नर, हाईकोर्ट, लोक सेवा अयोग, विद्युत आदि साझेदारीमें रहेंगे। विशेषत: इस उपराज्यको असम राज्य (फेडरेलमें) आजकी तरह ही प्रतिनिधित्व रहेगा। उसी प्रकार असमके मंत्रिमण्डलकी भी राजधानी शिलांग रहेगी। विशेष उत्तरपूर्वकी काउंसिलकी रचना होगी। उसमें असम नागभूमिका गवर्नर चेयरमैन रहेगा। असम नागालैण्ड और नए स्वायत्त (उपराज्य)के

विद्रोही रानी गुदाई

कैरोमिमा

पत्र की फोटो-स्टेट प्रति

I can assure you of the successful strike on important objectives even to the extent of destroying Indian Battle Cruiser recently purchased by the Indian Navy from United Kingdom if only you would kind enough to take up the matter personally, by supplying necessary materials for the purposes. I am sending these youngsters at your disposal and am much have confidence that they would be coming back only after successful completion of their mission.

May Allah bless you and give you Wisdom and Guidance for the future.

Wishing you the best of health,

Yours faithfully.

([illegible])

कुघाटो सुखाई

विद्रोही नागा-नेता

कथित मीजोरम सरकारकी ओरसे पाकिस्तान सरकारके सैनिक जासूस विभागके श्री आलमको दिनांक ५।५।६७को लिखे गए पत्रके कुछ अंश।

"अगर आप इस मामलेको स्वयं हाथमें ले लेनेकी कृपा करें और इस कार्य के लिए आवश्यक साधन प्रदान करें तो ब्रिटेनसे अभी हालमें ही खरीदे गए भारतीय क्रूजरको नष्ट करने तकके महत्वपूर्ण ध्येयोंको प्राप्त करनेका मैं आपको आश्वासन देता हूँ। इन युवकोंको मैं आपकी सेवामें भेज रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि वे अपने कामको सफलतासे पूरा करनेके बाद ही वापिस आएँगे।

"ईश्वर आप पर कृपा करें और आपको भविष्यके लिए विवेक और मार्ग-दर्शन प्रदान करें।

"आपके स्वास्थ्यकी कामना करते हुए।"

आपका विश्वासपात्र

मुख्यमंत्री रहेंगे तथा प्रत्येक के एक मंत्री और इस प्रदेशके संघ कमिश्नर भी होंगे। यह काउंसिल पारस्परिक आन्तरिक मामलोंको संकलित करेगी।

नागभूमि

[पुराण प्रख्यात जाति : नाग अथवा नग—नागको पूजनेवाली अथवा नग=पर्वत पर रहनेवाली। देशी भाषामें नॉक=लोकका भी अर्थ है।]

विस्तार : ६३३६ वर्गमील (६००० से १०,००० फुटकी ऊँचाई)।

आबादी : ३,९६,२०० (मणिपुर और नेफाके साथ कुल साढ़े छ लाख)।

जातियाँ : नागोंमें १४ जातियाँ हैं और प्रत्येक भिन्न बोली बोलती है। शायद ही किसीकी अपनी लिपि हो। नृत्य, संगीत, वेश-भूषा, गृह-उद्योगमें यह जाति बहुत आगे है। शासन-पद्धति भी भिन्न है। कोन्यकमें सरदारोंका निरंकुश शासन, आओमें वृद्धोंका वर्चस्व, अंगामीमें लोकतंत्र आदि।

* पादरियोंके प्रतापसे रोमन लिपि द्वारा १० प्रतिशत नागोंने अंग्रेजी भाषा सीख ली है और प्रजाकी बड़ी आबादीने पश्चिमी रहन-सहन अपनाया है।

राजनीतिक इच्छा-संग्राम

१८४९-७९ : अंग्रेजी शासन स्थापित होनेकी अवधिमें यहांके नाग बार बार 'स्वतंत्रता'की रक्षाके लिए आन्दोलन करते रहे हैं। उसके बाद भी छोटे-बड़े झगड़े होते रहे हैं। समग्रतः ब्रिटिश दमन-नीतिके शिकंजेमें परेशान होते रहे।

अंग्रेजी शासन स्थापित होने पर भी सभी प्रदेशों पर अंग्रेजोंका पूरा वर्चस्व स्थापित नहीं हो सका और अलग नीतिके कारण भारतीय भावना उत्पन्न नहीं हो सकी। वे अपनेको स्वतंत्र मानते रहे।

१९२९ : साइमन कमीशनके सामने निवेदन प्रस्तुत किया गया 'हम स्वतंत्र हैं और स्वतंत्र रहना चाहते हैं।'

१९३४ : ब्रिटिशके लोगोंके बहकानेसे भारतसे अलग (ब्रिटिश छत्रके नीचे) होनेकी मांग ब्रिटिश पार्लियामेन्टके सामने प्रस्तुत की गई।

१९३६-३७ : पहाड़ी रानी गुइदालोंने ऐतिहासिक विद्रोह किया, ब्रिटेनने उसे क्रूरतापूर्वक कुचल डाला।

१९४५ : जापानी सेनाने जब ब्रह्म देशसे कोहिमामें प्रवेश किया तो नागा सैनिकोंने बहादुरीसे उनका सामना किया।

१९४६ : युद्धकालमें आज़ाद हिन्द फौजको मदद देनेवाले ए० जेड० फीज़ोने नेतृत्व किया। नागा नेशनल काउंसिलकी स्थापना हुई।

१९४७ : भारतके सार्वभौमत्वका स्वीकार होते ही नागा काउंसिल द्वारा स्वतंत्र होनेकी कोशिशके अलावा पं० नेहरूने स्कॉटलैण्ड पद्धतिके आधार पर स्वीकृत विशिष्टाधिकारोंको संवैधानिक स्वरूप देनेकी माँग की।

महात्मा गांधीजीने उनकी स्वतंत्रताके रक्षणका वचन दिया। (स्वतंत्रताका दोनोंका अर्थ ही भिन्न था!)

१९४९ : संविधानके छठे परिशिष्टके अनुसार दी गई गेरेन्टीमें नागा लोगोंकी भावना रही कि उन्हें धोखा दिया गया है। उन्होंने शान्तिमय युद्ध शुरू कर दिया।

१९५२ : प्रथम आम-चुनावका उन्होंने बहिष्कार किया।

१९५२-५६ : एक ओर तो फीज़ोके नेतृत्वमें चलनेवाले समूहने हिंसक आक्रमण आरम्भ कर दिए। दूसरी ओर सरकार पर दबाव डालनेके हेतु शान्तिमय मार्ग—वार्तालाप सहित—अपनाए जाते रहे।

१९५६-५८ : ४-५ हजार विद्रोहियोंने (भूमिगत विद्रोहियोंने) शस्त्रोंका आश्रय लिया (१९४५में जापानी सेना जो शस्त्र वहाँ छोड़कर भाग गई थी, उनका अब इस रूपमें उपयोग हुआ)। पाकिस्तान और ब्रिटेनसे इन्हें प्रशिक्षण और शस्त्र आदि प्राप्त हुए। विद्रोहियोंको दबानेके प्रयत्नमें भारतीय सेनाने व्यापक और क्रूर दमन किया। सैकडोंको कत्ल कर दिया गया। एक-एक गुरिल्लेके ऊपर ३०से लेकर ५० सैनिक तक लगाए गए। दूसरी ओर, विद्रोहियोंने अपनेको बनाए रखनेके लिए प्रजाको लूटकर धन, अनाज तथा अन्य आवश्यकताएँ पूरी कीं—सरकारने आबादीको हटाना आरम्भ किया; पहाड़ों परसे उन्हें मैदानों पर लाकर बसाया गया।

—इस बीच फीज़ोके साथियोंमें ही विरोध उठ खड़ा हुआ। साखी तथा शिलु आओ हिंसक लड़ाईके विरोधी थे। परिणामतः फीज़ोके हाथ साखीका खून हुआ। फीजों पर हत्याके आरोपमें वारन्ट निकला। फीजों ब्रिटेन भाग गया। अलबत्ता वहाँ रहकर उसने नेतृत्व और सहायता देना जारी रखा।

१९६० : भूमिगत विद्रोहियोंमेंसे श्री टी० एन० अंगामी, जासोकी तथा डा० इन्कोमग्लिवा ने अलग होकर 'नेशनल पीपल्स कन्वेन्शन' नामक पार्टीकी स्थापना की। डा० आओका खून होते ही शिलु आओने उसको सम्हाला और दिल्लीके साथ बातचीत द्वारा 'नागा राज्य'की स्थापनाके लिए प्रयत्न आरम्भ किया।

१९६९ (जनवरी) : कुधाटो सुखाई (काइटोके बड़ा भाई तथा फेडरेल सरकारके प्रधानमंत्री)ने भूमिगत नागा सरकारसे अलग होकर 'क्रान्तिकारी सरकार'की स्थापना की और उसने फेडरेल अध्यक्ष महिसु तथा गृहमंत्री माओ अंगामीको गिरफ्तार कर अपने अधिकारमें कर लिया है और फेडरेल सरकारके चेदमा नामक मुख्य केन्द्र पर उसने अधिकार कर रखा है।

१९६९ (फरवरी) : आम-चुनावमें कुधाटो तथा फीज़ो-समर्थकोंने प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया था, परन्तु उनके समर्थकोंने हिस्सा लिया जो एक नए मोड़की निशानी मानी जा सकती है।

१९६९ (मार्च) : फीज़ो-समर्थक (चीन) भूमिगत (फेडरेल) सरकारकी सेनामें बड़ा विग्रह खड़ा हो गया है। शस्त्रोंके बहुत-से साजो-सामानके साथ उन्होंने मोकाकचुंग जिलेके खेन्सा नामक स्थान पर अपना केन्द्र स्थापित किया है और भारत सरकारके साथ समस्याका कोई समाधान निकालनेकी भावनासे मशीनगन, राइफल्स आदि चीज़ें जिला डिप्टी कमिश्नरको सुपुर्द कर दी हैं। यह वर्ग कुधाटोके साथ मिलकर शान्तिमय मार्ग निकालनेके लिए आतुर दिखाई देता है।

नागभूमि (नागालैण्ड)

(राज्य-रचना : १-१२-१९६३)

चुनाव : १९६४ जनवरी : कुल सीटें ४६ (७६·५७ प्रतिशत मतदान)।

नागालैण्ड नेशनल आर्गेनाइज़ेशन २९ सीट
विरोधपक्ष १७ सीट

—गवर्नर : श्री बी० के० नेहरू।

—मंत्रीगण : मुख्यमंत्री श्री टी० एन० अंगामी, श्री होकिशे सेमा (वित्त और रेवेन्यु), श्री जसोकी अंगामी (वन), श्री आस्सी चितेन जामिर (कृषि-उद्योग), श्री आकुम इम लॉन्ग (सहकारिता-विकास), श्री म्होनदामां किथन (शिक्षा और समाज-कल्याण) आदि।

चुनाव : (मार्च, १९६९) (कुल सीटोंके लिए (लोकनियुक्त ४०) ९० प्रतिशत मतदान)।

नागा राष्ट्रवादी संस्था २२ सीट
विरोधपक्ष १० सीट
निर्दलीय ८ सीट

सभी निर्वाचित होनेवाले प्रत्याशी १२ तथा निर्दलीयोंको मिलाकर राष्ट्र-वादियोंकी ४१ सीटें हो जायेंगी।

*श्री टी० एन० अंगामीके स्थान पर श्री होकिशे सेमाईका चुनाव भी एक महत्वपूर्ण व कूटनीतिक परिवर्तन है (कुयाटो सुखाई सेमा जातिका है; उसे जीत लेनेके लिए तो कहीं यह प्रयत्न नहीं है?)।

मीज़ोहिल्स

(असमके दक्षिणमें मीज़ो हिल्स)

विस्तार : ८,१३४ वर्गमील (असमका बड़ा जिला : ३,०००से ८,००० फुट ऊँचाई)।

आबादी : २,७२,०००। मूल नाम लुशाई (लुशि, शाई-काटनेवाला : सिर काटने वाला)। १९५४में नाम बदल कर उसे मीज़ो हिल्स नाम दिया गया।

धर्म : ईसाई।

शिक्षा : ४८ प्रतिशत (सम्पूर्ण भारतमें सबसे अधिक।)

१८२६ : ब्रह्मदेशने ब्रिटिशरोंको लुशाई हिल्स सुपुर्द कर दी। ब्रिटिश मिशनरियोंके कारण ८३ प्रतिशत लोग ईसाई बन गए; अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की; मीज़ो भाषाके लिए रोमन लिपि स्वीकार की, सामाजिक जीवनमें भी ईसाईयत स्वीकार कर ली। भारतमें स्वराज्यकी आवाज सुनाई देते ही मिशनरियोंने शिक्षित युवकोंको भड़काया; अन्यान्य जन-जातियों (हिन्द ब्रह्मदेश और पूर्व पाकिस्तानमें फैली हुई)का एक स्वतन्त्र राज्य बनानेके लिए आन्दोलन शुरू किया। परन्तु पुराने मीजों सरदारों और मिशनरियोंके बीच वर्चस्वकी स्पर्धा चल रही थी। दूसरी ओर भारतको आजादी मिलने पर कांग्रेसका प्रभाव बढ़ रहा था।

१९४७-४९ : संविधानके छठे परिशिष्टके अनुसार अलग स्वायत्त जिला बनाना स्वीकार किया गया जिसमें मीज़ो यूनियनका मुख्य जोर था।

१९५० : मीज़ो नेशनल फ्रण्ट (M.N.F.)की अलग स्थापना कर विद्रोहियोंने पहाड़ी राज्यकी मांग प्रस्तुत की तथा कांग्रेस और भारत सरकारके साथ सम्पर्क बनाए रखा।

१९५२ : संविधानके अनुसार स्वायत्त जिला समितियोंकी स्थापना की।

चुनाव : (सन् १९५२, १९५७ और १९६२के सभी चुनावोंमें लगभग सभी सीटों पर मीज़ो यूनियनने अधिकार कर लिया।

१९६५ (जनवरी) : कुछ मिशनरियोंके साथ लगभग ८० मीज़ो नेता गुप्त रूपसे मणिपुरमें मिले। तीन दिनके विचार-विमर्शके बाद 'मीज़ोराम राज्य' (अ-नाग पहाड़ी प्रदेश)की माँग पर वे सहमत हुए। उन्होंने विना यह स्पष्ट किए ही कि यह राज्य भारतके भीतर ही होगा या वाहर, आन्दोलनकी घोषणा कर दी। मीज़ो नेशनल फ्रण्टके नेता लाल डेन्गा (पहलेके असमके मुख्यमंत्रीके खास साथी)ने नागा विद्रोहियोंसे सम्पर्क स्थापित किया; दूसरी ओर वह स्वयं पाकिस्तान गया; तीसरी ओर ब्रह्म-देशकी चीन जातिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया।

—मीज़ो नेशनल काउंसिलमें एक वर्गके नेता श्री रेवरेन्ड लुशाई तथा श्री वनलावमा लाल डेन्गासे संयुक्त हो गए।

—कच्छमें असफल हुई पाकिस्तान सरकारने इस अवसरका लाभ उठाया। उसने पूर्वी वंगालमें ६०० कार्यकर्त्ताओंको हथियारों सहित गुरिल्ला प्रशिक्षण देनेके लिए लाल डेन्गा द्वारा की गई विनतीको स्वीकार कर लिया। उसने नागा और मीज़ो विद्रोहियोंको पास-पास लानेमें महत्वपूर्ण भाग अदा किया। सहयोगी षडयंत्र तैयार किया जा चुका था। मार्च १९६६में तो उसका प्रथम विस्फोट चौंकानेवाला था; दूसरी ओर पुलिस-दमनके अत्या-चारोंने विचित्र स्थिति पैदा कर दी।

१९६५ (नवम्बर) : लाल डेन्गा पाकिस्तानसे वापिस आते समय पकड़ लिया गया, परन्तु असमके मुख्यमंत्रीने बीचमें पड़कर उसे छुड़वा दिया।

—केन्द्र सरकार पर जव मीज़ो नेशनल फ्रण्टको गैरकानूनी घोषित करनेके लिए दवाव पड़ा, तव भी श्री चालिहा नागा-शान्ति मिशनमें रत होनेके कारण, नया विस्फोट न करनेके आग्रही रहे।

—पाकिस्तान रेडियो स्वातंत्र्य युद्धके लिए बराबर उकसाता रहा।

—पहाड़ी कमीशनके अध्यक्ष श्री पाटस्करने परिस्थितिका गुप्त विवरण राज्य सरकार और केन्द्र सरकारको भेजा, परन्तु कोई सुनवाई न हुई।

—पं० नेहरूने पहाड़ी स्वायत्तता (स्कॉटलैण्ड प्रकारकी कह कर) का स्वागत किया; अखिल हिन्द पहाड़ी नेता परिषद (APHLC)ने उसे प्रयोग तक ही स्वीकार किया।

१९६५-६८ : एक ओर, मीज़ो नेशनल फ्रण्टके भूमिगत नेताओं या विद्रोहियोंकी सशस्त्र कार्रवाई आरम्भ हुई। दूसरी ओर सरकारने लगभग ३,५०० विद्रोहियोंको या तो मौतके घाट उतार दिया या उन्हें बन्दी वना लिया। १,३०० विद्रोहियोंने शरणागति स्वीकार कर ली।

—प्रजा भी 'विद्रोही सरकार'के करों और अशान्तिसे थक गई।

—मीज़ो यूनियन, जो सभी चुनावोंमें विजयी होती आई है, उसने अरसेसे अलग राज्यकी मांगको दुहराया है। परन्तु उसके साधन शान्तिमय हैं।

—१९६८के अप्रैल महीनेमें उनका नेता लाल्दू नुर्मानाने अमेरिकन प्रास्बिटेरियन और इंगलिश बेप्टिस्ट चर्च दोनोंको मर्ज कर एक किया। इसके बाद फ्रण्टके अन्दरकी नई फूटके परिणामस्वरूप फ्रण्टके दृष्टिकोणमें परिवर्तनकी संभावना बढ़ी है।

—इस अवधिमें केन्द्र सरकारने "सुरक्षित और प्रगतिशील" गांव बसाकर इस प्रजाके पुनर्स्थापनका काम आरम्भ कर दिया है, जिसमें उसे प्रजाका सहयोग मिल रहा दिखाई देता है।

हमार जन-जाति

आबादी : १,१२,०००। [मीजो, काचार, मणिपुर और त्रिपुरामें छुटपुट आबादी वाली प्रजा। यह माना जाता है कि यह प्रजा [illegible] शांग क्षेत्रसे आई है और यहां आकर बस गई थी। अशान्तिके कारण यह छिन्नभिन्न हो गई।]

ध्येय : नागा और मीज़ोकी भांति विद्रोह कर अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता प्राप्त करना।

राजनैतिक मण्डल : हमार नेशनल यूनियन।

नेता : श्री हिन्गालियन सिनेट।

C

केन्द्रीय मंत्रिमण्डलका बढ़ता हुआ विस्तार

वर्ष	कुल	केबिनेट मंत्री	राज्यमंत्री	उपमंत्री	कुल	लोक सभाके सदस्य	राज्य सभाके सदस्य	किसी भी सभाके सदस्य नहीं
१९४७	१४	१४	—	—	—	—	—	—
१९५२	३४	१४	६	१४	३४	२६	८	—
१९५७	३९	१३	१४	१२	३९	३१	८	—
१९६२	५२	१८	१२	२२	५२	४७	५	—
१९६४	५१	१६	१५	२०	५१	४२	७	२
१९६६	५३	१६	१८	१९	५३	३८	१४	१
१९६७	५१	१९	१७	१५	५१	३७	१४	—

१९५२ : प्रथम आम चुनाव : स्थान

राज्य	कांग्रेस लो.स.	वि.स	समाजवादी लो.	स.वि.स.	के. एम. पी. पी. लो. स.	साम्यवादी वि.स.	जनसंघ लो. स.	वि. स.	अन्य लो. स.	वि. स.	निर्दलीय लो.स.	वि.स.
(अ)												
असम	११	७६	१	४	०	१	०	१	०	०	०	२३
बिहार	४५	२४०	३	२३	०	१	०	०	०	०	७	६६
बम्बई	४०	२६९	०	९	०	०	०	१	०	०	५	३६
मध्य प्रदेश	२७	१९४	०	२	०	८	०	०	०	०	२	२८
मद्रास	३५	१५२	२	१३	६	३५	८	६२	०	०	२४	१५३
उड़ीसा	११	६७	१	१०	०	०	१	७	०	०	७	५६
पंजाब	१६	९६	०	०	०	०	०	४	०	०	२	२६
उत्तर प्रदेश	८१	३९०	२	१९	०	१	०	०	०	२	३	१८
बंगाल	२४	१५०	०	०	०	१५	५	२८	२	९	३	३६
(ब)												
हैदराबाद	१४	९३	१	११	०	०	०	०	०	०	१०	७१
मध्य भारत	९	७५	०	४	०	०	०	०	०	४	२	१६
मैसूर	१०	७४	०	३	१	८	०	१	०	०	—	१३
पेप्सू	२	२६	०	०	०	१	०	२	०	२	३१	२९
राजस्थान	९	८२	०	१	०	१	०	०	१	८	१०	६८
सौराष्ट्र	६	५५	०	२	०	०	०	०	०	०	६	३
त्रावनकोर कोचीन	६	४४	०	११	०	०	०	०	०	०	०	०
(स)												
अजमेर	२	२०	०	०	०	०	०	०	०	३	—	७
भोपाल	२	२५	०	०	०	०	०	०	०	०	—	६
बिलासपुर	—	—	०	—	—	—	०	—	०	—	१	—
कुर्ग	१	१५	०	०	०	०	०	०	०	०	—	९
दिल्ली	३	३९	०	२	१	०	०	०	०	१	—	३
हिमाचल प्रदेश	३	२४	०	०	०	३	०	०	०	०	०	११
कच्छ	२	—	०	—	०	—	०	—	०	—	०	—
मणिपुर	१	—	१	—	०	—	०	—	०	—	०	—
त्रिपुरा	—	—	०	—	०	०	२	—	०	—	०	—
विंध्य प्रदेश	४	४०	१	११	१	३	०	०	०	२	०	५
कुल	३६४	२२४६	१२	१२५	९	७७	१६	१०६	३	३५	८५	६९१

१९५२ प्रथम आम चुनाव—मत (प्रतिशत)

(लोकसभा विधानसभा)

राज्य	कांग्रेस लो.	कांग्रेस वि.	समाजवादी लो.	समाजवादी वि.	कृ.म.प्र.पा. लो.	कृ.म.प्र.पा. वि.	साम्यवादी लो.	साम्यवादी वि.	जनसंघ लो.	जनसंघ वि.	अन्य दल लो.	अन्य दल वि.	निर्दलीय लो.	निर्दलीय वि.
(अ) आसाम	५३.२	४३.०	२२.५	१३.२	१०.०	५.१	—	२.०	३.६	—	८.९	५.२	१२.१	२७.०
बिहार	४८.८	४१.३७	२१.३	१८.१	३.४	२.०	०.४	१.१	०.९	१.१	१२.०	१५.४	१२.८	९.५
बम्बई	५०.२	४९.३	१४.६	११.९	५.६	५.०	१.३	१.४	—	०.०	१६.६	१४.१	११.६	१७.२
मध्य प्रदेश	५१.६	४६.०	१२.१	९.४	६.२	३.०	०.४	०.०	४.९	३.०	१२.४	७.१	११.९	२६.०
मद्रास	३६.८	३५.०	५.३	६.५	९.८	८.९	८.९	१२.९	—	०.०	१६.५	१०.३	२३.१	२३.६
उड़ीसा	४२.५	३८.८	१५.४	११.७	१.४	०.४	५.८	५.६	—	—	२६.२	२०.३	८.६	२२.३
पंजाब	४२.८	३७.०	२.२	४०.०	—	—	५.०	५.०	६.०	६.०	२५.२	२३.०	१८.६	०.२
(ब) उत्तर प्रदेश	५३.०	४७.९	१३.०	१२.१	५.०	५.६	०.४	९.०	७.०	६.३	१०.५	७.२	११.०	१३.५
बंगाल	४२.१	३८.९	२.०	२.९	८.९	८.९	९.५	१०.७	५.९	५.६	१३.१	१०.५	१८.५	०.२
हैदराबाद	४०.०	३८.०	१३.४	११.०	—	—	—	—	—	—	३८.३	२६.०	८.०	१४.०
मध्य भारत	५०.८	४७.३	१३.६	७.३	०.२	०.०	१.३	२.०	९.७	०.०	२०.५	१९.०	३.८	१३.०
मैसूर	५३.४	४६.३	६.४	८.७	२३.०	८.०	२.५	०.९	४.१	९.०	—	२.२	१०.३	२५.३
पेप्सू	३३.४	२७.७	२.५	१.२	२.६	१४.२	—	६.०	२.९	२.२	३७.३	२८.०	२१.१	३०.०
राजस्थान	४१.४	३९.५	३.४	४.३	०.९	१.०	०.२	०.०	३.०	२.०	२२.२	२०.१	२९.२	२६.४
सौराष्ट्र	६६.६	६३.९	४.६	३.६	४.६	०.०	—	०.०	—	५.०	१५.६	१८.१	८.३	६.०
त्रावणकोर-	३५.१	३५.४	१३.२	१४.३	—	३.१	—	—	—	०.०	१५.५	१५.०	३६.२	३३.९
(स) अजमेर	५०.०	४६.२	—	०.४	—	—	१४.०	१.४	१६.२	१२.१	१३.८	६.७	६.०	३५.९
भोपाल	५७.०	०.५	१.९	०.१	—	—	—	—	—	४.०	२६.०	१९.०	१४.०	२२.०
बिलासपुर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
कुर्ग	५९.०	५५.६	—	—	—	—	—	१.०	—	—	—	—	४१.०	४२.६
दिल्ली	४९.४	५२.९	—	२.३	७.२	२.६	—	०.४	२५.९	२१.८	४.५	४.३	१२.६	२५.८
हिमाचल प्रदेश	५२.४	४७.२	७.५	१.४	१२.२	१४.०	—	—	१०.७	३.०	८.४	५.७	८.५	२६.३
कच्छ	६५.८	—	५.०	—	—	—	—	—	—	—	—	—	२९.१	—
मणिपुर	२२.०	१९.०	—	—	—	—	८.६	—	—	—	३९.०	—	९.०	—
त्रिपुरा	२५.६	—	—	—	—	—	६१.३	—	६.१	—	—	—	६.०	—
विन्ध्य प्रदेश	३२.७	३९.९	१७.७	१८.१	१५.०	१६.०	—	—	१२.०	९.०	३.५	४.०	१३.४	८.५
कुल	४५.०	४२.२	१०.६	९.७	५.८	५.१	३.३	४.३	३.१	२.७	१६.३	१४.३	१५.८	२१.७

१९५७ द्वितीय आम चुनाव : स्थान

राज्य	कांग्रेस		प्रजा समाजवादी		साम्यवादी		जनसंघ		अन्य तथा निर्दलीय	
	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०
आंध्र	३७	६८	०	१	२	०	०	०	४	३६
असम	९	७१	२	८	०	४	०	०	१	२५
विहार	४१	२१०	२	३१	०	७	०	०	१०	७०
वम्वई	३८	२३४	५	३६	४	१३	२	४	१७	१०९
केरल	६	४३	१	९	९	६०	०	०	२	१४
मध्य प्रदेश	३५	२६२	०	१२	०	२	०	१०	१	३२
मद्रास	३१	१५१	०	२	२	४	०	०	८	४८
मैसूर	२३	१५१	१	१८	०	०	०	०	२	३९
उड़ीसा	७	५६	२	११	१	९	०	०	१०	६४
पंजाव	२१	१२०	०	१	१	६	०	९	०	१८
राजस्थान	१९	११९	०	१	०	१	०	६	३	४९
उत्तर प्रदेश	७०	२८६	४	४४	१	९	२	१७	९	७४
बंगाल	२३	१५२	२	२१	६	४६	०	०	५	३३
दिल्ली	५	—	०	—	०	—	०	—	०	—
हिमाचल प्रदेश	४	—	०	—	०	—	०	—	०	—
मणिपुर	१	—	०	—	०	—	०	—	१	—
त्रिपुरा	१	—	०	—	०	—	०	—	०	—
कुल	३७१	१८९३	१९	१९५	२७	१६१	४	४६	७३	६११

१९५७ द्वितीय आम चुनाव : मत (प्रतिशत)

राज्य	कांग्रेस		प्रजासमाजवादी		साम्यवादी		जनसंघ		अन्य तथा निर्दलीय	
	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०
आंध्र	५१.४	४७.३	३.६	५.६	१२.०	०.०	०.०	०.०	३२.८	४६.७
असम	५१.६	५२.३	२०.०	१२.७	१०.२	८.१	—	०.०	१८.१	२६.८
बिहार	४४.४	४१.९	२१.६	१६.२	५.२	५.१	०.०	१.१	२८.७	३५.६
वम्बई	४८.६	४८.६	८.६	८.९	६.३	३.६	३.८	१.५	३३.०	३७.१
केरल	३४.७	७.८	७.२	१०.७	३७.४	३५.२	—	—	२०.५	१६.०
मध्य प्रदेश	५२.१	४९.८	१६.१	३.१	०.४	१.६	१३.९	९.३	१७.४	२५.४
मद्रास	४६.५	४५.३	३.६	२.६	१०.०	७.४	—	—	३९.७	४४.६
मैसूर	५५.५	५२.०	१८.६	१४.०	१.४	१.९	२.४	१.३	२१.८	३०.५
उड़ीसा	४०.०	३८.२	१५.४	१०.३	४.८	८.३	—	—	३९.७	४२.९
पंजाब	५१.२	४७.५	०.५	१.२	१६.८	१८.५	१६.०	३.६	१५.३	२९.०
राजस्थान	५३.६	४५.२	१.३	२.४	४.८	३.०	११.१	५.५	२९.२	४३.९
उत्तर प्रदेश	४६.२	४२.४	१५.३	१४.४	१.६	३.८	१४.७	९.८	२१.९	२९.४
वंगाल	४८.२	४६.१	५.६	९.८	१९.०	१७.८	१.४	०.१	२५.७	२५.२
दिल्ली	५४.३	—	३.५	—	४.७	—	१९.७	—	१७.७	—
हिमाचल प्रदेश	४७.३	—	११.८	—	२.८	—	—	—	३८.१	—
मणिपुर	२७.९	—	७.२	—	११.०	—	—	—	५३.६	—
त्रिपुरा	४६.०	—	—	—	४५.३	—	—	—	८.८	—
कुल	४७.७	४५.४	१०.४	१०.०	८.९	७.७	५.९	४.०	२६.९	३२.९

१९६२ : तृतीय आम चुनाव : स्थान

राज्य	कांग्रेस		स्वतंत्र		जनसंघ		कम्युनिस्ट		प्र० समाजवादी		सं० समाजवादी		अन्य		निर्दलीय	
	लो	वि	लो.	वि.	लो.	वि.	लो.	वि.	लो.	वि.	लो.	वि.	लो.	वि.	लो.	वि.
आंध्र	३४	१७७	१	१९	०	०	७	५१	०	०	—	२	०	०	१	५१
असम	९	७९	—	—	—	०	०	०	२	६	०	०	१	१२	०	८
बिहार	३९	१८५	७	५०	०	१३	१	१२	२	२९	१	७	३	२०	०	१२
गुजरात	१६	११३	४	२६	—	—	—	०	१	७	०	०	१	१	०	७
काश्मीर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
केरल	६	—	०	—	०	—	६	—	०	—	—	—	३	—	३	—
मध्य प्रदेश	२४	१४२	०	२	३	४१	०	१	३	३३	१	१४	१	१६	४	३९
मद्रास	३१	१३९	०	६	०	०	२	२	०	०	०	१	८	५३	०	५
महाराष्ट्र	४१	२१५	०	०	०	०	०	६	१	९	—	१	०	१८	२	१५
मैसूर	२५	१३८	०	९	०	०	०	३	०	२०	—	१	१	१०	०	२७
पंजाब	१४	९०	०	३	३	८	०	९	—	०	१	—	४	—	०	१८
उड़ीसा	१४	—	०	—	—	—	०	—	१	—	१	—	४	२२	०	—
राजस्थान	१४	८८	३	३६	१	१५	०	५	—	२	०	५	१	३	३	२२
उत्तर प्रदेश	६२	२४९	३	१५	७	४९	२	१४	२	३८	१	२४	४	१०	५	३१
बंगाल	२२	१५६	०	०	०	०	९	५०	०	५	०	०	३	२९	२	११
दिल्ली	५	—	—	—	०	—	०	—	०	—	—	—	०	०	—	—
हिमाचल प्रदेश	४	—	०	—	०	—	—	—	०	—	—	—	—	—	०	—
मणिपुर	१	—	—	—	—	—	—	—	०	—	१	—	—	—	०	—
त्रिपुरा	०	—	—	—	—	—	२	—	—	—	—	—	०	—	—	—
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	१४	११६	२९	१५३	१२	१४९	६	५९	३४	११४	२०	२४६

१९६२ : तृतीय आम चुनाव : मत (प्रतिशत)

राज्य	कांग्रेस लो.	कांग्रेस वि.	स्वतंत्र लो	स्वतंत्र वि.	जनसंघ लो.	जनसंघ वि	कम्युनिस्ट लो.	कम्युनिस्ट वि.	प्र० समाजवादी लो.	प्र० समाजवादी वि.	सं० समाजवादी लो.	सं० समाजवादी वि.	अन्य लो.	अन्य वि.	निर्दलीय लो	निर्दलीय वि.
आंध्र	४७.९	४७.२	१४.९	१०.४	१.१	१.०	२१.०	१९.५	०.०	०.३	—	०.६	०.९	०.४	१३.८	२०.४
असम	४५.१	४८.२	—	—	—	०.४	७.०	६.३	१९.१	१२.६	२.८	१.५	५.०	६.९	२०.७	२३.८
विहार	४३.८	४१.३	१८.२	१७.२	२.३	२.७	६.३	६.२	१२.६	१४.१	६.१	५.२	५.१	४.६	५.२	८.४
गुजरात	५२.५	५०.८	२५.०	२४.४	१.४	१.३	—	०.१	७.१	७.७	०.०	०.०	४.९	३.४	८.८	१२.०
काश्मीर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
केरल	३४.२	—	०.१	—	०.६	—	३५.४	—	९.८	—	—	—	८.०	—	११.४	—
मध्य प्रदेश	३९.५	३८.५	०.७	१.२	१७.८	१६.६	०.९	१२.०	१२.३	१०.७	५.२	४.७	११.०	८.६	१२.३	१७.५
मद्रास	४५.२	४६.१	१०.४	७.७	०.०	०.०	१०.२	७.७	१.६	१.२	०.३	०.३	२४.४	३१.२	७.५	५.३
महाराष्ट्र	५२.८	५१.२	०.२	०.४	४.४	५.०	४.०	५.९	५.३	७.२	—	१०.५	१८.७	१२.९	१४.२	१६.७
मैसूर	५२.६	५०.२	७.८	७.१	२.६	२.२	१.५	२.२	१४.४	१४.०	—	१.०	७.१	५.६	१३.६	१७.३
उड़ीसा	५५.५	—	१.१	—	—	—	५.१	—	१५.५	—	२.६	—	१७.४	—	२.६	—
पंजाब	४१.३	४३.७	४.२	३.८	१५.१	९.७	४.७	७.१	—	०.९	२.२	१.३	२०.४	१६.१	११.८	१७.१
राजस्थान	३६.५	४०.०	१८.१	१७.१	९.२	९.१	२.९	५.४	—	१.४	३.६	३.६	४.९	२.३	२४.४	२०.८
उत्तर प्रदेश	३८.२	३६.३	५.०	४.६	१७.५	१६.४	३.६	५.०	१०.३	११.५	९.६	८.२	५.३	४.०	१०.१	१२.६
वंगाल	४६.६	४७.२	१.०	०.५	१.०	०.४	२९.३	२४.९	४.५	४.९	०.०	०.०	११.१	१०.७	६.०	१०.९
दिल्ली	५०.६	—	—	—	८२.६	—	२.१	—	०.१	—	—	—	३.१	—	१०.७	—
हिमाचल प्रदेश	६८.६	—	१२.७	—	४.४	—	—	—	—	—	—	—	६.५	—	७.५	—
मणिपुर	३०.९	—	—	—	—	—	८.१	—	४.१	—	२६.३	—	—	—	३०.५	—
त्रिपुरा	४२.८	—	—	—	—	—	५१.२	—	१.९	—	—	—	३.९	—	—	—
कुल	४४.७	४४.३	७.८	७.४	६.४	६.०	९.९	८.५	६.८	७.०	२.६	२.७	१०.४	८.७	११.०	१५.०

१९६७ चतुर्थ आम चुनाव : स्थान

राज्य	कांग्रेस लो.	कांग्रेस वि.	स्वतंत्र लो.	स्वतंत्र वि.	कम्युनिस्ट लो.	कम्युनिस्ट वि.	कम्युनिस्ट(m) लो.	कम्युनिस्ट(m) वि.	प्रजासमाजवादी लो.	प्रजासमाजवादी वि.	संयुक्त समाजवादी लो.	संयुक्त समाजवादी वि.	जनसंघ लो.	जनसंघ वि.	अन्य लो.	अन्य वि.	निर्दलीय लो.	निर्दलीय वि.
आंध्र	३५	१६५	३	२९	१	१०	—	९	—	—	—	१	—	३	—	२	२	६८
असम	१०	७३	—	२	१	७	—	—	२	५	—	४	—	—	१	९	—	२५
बिहार	३४	१२८	—	०३	५	२४	—	४	१	१८	७	६७	१	२७	—	१	५	४६
गुजरात	११	९३	१०	६४	—	—	—	—	—	३	—	—	—	१	१	१	२	६
हरियाणा	७	४८	—	३	—	—	—	—	—	—	—	—	१	१२	—	२	१	१६
कश्मीर	५	६१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	३	१	८	—	३
केरल	१	९	—	—	३	१९	९	५२	—	—	३	१९	—	—	३	१९	—	१५
मध्य प्रदेश	२४	१६७	१	७	—	१	—	—	—	९	—	१०	१०	७८	—	—	२	२४
मद्रास	३	४९	६	२०	—	२	४	११	—	४	—	२	—	—	२५	१३८	१	८
महाराष्ट्र	३७	२०३	—	—	२	११	—	१	१	७	२	४	—	४	२	२४	१	१६
मैसूर	१८	१२६	५	१६	—	२	—	—	२	१९	१	६	—	४	—	९	१	३४
नागालैण्ड	—	—	—	—	—	—	—	१	—	—	—	—	—	—	१	—	—	—
उड़ीसा	६	३१	८	४९	—	७	—	—	४	२१	१	२	—	—	—	१७	१	१२
पंजाब	९	४८	—	—	—	६	—	२	—	—	—	१	१	९	३	२९	—	९
राजस्थान	१०	८९	८	४९	—	१	—	—	—	—	—	८	३	२२	—	—	२	१५
उत्तर प्रदेश	४७	२००	१	१३	५	१३	१	१	२	११	८	४२	१२	९८	१	८	८	३९
बंगाल	१४	१२७	—	१	५	१६	५	४३	१	७	१	७	—	१	२	१५	१२	६३
केन्द्र शासित प्रदेश																		
अण्डमान निकोबार	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
चण्डीगढ़	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	१	—	—	—	—	—
दादरा नगरहवेली	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
दिल्ली	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	६	—	—	—	—	—
दीव-दमण-गोवा	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	२८	२	२
हिमाचल प्रदेश	६	३४	—	१	—	२	—	—	—	—	—	—	—	७	—	—	—	१६
लकादीव आदि	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	१	—
मणिपुर	—	१६	—	—	१	१	—	—	—	—	—	४	—	—	—	—	१	९
पांडिचेरी	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
त्रिपुरा	[illegible]	[illegible]	—	—	—	—	—	[illegible]	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

१९६७ चतुर्थ आम चुनाव : मत (प्रतिशत)

राज्य	कांग्रेस		स्वतंत्र		जनसंघ		कम्युनिस्ट		कम्युनिस्ट		प्रजासमाजवादी		सं समाजवादी		अन्य		निर्द०	
	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०	लो०	वि०
आंध्र	४८.८	४४.६	१३.७	१०.७	१.४	२.२	११.४	७.७	७.३	७.९	०.१	०.२	०.४	०.३	५.०	०.३	१८.०	२५.७
असम	४३.४	४३.४	०.९	१.५	५.५	१.८	८.४	५.९	—	१.९	१३.०	६.७	३.८	३.४	३.८	३.५	१७.५	३२.५
बिहार	३५.१	३३.८	३.३	२.६	११.१	१०.६	९.३	७.३	०.३	१.०	७.३	६.५	१७.९	१६.४	—	७.८	१५.३	१४.६
गुजरात	४९.३	४५.८	३३.१	३७.४	—	२.०	—	—	—	—	१.५	३.१	०.१	०.३	२.१	४.०	१३.६	६.९
हरियाणा	४४ १	४१.०	५.१	४.०	१९.९	१३.५	१.८	१.०	०.९	०.५	०.४	०.२	५.१	३.८	२.५	३.५	१९.८	३३.५
काश्मीर	५०.८	५२.४	—	—	२०.२	१७.३	—	—	—	—	—	—	—	—	२४.७	२१.५	४.३	८.६
केरल	३६.१	४५.४	२.३	०.२	१.३	१.०	७.९	८.५	२४.५	२३.५	०.२	०.२	८.२	८.४	११.७	१८.६	७.३	४.३
मध्य प्रदेश	४०.६	४०.६	२.७	२.५	२९.५	२८.२	१.४	१.०	—	०.२	५.०	४.७	३.६	५.२	१.७	४.४	१५.३	१२.८
मद्रास	४१.६	४१.५	९.१	५.२	०.२	०.१	१.७	१.६	६.८	४.०	०.१	०.८	—	०.५	३५.९	४०.९	४.२	४.९
महाराष्ट्र	४६.२	४७.९	१.०	१.१	७.०	८.३	४.९	५.१	—	०.९	२.५	३.९	३.६	४.५	१९.२	१४.०	१०.७	१४.०
मैसूर	४८.७	४९.५	१५.०	६.६	२.१	२.७	—	०.६	१.६	०.९	५.६	७.८	२.६	२.२	८.३	०.८	१५.९	२८.७
उड़ीसा	३३.३	३०.६	३०.८	२२.६	०.६	०.५	३.८	५.०	—	१.१	१६.१	१२.६	४.५	१.५	१.६	१४.५	९.०	११.२
पंजाब	३७.१	३७.४	५.०	०.५	१२.५	९.३	४.२	४.८	१.८	३.२	—	०.५	०.४	०.७	३१.०	२७.२	७.६	१६.१
राजस्थान	३९.२	४१.४	२८.७	२२.४	९.७	११.६	०.३	०.९	२.४	१.१	०.१	०.८	३.२	४.७	०.१	०.१	१६.०	१६.६
उत्तर प्रदेश	३३.५	३२.१	४.७	४.७	२१.९	२१.५	३.२	३.४	१.२	१.९	३.७	४.०	१०.२	१०.१	४.३	४.०	१६.८	१८.०
बंगाल	३९.८	४०.९	०.७	०.७	१.३	०.९	८.९	७.३	१५.६	१७.७	१.७	१.७	१.४	२.५	५.५	१४.३	२४.६	१३.६
दिल्ली	३८.६	—	—	—	४६.६	—	—	—	—	—	—	—	०.२	—	५.८	—	८.८	—
हिमाचल प्रदेश	४७.८	—	—	—	२८.८	—	३.०	—	—	—	—	—	—	—	३.४	—	१७.६	—
मणिपुर	३७ २	—	—	—	—	—	४५.७	—	—	—	—	—	—	—	—	—	१७.०	—
त्रिपुरा	५८.२	—	—	—	—	—	—	—	४१.७	—	—	—	—	—	—	—	—	—
नागालैण्ड																		
और अन्य प्रदेश	३७.६	—	५.०	—	८.९	—	—	—	२.१	—	१.३	—	०.२	—	१५.४	—	२९.०	—
कुल	४०.९	४०.१	८.४	६.८	९.३	८.७	४.८	४.२	४.४	४.६	३.०	३.२	४.९	५.१	९.३	७.७	१४.३	१८.७

१९३७ की विधानसभाओं के चुनावों में कांग्रेस का स्थान
विधानसभा की कुल बैठकें
जीती गई बैठकें
जीती हुई बैठकों का प्रतिशत
प्राप्त मतों का प्रतिशत
बिहार
बंगाल
बम्बई
पंजाब
सीमा प्रान्त
सिंध
आसाम
उड़ीसा

१९४६ के चुनाव

— कांग्रेस-विजित
---- लीग-विजित

लीग मंत्री मंडल
सिंध
पंजाब
बंगाल

कांग्रेस मंत्री मंडल
उड़ीसा
मद्रास
मध्य प्रान्त
बम्बई
सीमा प्रान्त
बिहार
यू.पी.
आसाम

२० ४० ६० ८० १०० १२० १४०
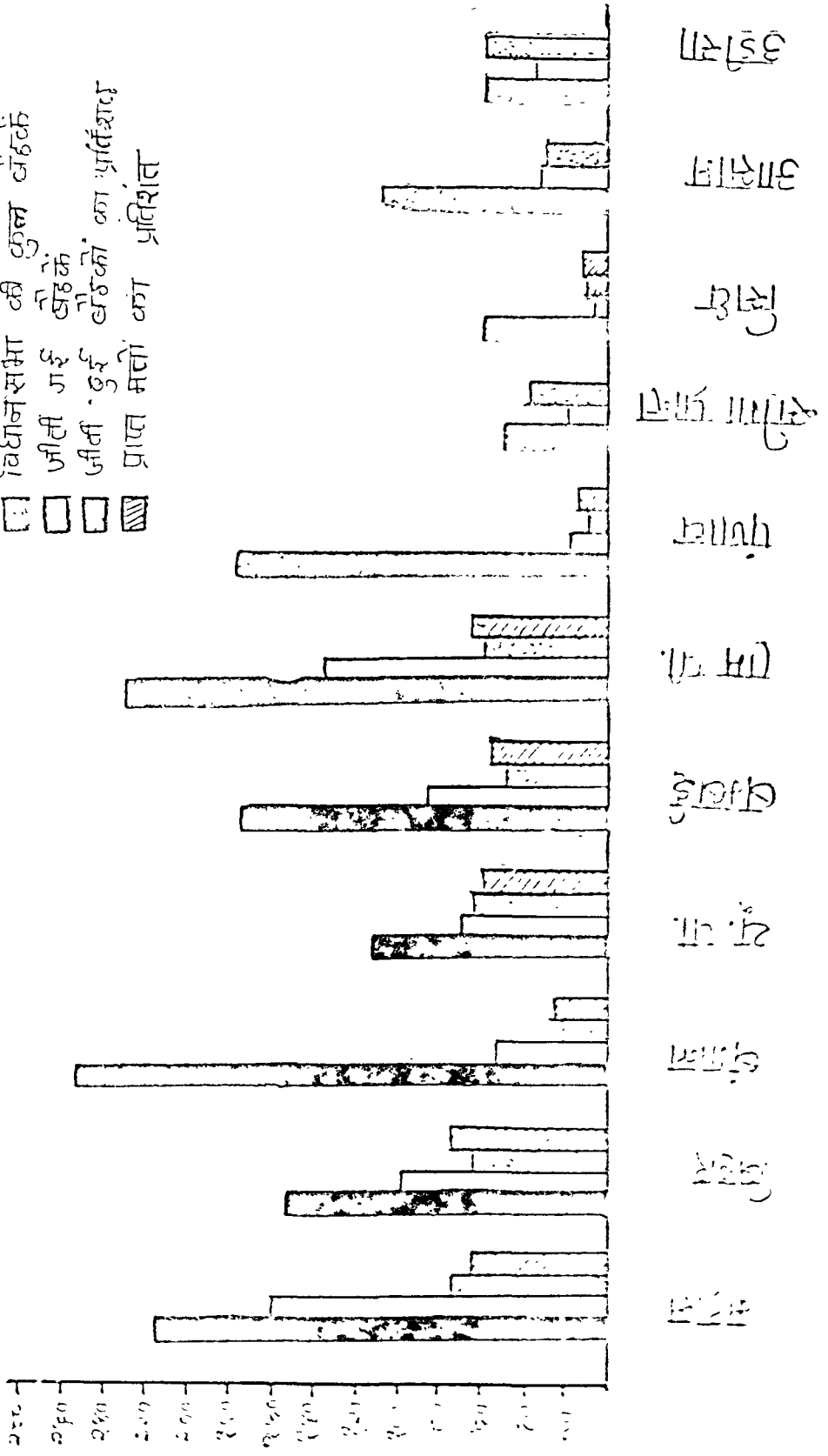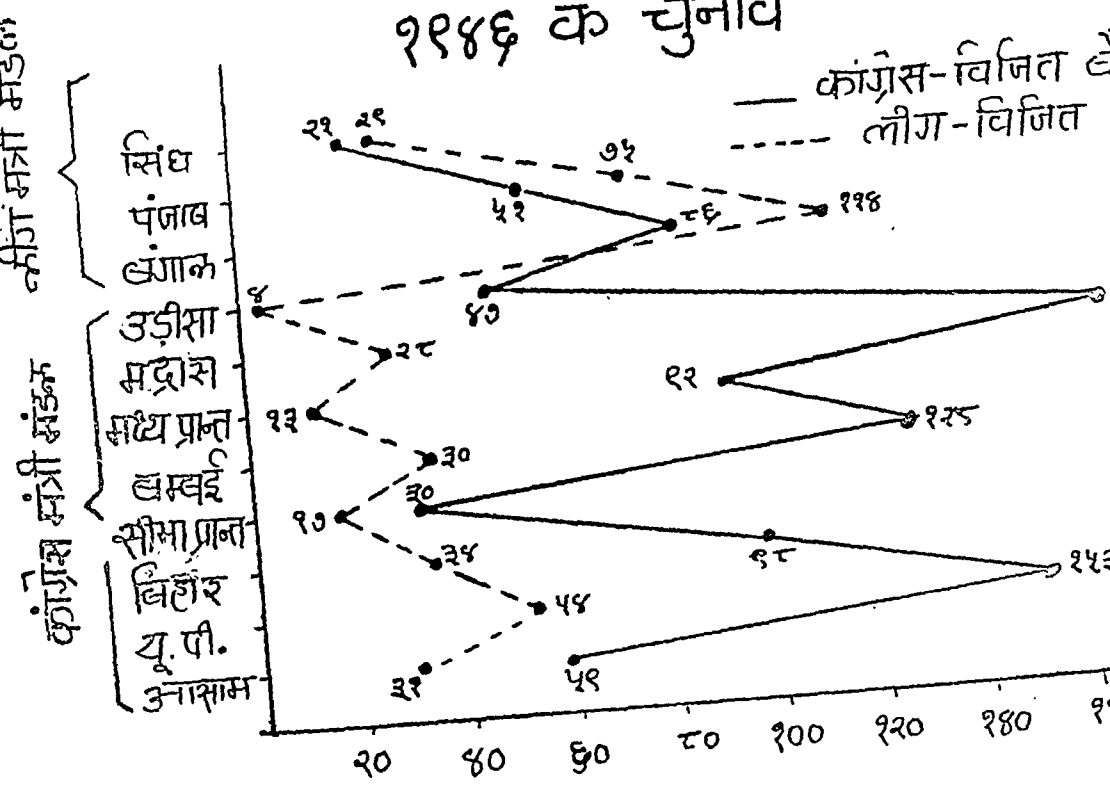
प्रजातंत्र का आरोहण

१९५२ से १९६७ तक के चुनावों के दलानुसार परिणाम

कांग्रेस द्वारा जीती गई बैठकें
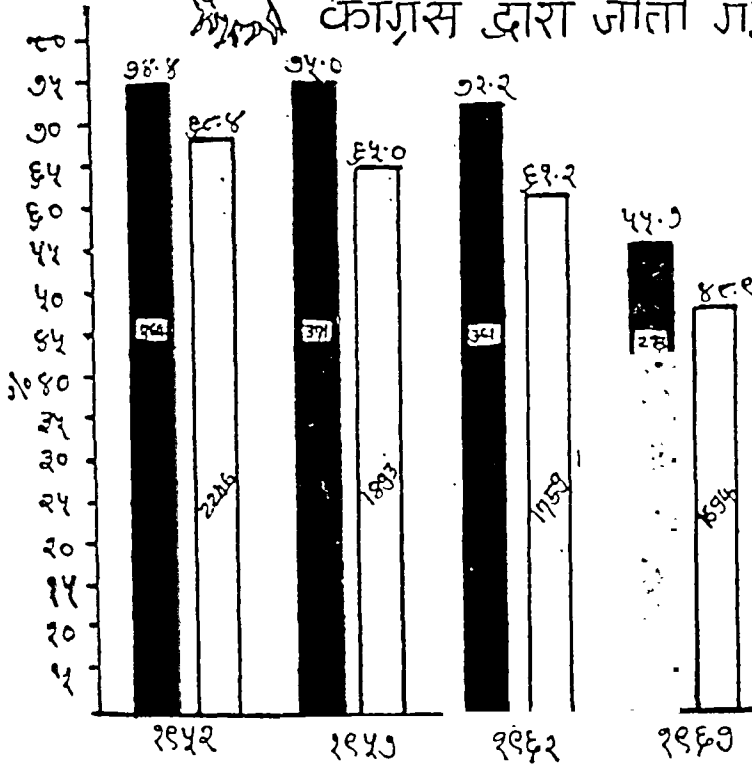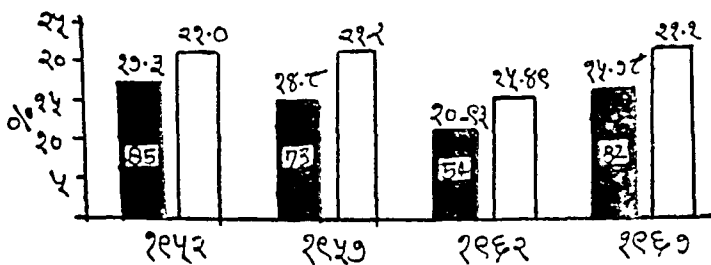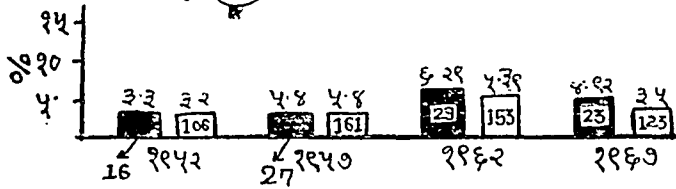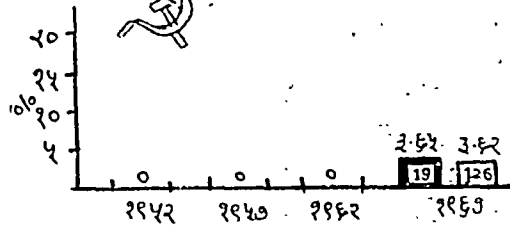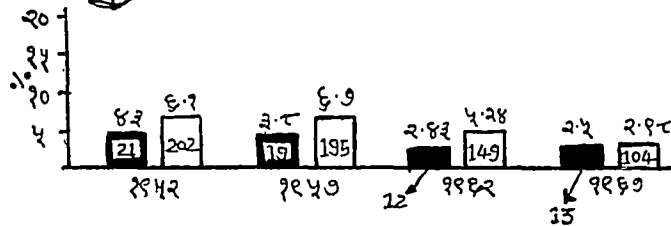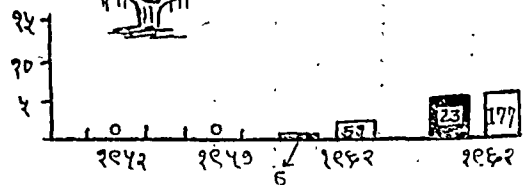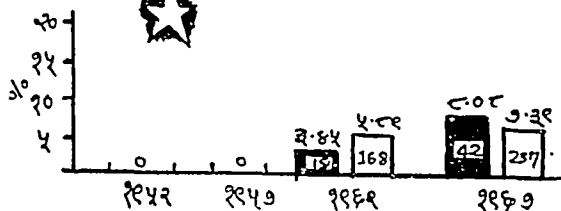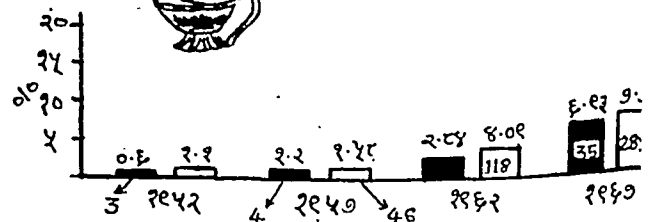
मध्यावधि चुनाव (फरवरी : १९६९)

बंगाल : कुल २८० स्थान

	१९६७	१९६९
साम्यवादी (M)	४३	८०
बंगला कांग्रेस	३४	३३
साम्यवादी (R)	१६	३०
फारवर्ड ब्लॉक	१३	२१
सं० स० दल	७	९
संयुक्त मोरचा तथा निर्दलीय	१२	३४+७ (२७+४+३+७)
कांग्रेस	१२७	५५
प्र० स० दल	७	५
अन्य दल, निर्दलीय (सं० मो० बाहरके)	२१	६
	२८०	२८०

बिहार : कुल ३२६ स्थान

	१९६७	१९६९
कांग्रेस	१२८	११८
सं० स० दल	६८	५१
जनसंघ	२६	३४
जनता पार्टी	१३	१४
साम्यवादी (R)	२४	२५
साम्यवादी (M)	४	३
प्र० स० दल	१८	१८
स्वतंत्र पार्टी	३	३
अन्य (झारखंड)	३२	२०
भा० क्रांति दल	०	६
कांग्रेस लोकतांत्रिक दल	०	८
शोषित दल	०	६
झारखंड	०	१०
	३१६	३१५
		१ शेष

उत्तरप्रदेश : कुल ४२५ स्थान

	१९६७	१९६९
कांग्रेस	१९९	२०८
जनसंघ	९८	४८
स्वतंत्र पार्टी	१२	५
भा० क्रान्ति दल	—	९८
सं० स० दल	४४	३३
प्र० स० दल	११	३
साम्यवादी (R)	१३	४
साम्यवादी (M)	१	१
रिपब्लिकन पार्टी	१०	१
अन्य दल और निर्दलीय	३७	१९
शेष (परिणाम)	—	५
	४२५	४२५

पंजाब : कुल १०४ स्थान

	१९६७	१९६९
कांग्रेस	४८	३८
अकाली दल	२६	४३
जनसंघ	९	८
साम्यवादी (R)	५	३
साम्यवादी (M)	३	२
स्वतंत्र पार्टी	—	१
प्र० स० दल	—	१
सं० स० दल	१	२
अन्य	१२	५
	१०४	१०५—१=१०४

राज्यानुसार प्रतिनिधित्व

(१९६७ की परिस्थितिके अनुसार)

राज्य	लोकसभा	विधानसभा	राज्यसभा
आंध्र प्रदेश	४१	२८७	१८
असम	१४	१२६	७
बिहार	५३	३१८	२२
गुजरात	२४	१६८	११
हरियाणा	९	८१	५
केरल	१९	१३३	९
मध्य प्रदेश	३७	२९६	१६
मद्रास	३९	२३४	१८
महाराष्ट्र	४५	२७०	१९
मैसूर	२७	२१६	१२
उड़ीसा	२०	१४०	१०
पंजाब	१३	१०४	७
राजस्थान	२३	१८४	१०
उत्तर प्रदेश	८५	४२५	३४
पश्चिमी बंगाल	४०	२८०	१६
काश्मीर	६	७५	४
नागालैण्ड	१	४६	१
गोवा	२	—	—
दिल्ली	७	३०	३
हिमाचल प्रदेश	६	६०	२
अन्य सात संघ प्रदेश[१]	९	९०[२]	३
नियुक्त	३	—	१२
कुल	५२३	३५६३	२२९

१. अंदमान-निकोबार, त्रिपुरा, मणिपुर, चण्डीगढ़, दादरा-नगरहवेली, पांडीचेरी, लक्षद्वीप
२. मणिपुर ३०, पांडिचेरी ३०, त्रिपुरा ३०।

केन्द्रीय प्रधान मंडल: प्रादेशिक प्रतिनिधित्व

कैबीनेट और डेप्युटी प्रधान सहित

	१९४७	१९५२	१९५७	१९६२	१९६४	१९६६	१९६७
कश्मीर	—	—				१	२
गुजरात	१	३	४	४	३	३	२
महाराष्ट्र	४	४	४	४	५	६	६
केरल	—	—		१	१	२	१
मैसूर		२	५	२	१	१	४
मद्रास	१	३	१	७	७	५	२
आंध्र		१		५	७	५	६
मध्य प्रदेश		३		१	२	२	३
राजस्थान		१	२	३	२	२	
बिहार	२	२	५	६	५	६	७
उ. प्रदेश	३	९	७	८	८	९	६
हरियाणा							१
पंजाब	१	२	३	१	१	२	२
प. बंगाल	१	३	६	४	३	२	२
उड़ीसा			२	३	२	२	२
असाम				१	१	२	१

राज्यानुसार प्रतिनिधित्व

(१९६७ की परिस्थितिके अनुसार)

राज्य	लोकसभा	विधानसभा	राज्यसभा
आंध्र प्रदेश	४१	२८७	१८
असम	१४	१२६	७
बिहार	५३	३१८	२२
गुजरात	२४	१६८	११
हरियाणा	९	८१	५
केरल	१९	१३३	९
मध्य प्रदेश	३७	२९६	१६
मद्रास	३९	२३४	१८
महाराष्ट्र	४५	२७०	१९
मैसूर	२७	२१६	१२
उड़ीसा	२०	१४०	१०
पंजाब	१३	१०४	७
राजस्थान	२३	१८४	१०
उत्तर प्रदेश	८५	४२५	३४
पश्चिमी बंगाल	४०	२८०	१६
काश्मीर	६	७५	४
नागालैण्ड	१	४६	१
गोवा	२	—	—
दिल्ली	७	३०	३
हिमाचल प्रदेश	६	६०	२
अन्य सात संघ प्रदेश[१]	९	९०[२]	३
नियुक्त	३	—	१२
कुल	५२३	३५६३	२२९

१. अंदमान-निकोबार, त्रिपुरा, मणिपुर, चण्डीगढ़, दादरा-नगरहवेली, पांडीचेरी, लक्षद्वीप
२. मणिपुर ३०, पांडिचेरी ३०, त्रिपुरा ३०।

केन्द्रीय प्रधान मंडल: प्रादेशिक प्रतिनिधित्व

कैबीनेट और डेप्युटी प्रधान सहित

	१९४७	१९५२	१९५७	१९६२	१९६४	१९६६	१९६७
कश्मीर	—	—				१	२
गुजरात	१	३	४	४	३	३	२
महाराष्ट्र	४	४	४	४	५	६	६
केरल	—	—		१	१	२	१
मैसूर		२	५	२	१	१	४
मद्रास	१	३	१	७	७	५	२
आंध्र		१		५	७	५	६
मध्य प्रदेश		३		१	२	२	२
राजस्थान		१	२	३	२	२	
बिहार	२	२	५	६	५	६	७
उ. प्रदेश	३	९	७	८	८	९	६
हरियाणा							१
पंजाब	१	२	३	१	१	२	२
प. बंगाल	१	३	६	४	३	२	२
उड़ीसा			२	३	३	३	२
असाम				१	१	२	१

केन्द्र और राज्योंके मंत्रिमण्डल १९६७

(कुल सदस्यों और मंत्रियोंकी संख्याके साथ तुलना)

लोकसभा	कुल सदस्य संख्या	मंत्रियोंकी संख्या	प्रतिशत
	४२३	५५	१०.५१

⊙

विधानसभा	कुल सदस्य संख्या	मंत्रियोंकी संख्या	प्रतिशत
आंध्र	२८७	१७	५.९२
असम	१२६	१९	१५ ९२
विहार	३१८	३२ (मिश्र)	१०.९
		३६ (मंडल)	११ ३
काश्मीर	७५	१४	१८.६६
मध्य प्रदेश	२९६	३४	११.४८
महाराष्ट्र	२७०	२५	९.२६
नागालैण्ड	४६	११	२३.९१
पंजाब	१०४	१६	१५.३८
उत्तरप्रदेश	४२५	१३	३.०५
गुजरात	१६८	१५	८ ९२
हरियाणा*	८१	२३	२८ ४
केरल	१३३	१३	९ ७७
मद्रास	२३४	९	३.८४
मैसूर	२१६	२२	१०.१८
उड़ीसा	१४०	१९	१३.५७
राजस्थान	१८४	३१	१६ ८४
बंगाल	२८०	११	३.९२

* राष्ट्रपतिके शासनके पूर्व

भारतका संविधान : एक दृष्टिपात

२६ नवम्बर, १९४९

विभाग १ : संघ और उसका विस्तार

१. संघका नाम और उसका विस्तार;

२. नए राज्योंका प्रवेश अथवा उनकी स्थापना

३. नए राज्योंकी स्थापना और प्रदेशों, राज्यों अथवा सीमाओंके चल रहे नामोंमें परिवर्तन।

४. पूरक

विभाग २ : नागरिकत्व

५. संविधानके आरम्भकालका नागरिकत्व

६. पाकिस्तानसे स्थानान्तरण कर आए हुए लोगोंके विषयमें

७. पाकिस्तान चले गए लोगोंके विषयमें

८. भारतमें पैदा होने पर भी भारतके बाहर रहनेवाले लोगोंके विषयमें

९. स्वेच्छासे विदेशी नागरिकता लेनेवालोंके सम्बन्धमें

१०. नागरिकताके अधिकारोंका चालू रहना

११. पार्लियामेन्ट द्वारा नागरिकताके अधिकारोंका नियमन :

"नागरिकताकी प्राप्ति अथवा उसके अन्तके सम्बन्धमें और नागरिकतासे सम्वद्ध सभी मामलोंमें किसी भी प्रकारका कानून वनानेकी पार्लियामेन्टकी सत्ता अबाध रहती है।"

विभाग ३ : मूलभूत अधिकार

१२. राज्यकी व्याख्या : (राज्य=भारतकी सरकार, पार्लियामेन्ट, राज्य सरकार, धारा सदन सहित)

१३. (१) मूलभूत कानूनोंके साथ असंगत पुराने कानूनोंके विषयमें

१३. (२) इस विभागके अन्तर्गत प्राप्त अधिकारोंको कम करने या उसके व्यवहार पर रोक लगानेसे सम्वद्ध कोई भी कानून राज्य नहीं वना सकेगा और इस धाराके विरुद्ध निर्मित कोई भी धारा उस विरोधांश तक, कानूनी दृष्टिसे निरस्त हुई मानी जायगी।

१३. (३) 'धारा' शब्दका अर्थ और संदर्भ; (अध्यादेश, आदेश, उपनियम, धारा, नियम और धाराके समान माने जाने वाले रीति-रिवाज़)
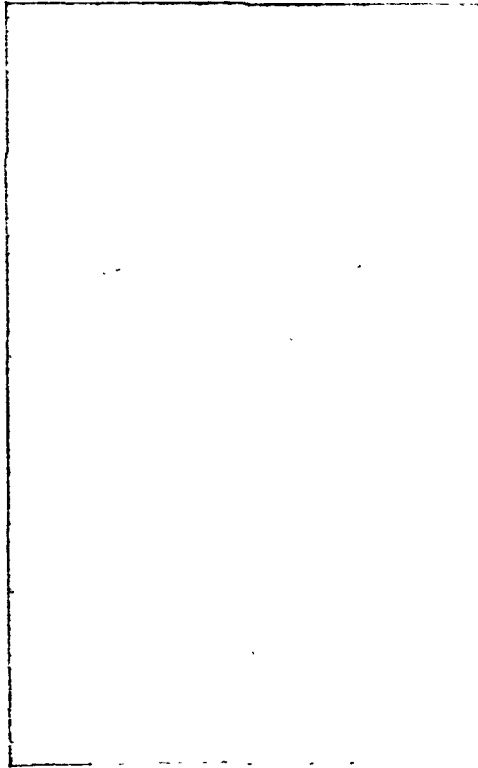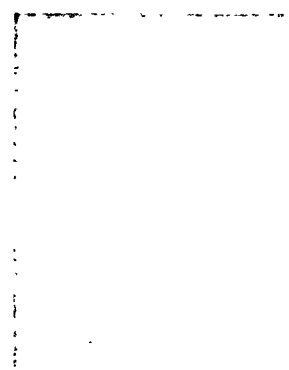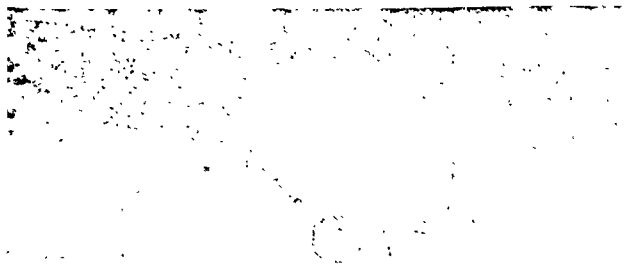
सत्ता-परिवर्तन और संविधान-सभा

१५–३–१९४६ ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एटलीका प्रतिवेदन : भारत नए शासनसे सम्बद्ध निर्णय करेगा और केबिनेट मिशन भारत जाकर उसमें सहायक होगा।

१६–५–१९४६ केबिनेट मिशन तथा वायसरायका प्रतिवेदन : तदनुसार भारतकी कामचलाऊ सरकार और भारतके संविधानकी व्यवस्था।
(सन् १९३५के इंडिया एक्टके अनुसार प्रान्तीय विधान-सभाओंके लिए सीमित चुनावका स्तर। ये चुने हुए सदस्य संविधान-सभाके सदस्य माने जायँगे।)

१६–५–१९४६ अन्तरिम सरकारके नामोंकी दरखास्त। (इसमें श्री मु० अली जिन्ना, श्री लियाकत अली खां, नवाब मुहम्मद इस्माइल खां, ख्वाजा सर निज़ामुद्दीन और सर अब्दुर रब निश्तरका समावेश हुआ था।)

२६–६–१९४६ तात्कालिक कामचलाऊ सरकारसे सम्बद्ध केबिनेट मिशनका निवेदन।

९–१२–१९४६ संविधान-सभाकी पहली बैठक; कामचलाऊ अध्यक्ष डा० सच्चिदानन्द सिन्हा (संविधान-सभाके सबसे वयोवृद्ध सदस्य—सन् १९१०से संसदीय कार्योंके अनुभवी)।

११–१२–१९४६ संविधान-सभाके स्थायी अध्यक्ष : डा० राजेन्द्रप्रसादजी।

१३–१२–१९४६ संविधान-सभामें 'उद्देश्य और हेतुओं'का प्रस्ताव पण्डित जवाहरलाल नेहरूने प्रस्तुत किया। भारतके लिए 'स्वतंत्र सार्वभौम गणतंत्रका' सुझाव।

२२–१–१९४७ उक्त प्रस्ताव पारित।

२०–२–१९४७ 'दि इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स एक्ट', सन् १९४७।

इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स एक्ट, १९४७
(सार)

(१) ब्रिटिश ताजकी भारतके देसी राज्यों परसे परमाधिकार सत्ता (paramountcy) समाप्त होती हैं।

(२) भारत और पाकिस्तान नामक दो 'डोमेनियन'की स्थापना की जाती है।

(३) दोनों 'डोमेनियन'की विधान-सभाओंके पास सार्वभौम सत्ता रहेगी और सन् १९४७की पंद्रह अगस्तके बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा पारित कोई भी एक्ट इन डोमीनियनों पर लागू नहीं होगा।

(४) जब तक डोमेनियन्स अपना संविधान नहीं बना लेतीं, तब तक थोड़े-से संशोधनके साथ सन् १९३५का गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट संवैधानिक कानूनोंके रूपमें चलता रहेगा।

४–७–१९४७ संविधान-सभामें भारतके संविधानका 'मेमोरेण्डम' प्रस्तुत।

१४–८–१९४७ संविधान-सभाकी पांचवीं बैठकमें भारतके सार्वभौम संविधानके निर्माणका काम पूरा हुआ। प्रत्येक सदस्यने प्रतिज्ञा ली।

२६–१–१९५० भारतके संविधानके अनुसार 'स्वतंत्र सार्वभौम गणतंत्र'की घोषणा हुई। संविधान लागू किया गया।

केबिनेट मिशनके अनुसार सन् १९४५में संविधान-सभा अस्तित्वमें आई थी, जो सार्वभौम न थी। सन् १९४७के 'इण्डिया इण्डिपेन्डेन्स एक्ट'की हैसियतसे इसे सार्वभौमत्वका स्वरूप प्राप्त हुआ।

भारतकी संविधान-सभाने अपना काम आरम्भ करनेके पूर्व अपना उद्देश्य स्पष्ट रूपसे निश्चित कर लिया था; और वह था : भारतको 'स्वतंत्र सार्वभौम गणतंत्र'के रूपमें घोषित करना।

संविधान-सभा और संविधान

प्रदेश	जनसंख्या	स्थान	प्रतिशत
ब्रिटिश भारत	२९,५८,०८,७२२	२९६	७६.१
देसी राज्य	९,३१,८९,२३३	९३	२३.९

(ब्रिटिश भारत)

धर्म	जनसंख्या	स्थान	प्रतिशत
मुसलमान	७,९३,९९,५०३	७९	२६.६ (बिलोचिस्तान सहित)
सिख	३६,२३,५४१	४	१.३
अन्य सभी	२१,८७,८५,६७८	२१३	७२.१
	२९,५८,०८,७२२	२९६	

संविधान-सभामें सदस्य-संख्या*

(ब्रिटिश भारत : दलीय अनुसार)

१. कांग्रेस	२०४
२. मुस्लिम लीग	७३ (जनसंख्या ८ करोड़)
३. पंजाब युनियनिस्ट मुस्लिम	३
४. बंगाल कृषक प्रजापार्टी	१
५. कम्युनिस्ट	१
६. निर्दलीय	७
७. सिख	४ (जनसंख्या ३६ लाख)
८. शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन	१
९. हिन्दू महासभा	१
१०. एंग्लो इण्डियन	१
कुल	२९६

*मुस्लिम लीगने भाग नहीं लिया था।

सन् १९६१में भाषाके आधार पर जनसंख्या

राज्य	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या	राजधानी	मुख्य भाषा	शिक्षितोंकी संख्या (प्रति हजार)	प्रतिशत
आंध्र	१,०६२८६	३,५९,८३,४४७	हैदराबाद	तेलुगु	२१२	२१.२
असम	४७०९१	१,१८,७२,७७२	शिलांग	असमी, वंगाली	२५३	२५.२
विहार	६७१९६	४,६४,५५,६१०	पटना	हिन्दी	१८४	१८.४
गुजरात	७२२४५	२,०६,३३,३५०	अहमदावाद	गुजराती	३०५	३०.५
जम्मू-काश्मीर	८६०२३	३,५६,०७६	श्रीनगर	काश्मीरी-उर्दू	३०५	३०.५
केरल	१५०२२	१,६९,०३,७१५	त्रिवेन्द्रम	मलयालम	४६८	४६.८
मध्य प्रदेश	१,७१२१७	३,२३,७२,४०८	भोपाल	हिन्दी	१८९	१८.९
मैसूर	७४२१०	२,३५,८६,७७२	वंगलोर	कन्नड़	२५४	२५.४
उड़ीसा	६०१६४	१,७५,४८,९४६	भुवनेश्वर	उड़िया, वंगाली	२९२	२९.२
पंजाव	४७२०८	२,०३,०६,८१२	चण्डीगढ़	पंजावी-हिन्दी	२४२	२४.२
राजस्थान	१,३२१५२	२,०१,५५,६०२	जयपुर	राजस्थानी-हिन्दी	१५२	१५.२
उत्तर प्रदेश	१,१३६५५	७,३७,४६,४०१	लखनऊ	हिन्दी	१७६	१७.६
पश्चिमी वंगाल	३३८२९	३,४९,२६,२७०	कलकत्ता	वंगाली	२९३	२९.३
नागालेण्ड	६३६६	३,६९,२००	कोहिमा	लोकभाषाएं-अंग्रेजी	—	—
नेफा	३१४३६	३,३६,५८८	शिलांग		७२	७.२
दिल्ली	५७३	२६,५८,६१२	दिल्ली	उर्दू-पंजावी	५२७	५२.७
पाण्डिचेरी	१८५	३,६९,०७९	पाण्डिचेरी	तमिल-फ्रेंच	३७४	३७.४
हिमाचल प्रदेश	१०८८५	१३,५१,१४४	शिमला	हिन्दी-पहाड़ी	१७१	१७.१
मणिपुर	८६२८	७,८०,०३७	इम्फाल	—	३०४	३०.४
त्रिपुरा	४०३६	११,४२,००५	अगरतला	वंगाली	२०२	२०.२
गोवा-दमन-दीव	१९२६	६,२६,९७८	पंजिम	मराठी	—	—
लक्षद्वीप-मीनीकाय अमीनदोशी	११	२४,१०८	कोजीकोड		२३३	२३.३
अण्डमान-निकोवार	३२१५	६३५४८	पोर्टब्लेयर	—	३३६	३३.६
दादरा-नागर हवेली	१८९	५७९६३	सिलवासा	—	९५	९.५

२०. (१) (२) (३) अपराधोंके सम्वन्धमें हुई सज़ाओंके सम्वन्धमें रक्षण।

२१. जीवन और व्यक्तिगत स्वातंत्रता रक्षण।

२२. (१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) अनेक मामलोंमें गिरफ्तारी और नजरबन्दीके विरुद्ध रक्षण।

शोषणके विरुद्ध अधिकार

२३. (१) (२) गुलामोंके व्यापार और वेग.र पर प्रतिवन्ध।

२४. कारखाने आदिमें वालकोंको काम पर लगानेके विरुद्ध प्रतिवन्ध इत्यादि-इत्यादि।

धार्मिक स्वतंत्रताका अधिकार

२५. (१) आम व्यवस्था, नीति और सुखसमृद्धिके नियमोंके तथा इस विभागमें दूसरी जो व्यवस्थाएँ की गई हैं, उनके अधीन रहकर अपने-अपने अन्त:करणकी स्वाधीनता और अमुक धर्म पर आस्था रखने और उस पर आचरण करनेका सभीको समान अधिकार रहेगा।

(अ) धार्मिक क्रियाओंके साथ संकलित हो सकनेवाली आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा किसी दूसरी अ-साम्प्रदायिक प्रवृत्तिका नियमन करने या उस पर नियंत्रण रखने,

(आ) सामाजिक कल्याण या सुधारके लिए व्यवस्था अथवा सार्वजनिक मानी जा सकनेवाली हिन्दू धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओंके सभी वर्गों व विभागोंके लिए उन्मुक्त करने वाले,

अमलमें हो इस प्रकारके किसी कानून पर इस धाराका कोई असर नहीं होगा; और राज्यको इस प्रकारके कानून वनानेसे रोका नहीं जा सकेगा।

टिप्पणी : कृपाण धारण करनेकी सिखोंको मान्यता; 'हिन्दुओं'में सिख, जैन, बौद्ध धर्मके अनुयायियोंका समावेश।

२६. आम व्यवस्था, नीति और सुखसमृद्धिके अधीन रहकर प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी एक भागको (अ) धार्मिक संस्थाएँ स्थापित करने, उनका निर्वाह करने, (आ) उनकी प्रवृत्तियोंको चलाने, (इ) (ई) चलाचल सम्पत्ति रखने, सुचारु रूपसे काम चलाने तथा प्रशासन करनेसे सम्वद्ध अधिकार रहेंगे।

२७. धार्मिक सम्प्रदायके कामके लिए व्यय की जानी वाली राशि पर किसी भी प्रकारका कर नहीं होगा।

२८. (१) 'राज्यके वित्तसे ही पूर्णत: जिसका निर्वाह होता हो, ऐसी किसी संस्थामें धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकेगी।'

अपवाद : (२) राज्य द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओंमें धार्मिक शिक्षण नहीं दिया जा सकेगा—अगर यह संस्था दान पर निर्भर है या ट्रस्ट है और उसमें धार्मिक शिक्षण आवश्यक माना गया होगा तो (३) धार्मिक शिक्षा लेनेके लिए विवश नहीं किया जा सकता।

सांस्कृतिक तथा शिक्षा-विषयक अधिकार

२९. (१) भारतमें वसनेवाले किसी भी नागरिकको, जो विशिष्ट और अपनी कही जा सकने वाली भापा, लिपि अथवा संस्कृतिका धारक होगा, उसे वनाए रखनेका अधिकार

४२. कामकाजके लिए वातावरण और प्रसूतिमें राहतके लिए प्रबन्ध।

४३. कामदारोंको जीवन-निर्वाहके लिए पर्याप्त सुविधा आदि देनेसे सम्बद्ध।

४४. "राज्य समस्त भारतमें सर्वत्र सभी नागरिकोंके लिए समान नागरिक नियम अमलमें लानेका प्रयास करेगा।

४५. संविधानके आरम्भिक दस वर्षकी अवधिमें चौदह वर्षकी उम्रके सभी बालकोंके लिए राज्य निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षाकी व्यवस्था करेगा।

४६. प्रजाके पिछड़े हुए भागको विशेषतः परिशिष्टमें समाविष्ट जातियोंकी शिक्षा और आर्थिक व्यवस्थाके लिए राज्य विशेष कदम उठाएगा और सामाजिक अन्याय और किसी भी प्रकारके शोषणके विरुद्ध उनकी रक्षा करेगा।

४७. अपनी प्रजाका जीवन-निर्वाह और पोषणका स्तर ऊँचा लाने और सार्वजनिक समृद्धिमें सुधार करना सरकार अपना प्राथमिक कर्तव्य मानेगी; और विशेषतः वैद्यकीय कारणोंके अलावा मादक पेय और स्वास्थ्यको हानिप्रद पदार्थोंके सेवन पर प्रतिबन्ध लगानेके लिए प्रयत्नशील रहेगी।

४८. खेती और पशु-संवर्द्धनका अद्यतन और वैज्ञानिक ढंगसे विकास करनेके लिए राज्य प्रयास करेगा और संततिके रक्षण और सुधारके लिए राज्य कदम उठायेगा; और गायों, बकरियों, उनकी संतति और अन्य दुधारू अथवा भार वहन करनेवाले पशुओंके वधको रोकनेके लिए कदम उठायेगा।

४९. राष्ट्रीय महत्वके स्मारकों, स्थानों और कृतियोंका रक्षण।

५०. कार्यकारिणी और न्यायविभाग अलग करनेके लिए कदम उठाना।

५१. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाको प्रोत्साहन देना।

विभाग ५ : संघ

प्रकरण १ : कार्यकारिणी, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति

५२. भारतके राष्ट्रपति।

५३. (१) (२) संघकी कार्यकारिणी सत्ता।

५४. राष्ट्रपतिका चुनाव।

५५. (१)(२)(३) राष्ट्रपतिके चुनाव की पद्धति।

५६. (१)(२) राष्ट्रपतिके अधिकारकी अवधि।

५७. नए सिरेसे चुनावकी प्रत्याशिता।

५८ (१) प्रत्याशीकी योग्यता : भारतकी नागरिकता, ३५ वर्षकी आयु, लोकसभामें चुने जानेकी पात्रता (२) अपात्रता।

५९. (१) (२) (३) (४) राष्ट्रपतिके अधिकारसे सम्बद्ध शर्तें।

६० राष्ट्रपति द्वारा ली जाने वाली शपथ :

"मैं...... $\frac{\text{ईश्वरको उपस्थित मानकर प्रतिज्ञा करता हूं}}{\text{गंभीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ}}$ कि राष्ट्रपतिके रूपमें प्राप्त अधिकारोंका निष्ठापूर्वक पालन करूँगा : (अथवा राष्ट्रपतिके कर्तव्योंका पालन करूँगा) और यथाशक्ति मैं संविधान और नियमोंकी देखभाल करूँगा, उन्हें बनाए रखूंगा और उनका रक्षण करूँगा और भारतके लोगोंकी सेवा और कल्याणके लिए काम करनेमें प्रवृत्त रहूँगा।"

८५. (१) (२) पार्लियामेण्टकी वैठकें बुलाने तथा भंग करनेसे सम्वद्ध।

८६. (१) (२) दोनों सदनोंके समक्ष भाषण करने और उन्हें संदेश भेजनेसे सम्वद्ध राष्ट्रपतिका अधिकार।

८७. (१) (२) प्रत्येक वैठकके आरम्भ में राष्ट्रपतिका विशेष भाषण।

८८. दोनों सदनोंसे सम्वन्धित मंत्रियों और अटर्नी जनरलके अधिकार।

संसदके अधिकार

८९-९७. राज्यसभा और लोकसभाके अध्यक्ष और उपाध्यक्षोंसे सम्बद्ध धाराएँ।

९८. संसद-कार्यालय।

९९. सदस्यों द्वारा ली जानेवाली शपथ।

१००. (१) (२) (३) (४) सदनोंमें मतदान और कामकाजकी सत्ता।

सदस्योंकी अयोग्यता

१०१. से १०४ तक सदस्योंकी अयोग्यता-संबंधी धाराएँ।

पार्लियामेण्ट और उसके सदस्योंके अधिकार और विशेषाधिकार

१०५. (१) नियमानुसार वाणी-स्वातंत्र्य। (२) पार्लियामेण्ट अथवा समिति मात्रमें दिए गए भाषण अथवा प्रदर्शित मतके कारण पार्लियामेण्टके किसी भी सदस्यके विरुद्ध, किसीभी अदालतमें किसी भी प्रकारकी कार्यवाही नहीं की जा सकेगी और पार्लियामेण्टमें किसी भी सभागृह द्वारा स्वीकृत किसी भी रिपोर्ट, भाषण, मत अथवा कार्यवाहीके प्रकाशनके सम्वन्धमें किसीको अपराधी नहीं ठहराया जा सकेगा। (३) इस सम्बन्धमें जबतक पार्लियामेण्टमें प्रस्ताव पारित न हो, तव तक ग्रेट ब्रिटेनकी पार्लियामेण्टके सदस्यों और समितियोंके विशेषाधिकार लागू होंगे।

१०६. सदस्योंके वेतन और भत्तेसे सम्वद्ध।

कानूनी कार्यवाही

१०७. से १११।

वित्तीय विषयोंसे सम्बद्ध कार्यवाही

११२. से ११७।

कार्यवाही —— सामान्य

११८. से १२२।

प्रकरण ३ : राष्ट्रपतिकी वैधानिक सत्ताएँ

१२३. (१) पार्लियामेण्टके दोनों सदनोंकी वैठकोंके समयके अलावा दूसरे किसी भी समय तुरन्त कदम उठानेके लिए आवश्यक स्थितियोंके अस्तित्वकी प्रतीति होते ही राष्ट्रपति उन स्थितियोंका सामना करनेके लिए आवश्यक अध्यादेश जारी कर सकता है।

(२) इस धाराके अन्तर्गत अमलमें आने वाले प्रत्येक अध्यादेशका प्रभाव पार्लियामेण्टके कानूनके समान ही होगा। परन्तु इस प्रकारका प्रत्येक अध्यादेश :

(अ) पार्लियामेण्टके दोनों सदनोंके समक्ष प्रस्तुत करना ही पड़ेगा और पार्लियामेण्टकी वैठक पुनः आयोजित हो, उसके छः सप्ताहकी अवधिके अन्तमें, या उक्त अवधिके पूरा होनेके

प्रकरण २ : कार्यकारिणी

१५३. प्रत्येक राज्यके लिए राज्यपाल होगा।

१५४. (१) (२) राज्यकी कार्यकारिणी-सत्ता।

१५५. राष्ट्रपति राज्यपालकी नियुक्ति करेगा।

१५६. (१) राष्ट्रपति जब तक चाहेगा, तव तक राज्यपाल अपने अधिकार-पद पर वना रहेगा। (२) त्यागपत्र। (३) पाँच वर्षकी अवधि।

१५७. योग्यता : भारतका नागरिक, ३५ वर्षकी आयु।

१५८. (१) (२) (३) अधिकार-पदकी शर्तें।

१५९. शपथ।

१६०-१६१. दायित्वका निर्वाह।

१६२. राज्यकी कार्यकारिणी-सत्ताका विस्तार।

राज्य-मन्त्रिमण्डल

१६३. (१) राज्यपालके दायित्व-निर्वाहमें सहायता करने और सलाह देनेके लिए मुख्यमंत्रीके अन्तर्गत मंत्रिमण्डल। (२) किसी भी मामलेमें संविधानके अन्तर्गत अथवा तदनुसार राज्यपालके विशिष्ट अधिकारोंमें है या नहीं, इस प्रकारके प्रश्न उपस्थित होते ही अपने विशिष्ट अधिकारके अनुसार राज्यपाल जो भी निर्णय देगा, उसे अन्तिम माना जायगा और राज्यपालको अपने विशिष्ट अधिकारका उपयोग करना चाहिए था या नहीं, इस आधार पर राज्यपालने जो कुछ किया है, उसकी संवैधानिकताके विषयमें शंका नहीं उठाई जा सकेगी। (३) कोई भी न्यायालय इस वारेमें जाँच नहीं कर सकता कि मंत्रियोंने राज्य-पालको सलाह दी थी या नहीं अथवा अगर सलाह दी, तो क्या दी थी?

१६४. (१) (२) (३) (४) (५) मंत्रियोंसे सम्वद्ध अन्य व्यवस्थाएं।

राज्यका एडवोकेट जनरल

१६५. (१) (२) (३) उच्च न्यायालयके न्यायाधीश हो सकनेकी योग्यता रखनेवाले व्यक्तिकी राज्यपाल एडवोकेट जनरलके रूपमें नियुक्ति करेगा, जो राज्य सरकारको सलाह देने तथा अन्य सौंपे हुए कार्योंको करेगा। (४) राज्यपालकी जब तक इच्छा होगी, वह इस अधिकार-पद पर वना रहेगा।

सरकारी प्रशासनका संचालन

१६६. (१) राज्य-सरकारकी कार्यकारिणीके सभी निर्णय राज्यपालके नामसे ही लिए जा सकेंगे। (२) नियमानुसार राज्यपालके नाम पर लिए गए निर्णय और अमलमें आने वाले आदेश व दस्तावेज़ों पर राज्यपाल द्वारा स्वीकृतिकी मोहर लगेगी। (३) जिन कामोंको राज्यपाल अपने विशिष्टाधिकारकी हैसियतसे करता है, उन कामोंको छोड़कर शेष अन्य सभी काम राज्यपाल मंत्रियोंमें वांट देता है।

१६७. प्रत्येक राज्यके मुख्यमंत्रीका दायित्व है कि वह मंत्रिमण्डलके निर्णयकी जान-कारी राज्यपालको दे; राज्य-प्रवन्ध तथा धाराओंकी दरख्वास्तसे सम्वद्ध जो कुछ सूचना राज्य-पाल चाहे, वह प्रदान करे।

राज्यके विधान-सदनों और सदस्योंके अधिकार और विशेषाधिकार

१९४. (१०५ के अनुसार)।

१९५. सदस्योंके वेतन और भत्ते।

वैधानिक कार्यवाही

१९६-१९७. प्रस्ताव प्रस्तुत करने और पारित करनेसे सम्बद्ध।

१९८-१९९. वित्त-प्रस्ताव विषयक।

२००. प्रस्तावोंकी स्वीकृति।

२०१. सुरक्षित प्रस्ताव।

वित्तीय विषयोंसे सम्बद्ध कार्यवाही

२०२. वार्षिक वित्तीय निवेदन।

२०३. बजट—अनुमान विषयक।

२०४. स्वीकृति विषयक।

२०५. पूरक खर्च विषयक।

२०६. हिसाब विषयक।

२०७. वित्तीय प्रस्तावके लिए विशेष व्यवस्था।

कार्यवाही—सामान्य

२०८. से २१२.

प्रकरण ४ : राज्यपालकी वैधानिक सत्ताएँ

२१३. (१) राज्यके विधान-सदनोंकी बैठक न चल रही हो, उस समय तात्कालिक कदम उठानेकी आवश्यकता उत्पन्न होनेकी प्रतीति होने पर राज्यपाल आवश्यक आदेश अमलमें ला सकता है। परन्तु राष्ट्रपतिकी स्वीकृतिके विना राज्यपाल इस प्रकारके किसी भी अध्यादेशको अमलमें नहीं ला सकता। (२) इस प्रकारके अध्यादेशकी सत्ता विधान-सदनोंके नियमोंकी भाँति ही मानी जायगी, परन्तु इस प्रकारका प्रत्येक आदेश राज्यके सदनोंके समक्ष प्रस्तुत करना पड़ेगा और विधान सभा पुनः बैठक रूपमें आए, उसके उपरान्त छः सप्ताहके अन्त तक, अथवा उसके पूर्व अगर वह विधान-सदनोंमें अस्वीकृत हो जाय तो प्रस्ताव पारित होते ही उसका निष्पादन बंद हो जायगा। और इसके अलावा राज्यपाल किसी भी समय उसे वापिस ले सकता हैं। (३) इस प्रकारके अध्यादेशमें अगर कोई ऐसी वात हुई जो राज्यके सदनों द्वारा निर्मित तथा राज्यपाल द्वारा स्वीकृत कानूनके भीतर समाविष्ट हो जाती है तो यह अध्यादेश निरस्त हुआ माना जायगा।

प्रकरण ५ : राज्योंकी उच्च अदालतें

२१४. प्रत्येक राज्यके लिए उच्च न्यायालय।

२१५. उच्च न्यायालय नज़ीरी न्यायालय वन जायेंगे।

२१६. उच्च न्यायालयका संविधान।

२१७. न्यायाधीशोंकी नियुक्ति और पद सम्बन्धी शर्तें।

२१८. सर्वोच्च अदालतकी कितनी ही व्यवस्थाएँ उच्च न्यायालय पर लागू होती हैं।

२१९. न्यायाधीशोंकी शपथ।

२२०. न्यायाधीश कहीं भी वकालत नहीं कर सकेंगे।

२२१. न्यायाधीशोंके वेतन।

२२२. स्थानान्तरण (एक उच्च अदालतसे दूसरी उच्च अदालतमें)।

२२३. कामचलाऊ न्यायाधीशकी नियुक्ति।

२२४. निवृत्त न्यायाधीशोंकी उपस्थिति।

२२५. अधिकार क्षेत्र।

२२६. कितने ही आदेश देनेका अधिकार।

२२७. उच्च अदालतका वर्चस्व।

२२८. कितने ही दावोंको उच्च न्यायालयमें लानेके सम्बन्ध।

२२९. अधिकारियों और कर्मचारियोंका खर्च।

२३०. पार्लियामेण्टको उच्च अदालतके अधिकार-क्षेत्रमें परिवर्तन करनेकी सत्ता।

२३१. विस्तार-क्षेत्राधिकार विषयक।

२३२. अर्थघटन।

प्रकरण ६ : राज्यपालकी वैधानिक सत्ताएं

२३३. से २३७.

विभाग ७

२३८. प्रथम परिशिष्टके भाग 'ख'में राज्योंके लिए व्यवस्था।

विभाग ८

२३९. से २४२. प्रथम परिशिष्टके भाग 'ग'के राज्योंके लिए।

विभाग ९

२४३. प्रथम परिशिष्ट भाग 'ड'के विस्तारोंके लिए।

विभाग १०

२४४. अनुसूचित और जन-जाति—विस्तारोंके प्रशासनके सम्बन्ध।

विभाग ११ : संघ और राज्योंके बीच संबंध

प्रकरण १ : वैधानिक संबंध

२४५. (१) "पार्लियामेण्ट भारतके पूरे विस्तारके लिए अथवा इसके किसी भागके लिए; राज्यका सदन पूरे राज्यके लिए अथवा इसके किसी भागके लिए कानून बना सकता है।" (२) अपने अधिकार-क्षेत्रसे बाहर होनेके आधार पर पार्लियामेण्ट द्वारा निर्मित कोई भी कानून रद्द नहीं किया जा सकेगा।

२४६. (१) ७वें परिशिष्टकी सूची (१) (संघ सूची)में प्रदर्शित किसी भी मामलेमें पार्लियामेण्टको कानून बनानेका अनन्याधिकार हैं। (२) प्रथम परिशिष्टके भाग 'अ' अथवा 'ब'में निर्दिष्ट किसी भी राज्यकी विधानसभा, पर, ७वें परिशिष्टकी सूची ३ (संयुक्त सूची)में निर्दिष्ट किसी भी मामलेमें कानून बनानेकी सत्ता पार्लियामेण्टके पास हैं। (४) प्रथम परिशिष्टके भाग 'अ' अथवा 'ब'में दिखाए गए किसी भी राज्यकी विधानसभाकी, ७वें परिशिष्टकी सूची २ (राज्य सूची)में निर्दिष्ट किसी भी मामलेमें उक्त राज्यके लिए अथवा उसके किसी भागके लिए कानून बनानेका अनन्याधिकार है। (५) प्रथम परिशिष्टके भाग 'अ'में जो समाविष्ट नहीं हैं ऐसे विस्तारोंके किसी भी भागके किसी भी मामलेमें कानून बनानेकी सत्ता पार्लियामेण्टके पास हैं।

२४७. पार्लियामेण्टको अतिरिक्त अदालतें स्थापित करनेकी सत्ता हैं।

२४८. (१) संयुक्त सूची अथवा राज्य सूचीमें जो नहीं बताए गए हैं ऐसे किसी भी मामलेमें कानून बनानेकी अनन्यसत्ता पार्लियामेण्टके पास है। (२) दोनों सूचियोंमें जिसका उल्लेख न हो ऐसे कर लगानेसे सम्बद्ध कानून बनानेकी सत्ता भी है।

२४९. कमसे कम २/३ उपस्थित सदस्योंके समर्थनसे पारित प्रस्तावमें राज्यसभा अगर यह बताए कि राष्ट्रहितके लिए 'राज्य सूची'में निर्दिष्ट किसी भी मामलेमें पार्लियामेण्ट द्वारा कानून बनाया जाना आवश्यक है तो उस मामलेमें पार्लियामेण्ट द्वारा बनाया गया कानून वैधानिक माना जायगा।

२५०. संकटकालीन घोषणा अमलमें आने पर राज्य सूचीमें निर्दिष्ट विषयोंमेंसे किसी भी विषयको लेकर भारतके पूरे विस्तारके लिए अथवा उसके किसी भागके लिए कानून बनानेकी सत्ता पार्लियामेण्टके पास रहेगी।

२५१. उक्त दो धाराओंके अनुसार पार्लियामेण्ट द्वारा बनाया गया कानून राज्यकी विधानसभा द्वारा बनाए गए कानूनके विरुद्ध होनेकी स्थितिमें राज्य द्वारा बनाया गया कानून अमलमें नहीं लाया जा सकेगा।

२५२. राज्योंकी स्वीकृतिसे दो या उससे अधिक राज्योंके लिए कानून बनानेकी सत्ता पार्लियामेण्टके पास; और दूसरे राज्यों द्वारा उसका स्वीकार।

२५३. अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धोंको अमलमें लानेसे सम्बद्ध धारा।

२५४. (१) राज्य विधानसभा द्वारा बनाए गए कानूनसे, अगर कोई बात पार्लियामेण्ट अधिकार-क्षेत्रमें हो या संयुक्त सूचीमें निर्दिष्ट हो तो उससे सम्बद्ध पार्लियामेण्ट द्वारा बनाए गए कानूनमें विरोध होता हो तो पार्लियामेण्ट द्वारा बनाया गया कानून अमलमें आयेगा और इस विसंगति तक सीमित राज्य द्वारा निर्मित कानून निरस्त माना जायगा।

२५५. संस्तुति और पूर्वस्वीकृति विषयक आवश्यकता मात्र कार्यवाही तक ही।

प्रशासनिक सम्बन्ध

२५६. राज्य और संघके दायित्व।

२५७. "राज्यकी कार्यकारिणी सत्ताका उपयोग इस तरहसे होगा कि जिससे संघकी कार्यकारिणीके सत्ता उपयोग पर बाध न आए अथवा वह सीमित न हो जाय'; और संघकी

सीमाकर, रेलभाड़ा तथा नर पर लगाए गए कर, क्रय-विक्रय सम्बन्धी कर तथा समाचार पत्रादि, सार्वजनिक सूचना या खबरों पर कर)।

२७०. संघ द्वारा लगाए गए और उगाहे गए कर, जो संघ और राज्योंके बीचमें बँट जाते हैं।

२७१-२७४. कराधान—विषयक अधिक सहायता।

२७५. संघकी ओरसे राज्योंको अधिक सहायता (पार्लियामेन्टके द्वारा बनाए नियमानुसार)

२७६-२७७. कराधान—अपवाद।

२७८-२७९. वित्तीय मामलोंमें 'ब' राज्योंके साथ समझौता।

२८०. राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय आयोगकी नियुक्ति, राज्योंको दी जाने वाली राशि (अनुदान सहित)के वितरण सम्बन्धी दायित्व।

२८१. वित्तीय आयोगकी सिफारिशें।

२८२. अपनी आयसे संघ अथवा राज्यकी ओरसे हो सकनेवाला खर्च।

२८३-२८४. संचितनिधि, संकटनिधि और सार्वजनिक विभागमें जमा हुए वित्तकी तथा इतर वित्तकी रक्षा।

२८५. संघ-सम्पत्तिकी राज्य कराधानसे मुक्ति।

२८६. मालकी खरीद तथा विक्रय सम्बन्धी कर लगानेसे सम्बद्ध नियंत्रण।

२८७-२८८. पार्लियामेण्टके कानूनके बिना कर लगानेकी मनाही; कुछ मामलोंमें पानी अथवा बिजली सम्बन्धी करोंसे मुक्ति।

२८९. राज्य-सम्पत्ति और आय पर संघ-करोंसे मुक्ति।

२९०. कुछ खर्च तथा निवृत्ति-वेतन सम्बन्धी व्यवस्था।

२९१. "इस संविधानके आरम्भ होनेके पूर्व किसी देशी राज्यके राजाके साथ उसके द्वारा की गई संधि अथवा समझौतेके अनुसार, हिन्द संस्थान (डोमिनियन)की सरकार उक्त राज्यके राजाको वार्षिक रूपमें, करोंसे मुक्त, धनराशि देनेका आश्वासन दिया हो तो,

(अ) ऐसी राशि भारतकी संचित निधिके खातेमें डालकर दी जायगी।

(आ) इस प्रकार किसी भी राजाको दी गई राशि आय-करसे मुक्त रहेगी।

प्रकरण २ : आर्थिक सहायता (उधार) लेनेसे सम्बद्ध

२९२. भारत सरकार द्वारा उधार धन लिए जानेसे सम्बद्ध।

२९३. राज्यों द्वारा धन उधार लिए जानेसे सम्बद्ध।

प्रकरण ३ : सम्पत्ति, करार, अधिकार, दायित्व, कर्तव्य और दावे

२९४-३००

विभाग १३ : भारतीय क्षेत्रफलमें व्यापार, वाणिज्य और व्यवहार

३०१. सम्पूर्ण भारतमें सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और व्यवहारकी स्वतंत्रता रहेगी।

३०२. पार्लियामेन्ट सार्वजनिक हितमें ज्ञात होनेवाले बंधनोंको कानून बनाकर एक

३३५. प्रशासनिक कार्यकुशलता बनी रहे, इस रूपमें संघ अथवा राज्यकी सरकारी नौकरियोंमें नियुक्तियाँ करते समय अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जन-जातियोंके दावोंको लक्ष्यमें रखना होगा।

३३६. संविधान लागू होनेके दो वर्ष बाद तक रेलवे, कस्टम, डाक-तार विभागोंमें एंग्लो इण्डियन जातिके लिए स्वतंत्रतापूर्वके निकटस्थ कालमें जिस आधार पर नियुक्तियाँ होती थीं, उसी आधार पर नियुक्तियाँ होंगी। उक्त अवधिके बाद १० प्रतिशतके आधार पर सुरक्षित स्थानोंकी संख्या कम करते-करते दस वर्षमें सभी रक्षित स्थान समाप्त कर दिए जायें।

३३७. एंग्लो इण्डियन जातिके लाभार्थ शिक्षणके निमित्त वित्तीय सहायता।

३३८. उक्त जातियोंके लिए विशेषाधिकारोंसे सम्वद्ध।

३३९. उक्त जातियोंकी व्यवस्थासे सम्बद्ध।

३४०. पिछड़ी हुई जातियोंकी हालतके विषयमें जाँचके लिए आयोगकी नियुक्ति।

३४१-३४२. अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जन-जातियाँ।

विभाग १७

३४३. (१) "संघकी भाषा देवनागरी लिपिमें हिन्दी रहेगी। संघके सरकारी कामकाजके लिए उपयोगमें लाए जाने वाले अंकोंका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय रूप रहेगा।

(२) इस धाराकी उपधारा (१)में चाहे कुछ भी आता हो, पर इस संविधानके लागू होनेके १५ वर्ष तक प्रारम्भमें अंग्रेजी भाषा जिस किसी काममें प्रयुक्त होती हो, उस काममें उसका प्रयुक्त होना जारी रहेगा।

यहाँ यह व्यवस्था की गई है कि इस १५ वर्षकी अवधिमें संघके किसी भी कामकाजके लिए अंग्रेजी भाषाके अतिरिक्त हिन्दी भाषा और भारतीय अंकोंके अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूपके अलावा देवनागरी रूपोंका आधिकारिक उपयोग करनेके लिए राष्ट्रपति आदेश दे सकता है।

(३) इस धारामें चाहे कुछ भी हो, पर उक्त १५ वर्षकी अवधिके बाद पार्लियामेन्ट कानून बना कर बताए गए अमुक कामकाजके लिए (अ) अंग्रेजी भाषा अथवा (आ) देवनागरी अंकोंका उपयोग कर सकेगी।

३४४. (१) इस संविधानके अमलमें आनेके पांच वरस बाद राष्ट्रपति आधिकारिक भाषा-आयोग नियुक्त करेगा। इस आयोगमें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक अध्यक्षके अलावा प्रत्येक भाषाके एक-एक प्रतिनिधिको राष्ट्रपति, ८वें परिशिष्टके अनुसार, नियुक्त करेगा।

(२) आयोगका कर्त्तव्य राष्ट्रपतिको निम्न मामलोंमें संस्तुति करना होगा :

(अ) संघराज्यके आधिकारिक हेतुओंके लिए हिन्दी भाषाका उत्तरोत्तर अधिकाधिक उपयोग करनेसे सम्वद्ध;

(आ) संघराज्यके सभी अथवा अमुक आधिकारिक हेतुओंके लिए अंग्रेजी भाषाके उपयोग पर नियंत्रण रखनेसे सम्वद्ध;

(इ) इस संविधानकी ३४८वीं धाराके अनुसार सभी अथवा अमुक हेतुओंके लिए प्रयोगमें लाई जानेवाली भाषाको निश्चित करनेसे सम्वद्ध;

भारतकी संगठित संस्कृतिके सभी तत्वोंकी अभिव्यक्तिके माध्यमके रूपमें काम आ सके; इसके अतिरिक्त उसकी मूलभूत प्रकृतिको आँच न आए, इस प्रकार हिन्दुस्तानी तथा संविधानके ८वें परिशिष्टमें दी गई भाषाओंके स्वरूपों, शैली और अभिव्यक्तिको आत्मसात कर तथा आवश्यक और इष्ट लगनेवाले रूपमें शब्दभण्डारकी समृद्धिके लिए मुख्यतः संस्कृत और गौण रूपसे अन्य भाषाओंसे लाभ लेकर हिन्दी भाषाको समृद्ध करना।"

विभाग १८ : संकटके लिए प्रबन्ध

३५२. (१) अगर राष्ट्रपतिको यह विश्वास हो जाय कि आन्तरिक अशान्ति, वाह्य आक्रमण अथवा युद्धके कारण भारत अथवा उसके विस्तारकी किसी भाषाकी सुरक्षाके लिए खतरा पैदा हो गया है तो प्रवर्तित गंभीर परिस्थितिके कारण वह घोषणापत्रके द्वारा घोषणा कर सकेगा।

(२) (अ) राष्ट्रपति उस घोषणाको चाहे जब वापिस ले सकेगा।

(आ) इस घोषणापत्रको पार्लियामेन्टके प्रत्येक सदनके समक्ष उपस्थित करना ही होगा।

(इ) अगर इसे पार्लियामेन्टके दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पारित कर स्वीकृति प्रदान न की जाय तो दो महीनेकी अवधिके अन्तमें उसका अमल बन्द हो जायगा।

३५३. संकटका घोषणापत्र अमलमें हो उस समय—

(अ) "इस संविधानमें चाहे कुछ भी कहा गया हो फिर भी, संघकी कार्यकारिणी सत्ता, राज्योंको अपनी कार्यकारिणी सत्ताका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इस सम्बन्धमें सूचनाएँ देगी।"

(आ) किसी भी वातका संघसूचीमें उल्लेख न होने पर भी (संकटकालमें) तत्सम्वन्धी कानून बनानेकी सत्ता संघके अधिकारमें रहेगी।

३५४. संकटकालमें आयके वितरणको लेकर राष्ट्रपति अपने आदेशके द्वारा परिवर्तन कर सकेगा, इस प्रकारके आदेशको यथासंभव शीघ्र पार्लियामेन्टके दोनों सदनोंके समक्ष रखना होगा।

३५५. वाह्य आक्रमण और आन्तरिक संघर्षके समय प्रत्येक राज्यका रक्षण करने और राज्यकी सरकार संविधानके अनुसार काम कर रही है या नहीं, यह देखनेका दायित्व संघका है।

३५६. (१) राज्यके राज्यपाल अथवा राज्यप्रमुखसे प्राप्त विवरणके आधार पर अथवा किसी दूसरे रूपसे अगर राष्ट्रपतिको यह विश्वास हो जाय कि प्रस्तुत संविधानकी व्यवस्थाओंके अनुसार राज्यका चलना संभव नहीं है, राष्ट्रपति एक घोषणापत्र प्रकाशित कर सकेगा। और उसके द्वारा—

(अ) राज्य सरकारकी सभी अथवा उसमें की कुछ चीज़ोंको अपने अधिकारमें ले सकेगा, अथवा राज्यपाल (अथवा राजप्रमुख) की सत्ता अपने हस्तगत कर सकेगा।

(आ) राज्यकी विधानसभाकी सत्ताओंका अमल पार्लियामेन्ट करेगी अथवा पार्लियामेन्टके वर्चस्वके नीचे होगा, जिसका निर्णय भी वह कर सकेगा।

व्यवस्थाएँ जम्मू और काश्मीरके राज्य पर लागू नहीं होगी।" (पार्लियामेन्टको कानून बनानेकी यह सीमा होगी।)

३७१. ('ब' राज्यों तक सीमित)।

३७२. वर्तमान कानूनोंके अमलसे सम्बद्ध।

३७३. नज़रबन्दी विषयक। राष्ट्रपतिकी सत्ता विषयक।

३७४. समवायी अदालत और प्रिवी काउंसिलके कामकाज विषयक।

३७५. अदालतों, सत्ताओं और अधिकारियोंके काम विषयक।

३७६. उच्च न्यायालयके न्यायाधीशोंसे सम्बद्ध।

३७७. सह्निधिरक्षक और नियामक विषयक।

३७८. सार्वजनिक नौकरी आयोगसे सम्बद्ध व्यवस्थाएँ।

३७९. अन्तरिम पार्लियामेन्ट विषयक।

३८०. राष्ट्रपति विषयक व्यवस्था।

३८१. राष्ट्रपतिका मंत्रिमण्डल।

३६६-३६७. व्याख्याएँ और अर्थ।

३८२. (अ) राज्योंके लिए अन्तरिम प्रबन्ध विषयक।

३८३. प्रान्तोंके राज्यपाल विषयक।

३८४. राज्यपालोंके मंत्रिमण्डल विषयक।

३८५-३८६. 'ब' वर्गके राज्योंसे सम्बद्ध।

३८७. कितने ही चुनावसे सम्बद्ध।

३८८. अन्तरिक संसद और सदनोंसे सम्बद्ध।

३८९. संस्थाके प्रान्तों और देशी राज्योंके सदनोंसे सम्बद्ध।

३९०. अन्तरिम कालके वित्त और व्ययसे सम्बद्ध।

३९१. परिशिष्ट १ तथा ४में अन्तरिम सुधार विषयक।

३९२. अन्तरिम कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए राष्ट्रपतिकी सत्तासे सम्बद्ध।

विभाग २२

३९३. यह संविधान भारतका संविधान कहलाएगा।

३९४. यह धारा और ये धाराएँ—५, ६, ७, ८, ९, ६०, ३२४, ३६६, ३६७, ३७९, ३८०, ३८८, ३९१, ३९२ और ३९३ तुरन्त अमलमें आ जायेंगी और इस संविधानकी शेष व्यवस्थाओंका अमल २६ जनवरी १९५०से आरम्भ होगा, जो दिन इस विधानके आरम्भके रूपमें उल्लिखित किया गया है।

३९५. १९४७की भारत स्वातंत्र्यधाराका तथा १९३५के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट (और) उसकी पूरक अथवा उसमें सुधार करनेवाली सभी धाराओं सहित, परन्तु एवोलिशन आफ प्रिवी काउंसिल ज्यू रिसडिक्शन एक्ट, १९४९के अलावा, का अन्त आता है।

—सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीशको — रु० ५.०००
,, ,, अन्य न्यायाधीशोंको — रु० ४.०००
तथा मकान-किराया, प्रवास भत्ते;
—राज्यके उच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीशका — रु० ४.०००
,, ,, अन्य न्यायाधीशोंको — रु० ३.५००
—महालेखा परीक्षक (ऑडिटर जनरल), — रु० ४.०००
छुट्टियाँ और भत्ते पूर्ववत्

तीसरा परिशिष्ट

[धाराएँ : ७५ (४), ९९, १२८ (६), १४८ (२), १६४ (३), १८८ और २१९]

*—संघके मंत्रियों द्वारा ली जानेवाली शपथ (पद और गोपनीयताकी)।

†—पार्लियामेन्टके सदस्यों द्वारा ली जानेवाली शपथ।

×—सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशों तथा महालेखा परीक्षक द्वारा ली जानेवाली शपथ।

+—राज्यके मंत्रियों द्वारा ली जानेवाली शपथ (पद तथा गोपनीयताकी)।

††—राज्योंकी विधानसभाके सदस्यों द्वारा ली जाने वाली शपथ।

०—राज्यके उच्च न्यायालयके न्यायाधीशों द्वारा ली जानेवाली शपथ।

***पदकी शपथ**

मैं................. ईश्वरको हाज़िर मानकर शपथ लेता हूँ / गंभीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भारतके वैधानिक रूपसे निर्मित संविधानमें सच्चा विश्वास रखूंगा और उसके प्रति वफादार रहूँगा; और मैं वफादारी और निष्ठापूर्वक संघके मंत्रीके रूपमें अपना कर्त्तव्य निभाऊँगा और सभी लोगोंके प्रति भय अथवा पक्षपातके बिना, सिफारिश अथवा बिना किसी बुराईके कानून और संविधानके अनुसार उचित व्यवहार करूँगा।

***गोपनीयताकी शपथ**

मैं................. ईश्वरको हाज़िर मानकर शपथ लेता हूँ / गंभीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरे सामने विचारणा के लिए आए हुए मामलोंमें, अथवा संघके मंत्री के रूपमें मेरी जानकारीमें आए हुए मामलोंमें किसी व्यक्ति या व्यक्तियोंको परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपमें, संघके मंत्रीके रूपमें दायित्वोंके उचित निर्वाहके लिए अगर ऐसा करना मेरे लिए आवश्यक हो तो उसे छोड़कर कुछ नहीं कहूँगा।

मैं................. ईश्वरको हाज़िर मानकर शपथ लेता हूँ / गंभीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भारतके वैधानिक रूपसे निर्मित संविधानमें पूर्ण आस्था रखूंगा और जिन दायित्वोंको स्वीकार करनेके लिए मैं प्रवृत्त हो रहा हूँ, उन दायित्वोंको निष्ठापूर्वक पूरा करूँगा।

मैं................. ईश्वरको हाज़िर मानकर शपथ लेता हूँ / गंभीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि भारतके वैधानिक रूपसे निर्मित संविधानमें सच्ची आस्था और निष्ठा रखूंगा; और अपनी सर्वोच्च शक्ति,

दल-परिवर्तनका इतिहास

१. **१९४७ :** कांग्रेस समाजवादी दलने कांग्रेसको छोड़कर नए दलकी रचना की, उस समय सभी सदस्योंको विधानमण्डलोंसे त्यागपत्र देकर पुनः चुनाव लड़नेका आदेश दिया गया।

२. **१९५२ मद्रास :** पहले आम चुनावके बाद मद्रासमें कांग्रेस स्पष्ट वहुमत प्राप्त करनेमें असफल हुई। फिर भी राज्यपालने कांग्रेसी नेता श्री सी० राजगोपालाचारीको सरकार बनानेके लिए निमंत्रण दिया। इसके बाद विरोधी पक्षके १६ सदस्योंने दल-परिवर्त्तन किया।

३. **१९५२ पेप्सू :** (१) पहले आम चुनावके बाद कांग्रेसको स्पष्ट वहुमत प्राप्त नहीं हुआ। कुछ निर्दलीयोंके साथ कांग्रेसने सरकारकी रचना की। (२) एक महीनेमें तीन कांग्रेसी और तीन निर्दलीयोंने कांग्रेसको छोड़ दिया और ज्ञानसिंह रूरेवालाके नेतृत्वमें संयुक्त मोर्चेकी सरकार स्थापित हुई। (३) १९५२के दिसम्बरमें २ सदस्योंके दल-परिवर्तनके कारण राष्ट्रपतिका शासन स्थापित हुआ।

४. **१९५२ उत्तरप्रदेश :** (१) पहले आम चुनावके बाद श्री गोविन्द वल्लभ पंतके समझानेसे श्री हाफिज़ मोहम्मद इब्राहिमने मुस्लिम लीगसे त्यागपत्र दिया और कांग्रेसमें आ गये। इस कारण उन्होंने विधानसभासे त्यागपत्र देकर पुनः चुनाव लड़ा और जीत कर आए।

५. **१९५३ उत्तर प्रदेश :** श्री रफी अहमद किदवई कृषक मज़दूर प्रजापार्टी छोड़कर कांग्रेसमें आ गए और केन्द्रमें खाद्य-मंत्री बने।

६. **१९५३ आंध्र :** आंध्र प्रदेशकी रचनाके समय प्रजासमाजवादी दलके एक नेता श्रीप्रकाश निर्दलीय या कांग्रेसके सहायक सदस्यके रूपमें अगर सरकारकी रचना करते हैं तो कांग्रेस उन्हें समर्थन देगी—कांग्रेसने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। श्रीप्रकाशको उनके दल द्वारा इस पर सम्मति न मिलने पर उन्होंने दल-त्याग किया। तदुपरान्त श्री विश्वनाथके नेतृत्वमें १२ समाजवादी सदस्योंने दल-परिवर्तन किया।

७. **१९५६ केरल :** १९५६के मार्च महीनेमें कांग्रेसके ६ सदस्यों द्वारा दल-परिवर्तन किए जाने पर मंत्रिमण्डलका पतन हुआ।

८. **१९५७ उड़ीसा :** दूसरे आम चुनावके बाद उड़ीसामें कांग्रेसको वहुमत न मिला। बादमें ४ निर्दलीय सदस्य कांग्रेसमें आ गए।

९. **१९६४ केरल :** १९६४के सितम्वरमें १५ कांग्रेसी सदस्योंने श्री आर० शंकरनके नेतृत्वके विरुद्ध विद्रोह कर दल-त्याग किया। परिणामतः ८ सितम्वरको मंत्रिमण्डलका पतन हुआ।

१०. **१९६४ फरवरी :** श्री अशोक मेहताने योजना-आयोगके उपाध्यक्ष पदको स्वीकार किया। प्रजा समाजवादी दलने उनके विरुद्ध जो अनुशासनात्मक

(१६) **राजस्थान** : (१) चौथे आम चुनावके बाद ४ निर्दलीय और १ स्वतंत्र पार्टीके सदस्य कांग्रेसमें शामिल हुए, ऐसा दावा श्री मोहनलाल सुखाड़ियाने किया, परन्तु विधानसभामें शक्ति परीक्षा किए जानेके पूर्व ही राष्ट्रपतिके शासन (मार्च १३, १९६७)की घोषणा कर दी गई। (२) अप्रैल १९६७में कांग्रेस मंत्रिमण्डलकी रचना हुई। तदुपरान्त विविध दलोंसे बड़ी संख्यामें विधायक कांग्रेसमें शामिल हुए।

(१७) **पंजाब** : (१) संयुक्त विधायक दलकी सरकारको उलटनेके लिए कांग्रेस दल-परिवर्तन द्वारा प्रयत्न करती रही, परन्तु अपेक्षित मात्रामें वह दल-परिवर्तन करानेमें सफल नहीं हो सकी। (२) २२ नवम्बर १९६७को श्री लक्ष्मणसिंह गिलके नेतृत्वमें १७ विधायकोंके दल-परिवर्तनके कारण संयुक्त विधायक दलकी सरकारका पतन हुआ और श्री गिलकी अल्पमत वाली जनता पार्टीकी सरकार कांग्रेसके समर्थन पर अस्तित्वमें आई।

(१८) **उत्तर प्रदेश** : (१) विरोधपक्षके १७ विधायकोंकी सहायतासे श्री सी० बी० गुप्तने चौथे आम चुनावके बाद कांग्रेसी सरकारकी रचना की। (२) अप्रैल १९६७में श्री चरणसिंहके नेतृत्वमें विधायकोंने दल त्याग किया, जिससे सरकारका पतन हुआ और संयुक्त विधायक दलकी सरकार स्थापित हुई।

(१९) **पश्चिम बंगाल** : (१) नवम्बर १९६७में खाद्य-मंत्री श्री पी० सी० घोषके नेतृत्वमें १७ विधायकोंने संयुक्त विधायक दलसे त्यागपत्र दिया, कांग्रेस समर्थनसे श्री पी० सी० घोषके प्रजा लोकतांत्रिक मोर्चेके मंत्रिमण्डलकी रचना हुई। (२) फरवरी १९६८में श्री आशुतोष घोषके नेतृत्वमें १८ कांग्रेसी विधायकोंने घोष सरकारसे अपना समर्थन वापिस ले लिया और उन्होंने कांग्रेस दलको छोड दिया।

मंत्रियोंके वेतन और प्रवास-भत्ते

केन्द्रिय मंत्रिमण्डलके मंत्रियोंने सन् १९६८में वेतन तथा प्रवास भत्तेके रूपमें कुल ३,०२,२३६ रु० प्राप्त किए थे। इस राशिमें मुफ्त निवास, बिजली और जलसुविधा तथा मुफ्त मोटरगाड़ी तथा अन्य सुविधाओंका समावेश नहीं होता।

पक्ष परिवर्तन के लाभालाभ

कांग्रेस	**विरोध**
१. बिहार	१. बिहार
२. हरियाणा	४. पंजाब
३. मध्य प्रदेश	६. राजस्थान
४. पंजाब	७. पश्चिमी बंगाल
५. उत्तर प्रदेश	
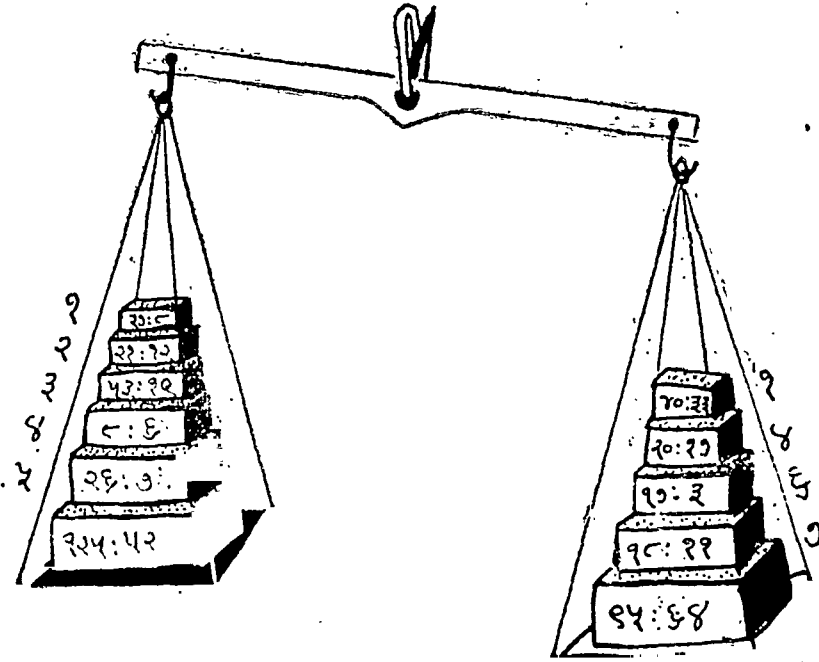
*तराजू के पास दिखाई गई संख्या प्रदेशकी ओर संकेत करती है।

*तराजूके भीतर दी गई संख्या पहली संख्या दल-त्याग करनेवालोंकी है। दूसरी संख्या यह बताती है कि उनमें से कितनोंको सत्ता-स्थान प्राप्त हुए। समग्रतः कांग्रेसके १२५ गयारामोंमेंसे मात्र ५२को सत्ता-स्थान प्राप्त हुए, जबकि विरोधपक्षके ९ गयारामोंमें से ६४को सत्ता-स्थान प्राप्त हुए।

E = MC²